आचार्य प्रभाचन्द्र-विरचित न्यायकुमुदचन्द्र पर आधारित

न्यायकुमुदचन्द्र परिशीलन

लेखक

प्रो० उदयचन्द्र जैन एम.ए.

जैन-बौद्ध-सर्वदर्शनाचार्य

पूर्व अध्यक्ष, दर्शनविभाग

प्राच्यविद्या धर्मविज्ञान सङ्काय

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सहयोगी

डॉ० कमलेशकुमार जैन

वरिष्ठ प्राध्यापक जैनदर्शन

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रकाशक

प्राच्य श्रमण भारती

मुजफ्फरनगर, (उ.प्र.)

भगवान महावीर स्वामी के 2600वें जन्मोत्सव के उपलक्ष्य में प्रकाशित

पुण्यार्जक : श्रीमती सौमा जैन धर्मपत्नी श्री राकेश जैन
J-5/14, कृष्णानगर, शाहदरा, दिल्ली-110032
मैसर्स गोयल टैक्सटाईल्स
कटरा नगीन चन्द, चाँदनी चौक, दिल्ली

प्रतियाँ : 1100

प्रथम संस्करण : वी.नि.संवत् 2527 सन् 2001

मूल्य : 500/- रुपये मात्र
इस पुस्तक के विक्रय से जो भी राशि
एकत्रित होगी उससे पुनः प्रकाशन होगा।

प्प्ति स्थान :
प्राच्य श्रमण भारती
12/ए, निकट जैन मन्दिर
प्रेमपुरी, मुजफ्फर नगर (उ.प्र.)
फोन : (0131) 450228, 408901

अक्षर-सज्जा :
सरिता कम्प्यूटर्स
डी-55/48, औरंगाबाद, वाराणसी
फोन : 0542-359521

मुद्रक :
दीप प्रिंटर्स
ए-8, मायापुरी, इंडस्ट्रियल एरिया,
फेस-1 नई दिल्ली - 110064
फोन : 5131393, 5132579

NYAYAKUMUDACHANDRA PARISHILANA

Based on

Nyayakumudachandra of Acharya Prabhachandra

Written by

Prof. Udaya Chandra Jain M.A.

Jain-Bauddha-Sarvadarshanacharya

Ex-Head, Deptt. of Darshan

Faculty of Oriental Learning & Theology

Banaras Hindu University

Assisted by

Dr. Kamalaesh Kumar Jain

Sr. Lecturer in Jain-Darshan

Faculty of Sanskrit, Learning & Theology

Banaras Hindu University

Published by

PRACHYA SHARAMAN BHARATI

Muzaffarnagar (U.P.)

PUBLISHED ON THE OCCASION OF 2600TH BIRTHDAY CELEBRATION OF LORD MAHAVIRA

Donated by : **Mrs Soma Jain W/o Shri Rakesh Jain**
J-5/14, Krishna Nagar, Shahdra, Delhi-110 032
M/s. Goyal Textiles
Katra Nagin Chand, Chandni Chowk, Delhi

Copies : **1100**

First Edition : V.N.S. 2527 2001 A.D.

Price : 500.00
Five Hundred Rupees Only

Sold From :
Prachya Shraman Bharati
12/A Prempuri (Near Jain Temple)
Muzaffarnagar (U.P.) 251001
Phone :(0131) 450228, 408901

Composed by :
Sarita Computers
D55/48, Aurangabad, Varanasi
Phone : (0542) 359521

Printed at :
Deep Printers
A-8, Industrial Area,
Mayapuri, Phase-I
New Delhi - 110 064
Ph : 5131393, 5132579

प्रकाशकीय

सन् 1991 में गया (बिहार) में चातुर्मास के समय परमपूज्य **उपाध्यायश्री ज्ञानसागरजी** महाराज की प्रेरणा से प्राचीन तथा नवीन साहित्य के प्रकाशन के लिए **प्राच्य श्रमण भारती** की स्थापना की गई थी। तब से लेकर अब तक इसके द्वारा अनेक महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का प्रकाशन हो चुका है। इसी क्रम में इस वर्ष **प्रो0 उदयचन्द्रजी जैन सर्वदर्शनाचार्य** द्वारा लिखित **न्यायकुमुदचन्द्र परिशीलन** का प्रकाशन किया जा रहा है।

आचार्य प्रभाचन्द्र द्वारा लिखित **न्यायकुमुदचन्द्र** जैनन्याय तथा जैनदर्शन विषयक एक महत्त्वपूर्ण कृति है। **आचार्य अकलङ्कदेव** ने **लघीयस्त्रय** नामक एक प्रकरण ग्रन्थ की रचना 78 कारिकाओं में की थी और इन कारिकाओं पर विवृति भी लिखी थी। इसमें छोटे-छोटे तीन प्रकरणों– **प्रमाणप्रवेश**, **नयप्रवेश** और **प्रवचनप्रवेश** का संग्रह है। प्रस्तुत **न्यायकुमुदचन्द्र** एक स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर उसी लघीयस्त्रय और उसकी विवृति का विशद व्याख्यान है। **न्यायकुमुदचन्द्र** एक विशालकाय ग्रन्थ है जो **डॉ0 पं0 महेन्द्रकुमारजी** न्यायाचार्य द्वारा सम्पादित होकर माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई से सन् 1938 में दो भागों में प्रकाशित हो चुका है।

इस समय **न्यायकुमुदचन्द्र** की हिन्दी में एक ऐसे लघु संस्करण की आवश्यकता थी, जो सरल और सुबोध शैली में लिखा गया हो। **प्रो0 उदयचन्द्रजी जैन सर्वदर्शनाचार्य** ने **'न्यायकुमुदचन्द्र परिशीलन'** लिखकर इस आवश्यकता की पूर्ति कर दी है। यह परिशीलन विद्यार्थियों तथा साधारण पाठकों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा। विद्वान् भी इससे लाभ उठा सकते हैं। यह ग्रन्थ पूज्य **उपाध्यायश्री ज्ञानसागरजी** महाराज की प्रेरणा से लिखा गया है। अतः **प्राच्य श्रमण भारती** से इसका प्रकाशन करने में हमें प्रसन्नता हो रही है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में आर्थिक सहयोग प्रदान करने वाले महानुभावों के प्रति हम आभार व्यक्त करते हैं। **प्राच्य श्रमण भारती** के सभी सदस्यों के प्रति भी हम धन्यवाद ज्ञापित करते हैं, जिनका इसके प्रकाशन में प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से सहयोग प्राप्त हुआ है।

मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)
15/10/2000

रवीन्द्रकुमार जैन
मन्त्री
प्राच्य श्रमण भारती

ए

समर्पण

जिनकी सत्प्रेरणा और मङ्गल आशीर्वाद से, इस कृति का निर्माण सम्भव हुआ, उन परमपूज्य आध्यात्मिक सन्त, विद्वदनुरागी, सराकोद्धारक, शाकाहारप्रवर्तक, प्रशममूर्ति **उपाध्यायश्री ज्ञानसागरजी महाराज** के करकमलों में **न्यायकुमुदचन्द्र परिशीलन** नामक यह कृति लेखक द्वारा श्रद्धा और भक्ति के साथ सविनय समर्पित है।

अमृतफल

प्रस्तुत कृति परमपूज्य दिगम्बर जैन मुनि शाकाहारप्रवर्तक, सराकोद्धारक **उपाध्यायश्री ज्ञानसागरजी महाराज** के मङ्गल आशीर्वाद का अमृतफल है।

जैनसन्त उपाध्यायश्री ज्ञानसागरजी महाराज का संक्षिप्त परिचय

आपका जन्म वैशाख शुक्ला द्वितीया विक्रम संवत 2014 सन् 1957 को पिता **श्रीशान्तिलालजी** जैन और माता **अशर्फीबाई** के घर मोरेना (म०प्र०) में हुआ। बालक का नामकरण हुआ **उमेश**। 'पूत के पाँव पालने में ही दिख जाते हैं' इस उक्ति के अनुसार बालक **उमेश** के जन्म-समय से ही परिवारवालों को आभास हो गया था कि यह बालक घर में नहीं रहेगा। उस समय दैवज्ञों ने भी यह भविष्यवाणी कर दी थी कि यह बालक भविष्य में एक बड़ा योगी बनकर संसार का कल्याण करेगा। और तदनुसार हुआ भी। घर-गृहस्थी सम्बन्धी कार्यों से **उमेश** का मन सदा ही उदासीन रहा और साधु-संन्यासियों के प्रति उनका आकर्षण बढ़ता ही गया। बालक **उमेश** का आध्यात्मिक अनुराग पल्लवित और पुष्पित होता रहा। और इसकी परिणति हुई 1974 में जब किशोर बालक ने ब्रह्मचर्य व्रत अङ्गीकार कर लिया। तदनन्तर आपने 5 नवम्बर 1976 को **आचार्यश्री सुमतिसागरजी** से क्षुल्लक-दीक्षा ग्रहण की और नामकरण हुआ **क्षुल्लक गुणसागर**।

आपमें ज्ञानार्जन के प्रति तीव्र ललक थी। यही कारण है कि आपने क्षुल्लक अवस्था में 12 वर्ष तक इतना ज्ञानार्जन कर लिया कि साधारण व्यक्ति अपने पूरे जीवन में उतना ज्ञानार्जन नहीं कर सकता। आपने उच्चकोटि के विद्वानों से व्याकरण एवं साहित्यशास्त्र आदि का विशेष रूप से अध्ययन किया। न्यायशास्त्र के अध्ययन में शुरू से ही आपकी रूचि रही है। अतः आपने न्यायदीपिका, आप्तमीमांसा, प्रमेयकमलमार्तण्ड, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री आदि न्यायशास्त्र के उच्चकोटि के ग्रन्थों का विशिष्ट अध्ययन किया है। आप क्षुल्लक अवस्था में ही गुणों के सागर थे। बाद में आपके वे सब गुण ज्ञान के सागर के रूप में परिणत हो गये। अर्थात् 31 मार्च 1988 को महावीर जयन्ती के पावन प्रसङ्ग पर आप **आचार्यश्री सुमतिसागरजी** से दिगम्बरी दीक्षा धारण करके **मुनिश्री ज्ञानसागरजी** बन गये। और इसके एक वर्ष बाद सन् 1989 में **आचार्यश्री सुमतिसागरजी** ने आपको उपाध्याय परमेष्ठी के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया।

उपाध्यायश्री का एक असाधारण वैशिष्ट्य है विद्वद्वात्सल्य। आपकी प्रेरणा से विद्वानों को संरक्षण तथा प्रोत्साहन देने के लिए श्रुतसंवर्द्धन संस्थान

के माध्यम से प्रतिवर्ष पाँच विशिष्ट विद्वानों को सम्मानित किया जाता है और अभी तक 21 विद्वानों को सम्मानित किया जा चुका है। विद्वानों को संरक्षण तथा प्रोत्साहन देने की दिशा में उपाध्यायश्री की यह योजना अत्यन्त प्रशंसनीय है। आपकी प्रेरणा से आपके सान्निध्य में वर्ष में प्रायः दो बार विद्वत्सङ्गोष्ठियों का आयोजन होता रहता है। इससे समाज में तथा विद्वानों में जागृति बनी रहती है तथा जैनधर्म और जैन-संस्कृति के सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार होता रहता है।

आपने यह अनुभव किया कि सराक हमारे ही भाई हैं, किन्तु वे कलिकाल के प्रभाव से अपने धर्म को भूल गये हैं। इन लोगों के उत्थान के लिए उपाध्यायश्री ने अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं। बिहार, बंगाल और उड़ीसा के आदिवासी क्षेत्रों में विहार करके और तड़ाई जैसे छोटे से गाँव में चातुर्मास करके आपने सराकों के उत्थान के लिए जो काम किया है वह अत्यधिक सराहनीय है। सम्प्रति आपकी प्रेरणा से सराकों के उत्थान की अनेक योजनायें चल रही हैं। इसी प्रकार शाकाहार के प्रचार के लिए आपके सान्निध्य में शाकाहार सम्मेलन, शाकाहार रैलियाँ, शाकाहार गोष्ठियाँ और शाकाहार प्रदर्शनियों का आयोजन होता रहता है।

आपकी प्रेरणा से आचार्य शान्तिसागर (छाणी) तथा प्राच्य श्रमण भारती की स्थापना हुई जिनके द्वारा अभी तक प्राचीन तथा नवीन उच्चकोटि के अनेक ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। आपने समाजकल्याण के लिए सैकड़ों लोगों को माँस, मदिरा आदि दुर्व्यसनों को छुड़वाकर उनके जीवन में नवीन शक्ति और प्रेरणा का संचार किया है। आपकी अलौकिक एवं आध्यात्मिक शक्ति से प्रभावित होकर अनेक स्वनामधन्य राजनेता और उद्योगपति आपके पास आकर अपने कल्याण के लिए आपसे आशीर्वाद लेते रहते हैं। आपकी वाणी में ऐसा आकर्षण है कि उसे सुनने के लिए अनेक लोग लालायित रहते हैं।

मुनि अवस्था के आपके चातुर्मासों का विवरण इस प्रकार है–प्रथम–सागर, द्वितीय–बड़ागाँव (मेरठ), तृतीय–शाहपुर (मु. नगर), चतुर्थ–गया, पंचम–राँची, षष्ठ–तड़ाई (बिहार), सप्तम–पेटरवार (बोकारो), अष्टम–बड़ागाँव, नवम–शाहपुर (मु. नगर), दशम–मथुरा, एकादश–तिजारा, द्वादश–अजमेर और त्रयोदश–निवाई (राजस्थान)। उपर्युक्त के अतिरिक्त आपने अनेक ग्रामों एवं नगरों में भ्रमण कर जैन एवं जैनेतर समाज का महदुपकार किया है।

●

अन्तर्ध्वनि

जैनविद्या की अनेक विधाओं में जैनन्याय का एक विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है। क्योंकि इसकी अप्रतिम प्रणाली और विशाल साहित्य ने सम्पूर्ण भारतीय मनीषा को न केवल प्रभावित किया है, अपितु गौरवान्वित भी किया है। परन्तु भारतीय दर्शनों के इतिहास-विषयक ग्रन्थों में जैनदर्शन एवं जैनन्याय को यथार्थरूप में प्रस्तुत नहीं किया गया है, जिससे आज भी इस विषय में अनेक प्रकार के भ्रम फैले हुए हैं। भारतीय दर्शनों का विभाजन करते समय जैनदर्शन को नास्तिक दर्शनों की कोटि में रखा जाता है, जबकि तथ्य यह है कि जैनदर्शन आत्मा-परमात्मा, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक आदि को स्वीकार करता है, अतः यह विशुद्धरूप से आस्तिक दर्शन है। ऐसी स्थिति में हमारा यह नैतिक दायित्व है कि हम जैनदर्शन एवं जैनन्याय के सन्दर्भ में फैली हुई मिथ्या-धारणाओं का निराकरण करें। साथ ही प्राचीन जैनाचार्यों द्वारा सृजित जैनदर्शन एवं न्यायविद्या के विशाल तथा महत्त्वपूर्ण साहित्य को सरल, सुबोध और आधुनिक शैली में प्रस्तुत करें। इससे उन लोगों की इस विधा के प्रति रुचि जाग्रत होगी, जो इसे कठिन समझकर इसके अध्ययन और अध्यापन से दूर रहते हैं।

प्रस्तुत **'न्यायकुमुदचन्द्र परिशीलन'** नामक कृति इन महान् उद्देश्यों की पूर्ति में एक सार्थक और सराहनीय कदम है, जिसे साकार किया है जैन-बौद्धदर्शन के साथ ही विविध भारतीय दर्शनों के अधिकारी विद्वान् **प्रो0 उदयचन्द्रजी जैन सर्वदर्शनाचार्य** ने।

जैन-न्यायविद्या की एक विशाल परम्परा है, जिसके प्रतिष्ठापकों में **आचार्य समन्तभद्र** और **आचार्य अकलङ्कदेव** का नाम अग्रगण्य है। इन्हीं श्रेष्ठ तार्किकों की परम्परा में आचार्य प्रभाचन्द्र का नाम बड़े गौरव के साथ लिया जाता है। **आचार्य प्रभाचन्द्र** ने **आचार्य अकलङ्कदेवकृत लघीयस्त्रय** की विस्तृत व्याख्या के रूप में **न्यायकुमुदचन्द्र** जैसी महनीय टीका और **आचार्य माणिक्यनन्दिकृत परीक्षामुखसूत्र** नामक लघु किन्तु

महत्त्वपूर्ण सूत्र- ग्रन्थ पर **प्रमेयकमलमार्तण्ड** नामक बारह हजार श्लोक प्रमाण प्रमेयों से भरपूर विस्तृत टीका लिखकर बहुत बड़े अभाव की पूर्ति की है। **आचार्य प्रभाचन्द्र** द्वारा लिखित ये दोनों ग्रन्थ टीकाग्रन्थ अवश्य हैं, किन्तु विषय की विविधता और मौलिक चिन्तन के कारण अपने आप में पूर्ण एवं स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में प्रतिष्ठित हैं। संस्कृत भाषा में निबद्ध ये दोनों विशाल टीकाग्रन्थ न्यायविषयक होने से अत्यन्त दुरूह हैं, जिससे अनेक विद्वानों के लिए भी इनके हार्द को समझने में कठिनाई होती है। अतः **आचार्य प्रभाचन्द्र** की न्यायविद्या-विषयक कृति **न्यायकुमुदचन्द्र** को सरल और सुबोध शैली में परिशीलन के माध्यम से प्रस्तुत करने के लिए **प्रो. उदयचन्द्रजी जैन** प्रशंसा के पात्र हैं। यहाँ यह स्मरणीय है कि **प्रो. उदयचन्द्रजी जैन** द्वारा लिखित **'प्रमेयकमलमार्तण्ड परिशीलन'** दो वर्ष पहले ही **प्राच्य श्रमण भारती** से प्रकाशित हो चुका है।

ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी के विद्वान् **आचार्य प्रभाचन्द्र** द्वारा रचित अनेक ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है, परन्तु पूर्वोक्त दोनों ग्रन्थों के कारण ही इनकी विशेष ख्याति है। इन दोनों ग्रन्थों में **आचार्य प्रभाचन्द्र** ने सम्पूर्ण भारतीय दर्शनों की प्रायः सभी शाखाओं की प्रमुख मान्यताओं को उनके मूल स्रोतों के आधार पर गहन अध्ययनपूर्वक पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है। तदनन्तर प्रबल प्रमाणों के आधार पर पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए जैनदर्शन के पक्ष को अकाट्य युक्तियों और प्रमाणों द्वारा प्रस्तुत किया है। **आचार्य प्रभाचन्द्र** की न्याय तथा दर्शन-विषयक रचनाओं से जैनदर्शन तथा जैनन्याय को जो गौरव प्राप्त हुआ है उसे शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता है।

प्रमेयकमलमार्तण्ड की तरह **न्यायकुमुदचन्द्र** भी जैनन्याय तथा जैनदर्शन-विषयक एक महत्त्वपूर्ण कृति है। **आचार्य अकलङ्कदेव** ने **लघीयस्त्रय** नामक एक प्रकरण ग्रन्थ की रचना 78 कारिकाओं में की थी और इन कारिकाओं पर विवृति (संक्षिप्त टीका) भी लिखी थी। इसमें छोटे-छोटे तीन प्रकरणों- **प्रमाणप्रवेश**, **नयप्रवेश** और **प्रवचनप्रवेश** का संग्रह है। प्रस्तुत **न्यायकुमुदचन्द्र** एक स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर उसी **लघीयस्त्रय** और उसकी विवृति का विशद व्याख्यान है। न्यायकुमुदचन्द्र रात्रि में खिलने वाले न्यायरूपी कुमुदों (कमलों) को विकसित करने के लिए चन्द्रमा के

समान है। **न्यायकुमुदचन्द्र प्रमेयकमलमार्तण्ड** से बड़ा है और श्रीमान् **डॉ० पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य** द्वारा सम्पादित होकर श्री माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई से सन् 1938 में दो भागों में प्रकाशित हो चुका है। **प्रमेयकमलमार्तण्ड** का तो बहुत पहले हिन्दी में अनुवाद हो चुका है, किन्तु वर्तमान में **न्यायकुमुदचन्द्र** का भी हिन्दी में अनुवाद आवश्यक है।

प्रसन्नता की बात है कि जैन-बौद्धदर्शन के साथ ही विविध भारतीय दर्शनों के अधिकारी विद्वान् **प्रो. उदयचन्द्रजी जैन सर्वदर्शनाचार्य** ने परिश्रमपूर्वक प्रस्तुत "**न्यायकुमुदचन्द्र परिशीलन**" को राष्ट्रभाषा हिन्दी में लिखकर एक स्तुत्य कार्य किया है। मैं इनकी योग्यता तथा विद्वत्ता से सुपरिचित हूँ। आशा है विद्वान् लेखक की यह कृति सबके लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

प्रो. उदयचन्द्रजी जैन ने इससे पूर्व आचार्य **समन्तभद्र** की **आप्तमीमांसा** पर आचार्य **अकलङ्कदेव** की **अष्टशती** और आचार्य **विद्यानन्द** की **अष्टसहस्री** के आलोक में **आप्तमीमांसा-तत्त्वदीपिका** एवम् **आचार्य समन्तभद्र** विरचित **स्वयम्भूस्तोत्र** पर तत्त्वप्रदीपिका नामक व्याख्यायें लिखी हैं, जो इनके दर्शन-विषयक गम्भीर ज्ञान को प्रकट करती हैं। इनकी एक लघु किन्तु महत्त्वपूर्ण पुस्तक **अनेकान्त और स्याद्वाद** भी है। ये तीनों ग्रन्थ श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान, वाराणसी से प्रकाशित हुए हैं।

अन्त में हम **प्रो. उदयचन्द्रजी जैन** के माङ्गलिक अभ्युदय की कामना करते हुए उन्हें अपना शुभाशीर्वाद देते हैं कि वे भविष्य में भी इसी प्रकार साहित्य सेवा करते रहे, जिससे समाज को उनके ज्ञान का लाभ मिलता रहे। साथ ही **डॉ. कमलेशकुमार जैन** को भी शुभाशीर्वाद देता हूँ, जिन्होंने इस कार्य में सहयोग किया है।

चातुर्मास, सन् 2000 **उपाध्याय ज्ञानसागर**
निवाई (टोंक), राजस्थान

प्राक्कथन

परम हर्ष की बात है कि परमपूज्य 108 **उपाध्यायश्री ज्ञानसागर जी महाराज** की प्रेरणा और आशीर्वाद से मैंने सन् 1997 में **आचार्य प्रभाचन्द्र** द्वारा विरचित जैनन्याय एवं जैनदर्शन के प्रसिद्ध ग्रन्थ **प्रमेयकमलमार्तण्ड** के आधार पर **प्रमेयकमलमार्तण्ड परिशीलन** लिखा था। इस ग्रन्थ की वाचना श्रीजम्बूस्वामी दिगम्बर जैन सिद्ध क्षेत्र चौरासी-मथुरा में पूज्य उपाध्यायश्री के सान्निध्य में अनेक विद्वानों के साथ बैठकर अक्टूबर 1997 के अन्तिम सप्ताह में हुई थी। तदनन्तर ग्रन्थ प्रेस में छपने के लिए दे दिया गया था। ग्रन्थ का प्रकाशन हो जाने पर श्रुतपञ्चमी के अवसर पर मेरठ में अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्रि-परिषद् के अधिवेशन के समय शताधिक विद्वानों की उपस्थिति में दिनांक 1 जून 1998 को उसका विमोचन हुआ था।

इस अवसर पर एक विशेष बात यह हुई कि विमोचन के पूर्व उपाध्यायश्री ने मुझे अपने पास बुलाकर कहा कि न्यायकुमुदचन्द्र पर परिशीलन लिखने का वचन दो तब इस ग्रन्थ का विमोचन होगा। उपाध्यायश्री की हार्दिक आकांक्षा को जानकर मैंने महाराजश्री के चरणों में सविनय निवेदन किया कि मैं यथाशक्ति और यथासम्भव आपकी आज्ञा का पालन करने का पूर्ण प्रयत्न करूँगा।

तदनुसार मैंने न्यायकुमुदचन्द्र पर परिशीलन लिखने का निश्चय करके कार्य प्रारम्भ कर दिया, परन्तु अस्वस्थता आदि कुछ कारणों से इस कार्य को करने में समय अधिक लग गया। फिर भी सन्तोष की बात है कि आष्टाह्निकपर्व की पूर्णिमा दिनांक 20 मार्च 2000 को मेरा लेखन कार्य सानन्द सम्पन्न हो गया। मैं अपने इस लेखन कार्य में कहाँ तक सफल हुआ हूँ,इसका मूल्याङ्कन तो विज्ञ पाठक ही कर सकते हैं।

इस बीच पूज्य उपाध्यायश्री प्रेरणा और आशीर्वाद देते रहे तथा जिज्ञासा करते रहे कि लेखन कार्य कब तक समाप्त होगा। और जब उन्हें यह जानकारी मिली कि उक्त ग्रन्थ का लेखन कार्य पूर्ण हो गया है तो उन्होंने इसकी वाचना के लिए उत्सुकता प्रकट की। मैंने भी सोचा कि पूज्य उपाध्यायश्री के सान्निध्य

में और कुछ विद्वानों की उपस्थिति में इसकी वाचना हो जाय तो यह एक अच्छी बात होगी, क्योंकि ऐसा करने से यदि मेरे लेखन में किसी प्रकार की त्रुटि होगी तो उसका परिमार्जन हो जायेगा, किन्तु ग्रीष्मावकाश में कुछ बाधाओं के कारण पूज्य उपाध्यायश्री के पास जाकर वाचना का कार्य सम्पन्न नहीं हो सका। फिर भी हम लोगों ने वाराणसी में ही इस कार्य को सम्पन्न कर लिया।

श्रीमान् **डॉ0 कमलेशकुमारजी जैन** का विचार हुआ कि क्यों न ग्रीष्मावकाश में इसका वाचन करके समय का सदुपयोग कर लिया जाय। अतः वे पूरा मैटर अपने घर ले गये और मेरे लेखन के प्रत्येक वाक्य को सावधानीपूर्वक पढ़ना प्रारम्भ कर दिया तथा लगभग एक माह तक निरन्तर परिश्रम करके उसमें भाषा सम्बन्धी तथा विषय सम्बन्धी जो भी अशुद्धियाँ मिलीं,उन्हें लाल स्याही से रेखाङ्कित कर लिया। तदनन्तर हम दोनों ने लगातार 15 दिनों तक नियमित बैठकर उन अशुद्धियों का परिमार्जन करके प्रेस में देने योग्य पाण्डुलिपि तैयार कर ली। इस प्रकार अशुद्धियों के संशोधन तथा अन्य अनेक आवश्यक सुझाव देने में **डॉ0 कमलेशजी** का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। मूल तथा टिप्पण में जो वाक्य उद्धृत किये गये हैं उनके मूल उद्गम-स्थलों को खोजने में भी आपने बहुत परिश्रम किया है।

न्यायकुमुदचन्द्र परिशीलन के लिखने में पूज्य **उपाध्यायश्री ज्ञानसागर जी** महाराज की प्रेरणा तथा मङ्गल आशीर्वाद ही प्रमुख कारण रहा है। आपने इस कृति पर अपनी मङ्गल आशीर्वादमयी **अन्तर्ध्वनि** लिखकर मेरा उत्साहवर्द्धन किया है। इस सबके लिए मैं किन शब्दों में आपका आभार व्यक्त करूँ। मैं तो आपके श्रीचरणों में सदा ही नतमस्तक रहकर अपने कल्याण की कामना करता हूँ। आपके मङ्गल आशीर्वाद एवं प्रेरणा से रचित यह कृति आपके ही करकमलों में भक्तिभावपूर्वक सादर समर्पित कर मैं हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ।

यहाँ यह स्मरणीय है कि पूज्य **उपाध्यायश्री ज्ञानसागरजी** महाराज ने **परीक्षामुख**, **न्यायदीपिका**, **आप्तमीमांसा**, **प्रमेयकमलमार्तण्ड**, **अष्टसहस्री** आदि न्यायविद्या के अनेक ग्रन्थों का रुचिपूर्वक अध्ययन किया है और इसी कारण न्यायविद्या में आपकी गहन अभिरुचि है। ललितपुर (उ0प्र0) में मार्च 1987 में आपकी प्रेरणा से जैनन्यायविद्या वाचना बहुत ही

आनन्द एवम् उत्साहपूर्वक सम्पन्न हुई थी। इसी प्रकार आपकी प्रेरणा से ही अक्टूबर 1996 में शाहपुर (मुजफ्फरनगर) में **'जैनन्याय को आचार्य अकलङ्कदेव का अवदान'** विषय पर राष्ट्रीय विद्वत्सङ्गोष्ठी उल्लासमय वातावरण में अत्यन्त सफलतापूर्वक सम्पन्न हुई थी। इस प्रकार जैनन्यायविद्या के प्रचार-प्रसार में पूज्य उपाध्यायश्री का सदा ही महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

न्यायकुमुदचन्द्र जैनन्याय और जैनदर्शन के अनेक तत्त्वों पर विशद विवेचन करने वाला एक विशालकाय ग्रन्थ है और इसका मन्थन करके उसमें से मैंने जो सारभूत तत्त्व निकाला है उसे यहाँ राष्ट्रभाषा हिन्दी में प्रस्तुत किया है। इसमें **न्यायकुमुदचन्द्र** में चर्चित समस्त विषयों का संक्षेप में दिग्दर्शन कराया गया है। अतः इसके अध्ययन से संस्कृत न जानने वाले पाठकों को तथा दुरुहता के कारण संस्कृत के अध्ययन में विशेष रुचि न रखने वाले विद्यार्थियों को कुछ न कुछ लाभ अवश्य मिलेगा। मैंने **न्यायकुमुदचन्द्र परिशीलन** में जो कुछ लिखा है उसमें अनेक त्रुटियों का होना स्वाभाविक है। अतः सुधी पाठकों से मेरा विनम्र अनुरोध है कि वे मेरी त्रुटियों की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट करने की कृपा अवश्य करें।

यहाँ मैं अपने पूज्य गुरुजनों– श्रीमान् पं० **कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री**, श्रीमान् **डॉ० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य** तथा श्रीमान् **डॉ० दरबारीलालजी कोठिया** न्यायाचार्य को स्मरण कर लेना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ, क्योंकि मैंने इन्हीं गुरुजनों की कृपा से जैनन्याय और जैनदर्शन का थोड़ा-सा ज्ञान प्राप्त किया है।

प्रियबन्धु **डॉ० कमलेशकुमारजी जैन** (वरिष्ठ प्राध्यापक, जैन-बौद्धदर्शन-विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) ने इस कार्य में मुझे समय-समय पर अनेक प्रकार से अत्यधिक सहयोग किया है। इसके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ और उनके उज्ज्वल भविष्य की कामना करता हूँ।

विनयावनत

उदयचन्द्र जैन

निवास : 122-बी, रवीन्द्रपुरी

वाराणसी-221005

अनन्तचतुर्दशी

वी.नि.सं. 2526

12 सितम्बर, 2000

आचार्य अकलङ्कदेव और प्रभाचन्द्र

आचार्य अकलङ्कदेव (ई0सन् 620 से 680) जैनन्याय के प्रतिष्ठापक आचार्य के रूप में प्रसिद्ध हैं। अतः जैनन्याय को अकलङ्कन्याय भी कहा जाता है। ऐसे गरिमामय व्यक्तित्व के धनी **आचार्य अकलङ्कदेव** ने अपने अगाध वैदुष्य एवं तर्कणाशक्ति के माध्यम से जैनधर्म-दर्शन पर लगने वाले आक्षेपों के निराकरण के लिये तत्कालीन दार्शनिकों की चुनौतियों को स्वीकार किया था और जैनदर्शन के प्रमुख सिद्धान्त– स्याद्वाद एवं नय को केन्द्रबिन्दु बनाकर जैनन्याय का ऐसा अभेद्य दुर्ग तैयार किया कि जिसमें कुवादियों के तर्करूपी गोले शक्तिहीन हो गये। इसलिये **आचार्य अकलङ्कदेव शास्त्रार्थी अकलङ्क** के रूप में आज भी अतीव आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं। उनके द्वारा लिखित **तत्त्वार्थवार्तिक**, **अष्टशती**, **लघीयस्त्रय**, **न्यायविनिश्चय**, **सिद्धिविनिश्चय** और **प्रमाणसंग्रह**– ये छह कृतियाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें से प्रथम दो कृतियाँ व्याख्या के रूप में और शेष चार स्वतन्त्ररूप से लिखी गई हैं।

आचार्य उमास्वामी के **तत्त्वार्थसूत्र** पर आचार्य **पूज्यपाद** ने **सर्वार्थसिद्धि** नामक टीका लिखी है। पुनः इसी **सर्वार्थसिद्धि** टीका को समाहित करते हुए **आचार्य अकलङ्कदेव** ने **तत्त्वार्थवार्तिक** की रचना की है। इसी प्रकार उन्होंने **आचार्य समन्तभद्रकृत आप्तमीमांसा** पर आठ सौ श्लोक प्रमाण **अष्टशती** नामक ग्रन्थ की रचना की है, जो उनके जैनन्याय विषयक तलस्पर्शी ज्ञान की सूचक है।

आचार्य अकलङ्कदेव की ये दोनों कृतियाँ यद्यपि पूर्वाचार्यों द्वारा प्रणीत ग्रन्थों पर आधारित टीकाएँ हैं, किन्तु अपने नव्य और भव्य स्वरूप के कारण ये कृतियाँ टीका ग्रन्थ होते हुए भी स्वतन्त्ररूप से लिखी गई कृतियों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण हैं और अपने नवीन स्वतन्त्र नाम से ही विद्वज्जगत् में समादृत हैं।

प्राचीनकाल में टीकाओं के ऊपर टीका लिखने की एक लम्बी परम्परा रही है, जिससे मुझे ऐसा लगता है कि आचार्य **समन्तभद्रकृत आप्तमीमांसा** पर आचार्य **अकलङ्कदेव** ने जो **अष्टशती** नामक टीका लिखी है और पुनः उस टीका पर **आचार्य विद्यानन्द** ने जो आठ हजार श्लोक प्रमाण **अष्टसहस्री** नामक टीका लिखी है, सम्भवतः उसके लिखने की प्रेरणा उन्हें **आचार्य अकलङ्कदेव** की इन्हीं कृतियों से ही प्राप्त हुई होगी, क्योंकि **उमास्वामीकृत तत्त्वार्थसूत्र** पर **आचार्य पूज्यपाद**

ने जो **सर्वार्थसिद्धि** नामक टीका लिखी है और पुनः उस टीका पर **आचार्य अकलङ्कदेव** ने जो **तत्त्वार्थवार्तिक** नामक टीका लिखी है, वह जाने-अनजाने उनके मस्तिष्क में अवश्य घूमती रही होगी और उसी की फलश्रुति है उक्त **अष्टसहस्री** टीका। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि **आचार्य विद्यानन्द** ने **तत्त्वार्थवार्तिक** पर पुनः **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालङ्कार** नामक बृहट्टीका भी लिखी है। इससे एक बात यह भी स्पष्ट होती है कि **आचार्य विद्यानन्द** के हृदय में आचार्य **अकलङ्कदेव** के प्रति अनन्य श्रद्धा थी।

आचार्य अकलङ्कदेवकृत लघीयस्त्रय प्रमाणप्रवेश, नयप्रवेश और प्रवचनप्रवेश– इन तीन लघु प्रकरणों का समूह है, जिससे **लघीयस्त्रय** यह नाम सार्थक प्रतीत होता है। **लघीयस्त्रय** के उक्त तीनों लघु प्रकरण यद्यपि देखने में वामन हैं, किन्तु अपने अर्थगाम्भीर्य के कारण वामनावतार सिद्ध हुए हैं, जिसकी झलक **लघीयस्त्रय** के प्रशस्त भाष्यकार **आचार्य प्रभाचन्द्र** (ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी) द्वारा लिखित **न्यायकुमुदचन्द्र** में देखने को मिलती है।

न्यायकुमुदचन्द्र यद्यपि एक टीका ग्रन्थ है, किन्तु इसकी लेखन शैली एवम् इसमें उल्लिखित विविध विषयों के खण्डन-मण्डन के कारण यह एक स्वतन्त्र कृति के रूप में प्रतिष्ठित है। इस ग्रन्थ में पूर्वपक्ष के रूप में समागत विविध दार्शनिक प्रस्थानों से ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य प्रभाचन्द्र तत्कालीन दार्शनिकों में धुरिकीर्तनीय थे। उन्होंने जैन एवं जैनेतर ग्रन्थों का गहन अध्ययन किया था, जिससे विविध भारतीय दर्शनों में उनकी गहरी पैठ हो गई थी।

आचार्य **प्रभाचन्द्र** की तर्कणाशक्ति बेजोड़ है। जब वे पूर्वपक्ष के रूप में किसी दर्शन-विशेष को प्रस्तुत करते हैं तो वे उसी प्रस्थान के आचार्य प्रतीत होते हैं, किन्तु जब वे उस पूर्वपक्ष का उत्तर देते हुए पुङ्खानुपुङ्ख प्रतिप्रश्नों की झड़ी लगाते हैं तो उनका शास्त्रार्थकौशल मुखर हो उठता है। **आचार्य माणिक्यनन्दिकृत परीक्षामुखसूत्र** पर उनके द्वारा लिखी गई **प्रमेयकमलमार्तण्ड** नामक टीका उनकी इसी तर्कणाशक्ति का अपूर्व निदर्शन है। इस प्रकार **आचार्य प्रभाचन्द्रकृत प्रमेयकमलमार्तण्ड** और पूर्वोक्त **न्यायकुमुदचन्द्र** उनके जैनन्यायशास्त्र सम्बन्धी अगाध वैदुष्य को प्रकट करते हैं। तार्किकशैली और संस्कृत भाषा में निबद्ध ये दोनों टीका ग्रन्थ यद्यपि दुरूह हैं। अतः इनका पठन-पाठन प्रायः बाधित हो गया है और अब इन ग्रन्थों के कतिपय प्रारम्भिक अंशों के मात्र नाम का उल्लेख विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में दिखलाई दे रहा है।

जैनन्याय के इन दुरूह और बृहदाकार विशिष्ट ग्रन्थों की ओर जब परमपूज्य **108 उपाध्यायश्री ज्ञानसागरजी महाराज** का ध्यान आकृष्ट किया गया तो वे मर्माहत हो गये और उन्होंने इन ग्रन्थों के पुनः प्रचार-प्रसार में लाने की दृष्टि से जब विद्वानों से चर्चा की तो निष्कर्ष स्वरूप यह तथ्य सामने आया कि यदि इन ग्रन्थों का सरल हिन्दी भाषा में संक्षिप्त लेखन हो जावे तो न केवल जैन विद्वान्, अपितु जैनेतर विद्वान् भी इनका उपयोग कर सकेंगे। फलस्वरूप एक ऐसे प्रौढ़ विद्वान् की खोज होने लगी जो इस दुरूह कार्य को करने में सक्षम हो।

उक्त अवसर पर प्रायः सभी विद्वानों ने एक स्वर से इस कार्य के लिये श्रद्धेय **प्रो0 उदयचन्द्रजी जैन** सर्वदर्शनाचार्य, वाराणसी का नाम प्रस्तावित किया, क्योंकि वे जैन-बौद्धदर्शन एवं न्याय के साथ ही अन्य समस्त भारतीय दर्शनों की प्राचीन एवम् अर्वाचीन- उभयविध परम्पराओं के विशिष्ट अभ्यासी विद्वान् हैं। उनकी लेखनी से अनेक वर्षों पूर्व **आचार्य विद्यानन्दकृत अष्टसहस्री** के हार्द को स्पष्ट करने वाली **आप्तमीमांसा तत्त्वदीपिका** भी प्रकाशित हो चुकी थी। अतः पूज्य उपाध्यायश्री के आशीर्वाद से **प्रो0 उदयचन्द्रजी** ने पहले **प्रमेयकमलमार्तण्ड** पर आधारित **प्रमेयकमलमार्तण्ड परिशीलन** का लेखन कार्य सम्पन्न किया, जो प्राच्य श्रमण भारती, मुज़फ्फरनगर से सन् 1998 में प्रकाशित हो चुका है। इस ग्रन्थ पर आदरणीय पण्डितजी को पूज्य गणेशप्रसाद वर्णी स्मृति पुरस्कार के अन्तर्गत ग्यारह हजार की राशि से **आचार्यश्री विरागसागरजी महाराज की** ससंघ उपस्थिति में 11 मई 2000 को स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी में सम्मानित किया गया है।

प्रो0 उदयचन्द्रजी जैन द्वारा उसी कड़ी में **न्यायकुमुदचन्द्र** के आधार पर प्रस्तुत **न्यायकुमुदचन्द्र परिशीलन** भी लिखा गया है, जो अनेक विशेषताओं को अपने में सँजोए हुए हैं।

इस **न्यायकुमुदचन्द्र परिशीलन** के प्रारम्भ में एक संक्षिप्त प्रस्तावना दी गई है, जो ग्रन्थकार और ग्रन्थगत विषयों आदि पर प्रकाश डालती हैं। साथ ही ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट के रूप में **लघीयस्त्रय** का मूल कारिकापाठ भी दिया गया है।

मैंने आज से *लगभग* बारह वर्ष पूर्व सन् 1989 में **स्व0 पण्डित कैलाशचन्द्र जी शास्त्री** द्वारा लिखित जैनन्याय (भाग 2) का सम्पादन किया था, जिस पर उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान ने विविध पुरस्कार के अन्तर्गत मुझे सम्मानित भी किया है। तदनन्तर उन्हीं पण्डितजी द्वारा विशेषार्थ के साथ हिन्दी भाषा में अनूदित **लघीयस्त्रय** का भी सम्पादन करने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ। इन दोनों ग्रन्थों

का प्रकाशन श्रीगणेशवर्णी दिगम्बर जैन संस्थान, नरिया, वाराणसी से हुआ है। उपर्युक्त के अतिरिक्त मैंने **जैनन्याय को आचार्य अकलङ्कदेव का अवदान** नामक कृति का भी सम्पादन किया है। जैनन्याय विषयक इन समस्त सारस्वत कार्यों में मुझे श्रद्धेय **पण्डित उदयचन्द्रजी जैन** का सहयोग, प्रेरणा एवम् आशीर्वाद प्राप्त रहा है, जिससे मैं इन कार्यों को पूर्ण करने में समर्थ हुआ हूँ।

सम्प्रति जब श्रद्धेय पण्डितजी ने पूज्य **उपाध्यायश्री 108 ज्ञानसागरजी** महाराज की प्रेरणा से **न्यायकुमुदचन्द्र परिशीलन** की रचना की तो उसमें उन्होंने मुझे अपने सहयोगी के रूप में स्थान देकर मेरे ऊपर महती कृपा की है। वस्तुतः **न्यायकुमुदचन्द्र परिशीलन** को अन्तिम रूप देने के लिये इसकी वाचना प्रस्तावित थी, किन्तु अपरिहार्य कारणों से इसकी वाचना नहीं हो सकी तो मैं स्वान्तःसुखाय उक्त ग्रन्थ की सामग्री श्रद्धेय पण्डितजी से क्रमशः लाता गया और स्वाध्याय करने लगा। इसी क्रम में पण्डितजी ने आदेश दिया कि 'जहाँ भी कोई त्रुटि हो उसे रेखाङ्कित कर दिया जाय' फलस्वरूप मैंने अपनी अल्पबुद्धि से पण्डितजी के आदेश का अक्षरशः पालन किया। स्वाध्याय सम्पन्न होने के पश्चात् रेखाङ्कित पदों पर पण्डितजी के साथ बैठकर विचार-विमर्श किया और उसको जो अन्तिम रूप पण्डितजी ने दिया है वह आपके करकमलों में प्रस्तुत है।

श्रद्धेय पण्डितजी के साथ प्रस्तुत **न्यायकुमुदचन्द्र परिशीलन** का कार्य सम्पन्न करके मैं अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ। पण्डितजी का स्वास्थ्य अनुकूल रहे और वे निरन्तर जिनवाणी माता की सेवा करते रहें, यही मेरी उनके प्रति मङ्गलकामना है।

अन्त में मैं पूज्य उपाध्यायश्री के ससंघ श्रीचरणों में त्रिबार विनम्र नमोऽस्तु करता हुआ उनके मङ्गलमयी आशीर्वाद की कामना करता हूँ।

अन्त में मैं सरिता कम्प्यूटर्स के सञ्चालक **चि. अजयकुमार चौहान** को धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने सुन्दर अक्षर-सज्जा करके इस कार्य को तत्परतापूर्वक सम्पन्न किया है।

पौ.कृ.एकादशी, 2057	**निर्वाण भवन**,	विनम्र
पार्श्वनाथ जयन्ती,	**बी 2/249, लेन नं. 14**,	डॉ0 **कमलेशकुमार जैन**
21 दिसम्बर, 2000	**रवीन्द्रपुरी, वाराणसी**	जैनदर्शन-प्राध्यापक

प्रस्तावना

विषयानुक्रमणिका

लघीयस्त्रय के रचयिता आचार्य अकलङ्कदेव

आचार्य अकलङ्क की दार्शनिक उपलब्धियाँ

न्यायकुमुदचन्द्र के रचयिता आचार्य प्रभाचन्द्र

न्यायकुमुदचन्द्र का प्रतिपाद्य विषय

●

प्रस्तावना

आचार्य प्रभाचन्द्र द्वारा विरचित न्यायकुमुदचन्द्र जैनदर्शन और जैनन्याय विषयक एक उच्चकोटि का ग्रन्थ है, जिसमें जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में अन्य समस्त भारतीय दर्शनों के प्रमुख सिद्धान्तों का तार्किक शैली में विवेचन किया गया है। अतः यहाँ सर्वप्रथम यह जान लेना आवश्यक है कि दर्शन और न्याय की परिभाषा क्या है?

दर्शन की परिभाषा :

मनुष्य विचारशील प्राणी है। वह प्रत्येक कार्य के समय अपनी विचारशक्ति का उपयोग करता है। इसी विचारशक्ति को विवेक कहते हैं। अतः मनुष्य में जो स्वाभाविक विचारशक्ति है उसी का नाम दर्शन है। '**दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम्**' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसके द्वारा वस्तु का स्वरूप देखा जाता है वह दर्शन कहलाता है। अर्थात् यह संसार नित्य है या अनित्य? इसकी सृष्टि करने वाला कोई है या नहीं? आत्मा का स्वरूप क्या है? इसका पुनर्जन्म होता है या नहीं? ईश्वर की सत्ता है या नहीं? इत्यादि प्रश्नों का समुचित उत्तर देना दर्शनशास्त्र का काम है। दर्शनशास्त्र वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादन करने के कारण वस्तुपरतन्त्र है। सत् की व्याख्या करने में भारतीय दार्शनिकों ने विषय की ओर उतना ध्यान नहीं दिया जितना विषयी (आत्मा) की ओर। आत्मा को अनात्मा से पृथक् करना दार्शनिकों का प्रधान कार्य रहा है। इसीलिए **आत्मानं विद्धि**–आत्मा को जानो यह भारतीय दर्शनों का मूल मन्त्र है। यही कारण है कि प्रायः समस्त भारतीय दर्शन आत्मा की सत्ता पर प्रतिष्ठित हैं। यहाँ धर्म तथा दर्शन में प्रारम्भ से ही घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है और दर्शनशास्त्र के सुविचारित आध्यात्मिक तथ्यों के ऊपर ही भारतीय धर्म और दर्शन दृढ़ प्रतिष्ठित है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्राचीन ऋषि-महर्षियों ने अपनी तात्त्विक दृष्टि से जिन-जिन तथ्यों का साक्षात्कार किया उनको 'दर्शन' शब्द के द्वारा कहा गया है। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि

यदि दर्शन का अर्थ साक्षात्कार है तो फिर विभिन्न दर्शनों में पारस्परिक मतभेद का कारण क्या है? इस प्रश्न का उत्तर यही हो सकता है कि अनन्तधर्मात्मक वस्तु को विभिन्न ऋषियों ने अपने-अपने दृष्टिकोणों से देखा और तदनुसार उसका प्रतिपादन किया। अतः यदि हम दर्शन शब्द के अर्थ को भावनात्मक साक्षात्कार के रूप में ग्रहण करें तो उपर्युक्त प्रश्न का समाधान हो सकता है।

दर्शन का प्रयोजन :

समस्त भारतीय दर्शनों का प्रयोजन संसार के समस्त दुःखों से छुटकारा पाना अर्थात् मुक्ति या मोक्ष प्राप्त करना है। इस संसार के सभी प्राणी आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक– इन तीन प्रकार के दुःखों से पीड़ित हैं। अतः इन दुःखों से निवृत्ति का उपाय बतलाना दर्शनशास्त्र का प्रधान लक्ष्य है। जिस प्रकार चिकित्साशास्त्र में रोग, रोग-निदान, आरोग्य और औषधि– इन चार तत्त्वों का प्रतिपादन करना आवश्यक है, उसी प्रकार दर्शनशास्त्र में भी दुःख, दुःख के कारण, मोक्ष और मोक्ष के कारणों का प्रतिपादन करना अत्यावश्यक है।

न्याय की परिभाषा :

जिस उपाय के द्वारा वस्तुतत्त्व का ज्ञान प्राप्त किया जाता है उसे न्याय कहते हैं। **तत्त्वार्थसूत्र** के **'प्रमाणनयैरधिगमः'** (1/6) इस सूत्र में जैनन्याय के बीज विद्यमान हैं। हम जीवादि तत्त्वों का ज्ञान प्रमाण और नय के द्वारा करते हैं। इसीलिए **न्यायदीपिका** में **'प्रमाणनयात्मको न्यायः'** इस वाक्य के द्वारा न्याय को प्रमाण और नयरूप कहा गया है। न्यायदर्शन में **'प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः'** (न्या0सू0 1/1/1) इस सूत्र के द्वारा यह बतलाया गया है कि प्रमाणों के द्वारा अर्थ की परीक्षा करना न्याय कहलाता है। प्रत्येक दर्शन ने एक, दो, तीन आदि प्रमाणों को माना है और अपने-अपने मतानुसार उन प्रमाणों के द्वारा अर्थ की परीक्षा की है। किसी विषय में विरुद्ध नाना युक्तियों की प्रबलता और दुर्बलता का निश्चय करने के लिए जो विचार किया जाता है वह परीक्षा कहलाता है। **आचार्य उमास्वामी** ने सम्यग्ज्ञान के मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल– इन पाँच भेदों को बतलाकर **'तत्प्रमाणे'** (त0सू0. 1/11) इस सूत्र के द्वारा सम्यग्ज्ञान

में प्रमाणता का उल्लेख किया है। तदनन्तर **आचार्य समन्तभद्र** से जैनन्याय का वास्तविक स्वरूप प्रारम्भ होता है, परन्तु **आचार्य अकलङ्कदेव** ने जैनन्याय को व्यवस्थित रूप से प्रतिष्ठापित किया है। अतः **अकलङ्कदेव** जैनन्याय के प्रतिष्ठापक आचार्य माने गये हैं। **आचार्य अकलङ्कदेव** के बाद **आचार्य विद्यानन्द** ने जैनन्याय के सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। इसके अनन्तर **आचार्य माणिक्यनन्दि** ने **परीक्षामुख** की रचना करके जैनन्याय के सिद्धान्तों को सूत्रबद्ध किया है। **आचार्य माणिक्यनन्दि** के बाद **प्रभाचन्द्र, अनन्तवीर्य, हेमचन्द्र** आदि आचार्यों ने पूर्व आचार्यों का अनुसरण करते हुए न्याय के सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है।

भारतीय दर्शनों का श्रेणी विभाग :

भारतीय दर्शनों को आस्तिक और नास्तिक के भेद से दो श्रेणियों में विभक्त किया जाता है। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त– इन छह दर्शनों को आस्तिक तथा जैन, बौद्ध और चार्वाक– इन तीन दर्शनों को नास्तिक कहा जाता है, परन्तु भारतीय दर्शनों को आस्तिक और नास्तिक– इन दो श्रेणियों में विभक्त करने वाला कोई सर्वमान्य सिद्धान्त नहीं है। अतः भारतीय दर्शनों का विभाग वैदिक और अवैदिक दर्शनों के रूप में करना युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है। वेद को प्रमाण मानने के कारण न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त– ये छह वैदिक दर्शन हैं तथा वेद को प्रमाण न मानने के कारण चार्वाक, बौद्ध और जैन– ये तीन अवैदिक दर्शन हैं।

भारतीय दर्शनों का क्रमिक विकास :

भारतीय दर्शनों को हम दो कालों में विभाजित कर सकते हैं– सूत्रकाल और वृत्तिकाल। सूत्रकाल में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा तथा वेदान्त दर्शनों के सूत्रों की रचना हुई। सूत्रों की रचना से यह तात्पर्य नहीं है कि सूत्रों की रचना के समय से ही उस दर्शन का प्रारम्भ होता है, किन्तु ये सूत्र अनेक शताब्दियों में किये गये चिन्तन और मनन के फलस्वरूप निष्पन्न हुए हैं। इन सूत्रों का रचनाकाल 400 विक्रमपूर्व से 200 विक्रमपूर्व तक स्वीकार किया जाता है। सूत्र संक्षिप्त एवं गूढ़ार्थ वाले होते हैं। अतः उनके अर्थ को सरलतापूर्वक समझने के लिए भाष्य,

वार्तिक तथा टीका ग्रन्थों की रचना हुई। यह काल वृत्तिकाल कहलाता है। **शबर**, **कुमारिल**, **वात्स्यायन**, **प्रशस्तपाद**, **शङ्कर**, **रामानुज**, **वाचस्पति**, **धर्मकीर्ति**, **अकलङ्क**, **विद्यानन्द** और **प्रभाचन्द्र** आदि आचार्य इसी युग में उत्पन्न हुए हैं। यह वृत्तिकाल विक्रम संवत् 300 से विक्रम संवत् 1500 तक माना जाता है।

वैदिक दर्शनों में सांख्यदर्शन सबसे प्राचीन माना जाता है। उसके बाद क्रमशः अन्य दर्शनों की उत्पत्ति और विकास हुआ है। अवैदिक दर्शनों में चार्वाक दर्शन सबसे प्राचीन माना जाता है। वैदिकदर्शन की परम्परा में परिस्थितिवश उत्पन्न हुई बुराइयों को दूर करने के लिए ईसा पूर्व छठी शताब्दी में महात्मा बुद्ध के जन्म के बाद बौद्धदर्शन का आविर्भाव हुआ। जैनदर्शन की मान्यतानुसार जैनदर्शन की परम्परा अनादिकाल से प्रवाहित होती चली आ रही है। वर्तमान युग में आदि तीर्थङ्कर ऋषभनाथ से लेकर चौबीसवें तीर्थङ्कर भगवान् महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थङ्करों ने कालक्रम से जैनधर्म और जैनदर्शन के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। तथा आचार्य **कुन्दकुन्द**, **उमास्वामी**, **समन्तभद्र**, **सिद्धसेन**, **अकलङ्क**, **विद्यानन्द**, **हरिभद्र**, **माणिक्यनन्दि**, **प्रभाचन्द्र**, **हेमचन्द्र** आदि आचार्यों ने जैनदर्शन के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। कुछ लोग जैनदर्शन और बौद्धदर्शन को वैदिकदर्शन की शाखा के रूप में स्वीकार करते हैं, किन्तु उनकी ऐसी मान्यता ठीक नहीं है, क्योंकि ऐतिहासिक खोजों के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि श्रमण-परम्परा के अनुयायी उक्त दोनों सम्प्रदायों और दर्शनों का स्वतन्त्र अस्तित्व है। पाठकों तथा जिज्ञासुओं की जानकारी के लिए यहाँ संक्षेप में भारतीय दर्शनों के सिद्धान्तों का दिग्दर्शन कराया जा रहा है।

सांख्य तथा योगदर्शन :

ऐसा कहा जाता है कि तत्त्वों की संख्या (गिनती) के कारण इस दर्शन का नाम सांख्यदर्शन हुआ; किन्तु संख्या शब्द का दूसरा अर्थ है– विवेकज्ञान। इस दर्शन में प्रकृति और पुरुष के विवेकज्ञान पर विशेष बल दिया गया है। इसलिए इसे सांख्य कहते हैं। इस अर्थ में सांख्य शब्द का प्रयोग अधिक युक्तिसङ्गत है। सांख्य द्वैतवादी दर्शन है, क्योंकि वह प्रकृति और पुरुष– इन दो तत्त्वों को मौलिक मानता है। प्रकृति से

महत् (ज्ञान) आदि 23 तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। अतः सांख्यदर्शन में सब मिलाकर 25 तत्त्व माने गये हैं। सांख्यों ने प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम- इन तीन प्रमाणों को माना है।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्राचीन सांख्यों ने ईश्वर को नहीं माना है, परन्तु कालान्तर में ईश्वर की सत्ता भी स्वीकार कर ली गई। अतः सांख्य के निरीश्वरसांख्य और सेश्वरसांख्य-ऐसे दो भेद हो गये। सेश्वरसांख्य को ही योगदर्शन के नाम से कहा जाता है। ईश्वर की सत्ता मानकर यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि- योग के इन आठ अङ्गों के प्रतिपादन करने में ही योगदर्शन की सार्थकता है। योगसूत्रों के रचयिता महर्षि पतञ्जलि योगदर्शन के प्रवर्तक कहे जाते हैं।

कपिलमुनि सांख्यदर्शन के प्रवर्तक माने जाते हैं। उन्होंने सांख्यसूत्रों की रचना की है। उनके अनुसार मूल तत्त्व दो हैं- प्रकृति और पुरुष। प्रकृति से सर्वप्रथम बुद्धि उत्पन्न होती है। इसे महत् या महान् कहते हैं। महत् तत्त्व से 'मैं सुन्दर हूँ, मैं सुखी हूँ', इत्यादि प्रकार के अहङ्कार तत्त्व की उत्पत्ति होती है। अहङ्कार से चक्षु, घ्राण, रसना, त्वक् और श्रोत्र- ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ; वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ- ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन, और शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध- ये पाँच तन्मात्रायें, इस प्रकार कुल सोलह तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। पुनः पाँच तन्मात्राओं से पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश- इन पाँच महाभूतों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार प्रकृति द्वारा सब मिलाकर 23 तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। इनमें से प्रकृति सब तत्त्वों की उत्पत्ति का कारण ही होती है तथा वह किसी का कार्य नहीं है। महान्, अहङ्कार और पाँच तन्मात्रायें- ये सात तत्त्व कार्य और कारण दोनों होते हैं। शेष सोलह तत्त्व (ग्यारह इन्द्रियाँ और पाँच महाभूत) केवल कार्य हैं, कारण नहीं। पुरुष न तो किसी का कारण है और न किसी का कार्य है।

सांख्यों का मत है कि प्रकृति त्रिगुणात्मक है तथा सब पदार्थों में सत्त्व, रज और तम- इन तीन गुणों का अन्वय पाया जाता है, इसलिए सब पदार्थ प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं। सांख्य किसी पदार्थ की उत्पत्ति और *विनाश को नहीं मानते हैं, परन्तु आविर्भाव और तिरोभाव को मानते*

हैं। उत्पन्न घटादि पदार्थ उत्पत्ति के पहले अव्यक्तरूप से कारण में विद्यमान रहता है और कारण उसे केवल व्यक्त कर देता है। जैसे अन्धकार में पहले से स्थित घटादि पदार्थों को दीपक व्यक्त कर देता है। इसी तरह घट उत्पत्ति के पहले मिट्टी में छिपा रहता है और कुम्भकार, दण्ड, चक्रादि कारण उसका आविर्भाव कर देते हैं। इसी प्रकार घट के नाश का अभिप्राय यह है कि नष्ट घट अपने कारण मिट्टी में छिप जाता है, उसका सर्वथा नाश नहीं होता है। इसी का नाम घट का तिरोभाव है।

सांख्यों के अनुसार प्रकृति केवल कर्त्री है और पुरुष केवल भोक्ता है। प्रकृति का दूसरा नाम प्रधान भी है। प्रकृति के समस्त कार्य पुरुष के लिए होते हैं। पुरुष प्रकृति का अधिष्ठाता है और पुरुष से अधिष्ठित होकर ही प्रकृति समस्त कार्य करती है। यद्यपि अचेतन होने से प्रकृति अन्धी है और निष्क्रिय होने से पुरुष लंगड़ा है, फिर भी अन्धे और लंगड़े- इन दो पुरुषों के संयोग की तरह प्रकृति और पुरुष के संयोग से प्रकृति कार्य करने में समर्थ हो जाती है। अन्त में प्रकृति और पुरुष में भेदविज्ञान हो जाने पर मोक्ष होता है। सांख्यदर्शन में ज्ञान प्रकृति का धर्म है, आत्मा का नहीं। संसार, बन्ध और मोक्ष- ये सब प्रकृति के ही धर्म या स्वभाव हैं। पुरुष तो निर्विकार तथा निष्क्रिय होने से सर्वदा कूटस्थ नित्य रहता है।

न्याय तथा वैशेषिक दर्शन :

न्यायदर्शन का विषय न्याय का प्रतिपादन करना है। न्याय का अर्थ है- विभिन्न प्रमाणों के द्वारा अर्थ की परीक्षा करना। इन प्रमाणों के स्वरूप का वर्णन करने के कारण इस दर्शन को न्यायदर्शन कहते हैं। इसका दूसरा नाम वादविद्या भी है, क्योंकि इसमें वाद में प्रयुक्त हेतु, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान आदि का वर्णन किया गया है। **न्यायसूत्र** के रचयिता **गौतम ऋषि** हैं। इन्हीं का नाम **अक्षपाद** भी है। न्यायदर्शन के मानने वाले नैयायिक कहलाते हैं। वैशेषिक दर्शन के सूत्रकार **महर्षि कणाद** हैं। 'विशेष' नामक पदार्थ की विशिष्ट कल्पना के कारण इस दर्शन का नाम **वैशेषिक** दर्शन प्रसिद्ध हुआ। कुछ बातों को छोड़कर अन्य अनेक बातों में न्याय और वैशेषिक दर्शनों में समानता पायी जाती है। इन दोनों दर्शनों का सम्मिलित नाम यौग है। यौग नाम का उल्लेख अनेक

ग्रन्थों में मिलता है। मालूम पड़ता है कि दोनों के योग (जोड़ी) को यौग नाम दे दिया गया है। यौग के नाम से जो कुछ कहा गया है वह सब न्याय और वैशेषिक दर्शनों में मिलता है।

नैयायिकों ने प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान– ये 16 पदार्थ माने हैं। वैशेषिकों ने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव– ये सात पदार्थ माने हैं तथा पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन– ये नौ द्रव्य माने हैं। नैयायिकों ने आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव (पुनर्जन्म), फल, दुःख और अपवर्ग (मुक्ति)– ये बारह प्रमेय माने हैं।

नैयायिक और वैशेषिक– इन दोनों ने ही सन्निकर्ष को प्रमाण माना है। नैयायिक प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान– इन चारों को प्रमाण मानते हैं। किन्तु वैशेषिक प्रत्यक्ष और अनुमान– इन दो को ही प्रमाण मानते हैं। नैयायिक और वैशेषिक दोनों ने ही प्रमाण को अस्वसंवेदी माना है। उनका मत है कि ज्ञान स्वयम् अपना प्रत्यक्ष नहीं करता है, किन्तु दूसरे ज्ञान के द्वारा उसका प्रत्यक्ष होता है। नैयायिक और वैशेषिक– इन दोनों ने ही अर्थ और आलोक को ज्ञान का कारण माना है और दोनों ही गृहीतग्राही धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण मानते हैं तथा आत्मा को शरीर परिमाण न मानकर व्यापक मानते हैं।

न्याय और वैशेषिक– ये दोनों ही दर्शन ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करके उसके द्वारा संसार की सृष्टि मानते हैं। वे कहते हैं कि पृथिवी, पर्वत, शरीर आदि पदार्थ किसी बुद्धिमान् पुरुष (ईश्वर) के द्वारा उत्पन्न होते हैं, क्योंकि वे कार्य हैं। इस अनुमान के द्वारा वे पृथिवी आदि कार्यों का एक ऐसा कर्त्ता सिद्ध करते हैं जो व्यापक, सर्वज्ञ और समस्त कार्यों के करने में समर्थ है, तथा ऐसा जो सृष्टि का कर्त्ता है वही ईश्वर है। दोनों ही दर्शनों ने हेतु के पाँच रूप माने हैं– पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्ति, अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व। तथा अनुमान के प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन– ये पाँच अवयव या अङ्ग माने हैं।

मीमांसादर्शन :

मीमांसा शब्द का अर्थ है- किसी वस्तु के स्वरूप का यथार्थ विवेचन। मीमांसा के दो भेद हैं- कर्ममीमांसा और ज्ञानमीमांसा। यज्ञों की विधि तथा अनुष्ठान का वर्णन कर्ममीमांसा का विषय है। जीव, जगत् और ईश्वर के स्वरूप तथा सम्बन्ध का निरूपण करना ज्ञानमीमांसा का विषय है। कर्ममीमांसा को पूर्वमीमांसा तथा ज्ञानमीमांसा को उत्तरमीमांसा भी कहते हैं। किन्तु वर्तमान में कर्ममीमांसा के लिए केवल मीमांसा शब्द का प्रयोग किया जाता है और ज्ञानमीमांसा को 'वेदान्त' शब्द से कहा जाता है।

महर्षि जैमिनि मीमांसादर्शन के सूत्रकार हैं। मीमांसादर्शन में **कुमारिलभट्ट** का युग सुवर्ण युग के नाम से कहा जाता है। **कुमारिलभट्ट** के अनुयायी भाट्ट कहलाते हैं। मीमांसादर्शन के आचार्यों में **प्रभाकर मिश्र** की बड़ी प्रसिद्धि है। **प्रभाकर** के अनुयायी प्राभाकर कहलाते हैं। इस प्रकार मीमांसादर्शन में भाट्ट और प्राभाकर- ये दो पृथक्-पृथक् सम्प्रदाय हुए हैं। भाट्टों के अनुसार पदार्थ पाँच होते हैं- द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और अभाव। वैशेषिक नौ द्रव्य मानते हैं, किन्तु भाट्ट अन्धकार और शब्द- ये दो द्रव्य अधिक मानते हैं। प्राभाकर पदार्थों की संख्या आठ मानते हैं- द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतन्त्रता, शक्ति, सादृश्य और संख्या। प्राभाकर प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान और अर्थापत्ति- इन पाँच प्रमाणों को मानते हैं और भाट्ट अभाव सहित छह प्रमाण मानते हैं। मीमांसकों के अनुसार ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता है। ज्ञान न तो स्वयं वेद्य है और न ज्ञानान्तर से वेद्य है। अतः वह सदा परोक्ष ही रहता है।

मीमांसकों की मान्यता है कि कोई पुरुष सर्वज्ञ या अतीन्द्रियदर्शी नहीं हो सकता है, क्योंकि किसी भी पुरुष में ज्ञान और वीतरागता का पूर्ण विकास सम्भव नहीं है। मीमांसक वेद को अपौरुषेय मानते हैं। वेद मुख्यरूप से अतीन्द्रियपदार्थ धर्म का प्रतिपादक है तथा अतीन्द्रियदर्शी कोई पुरुष सम्भव न होने के कारण धर्म में वेद ही प्रमाण है। मीमांसकों ने वेद को दोषरहित सिद्ध करने के लिए एक नये तर्क का आविष्कार किया है कि जब वेदों का रचयिता कोई पुरुष नहीं है तब उसमें दोष *कहाँ से आ सकते हैं, क्योंकि दोष निराश्रय तो रह नहीं सकते हैं। वेद*

को अपौरुषेय मानने के कारण मीमांसकों को शब्दमात्र को नित्य मानना पड़ा है, क्योंकि यदि वे शब्द को अनित्य मानते तो शब्दात्मक वेद को भी अनित्य और पौरुषेय मानना पड़ता, जो कि उन्हें अभीष्ट नहीं है। इस प्रकार मीमांसकों ने अकारादि प्रत्येक वर्ण को नित्य, एक और व्यापक मानकर वेद को अपौरुषेय सिद्ध किया है।

वेदान्तदर्शन :

उपनिषदों के सिद्धान्तों पर प्रतिष्ठित होने के कारण इस दर्शन का नाम वेदान्त प्रसिद्ध हुआ है। उपनिषदों की रचना वेदों के बाद हुई है। इसलिए उपनिषदों को वेदान्त भी कहते हैं। **ब्रह्मसूत्र** (वेदान्तसूत्र) के रचयिता **महर्षि बादरायण व्यास** हैं। **शङ्कर**, **रामानुज** और **मध्व**– ये तीन ब्रह्मसूत्र के प्रसिद्ध भाष्यकार हैं। वेदान्तदर्शन के अनुसार इस संसार में एकमात्र ब्रह्म की ही सत्ता है तथा यहाँ जो नानात्मकता दृष्टिगोचर होती है वह सब मायिक (माया-अविद्याजनित) है। मीमांसकों की तरह वेदान्ती भी प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव– इन छह प्रमाणों को मानते हैं। वेदान्तियों ने निम्नलिखित श्रुति के द्वारा ब्रह्म की सिद्धि की है–

सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन।
आरामं तस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन।।

अर्थात् यह सब ब्रह्म है, इस जगत् में नाना कुछ भी नहीं है। सब लोग उसी की पर्यायों को देखते हैं, किन्तु उसको कोई नहीं देखता है। वेदान्त के अनुयायियों ने इस श्रुति का समर्थन प्रत्यक्ष और अनुमान से भी किया है।

चार्वाकदर्शन :

वैदिककाल में यज्ञानुष्ठान तथा तपश्चरण पर विशेष बल दिया जाता था। मनुष्यों को ऐहिक बातों की अपेक्षा पारलौकिक बातों की चिन्ता विशेष रूप से रहती थी। इन बातों की प्रतिक्रियास्वरूप चार्वाक दर्शन का उदय हुआ। इस दर्शन का सबसे प्राचीन नाम लौकायतिक है। साधारण लोगों की तरह आचरण करने के कारण चार्वाक दर्शन के अनुयायियों

का नाम लौकायतिक प्रचलित हुआ। चारु (सुन्दर) वाक् (बात) को अर्थात् लोगों को प्रिय लगने वाली बात को कहने के कारण अथवा आत्मा, परलोक आदि को चर्वण (भक्षण) करने के कारण इनका नाम चार्वाक पड़ा। **बृहस्पति** नामक आचार्य चार्वाक दर्शन के प्रवर्तक माने जाते हैं। अतः इस दर्शन का नाम बार्हस्पत्य दर्शन भी है। बृहस्पति ने चार्वाक दर्शन पर कोई सूत्रग्रन्थ बनाया था, जिसके कुछ सूत्रों का उल्लेख जैन, बौद्ध आदि दर्शनों के ग्रन्थों में मिलता है। चार्वाक दर्शन के अनुयायी लोगों को प्रिय लगने वाली बातें इस प्रकार कहते थे-

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।।

अर्थात् जब तक जिओ, सुख से जिओ, ऋण लेकर घृत, दूध आदि पिओ। ऋण चुकाने की चिन्ता भी मत करो, क्योंकि शरीर के नष्ट हो जाने पर उसका पुनः आगमन (जन्म) नहीं होता है।

चार्वाकों का सिद्धान्त है कि पृथिवी, जल, अग्नि और वायु- इन चार भूतों का संघात ही आत्मा है। मरण ही मुक्ति है तथा कोई परलोक नहीं है। बाह्य दृष्टि प्रधान होने के कारण चार्वाक ने केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना है, अनुमान आदि को नहीं। अर्थात् नेत्र आदि इन्द्रियों से जो कुछ दृष्टिगोचर होता है वही सत्य है, अन्य कुछ नहीं। चार्वाक का प्रमुख सिद्धान्त है- देहात्मवाद। उनका कहना है कि जिस प्रकार महुआ, गुड़ आदि पदार्थों के सम्मिश्रण से मदिरा बनने पर उसमें मादक शक्ति प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार पृथिवी, जल, अग्नि और वायु- इन चार भूतों के विशिष्ट संयोग से शरीर की उत्पत्ति के साथ उसमें चैतन्यशक्ति भी उत्पन्न हो जाती है तथा शरीर के नष्ट हो जाने पर चैतन्यशक्ति भी नष्ट हो जाती है। अतः चैतन्य आत्मा का धर्म न होकर शरीर का ही धर्म है। यही चार्वाकों का देहात्मवाद है।

बौद्धदर्शन :

बौद्धदर्शन का प्रारम्भ महात्मा बुद्ध के द्वारा हुआ है। यद्यपि बुद्ध ने विशेषरूप से धर्म का ही उपदेश दिया था, दर्शन का नहीं, फिर भी बुद्ध के बाद बौद्ध दार्शनिकों ने बुद्ध के वचनों के आधार से उनमें दार्शनिक

तत्त्वों को खोज निकाला। अनात्मवाद, क्षणभङ्गवाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद, अन्यापोहवाद, प्रतीत्यसमुत्पादवाद आदि बौद्धदर्शन के प्रमुख सिद्धान्त हैं। बौद्धदर्शन में आत्मा का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। परन्तु रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान– इन पाँच स्कन्धों के समुदाय को ही आत्मा माना गया है। बौद्ध प्रत्येक पदार्थ को क्षणिक मानते हैं। उनका कहना है कि प्रत्येक पदार्थ एक क्षण ही ठहरता है और द्वितीय क्षण में वह नष्ट हो जाता है। अर्थक्रिया क्षणिक पदार्थ में ही होती है, नित्य में नहीं। इसी का नाम क्षणभङ्गवाद है। प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ है– हेतु और प्रत्यय की अपेक्षा से पदार्थों की उत्पत्ति। इसी को सापेक्षकारणतावाद भी कहते हैं। बौद्धों का एक सिद्धान्त यह भी है कि शब्द और अर्थ में कोई सम्बन्ध नहीं है। शब्द अर्थ का वाचक न होकर अन्यापोह का वाचक होता है। गौ शब्द गाय को न कहकर अगोव्यावृत्ति का कथन करता है। गाय में अगोव्यावृत्ति को बतलाना ही अन्यापोहवाद है।

बौद्धदर्शन के चार प्रमुख सम्प्रदाय हैं जिनके अपने-अपने विशिष्ट दार्शनिक सिद्धान्त हैं। इनके नाम हैं– वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक। वैभाषिक का सिद्धान्त है कि बाह्य अर्थ की सत्ता है और उसका प्रत्यक्ष होता है। इसे बाह्यार्थप्रत्यक्षवाद कहते हैं। सौत्रान्तिक का सिद्धान्त है कि बाह्य अर्थ की सत्ता तो है, किन्तु उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है। उसको अनुमान के द्वारा जाना जाता है। इसे बाह्यार्थानुमेयवाद कहते हैं। योगाचारमत के अनुसार बाह्य अर्थ की सत्ता नहीं है, केवल विज्ञानमात्र का अस्तित्व है। इसी का नाम विज्ञानवाद है। माध्यमिकों का मत है कि केवल शून्यमात्र ही तत्त्व है। शून्य के अतिरिक्त अन्य किसी तत्त्व की सत्ता नहीं है।

उक्त चार प्रकार के दार्शनिकों में वैभाषिक और सौत्रान्तिक बाह्य पदार्थ की सत्ता को स्वीकार करते हैं। दोनों में भेद इतना ही है कि वैभाषिक बाह्य अर्थ को प्रत्यक्ष मानते हैं, किन्तु सौत्रान्तिक उसको अनुमेय (अनुमानगम्य) मानते हैं। योगाचार का दूसरा नाम विज्ञानाद्वैतवाद है, *क्योंकि इनके मत में विज्ञानमात्र ही तत्त्व है, अर्थ की सत्ता कथञ्चित् भी नहीं है।* इसी प्रकार माध्यमिकों को शून्यवादी कहा गया है, क्योंकि इनके मत में शून्यमात्र ही तत्त्व है, अन्य कुछ भी नहीं।

अर्थ की सत्ता मानने वाले वैभाषिक और सौत्रान्तिक के अनुसार अर्थ दो प्रकार का होता है– स्वलक्षण और सामान्यलक्षण। इनमें स्वलक्षण प्रत्यक्ष का विषय है और सामान्यलक्षण अनुमान का विषय है। प्रत्येक गौ व्यक्ति को गौ स्वलक्षण कहते हैं और अनेक गायों में जो गोत्वरूप सामान्य की प्रतीति होती है वह सामान्यलक्षण तत्त्व कहलाता है। स्वलक्षण सजातीय और विजातीय दोनों से व्यावृत्त होता है। स्वलक्षण को परमार्थसत् और सामान्यलक्षण को संवृतिसत् कहते हैं।

बौद्धों ने अविसंवादी तथा अज्ञात अर्थ को प्रकाशित करने वाले ज्ञान को प्रमाण माना है और कल्पना तथा भ्रान्ति से रहित ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है। प्रत्यक्ष ज्ञान कल्पना से रहित अर्थात् निर्विकल्पक होता है। प्रत्यक्ष के चार भेद हैं– इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष, स्वसंवेदनप्रत्यक्ष और योगिप्रत्यक्ष। अनुमान तीन रूप (पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति) वाले हेतु से उत्पन्न होता है। उन्होंने हेतु का लक्षण त्रैरूप्य माना है। इस प्रकार बौद्धदर्शन में प्रत्यक्ष और अनुमान– ये दो ही प्रमाण हैं। बौद्धों ने ज्ञान की उत्पत्ति में अर्थ को कारण माना है तथा ज्ञान में अर्थाकारता भी मानी है और अर्थाकारता के द्वारा ही वे ज्ञान के प्रतिनियत विषय की व्यवस्था करते हैं।

बौद्धों ने अवयवों से भिन्न कोई अवयवी नहीं माना है। उनके मत में अवयवों के समूह का नाम ही अवयवी है। आतान-वितान विशिष्ट तन्तुओं के समुदाय का नाम ही पट है। तन्तुसमुदाय को छोड़कर पट कोई पृथक् वस्तु नहीं है। बौद्धों के यहाँ विनाश को पदार्थ का स्वभाव माना गया है। अर्थात् पदार्थ प्रतिक्षण स्वभाव से ही विनष्ट होता रहता है। घट उत्पत्ति के समय ही विनाशयुक्त उत्पन्न होता है। अतः वह अपने विनाश के लिए मुद्गरादि किसी कारण की अपेक्षा नहीं रखता है, किन्तु वह स्वतः प्रतिक्षण विनष्ट होता रहता है। विनाश को पदार्थ का स्वभाव मानने के कारण ही बौद्धों ने प्रत्येक पदार्थ को क्षणिक माना है और सत्त्व हेतु के द्वारा सब पदार्थों में क्षणिकत्व की सिद्धि की है। जो पदार्थ अर्थक्रिया (अपना कार्य) करता है वह सत् कहलाता है। घट जलधारण आदि अपनी अर्थक्रिया को करता है, इसलिए वह सत् है। इसी प्रकार अन्य पदार्थों के विषय में भी अर्थक्रियाकारित्वरूप सत्त्व को समझ लेना चाहिए।

जैनदर्शन :

जिस प्रकार विभिन्न दर्शनों के प्रवर्तक विभिन्न ऋषि-महर्षि हुए हैं उस प्रकार जैनदर्शन का प्रवर्तक कोई व्यक्ति विशेष नहीं है। जैन शब्द 'जिन' शब्द से बना है। जो व्यक्ति ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों और रागद्वेषादि भावकर्मों को जीत लेता है वह 'जिन' कहलाता है। ऐसे 'जिन' के द्वारा उपदिष्ट धर्म तथा दर्शन को जैनधर्म और जैनदर्शन कहते हैं। प्रत्येक युग में चौबीस तीर्थङ्कर होते हैं तथा वे अनादिकाल से चले आ रहे धर्म और दर्शन के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं। वर्तमान युग में ऋषभनाथ से लेकर महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थङ्करों ने जैनधर्म तथा जैनदर्शन के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। **आचार्य उमास्वामी** द्वारा रचित **तत्त्वार्थसूत्र** जैनदर्शन का आद्य सूत्रग्रन्थ है। जैनदर्शन में जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष– ये सात तत्त्व बतलाये गये हैं। तथा जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल– ये छह द्रव्य माने गये हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय– ये आठ कर्म हैं। जीव के औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक और पारिणामिक– ये पाँच भाव होते हैं। अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु– ये पाँच परमेष्ठी होते हैं। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह– ये पाँच व्रत होते हैं।

जैनदर्शन में प्रत्येक आत्मा कर्मों का नाश करके परमात्मा अर्थात् ईश्वर बन सकता है, किन्तु जैनदर्शनाभिमत ईश्वर सृष्टिकर्त्ता नहीं होता है। वह न तो कभी अवतार लेता है और न कभी संसार में मोक्ष से लौटकर आता है। जो आत्मा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय– इन चार घातिया कर्मों का नाश कर देता है वह केवली अथवा अर्हन्त कहलाता है। अर्हन्त अवस्था में अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य– इन अनन्तचतुष्टयों की प्राप्ति हो जाती है। कुछ काल बाद वही आत्मा शेष चार अघातिया कर्मों का नाश करके सिद्ध हो जाता है। सिद्धावस्था ही मोक्ष की अवस्था है। ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का क्षय हो जाने पर मोक्ष प्राप्त होता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र– ये तीनों मिलकर मोक्ष के मार्ग कहलाते हैं। जैनदर्शन में मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल– ये पाँच ज्ञान माने गये हैं। इनमें

प्रथम दो ज्ञान परोक्ष हैं और शेष तीन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं। अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त- ये तीन जैनदर्शन के प्रमुख सिद्धान्त हैं।

जैनदर्शन का महत्त्व :

भारतीय दर्शनों के इतिहास में जैनदर्शन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने अपनी-अपनी स्वाभाविक रुचि, परिस्थिति या भावना से वस्तुतत्त्व को जैसा देखा उसको उसी रूप में उन्होंने दर्शन के नाम से कहा। किन्तु किसी भी तत्त्व के विषय में कोई भी तात्त्विक दृष्टि ऐकान्तिक नहीं हो सकती है। सर्वथा भेदवाद या अभेदवाद, नित्यैकान्त या क्षणिकैकान्त एकान्तदृष्टि है। प्रत्येक वस्तु अनेक धर्मात्मक है और कोई भी दृष्टि उन अनेक धर्मों का एक साथ प्रतिपादन नहीं कर सकती है। इस सिद्धान्त को जैनदर्शन ने अनेकान्त और स्याद्वाद के नाम से कहा है। जैनदर्शन का मुख्य उद्देश्य स्याद्वाद सिद्धान्त के आधार पर विभिन्न दृष्टिकोणों का समन्वय करना है। विचार-जगत् का अनेकान्त सिद्धान्त ही नैतिक-जगत् में अहिंसा का रूप धारण कर लेता है। अतः भारतीय दर्शनों के इतिहास को समझने के लिये जैनदर्शन का विशेष महत्त्व है।

प्रमाणमीमांसा :

सामान्यरूप से प्रमाण का लक्षण है- सम्यग्ज्ञान। जो ज्ञान सम्यक् अथवा समीचीन होता है वह प्रमाण कहलाता है। परन्तु आगमिक-परम्परा में ज्ञान को सम्यक् तथा मिथ्या मानने का आधार दार्शनिक-परम्परा से भिन्न है। आगमिक-परम्परा में सम्यग्दर्शन सहित ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है और मिथ्यादर्शन युक्त ज्ञान मिथ्याज्ञान होता है। मिथ्यादृष्टि का ज्ञान व्यवहार में सत्य होने पर भी आगम की दृष्टि में मिथ्या है। परन्तु दार्शनिक परम्परा में ज्ञान के द्वारा प्रतिभासित विषय का अव्यभिचारी होना ही प्रमाणता की कसौटी है। यदि ज्ञान के द्वारा प्रतिभासित पदार्थ उसी रूप में मिल जाता है जिस रूप में ज्ञान ने उसे जाना था तो अविसंवादी *होने से वह ज्ञान प्रमाण है और उससे भिन्न ज्ञान अप्रमाण है। आगम* में मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल- इन पाँच ज्ञानों को सम्यग्ज्ञान तथा कुमति, कुश्रुत और कुअवधि- इन तीन ज्ञानों को मिथ्याज्ञान कहा

है। तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य उमास्वामी ने सम्भवतः सबसे पहले सम्यग्ज्ञान के लिए प्रमाण शब्द का प्रयोग किया है।

भारतीय दर्शन में प्रमाण का स्वरूप :

प्रमाण शब्द का सामान्यरूप से व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है– **'प्रमीयते येन तत्प्रमाणम्'।** अर्थात् जिसके द्वारा पदार्थों की प्रमिति (ज्ञान) होती है, उसे प्रमाण कहते हैं। कुछ दार्शनिकों ने इसी व्युत्पत्ति का आश्रय लेकर प्रमा के करण अर्थात् साधकतम कारण (**साधकतमं कारणं करणम्**) को प्रमाण कहा है। वस्तु के यथार्थ ज्ञान को प्रमा या प्रमिति कहते हैं और उस प्रमा की उत्पत्ति में जो विशिष्ट कारण होता है वही प्रमाण कहलाता है। प्रमाण के इस सामान्य लक्षण में विवाद न होने पर भी दार्शनिकों में प्रमा के करण के विषय में विवाद है। तदनुसार बौद्ध सारूप्य (अर्थाकारता) को प्रमिति का करण मानते हैं। सांख्य इन्द्रियवृत्ति को, नैयायिक-वैशेषिक इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को, मीमांसक इन्द्रिय को तथा प्राभाकर ज्ञातृव्यापार को प्रमा का करण मानते हैं, परन्तु जैन दार्शनिक ज्ञान को ही प्रमा का करण मानते हैं, क्योंकि जाननेरूप क्रिया अथवा अज्ञाननिवृत्तिरूप क्रिया का साधकतम कारण चेतन ज्ञान ही हो सकता है, अचेतन सन्निकर्षादि नहीं।

बौद्धों ने अविसंवादी तथा अज्ञात अर्थ को जानने वाले ज्ञान को प्रमाण माना है। बौद्धदर्शन में ज्ञान को ही प्रमाण माना गया है, अज्ञान को नहीं। उनके मत में एक ही ज्ञान प्रमाण तथा फल– दोनों रूप होता है। वहाँ विषयाकारता या अर्थाकारता का नाम प्रमाण है और विषय की अधिगति का नाम फल है। सांख्यों ने श्रोत्रादि इन्द्रियों की वृत्ति (व्यापार) को प्रमाण माना है। न्यायदर्शन में **न्यायसूत्र** के भाष्यकार **वात्स्यायन** ने उपलब्धि साधन को प्रमाण कहा है। **उद्योतकर** ने भी उपलब्धि के साधन को ही प्रमाण स्वीकार किया है। **उदयनाचार्य** ने यथार्थ अनुभव को प्रमाण माना है। वैशेषिकदर्शन में सर्वप्रथम **कणाद** ने प्रमाण के सामान्य लक्षण का निर्देश किया है। उन्होंने दोषरहित ज्ञान को प्रमाण माना है। मीमांसादर्शन में भाट्टों ने अनधिगत और यथार्थ अर्थ का निश्चय करने वाले ज्ञान को प्रमाण कहा है, परन्तु प्राभाकरों ने अनुभूति तथा ज्ञातृव्यापार को प्रमाण माना है।

जैनदर्शन में प्रमाण का स्वरूप :

आचार्य गृद्धपिच्छ अपर नाम **उमास्वामी** का **तत्त्वार्थसूत्र** जैनदर्शन का प्रमुख सूत्रग्रन्थ है। **उमास्वामी** ने **तत्त्वार्थसूत्र** में सम्यग्ज्ञान के भेदों को बतलाकर '**तत्प्रमाणे**' सूत्र द्वारा सम्यग्ज्ञान में प्रमाणता का उल्लेख किया है तथा '**प्रमाणनयैरधिगमः**' इस सूत्र के द्वारा प्रमाण और नय को जीवादि तत्त्वों के अधिगम का उपाय बतलाया है। तदनन्तर **आचार्य समन्तभद्र** ने प्रमाण का दार्शनिक लक्षण प्रस्तुत किया है। उन्होंने **आप्तमीमांसा** में तत्त्वज्ञान को प्रमाण बतलाकर उसके अक्रमभावी और क्रमभावी- ये दो भेद किये हैं तथा तत्त्वज्ञान को स्याद्वादनय-संस्कृत बतलाया है।[1] **आचार्य समन्तभद्र** ने ही **स्वयम्भूस्तोत्र** में स्व और पर के अवभासक ज्ञान को प्रमाण बतलाया है।[2] इसके अनन्तर **आचार्य सिद्धसेन** ने प्रमाण के लक्षण में बाधविवर्जित पद जोड़कर स्वपरावभासक तथा बाधविवर्जित ज्ञान को प्रमाण माना है।[3] तदनन्तर **अकलङ्कदेव** ने इस लक्षण में अविसंवादी और अनधिगतार्थग्राही- इन दो नये पदों का समावेश करके अवभासक के स्थान में व्यवसायात्मक पद का प्रयोग किया है।[4] इसके बाद **आचार्य विद्यानन्द** ने पहले सम्यग्ज्ञान को प्रमाण का लक्षण बतलाकर पुनः उसे स्वार्थव्यवसायात्मक सिद्ध किया है।[5] उन्होंने प्रमाण के लक्षण में अनधिगत या अपूर्व विशेषण नहीं दिया है, क्योंकि उनके अनुसार ज्ञान चाहे गृहीत अर्थ को जाने या अगृहीत अर्थ को, वह स्वार्थव्यवसायात्मक होने से ही प्रमाण है।[6] इसके अनन्तर **आचार्य**

---

1. तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्।
   क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम्।। -आप्तमीमांसा, का0 101
2. स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्। -स्वयम्भूस्तोत्र, श्लो.63.
3. प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्। -न्यायावतार, कारिका 1.
4. क. प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात्। -अष्टशती, कारिका 36.
   ख. व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्थग्राहकं मतम्। - लघीयस्त्रय, का0 60.
5. सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्। स्वार्थव्यवसायात्मकं सम्यग्ज्ञानं सम्यग्ज्ञानत्वात्।
   - प्रमाणपरीक्षा, पृ0 53.
6. गृहीतमगृहीतं वा स्वार्थं यदि व्यवस्यति।
   तन्न लोके न शास्त्रेषु विजहाति प्रमाणताम्।।
   - तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालङ्कार, 1/10/79.

माणिक्यनन्दि ने प्रमाण के लक्षण में अपूर्व विशेषण का समावेश करके स्व और अपूर्व अर्थ के व्यवसायात्मक ज्ञानको प्रमाण कहा है।[1] किन्तु उत्तरवर्ती आचार्यों ने प्रमाण का लक्षण करते समय सम्यग्ज्ञान अथवा सम्यग् अर्थनिर्णय को ही प्रमाण बतलाया है।[2]

इस प्रकार जैनाचार्यों द्वारा प्रतिपादित प्रमाण के विभिन्न लक्षणों से यही फलित होता है कि प्रमाण को अविसंवादी या सम्यक् होना चाहिए। इस सम्यक् विशेषण में ही अन्य सब विशेषण अन्तर्भूत हो जाते हैं। प्रमाण के विषय में विशेष बात यही है कि ज्ञान ही प्रमाण होता है, अज्ञानरूप सन्निकर्षादि नहीं। ज्ञान का स्वसंवेदी होना भी आवश्यक है, क्योंकि स्व को नहीं जानने वाला ज्ञान पर को भी नहीं जान सकता है। इसी प्रकार प्रमाण को व्यवसायात्मक भी होना चाहिए, क्योंकि जो ज्ञान अनिश्चयात्मक है वह प्रमाण कैसे हो सकता है?

प्रमाण के भेद :

जैनदर्शन में प्रमाण के दो भेद हैं– प्रत्यक्ष और परोक्ष। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल– इन पाँच ज्ञानों का प्रत्यक्ष और परोक्ष के रूप में विभाजन आगमिक-परम्परा में पहले से ही रहा है। प्रथम दो ज्ञान परोक्ष और शेष तीन ज्ञान प्रत्यक्ष कहे गये हैं। स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध का अन्तर्भाव मतिज्ञान में ही किया गया है। आगम में प्रत्यक्षता और परोक्षता का आधार भी दार्शनिक परम्परा से भिन्न है। आगमिक-परम्परा में इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना आत्ममात्र की अपेक्षा से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। '**अक्षं प्रतिगतं प्रत्यक्षम्**' इस व्युत्पत्ति में अक्ष का अर्थ आत्मा किया गया है[3] और जिस ज्ञान की उत्पत्ति में इन्द्रिय, मन और प्रकाश आदि बाह्य साधनों की अपेक्षा होती है वह ज्ञान परोक्ष माना गया है। **आचार्य कुन्दकुन्द**

1. स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्। – परीक्षामुख 1/1.
2. क. सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्। – न्यायदीपिका, पृ0 3.
   ख. सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम्। – प्रमाणमीमांसा, 1/1/2.
3. अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा। – सर्वार्थसिद्धि, 1/12.
4. जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खं त्ति भणिदमत्थेसु।
   जं केवलेण णाणं हवदि हु जीवेण पच्चक्खं।। – प्रवचनसार, गाथा 58.

ने **प्रवचनसार** में प्रत्यक्ष और परोक्ष की यही परिभाषा दी है।[4] किन्तु दार्शनिक-परम्परा के अनुसार इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होने वाले मतिज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मान लिया गया है। अतः परसापेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष की परिधि में सम्मिलित कर लेने से प्रत्यक्ष की परिभाषा में भी परिवर्तन करने की आवश्यकता प्रतीत हुई।

प्रत्यक्ष का लक्षण :

अकलङ्कदेव ने **लघीयस्त्रय** में विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है[1] और **न्यायविनिश्चय** में स्पष्ट ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है।[2] जिस ज्ञान में किसी अन्य ज्ञान के द्वारा व्यवधान न हो वह विशद कहलाता है और इससे भिन्न ज्ञान को अविशद कहते हैं। इस प्रकार दार्शनिक-परम्परा के अनुसार विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष और अविशद ज्ञान को परोक्ष माना गया है।

प्रत्यक्ष के भेद :

प्रत्यक्ष के दो भेद हैं- मुख्य प्रत्यक्ष और सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष। मुख्य प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं- सकल प्रत्यक्ष और विकल प्रत्यक्ष। त्रिकालवर्ती सम्पूर्ण पदार्थों को युगपत् जानने वाला केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष कहलाता है तथा नियत पदार्थों की कतिपय पर्यायों को पूर्णरूप से जानने वाले अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान को विकल प्रत्यक्ष कहते हैं। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं- इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष। स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाला ज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष कहलाता है तथा मन से उत्पन्न होने वाला ज्ञान अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष है। अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा- ये मतिज्ञान के चारों भेद सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहलाते हैं।

परोक्ष के भेद :

स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम- ये परोक्ष प्रमाण के पाँच भेद हैं। इनमें से स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क- इन तीन प्रमाणों को अन्य दार्शनिकों ने पृथक् प्रमाण के रूप में नहीं माना है। नैयायिकों और मीमांसकों ने प्रत्यभिज्ञान के स्थान पर उपमान को प्रमाण माना

---

1. प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसंव्यवहारतः। - लघीयस्त्रय, का० 3.
2. प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा। - न्यायविनिश्चय, श्लो० 3.

है। व्याप्तिग्राहक तर्क को तो किसी ने भी प्रमाण नहीं माना है। परन्तु जैन दार्शनिकों ने युक्तिपूर्वक यह सिद्ध किया है कि तर्क के बिना अन्य किसी प्रमाण से व्याप्ति का ग्रहण नहीं हो सकता है।

प्रमाणों की संख्या :

विभिन्न दार्शनिकों ने प्रमाणों की संख्या भिन्न-भिन्न मानी है। चार्वाक केवल एक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है। बौद्ध और वैशेषिक दो प्रमाण मानते हैं- प्रत्यक्ष और अनुमान। सांख्य तीन प्रमाण मानते हैं- प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। नैयायिक उपमान सहित चार, प्राभाकर अर्थापत्ति सहित पाँच और भाट्ट अभाव सहित छह प्रमाण मानते हैं; किन्तु जैनन्याय में उपमान का प्रत्यभिज्ञान में, अर्थापत्ति का अनुमान में और अभाव का प्रत्यक्ष आदि में अन्तर्भाव करके प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से प्रमाण की द्वित्व संख्या का समर्थन किया गया है।

प्रामाण्य-विचार :

प्रमाण जिस पदार्थ को जिस रूप में जानता है उसका उसी रूप में प्राप्त होना प्रमाण का प्रामाण्य कहलाता है। किसी पुरुष ने किसी स्थान में दूर से जल का ज्ञान किया और वहाँ जाने पर उसे जल मिल गया तो उसके ज्ञान में प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है। यहाँ प्रश्न यह है कि इस प्रकार के प्रामाण्य का ज्ञान कैसे होता है? अर्थात् किसी ने दूर से जाना कि वहाँ जल है तो उसे जो जलज्ञान हुआ वह सत्य है या असत्य, इसका निर्णय किस तरह से होता है?

जैनदर्शन में बतलाया गया है कि ज्ञान के प्रामाण्य का निर्णय अभ्यास अवस्था में स्वतः और अनभ्यास अवस्था में परतः होता है। अभ्यस्त अवस्था में तो जलज्ञान के प्रामाण्य का निर्णय प्रमाता को स्वयं ही हो जाता है, क्योंकि अभ्यास के कारण उसे जलज्ञान के सत्य होने में कोई सन्देह नहीं रहता है, परन्तु अनभ्यस्त अवस्था में शीतल वायु का स्पर्श, कमलों की सुगन्ध, मेढ़कों का शब्द-श्रवण आदि पर-निमित्तों के द्वारा जलज्ञान की सत्यता का निर्णय किया जाता है।

ज्ञान के प्रामाण्य और अप्रामाण्य के विषय में अन्य दार्शनिकों में विवाद है। नैयिक-वैशेषिक प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को परतः, सांख्य

दोनों को स्वतः तथा मीमांसक प्रामाण्य को स्वतः और अप्रामाण्य को परतः मानते हैं। मीमांसकों के अनुसार प्रत्येक ज्ञान प्रमाणरूप ही उत्पन्न होता है। बाद में यदि ज्ञान के कारणों में दोषज्ञान अथवा बाधक प्रत्यय के द्वारा उसकी प्रमाणता दूर कर दी जाय तो वह ज्ञान अप्रमाण मान लिया जाता है। **न्यायकुमुदचन्द्र** में मीमांसकों की इस मान्यता का विस्तार से खण्डन करके यह सिद्ध किया गया है कि ज्ञान का प्रामाण्य अभ्यास दशा में स्वतः और अनभ्यास दशा में परतः होता है; किन्तु प्रमाण और अप्रमाण की उत्पत्ति सदा परतः ही होती है।

भारतीय दर्शनों के विषय में संक्षिप्त विचार कर लेने के बाद अब परिशील्यमान ग्रन्थ **लघीयस्त्रय** और **न्यायकुमुदचन्द्र** के विषय में तथा उनके रचयिता के विषय में विचार करना आवश्यक है।

लघीयस्त्रय के रचयिता आचार्य अकलङ्कदेव

अकलङ्क का व्यक्तित्व :

जैनन्याय के प्रतिष्ठापक आचार्य **अकलङ्कदेव** एक युगप्रधान आचार्य हुए हैं। जैनदर्शन में आचार्य **अकलङ्कदेव** का वही स्थान है जो बौद्धदर्शन में **धर्मकीर्ति** का और मीमांसादर्शन में **कुमारिलभट्ट** का है। **आचार्य समन्तभद्र** और **सिद्धसेन** के बाद **अकलङ्कदेव** ने जैनन्याय को सुप्रतिष्ठित किया है। इसीलिए उनके नाम के आधार पर जैनन्याय को अकलङ्कन्याय भी कहा जाता है। **आचार्य समन्तभद्र** के न्यायविषयक सूत्ररूप वचनों के आधार पर **अकलङ्कदेव** ने जैनन्याय और प्रमाणशास्त्र की पूर्णरूप से प्रस्थापना की है। वे इनके लिए स्याद्वादपुण्योदधिप्रभावक, भव्यैकलोक-नयन और स्याद्वादवर्त्मपरिपालक के रूप में श्रद्धेय रहे हैं और उनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलकर इन्होंने अकलङ्कन्याय का भव्य भवन निर्मित किया है तथा इनके द्वारा स्वीकृत की गई प्रणाली में उत्तरवर्ती किसी भी आचार्य ने किसी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव नहीं की।

अकलङ्क इतने प्रसिद्ध और प्रभावशाली आचार्य हुए हैं कि इनकी प्रशंसा और स्तुति अनेक ग्रन्थों और शिलालेखों में पायी जाती है। **न्यायकुमुदचन्द्र** के चतुर्थ परिच्छेद के अन्त में **आचार्य प्रभाचन्द्र** ने इन्हें समस्त अन्य मतवादीरूपी गजेन्द्रों का दर्प नष्ट करने वाला सिंह बतलाया

है।[1] **अष्टसहस्री** के टिप्पणकार **लघु समन्तभद्र** ने लिखा है[2] कि सम्पूर्ण तार्किक जन उनके चरणों की वन्दना करते थे, जिससे उनके चूड़ामणि की किरणों के द्वारा **अकलङ्क** के चरणों के नखों की किरणें नाना रूप धारण कर लेती थीं। **स्याद्वादरत्नाकर** के रचयिता **श्वेताम्बराचार्य देवसूरि** ने उन्हें मतान्तरों के दोषों का उद्भावक बतलाया है।[3] महाकवि **वादिराजसूरि** लिखते हैं[4] कि वे तर्कभूवल्लभ **अकलङ्क** जयवन्त हों, जिन्होंने जगत् की वस्तुओं के अपहर्त्ता शून्यवादी बौद्ध दस्युओं को दण्डित किया था। **शुभचन्द्राचार्य** ने **ज्ञानार्णव** में **अकलङ्क** की पुण्य सरस्वती को अनेकान्त गगन की चन्द्रलेखा बतलाया है।[5] इसी प्रकार **ब्रह्मचारी अजित** ने **अकलङ्क** को बौद्धबुद्धिवैधव्यदीक्षागुरु बतलाया है।[6] अर्थात् **अकलङ्क** द्वारा बौद्धों की बुद्धि विधवा हो गई थी या उनकी बुद्धि को वैधव्य की दीक्षा दी गई थी। इसी प्रकार दक्षिण में एक स्थान पर एक पाषाण पर उत्कीर्ण शिलालेख में लिखा है[7] कि उन **अकलङ्कदेव** की महिमा का वर्णन कौन कर सकता है, जिनके वचनरूपी खड्ग (तलवार) के प्रहार से आहत होकर बुद्ध बुद्धिरहित हो गया था।

---

1. इत्थं समस्तमतवादिकरीन्द्रदर्पमुन्मूलयन्नमलमानदृढप्रहारैः।
   स्याद्वादकेसरसटाशततीव्रमूर्त्तिः पञ्चाननो भुवि जयत्यकलङ्कदेवः।।
2. सकलतार्किकचक्रचूड़ामणिमरीचिमेचकितचरणनखकिरणो भगवान् भट्टाकलङ्कदेवः। – अष्टसहस्री, पृ0 1 टिप्पण, नि0सा0प्रेस, सन् 1915.
3. प्रकटिततीर्थान्तरीयकलङ्कोऽप्यकलङ्कः।
4. तर्कभूवल्लभो देवः स जयत्यकलङ्कधीः।
   जगद्द्रव्यमुषो येन दण्डिताः शाक्यदस्यवः।। – पार्श्वनाथचरित, 1/20.
5. श्रीमद्भट्टाकलङ्कस्य पातु पुण्या सरस्वती।
   अनेकान्तमरुन्मार्गे चन्द्रलेखायितं यया।।
6. अकलङ्कगुरुर्जीयादकलङ्कपदेश्वरः।
   बौद्धानां बुद्धिवैधव्यदीक्षागुरुरुदाहृतः।। – हनुमच्चरित
7. तस्याकलङ्कदेवस्य महिमा केन वर्ण्यते।
   यद्वाक्यखड्गघातेन हतो बुद्धो विबुद्धि सः।।
   – जैन शिलालेख संग्रह, तृतीय भाग, पृ0 206.

जिस समय **अकलङ्क** ने कार्यक्षेत्र में पदार्पण किया वह समय बौद्धयुग का मध्याह्न काल था। इसी कारण **अकलङ्क** के ग्रन्थों में बौद्धदर्शन की आलोचना विशेषरूप से उपलब्ध होती है। **अकलङ्क** बौद्धों के प्रबल विपक्षी थे। इसका कारण सिद्धान्त भेद था, मन की दूषित वृत्ति नहीं। वे **समन्तभद्र** के समान परीक्षाप्रधान पुरुष थे। उन्होंने **अष्टशती** में लिखा है[1] कि आज्ञाप्रधान पुरुष देवों के आगमन आदि को परमात्मा का चिह्न मान सकते हैं, हम लोग नहीं। फिर भी उनमें श्रद्धा का अभाव न था, किन्तु उनकी श्रद्धा परीक्षामूलक थी। वे न केवल हेतुवाद के अनुयायी थे और न केवल आज्ञावाद के। उनके अनुसार आज्ञावाद तभी प्रमाण हो सकता है जब वह आज्ञा (आगम) किसी आप्तपुरुष की हो।[2]

शास्त्रार्थी अकलङ्क :

अकलङ्क का युग विद्वत्समाज में शास्त्रार्थ करने का युग था। उस समय शास्त्रार्थ धर्मप्रचार करने का मुख्य साधन समझा जाता था। चीनीयात्री **फाहियान** और **ह्यूनत्सांग** ने अपनी-अपनी यात्रा के वर्णन में कई शास्त्रार्थों का उल्लेख किया है। **ह्यूनत्सांग** सातवीं शताब्दी के मध्य में भारत आया था और बहुत समय तक नालन्दा विश्वविद्यालय में रहा था। उसने नालन्दा विश्वविद्यालय में सम्पन्न हुए शास्त्रार्थों का रोचक वर्णन लिखा है। **अकलङ्क** की प्रसिद्धि शास्त्रार्थी तथा बौद्धवादी विजेता के रूप में रही है। उस समय के शास्त्रार्थ प्रायः राजसभाओं में हुआ करते थे और राजा तथा प्रजा- दोनों उसमें समानरूप से रुचि रखते थे। **अकलङ्क** ने भी कई राजसभाओं में जाकर बौद्धों के साथ शास्त्रार्थ किया था।

बौद्ध सम्प्रदाय में **तारादेवी** का महत्त्वपूर्ण स्थान है और **अकलङ्क** की तारा विजेता के रूप में प्रसिद्धि है। बौद्धों की इष्ट देवी **तारा** परदे की ओट में घट के अन्दर बैठकर शास्त्रार्थ करती थी और उस **तारादेवी**

---

1. आज्ञाप्रधाना हि त्रिदशागमादिकं परमेष्ठिनः परमात्मचिह्नं प्रतिपद्येरन् नास्मदादयः। – अष्टशती, कारिका 1.
2. सिद्धे पुनराप्तवचनत्वे यथा हेतुवादस्तथा आज्ञावादोऽपि प्रमाणम्।
– अष्टशती, कारिका 78.

को **अकलङ्क** ने शास्त्रार्थ में पराजित किया था। कलिंग देश के राजा **हिमशीतल** की सभा में **अकलङ्क** के शास्त्रार्थ और **तारादेवी** की पराजय का उल्लेख श्रवणबेलगोल की मल्लिषेण प्रशस्ति में उपलब्ध होता है। **पाण्डवपुराण** में **तारादेवी** के घट को पैर से ठुकराने का उल्लेख इस प्रकार है–

अकलङ्कोऽकलङ्कः स कलौ कलयतु श्रुतम्।
पादेन ताडिता येन मायादेवी घटस्थिता।।

इसी प्रकार मान्यखेट के राजा **साहसतुङ्ग** की सभा में **अकलङ्क** के जाने का उल्लेख भी मल्लिषेण प्रशस्ति में है। उक्त उल्लेखों से ज्ञात होता है कि **अकलङ्कदेव** एक महावादी तथा शास्त्रार्थी विद्वान् थे।

अकलङ्क का परिचय :

अन्य आचार्यों की तरह **अकलङ्कदेव** ने भी अपने किसी ग्रन्थ में अपना कुछ भी परिचय नहीं लिखा है, परन्तु अन्य स्रोतों के आधार पर उनके विषय में जो जानकारी प्राप्त हुई है, वह निम्न प्रकार है–

प्रभाचन्द्र के **गद्यकथाकोश**, **ब्रह्मचारी नेमिदत्त** के **पद्यकथाकोश** और कन्नड़ भाषा के '**राजावली कथे**' नामक ग्रन्थों में **अकलङ्क** की जीवनगाथा मिलती है। **कथाकोश** के अनुसार **अकलङ्क** की जन्मभूमि मान्यखेट थी और वे वहाँ के राजा **शुभतुङ्ग** के मन्त्री **पुरुषोत्तम** के पुत्र थे। मान्यखेट नगर एक समय राष्ट्रकूटवंशी राजाओं की राजधानी था और राष्ट्रकूटवंशी राजाओं में कृष्णराज प्रथम **शुभतुङ्ग** नाम से प्रसिद्ध था तथा उसके भतीजे **दन्तिदुर्ग** का दूसरा नाम **साहसतुङ्ग** था और **अकलङ्क साहसतुङ्ग** की सभा में गये थे। **राजावली कथे** के अनुसार **अकलङ्क** काञ्ची के **जिनदास** नामक ब्राह्मण के पुत्र थे। काञ्चीनगर इतिहास में प्रसिद्ध है। यह द्रविण देश की राजधानी था। इसे दक्षिण भारत की काशी कहा जाता है।

अकलङ्कदेव के *तत्त्वार्थराजवार्तिक नामक ग्रन्थ के प्रथम अध्याय* के अन्त में एक श्लोक पाया जाता है जिसमें **अकलङ्कदेव** को **लघुहव्व** नृपति का पुत्र बतलाया गया है। वह श्लोक निम्न प्रकार है–

जीयाच्चिरमकलङ्कब्रह्मा लघुहव्वनृपतिवरतनयः।
अनवरतनिखिलजननुतविद्यः प्रशस्तजनहृद्यः।।

इससे ज्ञात होता है कि **अकलङ्क** एक राजपुत्र थे और उनके पिता का नाम **लघुहव्व** था। यह भी निश्चितरूप से ज्ञात होता है कि **अकलङ्क** दक्षिण भारत के निवासी थे। भट्ट उनकी उपाधि थी। इस उपाधि का प्रयोग उनके नाम से पहले किया जाता है और नाम के बाद 'देव' शब्द का प्रयोग भी किया जाता है। इससे प्रतीत होता है कि वे देव के समान पूज्य थे।

अकलङ्क का समय :

अकलङ्कदेव ने ईसा की सातवीं या आठवीं शताब्दी में अपने जन्म से इस भारतभूमि को पवित्र किया है। अकलङ्क ने **भर्तृहरि, कुमारिल** तथा **धर्मकीर्ति** की आलोचना के साथ ही **प्रज्ञाकर गुप्त, कर्णकगोमि, धर्मोत्तर** आदि के विचारों का भी आलोचन किया है। अतः **अकलङ्क** का समय इन सबके बाद का सिद्ध होता है। श्रीमान् पं० **कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री** ने **न्यायकुमुदचन्द्र** प्रथम भाग की प्रस्तावना में **अकलङ्क** का समय ईस्वी सन् 620 से 680 निर्धारित किया है, परन्तु श्रीमान् **पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य** ने **अकलङ्क ग्रन्थत्रय** की प्रस्तावना में **अकलङ्क** का समय सन् 720 से 780 तक सिद्ध किया है।

अकलङ्क की रचनाएँ :

अकलङ्कदेव की दो प्रकार की रचनाएँ उपलब्ध हैं- (1) पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों पर भाष्यरूप रचना और (2) स्वतन्त्र रचना। इनमें से **अष्टशती** और **तत्त्वार्थराजवार्तिक**- ये दो भाष्यरूप रचनायें हैं। तथा **लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय** और **प्रमाणसंग्रह**- ये चार स्वतन्त्र रचनायें हैं। **अकलङ्क** के ये सब ग्रन्थ प्रकाशित तथा उपलब्ध हैं। इन छह ग्रन्थों के अतिरिक्त **न्यायचूलिका, स्वरूपसम्बोधन** आदि कुछ अन्य ग्रन्थ भी अकलङ्क रचित कहे जाते हैं, किन्तु उनके विषय में निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता है कि वे ग्रन्थ **भट्ट अकलङ्कदेव** द्वारा ही रचित हैं। सम्भव है कि वे अन्य किसी **अकलङ्क** की रचनायें हों, क्योंकि **अकलङ्क** नाम के और भी कुछ विद्वान् हुए हैं।

लघीयस्त्रय का महत्त्व :

जैनन्याय में **आचार्य अकलङ्कदेव** की कृति **लघीयस्त्रय** का विशेष महत्त्व है। **लघीयस्त्रय** छोटे-छोटे तीन प्रकरणों का संग्रह है। अतः यह एक प्रकरणग्रन्थ है, जो शास्त्र के एक देश से सम्बन्ध रखता है, उसे प्रकरण कहते हैं। **लघीयस्त्रय तत्त्वार्थसूत्र** के एक देश से सम्बन्ध रखता है। **तत्त्वार्थसूत्र** के प्रथम अध्याय में प्रमाण, नय और निक्षेप के विषय में संक्षेपरूप से विचार किया गया है, परन्तु **लघीयस्त्रय** में इन्हीं तीन विषयों पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है। इसके साथ ही इन तीन विषयों से सम्बन्धित अन्य अनेक विषयों पर भी विचार-विमर्श किया गया है। **अकलङ्क** ने केवल **लघीयस्त्रय** में कारिकाओं को ही नहीं लिखा है; किन्तु उन कारिकाओं पर विवृति (टीका) भी लिखी है। उस विवृति में भी कुछ ऐसे विषयों का समावेश उपलब्ध होता है जिनका उल्लेख कारिकाओं में नहीं है।

लघीयस्त्रय के तीन प्रकरणों का नाम क्रमशः प्रमाणप्रवेश, नयप्रवेश और प्रवचनप्रवेश हैं। प्रमाणप्रवेश में चार परिच्छेद हैं– प्रत्यक्ष परिच्छेद, परोक्ष परिच्छेद, विषय परिच्छेद और आगम परिच्छेद। नयप्रवेश में केवल एक परिच्छेद है और उसमें सात नयों और नयाभासों का विवेचन किया गया है। प्रवचनप्रवेश में दो परिच्छेद हैं– प्रवचन परिच्छेद और निक्षेप परिच्छेद। इसमें मुख्य रूप से श्रुत और उसके भेद-प्रभेदों का वर्णन होने के कारण इसको प्रवचनप्रवेश नाम दिया गया है। इस प्रकार **लघीयस्त्रय** में तीन प्रवेश और सात परिच्छेद हैं।

परिच्छेदों के अनुसार कारिकाओं का विवरण :

पहले प्रत्यक्ष परिच्छेद में $6^1/_2$ कारिकायें हैं, दूसरे परोक्ष परिच्छेद में 3 कारिकायें हैं, तीसरे विषय परिच्छेद में $11^1/_2$ कारिकायें हैं और चतुर्थ आगम परिच्छेद में 8 कारिकायें हैं। पाँचवें नय परिच्छेद में 21 कारिकायें हैं, छठवें प्रवचन परिच्छेद में 22 कारिकायें हैं और सातवें निक्षेप परिच्छेद में 6 कारिकायें हैं। इस प्रकार **लघीयस्त्रय** में कुल 78 *कारिकायें हैं।*

लघीयस्त्रय की टीकाएँ :

अकलङ्कदेव के वाक्य सूत्र की तरह संक्षिप्त, गम्भीर, गहन और अर्थबहुल होते हैं। उनके वचनों के अर्थ को हृदयङ्गम करना विद्वानों का ही काम है। **लघीयस्त्रय** पर तीन टीकायें उपलब्ध हैं, जिनके द्वारा कुछ लोग **अकलङ्कदेव** के हार्द को समझ सकते हैं।

(1) आचार्य प्रभाचन्द्र द्वारा लिखित **न्यायकुमुदचन्द्र लघीयस्त्रय** की कारिकाओं और उनकी विवृति का विशद व्याख्यान है। यह ग्रन्थ श्रीमान् **पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य** द्वारा सम्पादित होकर श्री माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला,बम्बई से सन् 1938 में दो भागों में प्रकाशित हो चुका है। यह एक विशालकाय ग्रन्थ है और इसके दोनों भागों की पृष्ठसंख्या 880 है।

(2) लघीयस्त्रय पर श्री **अभयचन्द्रसूरि** विरचित स्याद्वादभूषण नामक तात्पर्यवृत्ति भी उपलब्ध है, जिसका प्रकाशन भी श्रीमाणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला से सन् 1915 में हुआ है। इसकी भाषा प्राञ्जल तथा सरल संस्कृत है तथा इसकी पृष्ठ संख्या 103 है। श्री **अभयचन्द्रसूरि** का समय ईसा की तेरहवीं शताब्दी है। (सिद्धिविनश्चय, प्रस्तावना, पृ0 43)

(3) श्रीमान् **पं0 कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री** ने **लघीयस्त्रय** की कारिकाओं का हिन्दी अनुवाद किया है। इस अनुवाद में कारिकाओं का अर्थ और विशेषार्थ लिखकर कारिकाओं में तथा विवृति में आगत तत्त्वों का सरल भाषा में स्पष्टीकरण किया है, जिससे सामान्य जन भी **लघीयस्त्रय** के भाव को सरलता से समझ सकते हैं। यह अनुवाद 111 पृष्ठों में समाप्त हुआ है और डॉ0 **कमलेशकुमार जैन** के द्वारा सम्पादित होकर श्रीगणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान, नरिया, वाराणसी से सन् 2000 में प्रकाशित हुआ है।

कुछ जिज्ञासायें :

1. *प्रमाणप्रवेश* के प्रारम्भ में इष्टदेवता के नमस्काररूप मङ्गलाचरण किया गया है तथा नयप्रवेश के प्रारम्भ में कोई मङ्गलाचरण नहीं किया गया है। पुनः तृतीय प्रवचनप्रवेश के प्रारम्भ में कारिका 51 में **'प्रणिपत्य महावीरम्'** इत्यादि रूप से पुनः इष्टदेवता को नमस्कार किया है। इसका कारण समझ में नहीं आया। यद्यपि **प्रभाचन्द्र** ने इसे मध्य मङ्गल बतलाया

है, फिर भी जिज्ञासा यह है कि ऐसा मध्य मङ्गल नयप्रवेश के प्रारम्भ में क्यों नहीं किया गया?

2. यहाँ एक जिज्ञासा यह भी है कि निक्षेपों का प्रतिपादन करने के लिए पृथक् से एक निक्षेप परिच्छेद बनाया गया है। फिर भी निक्षेप परिच्छेद की चार (73 से 76 तक) कारिकाओं में से ऐसी एक भी कारिका नहीं है; जिसमें निक्षेप का लक्षण और उसके भेद बतलाये गये हों। केवल कारिका 74 में निक्षेप नाम आया है तथा इसकी विवृति में निक्षेप के चार भेद बतलाये हैं। प्रवचनप्रवेश की कारिका 52 में **'उपायो न्यास इष्यते'** ऐसा कहकर निक्षेप शब्द का अर्थ अवश्य बतलाया गया है।

3. इसी प्रकरण में एक जिज्ञासा यह भी है कि प्रमाणप्रवेश में विस्तार से प्रमाण का प्रतिपादन हो चुका है तथा नयप्रवेश में नय का विवेचन भी अच्छी तरह से किया गया है। फिर भी प्रवचनप्रवेश के प्रारम्भ में **'प्रमाणनयनिक्षेपानभिधास्ये यथागमम्'** ऐसा लिखकर पुनः प्रमाण और नय का विवेचन क्यों किया गया?

आचार्य अकलङ्क की दार्शनिक उपलब्धियाँ

जैनन्याय की प्रतिष्ठा :

अकलङ्कदेव के पहले केवल आगमिक-परम्परा के अनुसार सामान्यरूप से प्रमाण, नय, स्याद्वाद, सप्तभङ्गी आदि का सूत्ररूप से उल्लेख दृष्टिगोचर होता है। सर्वप्रथम प्रथम शताब्दी के प्रमुख **आचार्य कुन्दकुन्द** ने अपने **प्रवचनसार** नामक ग्रन्थ में प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण का सामान्य लक्षण करके सात भङ्गों के नाम गिनाकर न्याय के क्षेत्र में दार्शनिक शैली का सूत्रपात किया है। इसके अनन्तर **आचार्य गृद्धपिच्छ** ने अपने **तत्त्वार्थसूत्र** में प्रमाण और नय की चर्चा तथा **षट्खण्डागम** के अनुसार मतिज्ञान में स्मृति, संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्क) और अभिनिबोध (अनुमान) का अन्तर्भाव करके न्यायोपयोगी सामग्री को प्रस्तुत किया है। इसके बाद **आचार्य समन्तभद्र** ने अनेकान्त, स्याद्वाद और सप्तभङ्गी के निरूपण में ही अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा दी। इसके अनन्तर **आचार्य सिद्धसेन** ने प्रमाण और नय का निरूपण करने के लिए **'न्यायावतार'** नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ का निर्माण किया। **अकलङ्कदेव** के पहले जैनन्याय की यही

रूपरेखा उपलब्ध होती है।

तदनन्तर **आचार्य अकलङ्क** ने न्याय के क्षेत्र में अनेक नूतन बातों को सम्मिलित करके जैनन्याय को सुव्यवस्थित किया है। सबसे पहले उनका ध्यान प्रमाण की पद्धति की ओर आकृष्ट हुआ। आगम में प्रमाण के दो भेद बतलाये गये हैं- प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष में अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान सम्मिलित हैं तथा मति और श्रुत- ये दो ज्ञान परोक्ष माने गये हैं। आगम में इन्द्रियजन्य ज्ञान को परोक्ष माना गया है, जबकि अन्य दार्शनिकों ने इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष माना है। **अकलङ्क** के सामने इन दोनों में सामञ्जस्य स्थापित करने की समस्या थी। उन्होंने इस समस्या का समाधान बहुत ही सुन्दर रीति से किया है। उन्होंने प्रत्यक्ष के मुख्य प्रत्यक्ष और सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष- ये दो भेद करके इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होने वाले मतिज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मानकर प्रत्यक्ष में सम्मिलित कर लिया। ऐसा करने से प्राचीन परम्परा की रक्षा भी हो गयी और अन्य दार्शनिकों के द्वारा अभिमत प्रत्यक्ष की परिभाषा के अनुसार लोकव्यवहार की दृष्टि से सामञ्जस्य भी स्थापित हो गया।

अकलङ्क ने सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के पुनः दो भेद किये- इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष। उन्होंने मतिज्ञान को इन्द्रिय प्रत्यक्ष कहा तथा स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान- इन चार ज्ञानों को अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष बतलाया।[1] उन्होंने एक नवीन बात यह भी बतलायी कि मति आदि ज्ञान तभी तक सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष हैं जब तक उनमें शब्दयोजना नहीं की जाती है। उनमें शब्दयोजना होने पर वे परोक्ष कहे जायेंगे और तब वे श्रुतज्ञान के भेद होंगे।[2] यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि **अकलङ्कदेव** द्वारा प्रतिपादित प्रमाण के भेदों को उत्तरकालीन ग्रन्थकारों ने बिना किसी विवाद के स्वीकार कर लिया, परन्तु **आचार्य अकलङ्क** ने स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध ज्ञान को शब्दयोजना के पहले

---

1. इन्द्रियप्रत्यक्षं अवग्रहेहावायधारणात्मकम्। अनिन्द्रियप्रत्यक्षं स्मृतिसंज्ञाचिन्ताभिनिबोधात्मकम्। – लघीयस्त्रयविवृति, का0 61.
2. ज्ञानमाद्यं मतिः संज्ञा चिन्ता चाऽऽभिनिबोधनम्।
प्राङ्नामयोजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात्।। – लघीयस्त्रय, का0 10-11.

जो अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष कहा है उसे किसी भी अन्य आचार्य ने स्वीकार नहीं किया। प्रत्यक्ष की आगमिक परिभाषा के स्थान में जब उसकी दार्शनिक परिभाषा करने की आवश्यकता प्रतीत हुई तब **अकलङ्क** ने विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष बतलाकर इसका समाधान किया,[1] परन्तु आगम में इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना आत्ममात्र से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष बतलाया गया है।

अविसंवाद की प्रायिक स्थिति :

बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति की तरह **अकलङ्कदेव** ने भी अविसंवादी ज्ञान को प्रमाण माना है। अविसंवाद को प्रमाण का आधार मानकर भी उन्होंने एक विशेष बात यह बतलायी है कि हमारे ज्ञानों में प्रमाणता और अप्रमाणता की संकीर्ण स्थिति रहती है। कोई भी ज्ञान न तो सर्वथा प्रमाण होता है और न सर्वथा अप्रमाण। इन्द्रियदोष से एक चन्द्र में होने वाला द्विचन्द्र ज्ञान भी चन्द्रांश में प्रमाण और द्वित्वांश में अप्रमाण होता है। एक-चन्द्र ज्ञान भी चन्द्रांश में ही प्रमाण है, पर्वत पर स्थित चन्द्ररूप में नहीं, अतः प्रमाणता का निर्णय अविसंवाद की बहुलता से किया जाना चाहिए। जैसे किजिस पुद्गल द्रव्य में गन्ध गुण की प्रचुरता होती है उसे गन्ध द्रव्य कहते हैं।[2]

परोक्षप्रमाण का वैशिष्ट्य :

अकलङ्कदेव ने परोक्ष प्रमाण के प्रकरण में नैयायिक और मीमांसक के उपमान प्रमाण की आलोचना करते हुए प्रत्यभिज्ञान के एकत्व, सादृश्य,

---

1. प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसंव्यवहारतः। लघीयस्त्रय, का0 3.
2. क. येनाकारेण तत्त्वपरिच्छेदस्तदपेक्षया प्रामाण्यमिति। तेन प्रत्यक्षतदाभासयोरपि प्रायशः संकीर्णप्रामाण्येतरस्थितिरुन्नेतव्या। प्रसिद्धानुपहतेन्द्रियदृष्टेरपि चन्द्रार्कादिषु देशप्रत्यासत्याद्यभूताकारावभासनात्। तथोपहताक्षादेरपि संख्यादिविसंवादेऽपि चन्द्रादिस्वभावतत्त्वोपलम्भात्। तत्प्रकर्षापेक्षया व्यपदेशव्यवस्था गन्धादिद्रव्यवत्।–अष्टशती, कारिका 101.

   ख. तिमिराद्युपप्लवज्ञानं चन्द्रादावविसंवादकं प्रमाणं यथा तत्संख्यादौ विसंवादकत्वादप्रमाणम्। प्रमाणेतरव्यवस्थायास्तल्लक्षणत्वात्।

   – लघीयस्त्रय विवृति, का0 22.

वैलक्षण्य आदि अनेक भेदों का उपपादन किया है और उपमान का सादृश्य-प्रत्यभिज्ञान में अन्तर्भाव किया है। तथा सर्वदेशावच्छेदेन और सर्वकालावच्छेदेन व्याप्तिज्ञान के लिए तर्क प्रमाण की आवश्यकता सिद्ध की है। साध्य और साध्याभास का स्वरूप निश्चित किया है।[1] हेतु और हेत्वाभास की व्यवस्था की है। जैनाचार्यों ने प्रारम्भ से ही अन्यथानुपपन्नत्व या अविनाभाव को साधन का एकमात्र लक्षण माना है। **अकलङ्कदेव** ने बौद्धों के त्रैरूप्य का और नैयायिकों के पाञ्चरूप्य का निराकरण करके अन्यथानुपपन्नत्व का समर्थन किया है।

बौद्ध दार्शनिक हेतु के तीन भेद मानते हैं- स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धि। परन्तु **अकलङ्कदेव** ने कारण, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर को भी हेतु माना है। बौद्ध अनुपलब्धि को केवल प्रतिषेधात्मक मानते हैं; किन्तु **अकलङ्क** ने उपलब्धि और अनुपलब्धि–इन दोनों को ही विधिसाधक तथा प्रतिषेधसाधक माना है। बौद्ध दृश्यानुपलब्धि से ही अभाव की सिद्धि मानते हैं,[2] अदृश्यानुपलब्धि से नहीं। किसी स्थान विशेष में घट की अनुपलब्धि दृश्यानुपलब्धि है और पिशाच की अनुपलब्धि अदृश्यानुपलब्धि है। बौद्धों के अनुसार सूक्ष्म परमाणु आदि स्वभाव-विप्रकृष्ट विषयों की अनुपलब्धि संशय का हेतु होने से अभावसाधक नहीं हो सकती है।[3] बौद्धों ने दृश्यत्व का अर्थ केवल प्रत्यक्षविषयत्व किया है। इस विषय में **अकलङ्कदेव** का कथन है कि दृश्यत्व का अर्थ केवल प्रत्यक्षविषयत्व नहीं है, किन्तु उसका अर्थ प्रमाणविषयत्व भी है। यही कारण है कि मृत शरीर में स्वभाव से अतीन्द्रिय चैतन्य का अभाव भी हम लोग सिद्ध करते हैं। यदि अदृश्यानुपलब्धि को एकान्ततः संशय का हेतु माना जाय तो मृत शरीर में चैतन्य की निवृत्ति का सन्देह बना रहेगा। ऐसी स्थिति

---

1. साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं ततोऽपरम्।
साध्याभासं विरुद्धादि साधनाविषयत्वतः।। – न्यायविनिश्चय, श्लोक 172.

2. प्रतिषेधसिद्धिरपि यथोक्ताया एवानुपलब्धेः। सति वस्तुनि तस्या असम्भवात्।
– न्यायबिन्दु, द्वितीय स्वार्थानुमान परिच्छेद, सूत्र 25-26.

3. विप्रकृष्टविषयानुपलब्धिः प्रत्यक्षानुमाननिवृत्तिलक्षणा संशयहेतुः। प्रमाणनिवृत्तावप्यर्थाभावासिद्धेः।
– न्यायबिन्दु, द्वितीय स्वार्थानुमान परिच्छेद, सूत्र 47-48.

में मृत शरीर का दाह करना कठिन हो जायेगा और दाह करने वालों को पातकी माना जायेगा। बहुत से अप्रत्यक्ष रोगादि के अभाव का निर्णय देखा ही जाता है।[1] इसी विषय में लघीयस्त्रय में भी कहा गया है कि लौकिकजन अदृश्य परचित्त (चैतन्य) के अभाव को जान लेते हैं।[2]

जय-पराजय व्यवस्था :

न्यायदर्शन में वादी की जय और प्रतिवादी की पराजय के लिए छल, जाति और निग्रहस्थान जैसे असत् उपायों का अवलम्बन लेना भी न्याय्य माना गया है, क्योंकि वादी का उद्देश्य तत्त्व का संरक्षण करना है और तत्त्व का संरक्षण किसी भी उपाय से करने में कोई आपत्ति नहीं मानी गई है। परन्तु धर्मकीर्ति ने छल, जाति और निग्रहस्थान के आधार से होने वाली जय-पराजय की व्यवस्था का खण्डन करते हुए वादी के लिए असाधनांगवचन और प्रतिवादी के लिए अदोषोद्भावन– ये दो ही निग्रहस्थान माने हैं।[3] वादी का कर्तव्य है कि वह पूर्ण और निर्दोष साधन को कहे और प्रतिवादी का कर्तव्य है कि वह यथार्थ दोषों का उद्भावन करे। इतने मात्र से ही एक की जय और दूसरे की पराजय हो जाती है।

इसके विपरीत जय-पराजय की व्यवस्था के विषय में अकलङ्क के विचार बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने सत्य और अहिंसा की दृष्टि से छल, जाति और निग्रहस्थान के प्रयोग को सर्वथा अन्याय्य माना है। उन्होंने बौद्धों के असाधनाङ्गवचन और अदोषोद्भावन को भी स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने तो स्पष्टरूप से इतना ही कहा है कि वादी को

---

1. अदृश्यानुपलम्भादभावासिद्धिरित्ययुक्तं परचैतन्यनिवृत्तावारेकापत्तेः। संस्कर्तृणां पातकित्वप्रसङ्गात्। बहुलमप्रत्यक्षस्यापि रोगादेर्विनिवृत्तिनिर्णयात्।
   – अष्टशती, कारिका 4.
2. अदृश्यपरचित्तादेरभावं लौकिका विदुः।
   तदाकारविकारादेरन्यथानुपपत्तितः।। – लघीयस्त्रय, का0 15.
3. असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः।
   निग्रहस्थानमन्यत्तु न युक्तमिति नेष्यते।। – वादन्याय

अविनाभावी साधन से स्वपक्ष की सिद्धि और परपक्ष का निराकरण करना चाहिए। इसी प्रकार प्रतिवादी को वादी के पक्ष में यथार्थ दूषण बतलाना चाहिए और अपने पक्ष की सिद्धि करनी चाहिए। एक की जय और दूसरे की पराजय के लिए इतना ही पर्याप्त है। इससे अधिक अन्य किसी बात की आवश्यकता नहीं है। एक की स्वपक्ष सिद्धि हो जाने से ही दूसरे का निग्रह हो जाता है।[1] इस प्रकार **अकलङ्कदेव** ने जय-पराजय की निर्दोष प्रणाली का प्रतिपादन किया है।

आलोचन-कौशल्य :

मध्ययुग में कुछ दार्शनिक अन्य दार्शनिकों की आलोचना करते समय मर्यादा का अतिक्रमण कर जाते थे और अपने विपक्षियों के लिए पशु, अह्रीक (निर्लज्ज) आदि शब्दों का प्रयोग करते थे, परन्तु निर्मलमना **आचार्य अकलङ्क** द्वारा की गयी विपक्षियों की आलोचना में उस कटुता के दर्शन नहीं होते हैं। उन्होंने प्रायः प्रतिपक्षी का उत्तर उसी के शब्दों में दिया है और कहीं प्रतिपक्षी की भूल को पकड़कर उसका उपहास करते हुए उत्तर दिया है। जैसे **धर्मकीर्ति** कहते हैं–

सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति।।

– प्रमाणवार्तिक 3/182

अर्थात् यदि प्रत्येक वस्तु उभयात्मक है और किसी वस्तु में कोई विशेषता नहीं है तो दधि को खाने के लिए कहा गया मनुष्य ऊँट को खाने के लिए क्यों नहीं दौड़ता है?

इस बात का **अकलङ्कदेव** उत्तर देते हैं–

पूर्वपक्षमविज्ञाय दूषकोऽपि विदूषकः।
सुगतोऽपि मृगो जातः मृगोऽपि सुगतः स्मृतः।
तथापि सुगतो वन्द्यो मृगः खाद्यो यथेष्यते।।
तथा वस्तुबलादेव भेदाभेदव्यवस्थितेः।

1. स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोऽन्यस्य वादिनः।
नासाधनाङ्गवचनं नादोषोद्भावनं द्वयोः।। – अष्टशती, कारिका 7.

चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रमभिधावति ।।

– न्यायविनिश्चय, 203-204

अर्थात् पूर्वपक्ष को ठीक से न समझ सकने के कारण दूषण देने वाला विदूषक मालूम पड़ता है। पूर्व पर्याय में सुगत मृग हुए थे और बाद में मृग भी सुगत हुआ। फिर भी बौद्ध सुगत की वन्दना करते हैं और मृग को खाद्य मानते हैं। ठीक उसी प्रकार पर्याय भेद से दधि और ऊँट के शरीर में भेद है। अतः दधि को खाने के लिये कहा गया मनुष्य दधि को ही खाता है, ऊँट को नहीं। यहाँ '**दूषकोऽपि विदूषकः**' ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं। आलोचन कौशल्य का यही एक उदाहरण नहीं है, किन्तु इस प्रकार के अनेक अन्य उदाहरण भी पाये जाते हैं।

इस प्रकार शालीनतापूर्वक उत्तर देने की प्रक्रिया से **अकलङ्क** के आलोचन-कौशल्य का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। **अकलङ्कदेव** की अनेक दार्शनिक उपलब्धियाँ हैं। उनमें से यहाँ उनकी कुछ ही उपलब्धियों पर प्रकाश डाला गया है।

न्यायकुमुदचन्द्र के रचयिता आचार्य प्रभाचन्द्र

प्रभाचन्द्र का व्यक्तित्व :

आचार्य प्रभाचन्द्र उच्चकोटि के विशिष्ट प्रतिभाशाली विद्वान् थे। यही कारण है कि उन्होंने **प्रमेयकमलमार्तण्ड** और न्यायकुमुदचन्द्र जैसी महत्त्वपूर्ण और प्रमेयबहुल कृतियों की रचना की। **प्रभाचन्द्र** ने **परीक्षामुखसूत्र** पर बारह हजार श्लोक प्रमाण **प्रमेयकमलमार्तण्ड** नामक विशालकाय भाष्य लिखा है। इसी प्रकार **प्रभाचन्द्र** ने **अकलङ्कदेव** के **लघीयस्त्रय** पर **न्यायकुमुदचन्द्र** नामक विस्तृत एवं विशद व्याख्या लिखी है, जिसमें **लघीयस्त्रय** की 78 कारिकाओं के हार्द को विस्तार से तर्कपूर्ण शैली में उद्घाटित किया है। वे जैनन्याय और जैनदर्शन के उच्चकोटि के विद्वान् होने के साथ ही अन्य समस्त भारतीय दर्शनों के तलस्पर्शी विद्वान् थे। आचार्य **प्रभाचन्द्र** द्वारा लिखित **प्रमेयकमलमार्तण्ड** और **न्यायकुमुदचन्द्र**– ये दो विशालकाय व्याख्याग्रन्थ उच्चकोटि के होने के साथ ही अनुपम एवम् अतुलनीय भी हैं। वे दोनों ग्रन्थ जैनन्याय तथा

जैनदर्शन से सम्बन्धित विषयों पर व्यापक प्रकाश डालते हैं। इन ग्रन्थों में पूर्वपक्ष के रूप में अन्य भारतीय दर्शनों का भी गहन विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

आचार्य प्रभाचन्द्र ने **अकलङ्कदेव** के **लघीयस्त्रय** की कारिकाओं में तथा उसकी विवृति में आगत विषयों पर विस्तृत एवं विशद व्याख्यान प्रस्तुत किया हैं। इसके साथ ही विविध तर्कपूर्ण चर्चाओं द्वारा अनेक नवीन विषयों और तथ्यों पर भी अच्छा प्रकाश डाला है। **प्रभाचन्द्र** का ज्ञान कितना विशाल एवं गम्भीर था इसका पता इस बात से चलता है कि उन्होंने **न्यायकुमुदचन्द्र** में **उत्तराध्ययनसूत्र**, **षड्दर्शनसमुच्चय**, **केवलिभुक्तिप्रकरण**, **स्त्री-मुक्तिप्रकरण** आदि जैनागम तथा जैनदर्शन के अनेक ग्रन्थों से प्रचुर मात्रा में उद्धरण तो दिये ही हैं। इसके साथ ही भारतीय दर्शन के शीर्षस्थ ग्रन्थ **न्यायसूत्र**, **वैशेषिकसूत्र**, **योगसूत्र**, **जैमिनिसूत्र**, **ब्रह्मसूत्र**, **न्यायभाष्य**, **प्रशस्तपादभाष्य**, **शाबरभाष्य**, **व्यास-भाष्य**, **छान्दोग्योपनिषद्**, **बृहदारण्यकोपनिषद्**, **श्वेताश्वतरोपनिषद्**, **जाबालोपनिषद्**, **न्यायबिन्दु**, **प्रमाणवार्तिक**, **प्रमाणवार्तिकालङ्कार**, **अभिधर्मकोश**, **राजनिघण्टुकोश**, **वाक्यपदीय**, **माध्यमिककारिका**, **सांख्यकारिका**, **न्यायमञ्जरी**, **न्यायकलिका**, **मीमांसाश्लोकवार्तिक**, **तन्त्रवार्तिक**, **मनुस्मृति**, **मत्स्यपुराण** आदि सैकड़ों ग्रन्थों से भी उद्धरण दिये हैं। **प्रभाचन्द्र** व्याकरणशास्त्र के भी विशिष्ट ज्ञाता थे। उनके द्वारा **जैनेन्द्रव्याकरण** पर लिखित **शब्दाम्भोजभास्कर** से ज्ञात होता है कि उन्हें पातञ्जल महाभाष्य का तलस्पर्शी ज्ञान था। इस प्रकार हमें **प्रभाचन्द्र** के तलस्पर्शी सूक्ष्म दार्शनिक अध्ययन के साथ ही उनके अन्य अनेक विषयों के अगाध वैदुष्य का बोध भी होता है। वास्तव में **प्रभाचन्द्र** का व्यक्तित्व एवं वैदुष्य विशाल, व्यापक एवं गम्भीर था।

प्रभाचन्द्र का परिचय :

अन्य आचार्यों की तरह इनके जन्मस्थान आदि के विषय में भी कुछ विशेष ज्ञात नहीं होता है। फिर भी स्फुट स्रोतों से ज्ञात होता है कि **आचार्य प्रभाचन्द्र** मूलसंघान्तर्गत नन्दिगण की आचार्य परम्परा में दक्षिण में हुए थे। इन्होंने **प्रमेयकमलमार्तण्ड** की प्रशस्ति में **पद्मनन्दि सैद्धान्त** को अपना गुरु बतलाया है। इससे इतना तो निश्चित प्रतीत होता है कि

प्रभाचन्द्र का जन्म दक्षिण भारत में हुआ था; किन्तु उनका कार्यस्थल मध्य भारत में धारानगरी रहा है। ऐसी प्रबल सम्भावना है कि **आचार्य प्रभाचन्द्र** दक्षिण भारत में **आचार्य पद्मनन्दि सैद्धान्त** से शिक्षा-दीक्षा लेकर धारानगरी में चले आये थे और यहीं उन्होंने अपने ग्रन्थों की रचना की। प्राचीन काल में जिसका नाम धारानगरी था वर्तमान में उसका नाम धार है, जो मध्यप्रदेश का एक जिला है और इन्दौर से अधिक दूर नहीं है। **प्रभाचन्द्र** धारानरेश **भोज** के समकालीन विद्वान् थे। **प्रभाचन्द्र** की दो प्रमुख दार्शनिक कृतियों में **प्रमेयकमलमार्तण्ड** प्रथम कृति है। **प्रमेयकमलमार्तण्ड** में उल्लिखित–

"श्रीभोजदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना...श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन निखिलप्रमाणप्रमेयस्वरूपोद्द्योतपरीक्षामुखपदमिदं विवृतमिति।"

इस अन्तिम प्रशस्ति से यह स्पष्ट है कि **प्रमेयकमलमार्तण्ड** नामक ग्रन्थ **भोजदेव** के राज्य में धारानगरी में रचा गया था और **प्रभाचन्द्र** धारानरेश **भोज** के समकालीन विद्वान् थे। **भोजदेव** के बाद उनके उत्तराधिकारी **जयसिंहदेव** के राज्य में भी **प्रभाचन्द्र** ने अन्य ग्रन्थों की रचना की थी। इससे यह सिद्ध होता है कि **प्रभाचन्द्र** का कार्यस्थल धारा-नगरी रहा है।

प्रभाचन्द्र की महत्त्वपूर्ण द्वितीय कृति **न्यायकुमुदचन्द्र** है। इसकी एक प्रति में निम्नलिखित प्रशस्ति का उल्लेख मिलता है–

"श्रीजयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिप्रणामोपार्जितामलपुण्यनिराकृतनिखिलमलकलङ्केन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन न्यायकुमुदचन्द्रो लघीयस्त्रयालंकारः कृतः इति मंगलम्।"

इस प्रशस्ति से यह निश्चित है कि आचार्य **प्रभाचन्द्र** ने **न्यायकुमुदचन्द्र** की रचना **जयसिंहदेव** के राज्य में धारा नामक नगरी में ही की थी।

प्रभाचन्द्र का समय :

श्रीमान् पं० **कैलाशचन्द्रजी शास्त्री** ने **न्यायकुमुदचन्द्र**, प्रथम भाग *की प्रस्तावना में **प्रभाचन्द्र** का समय ईस्वी सन् 950 से 1020 तक निर्धारित किया है। श्रीमान् पं० **महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य** ने **प्रमेयकमलमार्तण्ड***

की प्रस्तावना में इनका समय सन् 980 से 1065 तक निश्चित किया है। श्रीमान् डॉ0 पं0 दरबारीलालजी कोठिया न्यायाचार्य ने अपनी पुस्तक **'जैनन्याय की भूमिका'** में **प्रभाचन्द्र** का समय 1043 ईस्वी लिखा है। इन उल्लेखों से इतना तो स्पष्ट है कि **आचार्य प्रभाचन्द्र** का समय विक्रम संवत् की 11वीं शताब्दी रहा है। राजा भोज का भी यही समय है।

न्यायकुमुदचन्द्र का अर्थ :

आचार्य प्रभाचन्द्र की दो महत्त्वपूर्ण दार्शनिक कृतियों में से एक के अन्त में मार्तण्ड शब्द का प्रयोग किया गया है और दूसरी के अन्त में चन्द्र शब्द का प्रयोग। एक कृति सूर्य के समान है और दूसरी कृति चन्द्र के समान। बात यह है कि कमल दो प्रकार के होते हैं- दिन में खिलने वाले कमल, जो सूर्योदय के होने पर खिलते हैं और रात्रि में खिलने वाले कमल, जो चन्द्रोदय के होने पर खिलते हैं तथा जिन्हें कुमुद भी कहते हैं। यहाँ **प्रमेयकमलमार्तण्ड** प्रमेयरूपी कमलों को विकसित (प्रकाशित) करने के लिए मार्तण्ड (सूर्य) के समान है और **न्यायकुमुदचन्द्र** न्यायरूपी कमलों (कुमुदों) को विकसित करने के लिए चन्द्रमा के समान है। **न्यायकुमुदचन्द्र** का दूसरा नाम **लघीयस्त्रयालङ्कार** भी है, क्योंकि **अकलङ्कदेव** के **लघीयस्त्रय** पर **प्रभाचन्द्र** की यह विस्तृत और विशद व्याख्या **लघीयस्त्रय** को अलंकृत करने वाली है। यही कारण है कि **आचार्य प्रभाचन्द्र** ने प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में आगत पुष्पिका वाक्य में- **'इति श्रीप्रभाचन्द्रविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रे लघीयस्त्रयालङ्कारे'** ऐसा लिखकर दोनों नामों का उल्लेख किया है।

न्यायकुमुदचन्द्र का महत्त्व :

न्यायकुमुदचन्द्र एक स्वतन्त्र रचना न होकर **लघीयस्त्रय** और उसकी विवृति का विशद व्याख्यान है। जैनदर्शन के क्षेत्र में **न्यायकुमुदचन्द्र** का विशेष महत्त्व है। इसके अधिकांश विषय **प्रमेयकमलमार्तण्ड** से मिलते हैं। फिर भी इसमें अनेक विषय ऐसे हैं जो **प्रमेयकमलमार्तण्ड** में नहीं हैं। **न्यायकुमुदचन्द्र** में नय और निक्षेप की विशेष चर्चा है, जो **प्रमेय-कमलमार्तण्ड** में नहीं है। इसका कारण यह है कि **प्रमेयकमलमार्तण्ड** का आधार है- **परीक्षामुख** और न्यायकुमुदचन्द्र का आधार है-**लघीयस्त्रय**।

परीक्षामुख में केवल प्रमाण से सम्बन्धित विषयों की चर्चा है, नय और निक्षेप की नहीं। इसके अतिरिक्त और भी ऐसे अनेक विषय हैं जो **प्रमेयकमलमार्तण्ड** में नहीं हैं। बौद्धों के प्रतीत्यसमुत्पादवाद का खण्डन, संस्कृत और प्राकृतभाषा के साधुत्व और असाधुत्व की चर्चा, प्रतिबिम्ब-विचार, तम और छाया में द्रव्यत्वसिद्धि, भावना, विधि और नियोग का विचार आदि विषयों का उल्लेख **प्रमेयकमलमार्तण्ड** में नहीं मिलता है। यही कारण है कि **न्यायकुमुदचन्द्र** का महत्त्व **प्रमेयकमलमार्तण्ड** की अपेक्षा अधिक है तथा इसका परिमाण भी अधिक है।

दोनों कृतियों में तुलनात्मक दृष्टि से **प्रमेयकमलमार्तण्ड** कुछ सरल है तथा **लघीयस्त्रय** और उसका विशद व्याख्यानरूप **न्यायकुमुदचन्द्र** कहीं-कहीं अधिक क्लिष्ट प्रतीत होता है। मुझे भी इसके कुछ अंशों को समझने में विशेष परिश्रम करना पड़ा है। मैंने न्यायकुमुदचन्द्र में आगत दार्शनिक तत्त्वों को यथाशक्ति और यथासम्भव स्पष्ट करने का पूर्ण प्रयत्न किया है। फिर भी मेरे विवेचन में कुछ भूलों का रह जाना सम्भव है, क्योंकि '**को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे**' यह उक्ति मुझ पर भी लागू होती है।

न्यायकुमुदचन्द्र का प्रतिपाद्य विषय

आचार्य प्रभाचन्द्र ने **न्यायकुमुदचन्द्र** के अन्तर्गत **लघीयस्त्रय** और उसकी विवृति में प्रतिपादित विषयों के साथ ही अनेक नवीन विषयों का भी विस्तृत विवेचन किया है। सम्पूर्ण विषयवस्तु इस प्रकार है-

प्रथम परिच्छेद :

इस परिच्छेद में कण्टकशुद्धि के बाद बौद्धों के सन्तानवाद की आलोचना की गई है, तदनन्तर प्रत्यक्ष का लक्षण और प्रत्यक्ष के भेद, यौगों के सन्निकर्षवाद, जयन्तभट्ट के कारकसाकल्यवाद, सांख्यों के इन्द्रियवृत्तिवाद, प्राभाकरों के ज्ञातृव्यापारवाद तथा बौद्धों के निर्विकल्पकप्रामाण्यवाद का निराकरण, विपर्ययज्ञान को विभिन्न रूपों में मानने वाले वादियों की विवेकाख्याति आदि मान्यताओं का निराकरण, चार्वाक का प्रत्यक्षैकप्रमाणवाद का निरसन तथा सर्वज्ञसिद्धि, चक्षु के प्राप्यकारित्व और श्रोत्र के अप्राप्यकारित्व का खण्डन, मीमांसक के सर्वज्ञाभाव, सांख्य

के ईश्वरवाद और यौगों के ईश्वरवाद का निराकरण किया गया है। इसी क्रम में अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा का स्वरूप, संवेदनाद्वैत, चित्राद्वैत आदि की आलोचना, इन्द्रियों को भौतिक मानने वाले नैयायिक और सांख्य मतों की समीक्षा, ज्ञान की साकारता और निराकारता की चर्चा तथा प्रमाण और उसके फल का विचार किया गया है। तदनन्तर अस्वसंवेदनज्ञानवादी मीमांसक तथा सांख्य की और ज्ञानान्तरप्रत्यक्ष-ज्ञानवादी नैयायिकों की आलोचना की गई है। इसके पश्चात् मीमांसकों के स्वतः प्रामाण्यवाद की समीक्षा करते हुए अभ्यासदशा में स्वतः और अनभ्यासदशा में परतः प्रामाण्य की सिद्धि की गई है।

द्वितीय परिच्छेद :

इस परिच्छेद में सर्वप्रथम प्रमाण के विषय द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु का विवेचन किया है, पुनः यह बतलाया गया है कि बौद्धों का स्वलक्षण और अद्वैतवादियों का सामान्य प्रमाण का विषय नहीं है। वैशेषिकों के षट्पदार्थवाद की समीक्षा, नैयायिकों के षोडशपदार्थवाद की समीक्षा, सांख्यों के पञ्चविंशतत्त्ववाद की समीक्षा, चार्वाक के भूतचैतन्यवाद का निरास, द्रव्य और पर्याय में भेदाभेद की सिद्धि, नित्यैकान्त और क्षणिकैकान्त में अर्थक्रिया का अभाव, बौद्धों के प्रतीत्यसमुत्पादवाद का खण्डन, सत्ता के सम्बन्ध से वस्तु को सत् मानने वाले यौगमत का निराकरण और उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त वस्तु में सत्त्वसिद्धि की गई है।

तृतीय परिच्छेद :

इस परिच्छेद में सर्वप्रथम यह बतलाया गया है कि शब्दयोजनानिरपेक्ष मति, स्मृति आदि ज्ञान प्रत्यक्ष और शब्दयोजना-सापेक्ष परोक्ष हैं। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि में प्रामाण्यसिद्धि, तर्कप्रमाण की आवश्यकता, अनुमान प्रमाण का स्वरूप, विधिसाधक हेतु के दो भेद मानने वाले बौद्धों का निरास, पक्ष प्रयोग की आवश्यकता, प्रतिबिम्ब के विषय में कुमारिल के मत का खण्डन, कारणहेतु, पूर्वचर हेतु, उत्तरचर हेतु और सहचर हेतु का समर्थन, त्रैरूप्य और पाञ्चरूप्य का निरास, अदृश्यानुपलब्धि से वस्तु के अभाव की सिद्धि, अभाव को जानने के लिए अभाव नामक प्रमाण की आवश्यकता नहीं, बौद्धों के स्वभाव हेतु और कार्य हेतु की आलोचना, नैयायिक और मीमांसक के उपमान प्रमाण की आलोचना और

अर्थापत्ति प्रमाण के सम्बन्ध में कुमारिल की आलोचना तथा अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव बतलाया गया है।

चतुर्थ परिच्छेद :

प्रमाण में अविसंवाद की प्रायिक स्थिति, द्विचन्द्र ज्ञान भी कथञ्चित् प्रमाण है, सविकल्पक ज्ञान प्रमाण और निर्विकल्पक ज्ञान अप्रमाण, बौद्धाभिमतनिर्विकल्पक प्रत्यक्ष की आलोचना, प्रमाण और प्रमाणाभास की व्यवस्था का विचार, श्रुतज्ञान में प्रामाण्य सिद्धि, शब्द और अर्थ में सम्बन्ध विचार, बौद्धों के अपोहवाद का खण्डन, विधि, नियोग और भावना को शब्द का अर्थ मानने वाले वेदान्ती, भाट्ट आदि के मतों का निराकरण तथा आप्तवचन और हेतु के द्वारा बाह्य अर्थ के निश्चय की सिद्धि की गई है।

पञ्चम परिच्छेद

इस परिच्छेद में नय और दुर्नय की परिभाषा, नय के मुख्य भेद– द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय का विचार, सत्सामान्य की व्याख्या, जीव, अजीव आदि तत्त्वों का सत्सामान्य में अन्तर्भाव, संग्रहनय का विषय शुद्ध द्रव्य सत्सामान्य है, प्रत्यक्ष में बौद्धपरिकल्पित निरंश क्षणों की प्रतीति नहीं, विशेषवादी बौद्धों का निराकरण, ऊर्ध्वतासामान्य की सिद्धि, वस्तु का लक्षण, अर्थक्रियाकारित्व का क्षणिकैकान्त में असद्भाव, क्षणिकैकान्त में कार्योत्पत्ति का निषेध, संग्रहनय और संग्रहाभास का स्वरूप, नैगमनय और नैगमाभास का स्वरूप, सत्तासम्बन्धी यौगों के मत का निराकरण, व्यवहारनय और व्यवहारनयाभास का स्वरूप, ऋजुसूत्रनय का स्वरूप, शब्द, समभिरूढ और एवम्भूतनय का स्वरूप बतलाया गया है।

षष्ठ परिच्छेद :

इस परिच्छेद में प्रमाण, नय और निक्षेप का संक्षिप्त लक्षण, ज्ञान की उत्पत्ति अर्थ से नहीं, ज्ञान और अर्थ में अन्वय-व्यतिरेक नहीं, इन्द्रिय और मन ज्ञान के कारण हैं तथा अर्थ ज्ञान का विषय है, सन्निकर्ष में प्रामाण्य का निराकरण, आलोक ज्ञान का कारण नहीं, ज्ञान का रोधक ज्ञानावरण कर्म है, अन्धकार नहीं, बौद्धों के तदुत्पत्ति, ताद्रूप्य और तदध्यवसाय का निराकरण, ज्ञान स्व और पर का निर्णायक होता है,

ज्ञान में निर्विकल्पक और सविकल्पक विचार, प्रमाण के भेद– प्रत्यक्ष और परोक्ष, प्रत्यक्ष के तीन भेद– इन्द्रिय प्रत्यक्ष, अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष और अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष, इन्द्रिय प्रत्यक्ष के चार भेद– अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा, अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष के चार भेद– स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अभिनिबोध (अनुमान), श्रुतज्ञान में परोक्षता की सिद्धि, पुनः इसमें अनुमान, उपमान और अर्थापत्ति आदि प्रमाणों का अन्तर्भाव होता है आदि पर विचार किया गया है। तदनन्तर श्रुत प्रमाण के दो उपयोग– स्याद्वाद और नय, 'स्यात्' पद की सार्थकता, 'शब्द वक्ता के अभिप्राय का सूचक होता है'– बौद्धों के इस मत का खण्डन, शब्दनित्यत्ववाद, वेदापौरुषेयत्ववाद और स्फोटवाद का निराकरण, संस्कृत और प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं के शब्दों में साधुत्व और असाधुत्व का विचार, ब्राह्मणत्वजाति का निराकरण, नैगमादि सात नय श्रुत प्रमाण के भेद हैं, ये नय अन्य किसी ज्ञान के भेद नहीं हैं, मूलनय– द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक, द्रव्य और पर्याय का विचार, निश्चयनय और व्यवहारनय का स्वरूप, नैगम, नैगमाभास, संग्रह, संग्रहाभास, व्यवहार, व्यवहाराभास, ऋजुसूत्र और ऋजुसूत्राभास का स्वरूप बतलाया गया है। अन्त में नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र– इन चार अर्थनयों का तथा शब्द, समभिरूढ और एवम्भूत– इन तीन शब्द-नयों का निर्देश किया है।

सप्तम परिच्छेद :

इस परिच्छेद में प्रमाण, नय, अनुयोग, जीवसमास, गुणस्थान, मार्गणास्थान और निक्षेप का स्वरूप तथा भेद, वैशेषिक, सौगत और सांख्यों द्वारा अभिमत मुक्तात्माओं के स्वरूप का निराकरण, सांख्य, वैशेषिक, वेदान्ती और बौद्धों द्वारा अभिमत मोक्ष के स्वरूप का निराकरण, जैनदर्शन अभिमत मोक्ष का स्वरूप, सुषुप्ति आदि अवस्था में ज्ञानसद्भावसिद्धि तथा श्वेताम्बरों की केवलिभुक्ति और स्त्रीभुक्ति की मान्यता का खण्डन किया गया है और अन्त में शास्त्राध्ययन का प्रयोजन– स्वार्थसम्पत्ति और परार्थसम्पत्ति का विवेचन है।

केवलिभुक्ति और स्त्रीमुक्ति के विचार का स्रोत :

आचार्य **प्रभाचन्द्र** ने प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा **न्यायकुमुदचन्द्र** में केवलिभुक्ति और स्त्रीमुक्ति के विषय में विस्तार से विचार किया है। यहाँ

यह जानना आवश्यक है कि **प्रभाचन्द्र** के उक्त विचार का स्रोत क्या है? सबसे पहले **आचार्य कुन्दकुन्द** ने **बोधप्राभृत** (गाथा 37) में केवली के कवलाहार का निषेध किया है तथा **सूत्रप्राभृत** (गाथा 23 से 36) में स्त्रीमुक्ति का निराकरण किया है। परन्तु ईसा की नवमी शताब्दी में **शाकटायन** नामक एक प्रसिद्ध वैयाकरण हुए, जो यापनीय संघ के आचार्य थे और नग्न रहते थे। यापनीय संघ का बाह्य आचार बहुत कुछ दिगम्बरों से मिलता-जुलता था; किन्तु वे श्वेताम्बर आगमों को आदर की दृष्टि से देखते थे। इसके साथ ही यापनीय संघ के अनुयायी दिगम्बर और श्वेताम्बर– दोनों ही सम्प्रदायों की कुछ बातों को स्वीकार करते थे। **आचार्य शाकटायन** ने केवलिभुक्ति तथा स्त्रीमुक्ति के समर्थन के लिए **केवलिभुक्ति** और **स्त्रीमुक्ति** नामक दो प्रकरण ग्रन्थ बनाये थे। इनमें दिगम्बरों की उक्त मान्यता का विस्तार से खण्डन किया गया है।

आचार्य प्रभाचन्द्र ने **प्रमेयकमलमार्तण्ड** तथा **न्यायकुमुदचन्द्र** में केवलिभुक्ति और स्त्रीमुक्ति का जो विस्तृत पूर्वपक्ष लिखा है वह **शाकटायन** के **केवलिभुक्ति** और **स्त्रीमुक्ति** नामक प्रकरण ग्रन्थों से ही लिया है। तथा उत्तरपक्ष में शाकटायन के द्वारा उक्त दोनों प्रकरणों में प्रदत्त युक्तियों का दार्शनिक शैली में प्रबल तर्कों तथा प्रमाणों के आधार पर विस्तार से निराकरण किया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि **शाकटायन** के सामने दिगम्बर आचार्यों के उक्त दोनों सिद्धान्तों का समर्थक विशाल साहित्य रहा है, जिसके आधार पर उन्होंने दिगम्बरों की उक्त मान्यता का निराकरण करने के लिए **केवलिभुक्ति** और **स्त्रीमुक्ति** नामक दो प्रकरण ग्रन्थ बनाये। किन्तु वर्तमान में हमारे सामने आचार्य **प्रभाचन्द्र** के ग्रन्थ ही दिगम्बरों की उक्त दोनों मान्यताओं का समर्थन करने के लिए उपलब्ध हैं। इस विषय में अन्य कोई प्राचीन साहित्य या ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

ब्राह्मणत्व जाति के निराकरण में प्रभाचन्द्र का वैशिष्ट्य :

प्रभाचन्द्र सच्चे तार्किक थे। हमें उनकी तर्कणाशक्ति का परिचय *ब्राह्मणत्वजाति के निराकरण के प्रसङ्ग में मिलता है। यद्यपि* ***प्रभाचन्द्र*** *के पहले भी कुछ विशिष्ट विद्वानों ने जातिवाद का* खण्डन किया है, परन्तु **आचार्य प्रभाचन्द्र** ने दार्शनिक शैली में सर्वप्रथम जन्मना ब्राह्मणत्व जाति का जैसा सयुक्तिक खण्डन अपने **न्यायकुमुदचन्द्र** और

प्रमेयकमलमार्तण्ड नामक ग्रन्थों में किया है वैसा तार्किक खण्डन अन्यत्र देखने को नहीं मिलता है। दूसरे ग्रन्थों में तो केवल सामान्य कथन ही मिलता है। बौद्धाचार्य **धर्मकीर्ति** ने **प्रमाणवार्तिक** में जातिवाद के मद को जड़ता का चिह्न बतलाया है-

> **वेदप्रामाण्यं कस्यचित् कर्तृवादः स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः।**
> **सन्तापारम्भः पापहानाय चेति ध्वस्तप्रज्ञानां पञ्च लिङ्गानि जाड्ये।।**
>
> **-प्रमाणवार्तिक, स्वार्थानुमान, स्वोपज्ञवृत्ति**

उत्तराध्ययनसूत्र में भी-

> **कम्मुणा बम्हणो होइ कम्मुणा होइ खत्तिओ।**
> **कम्मुणा वइस्सो हवइ सुद्दो हवइ कम्मुणा।।**

ऐसा लिखकर कर्मणा जाति का समर्थन किया है। **आचार्य रविषेण**, **अमितगति** आदि ने भी जातिवाद के विरुद्ध अपने विचार प्रकट किये हैं। इतना सब होने पर भी **आचार्य प्रभाचन्द्र** ने जिस तार्किक शैली में जन्मना ब्राह्मणत्व जाति का निरास किया है वह अत्यन्त विलक्षण है। उन्होंने अनेक युक्तियों और तर्कों के आधार पर ब्राह्मणत्व जाति के एकत्व और नित्यत्व का निराकरण करके उसे मनुष्यत्वादि की तरह सदृश-परिणामरूप ही सिद्ध किया है। **प्रभाचन्द्र** जन्मना जाति का निराकरण करते हुए ब्राह्मणत्व जाति को गुणकर्मानुसारिणी मानते हैं तथा वे ब्राह्मणत्व जाति निमित्तक वर्णाश्रमव्यवस्था और तप, दान आदि के व्यवहार को भी क्रियाविशेष तथा यज्ञोपवीत आदि चिह्न से उपलक्षित व्यक्ति विशेष में ही करने का परामर्श देते हैं।

प्रभाचन्द्र द्वारा रचित ग्रन्थ :

आचार्य प्रभाचन्द्र द्वारा रचित अधिकांश ग्रन्थ व्याख्यात्मक हैं तथा कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थ भी हैं, जो इस प्रकार हैं- (1) **प्रमेयकमलमार्तण्ड** *(परीक्षामुखसूत्रव्याख्या)*, 2. **न्यायकुमुदचन्द्र** *(लघीयस्त्रयव्याख्या)*, 3. **तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण** *(सर्वार्थसिद्धिव्याख्या)*, 4. **शाकटायनन्यास** (शाकटायनव्याकरणव्याख्या), 5. **शब्दाम्भोजभास्कर** (जैनेन्द्रव्याकरण-व्याख्या), 6. **प्रवचनसरोजभास्कर** (प्रवचनसारव्याख्या) और 7. **गद्यकथा-**

कोश। इनके अतिरिक्त **आत्मानुशासनतिलक**, **महापुराणटिप्पण**, **रत्नकरण्डश्रावकाचारटीका** और **समाधितन्त्रटीका**– ये ग्रन्थ भी **प्रभाचन्द्र** द्वारा निर्मित माने जाते हैं, परन्तु इनके विषय में यह नहीं कहा जा सकता है कि ये ग्रन्थ इन्हीं **प्रभाचन्द्र** के हैं या किसी दूसरे **प्रभाचन्द्र** के, क्योंकि **प्रभाचन्द्र** कई हुए हैं।

क्या प्रभाचन्द्र माणिक्यनन्दि के शिष्य थे?

श्रीमान् डॉ0 पं0 दरबारीलालजी **कोठिया** न्यायाचार्य ने अपनी '**जैनन्याय की भूमिका**' नामक पुस्तक में लिखा है–

"**प्रभाचन्द्र** ने **माणिक्यनन्दि** से न्यायशास्त्र पढ़ा था और **प्रमेयकमलमार्तण्ड** की प्रशस्ति में **प्रभाचन्द्र** ने **माणिक्यनन्दि** को अपना न्यायविद्यागुरु बतलाया है।"

यहाँ **प्रमेयकमलमार्तण्ड** की प्रशस्ति में उल्लिखित निम्नलिखित दो श्लोक ध्यान देने योग्य हैं–

> **गुरुः श्रीनन्दिमाणिक्यो नन्दिताशेषसज्जनः।**
> **नन्दताद् दुरितैकान्तरजाजैनमतार्णवः।।3।।**
> **श्रीपद्मनन्दिसैद्धान्तशिष्योऽनेकगुणालयः।**
> **प्रभाचन्द्रश्चिरं जीयाद् रत्ननन्दिपदे रतः।।4।।**

यहाँ इन श्लोकों का तात्पर्य यही है कि प्रभाचन्द्र **पद्मनन्दि सैद्धान्त** के शिष्य थे तथा **माणिक्यनन्दि** को भी उन्होंने गुरु के रूप में स्मरण किया है। यहाँ प्रश्न यह है कि क्या **माणिक्यनन्दि प्रभाचन्द्र** के साक्षात् गुरु थे? इस विषय में श्रीमान् पं0 **महेन्द्रकुमारजी** न्यायाचार्य ने कुछ भी नहीं लिखा है। यह तो सम्भव नहीं है कि श्री पं0 **महेन्द्रकुमारजी** ने **प्रमेयकमलमार्तण्ड** की प्रशस्ति में लिखित उक्त श्लोकों पर ध्यान न दिया हो। वैसे उक्त प्रश्न का एक समाधान यह हो सकता है कि **प्रभाचन्द्र** के दो गुरु रहे हों– **पद्मनन्दि सैद्धान्त** तथा **माणिक्यनन्दि**। **पद्मनन्दि सैद्धान्त** उनके दीक्षागुरु हों और **माणिक्यनन्दि** विद्यागुरु। दूसरा समाधान यह भी सम्भव है कि **माणिक्यनन्दि प्रभाचन्द्र** के परम्परागुरु हों और परम्परागुरु के रूप में ही **प्रभाचन्द्र** ने **माणिक्यनन्दि** का स्मरण किया

हो, परन्तु आचार्य **प्रभाचन्द्र** ने **प्रमेयकमलमार्तण्ड** की प्रशस्ति में अपने को '**माणिक्यनन्दि** के पद मे रत' कहा है। इससे तो यही प्रतीत होता है कि **प्रभाचन्द्र माणिक्यनन्दि** के साक्षात् शिष्य थे। परन्तु **श्री पं० महेन्द्रकुमार** जी न्यायाचार्य ने माणिक्यनन्दि को **प्रभाचन्द्र** का न तो साक्षात् गुरु बतलाया है और न परम्परागुरु। उन्होंने केवल इतना ही लिखा है कि प्रभाचन्द्र पद्मनन्दि सैद्धान्त के शिष्य थे। श्री पं० **महेन्द्रकुमारजी** ने **माणिक्यनन्दि** और प्रभाचन्द्र के समय में कम से कम एक शताब्दी का अन्तराल माना है। उन्होंने **माणिक्यनन्दि** का समय ईसा की 9वीं शताब्दी माना है और प्रभाचन्द्र का समय 950 से 1065 ईस्वी निर्धारित किया है। यह भी सम्भव प्रतीत नहीं होता है कि **प्रमेयकमलमार्तण्ड** के अन्त में जो प्रशस्ति श्लोक हैं वे स्वयं **प्रभाचन्द्र** के न होकर अन्य किसी दूसरे विद्वान् के हों। अतः यह सब प्रकरण इतिहासज्ञ विद्वानों के द्वारा अवश्य ही विचारणीय है।

अन्त में आचार्य **प्रभाचन्द्र** द्वारा विरचित निम्नलिखित श्लोक का स्मरण करते हुए मैं **न्यायकुमुदचन्द्र** परिशीलन की प्रस्तावना को विराम देता हूँ–

येनाशेषकुतर्कविभ्रमतमो निर्मूलमुन्मीलितम्,
स्फारागाधकुनीतिसार्थसरितो निःशेषतः शोषिताः।
स्याद्वादाऽप्रतिमप्रभूतकिरणैः व्याप्तं जगत् सर्वतः,
स श्रीमान् अकलङ्कभानुरसमो जीयात् जिनेन्द्रः प्रभुः।।

महावीर जयन्ती
चैत्रशुक्ला त्रयोदशी
16 मार्च, 2000

विनयावनत
उदयचन्द्र जैन
सर्वदर्शनाचार्य

न्यायकुमुदचन्द्र परिशीलन

विषयानुक्रमणिका

प्रमाणप्रवेश : तृतीय परोक्षपरिच्छेद

प्रवचनप्रवेश : सप्तम निक्षेपपरिच्छेद

मुक्ति-स्वरूप-विचार

परिशिष्ट

न्यायकुमुदचन्द्र परिशीलन

उत्थानिका :

आचार्य प्रभाचन्द्र की अनेक रचनाओं में **न्यायकुमुदचन्द्र** एक महत्त्वपूर्ण रचना है। जिस प्रकार सूर्योदय होने पर कमलों का विकास होता है, उसी प्रकार चन्द्रोदय होने पर कुमुदों (रात्रि में खिलने वाले कमलों) का विकास होता है। **न्यायकुमुदचन्द्र** न्यायरूपी कुमुदों को विकसित (प्रकाशित) करने के लिए चन्द्रमा के समान है। **आचार्य प्रभाचन्द्र** ने न्यायकुमुदचन्द्र में **आचार्य अकलङ्कदेव** विरचित **लघीयस्त्रय** की कारिकाओं तथा उन पर स्वलिखित (अकलङ्कदेव लिखित) विवृति का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है, जिससे यह ग्रन्थ मात्र व्याख्या-ग्रन्थ न होकर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ प्रतीत होता है। यह ग्रन्थ जैनदर्शन के तत्त्वों पर दार्शनिक विवेचन प्रस्तुत करने वाला एक विशालकाय ग्रन्थ है।

लघीयस्त्रय ग्रन्थ छोटे-छोटे तीन प्रकरणों का संग्रह है। प्रकरण उसे कहते हैं जो शास्त्र के एकदेश विषय से सम्बन्ध रखता हो तथा जिसमें शास्त्र में अप्रतिपादित विषयों पर भी प्रकाश डाला गया हो। **लघीयस्त्रय ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र** में वर्णित विविध विषयों में से उसके एकदेश विषय- प्रमाण, नय और निक्षेप से सम्बन्ध रखता है। साथ ही इसमें कुछ ऐसे विषयों का भी प्रतिपादन किया गया है, जो **तत्त्वार्थसूत्र** में नहीं हैं। अतः इनकी प्रकरण संज्ञा सार्थक है। **लघीयस्त्रय** के तीन प्रकरणों के क्रमशः नाम हैं- प्रमाणप्रवेश, नयप्रवेश और प्रवचनप्रवेश। प्रमाणप्रवेश में चार परिच्छेद, नयप्रवेश में एक परिच्छेद और प्रवचनप्रवेश में दो परिच्छेद हैं। इस प्रकार **लघीयस्त्रय** में कुल सात परिच्छेद हैं। प्रमाणप्रवेश के चार परिच्छेदों में प्रथम प्रत्यक्षपरिच्छेद, द्वितीय विषयपरिच्छेद, तृतीय परोक्षपरिच्छेद और चतुर्थ आगमपरिच्छेद है, जिनमें परिच्छेदों के नामानुरूप विषयों का विवेचन किया गया है। नयप्रवेश के एकमात्र नयपरिच्छेद में नय और दुर्नय की परिभाषा तथा नय के भेदों का विवेचन किया गया है। प्रवचनप्रवेश के दो परिच्छेदों में क्रमशः श्रुत और निक्षेप का विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तुत **न्यायकुमुदचन्द्र परिशीलन** में उपर्युक्त सभी विषयों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। यही इसकी संक्षिप्त उत्थानिका है।

प्रमाणप्रवेश : प्रथम प्रत्यक्षपरिच्छेद

अव्युत्पन्न लोगों के द्वारा न्यायरूपी महासमुद्र का अवगाहन अशक्य है, ऐसा जानकर **अकलङ्कदेव** ने न्याय के महासमुद्र में अवगाहन करने के लिए नौका के समान इस **लघीयस्त्रय** नामक प्रकरण को प्रारम्भ किया है तथा निर्विघ्न शास्त्रपरिसमाप्ति के लिए ग्रन्थ के प्रारम्भ में इष्टदेवता को नमस्कार किया है।

मङ्गलाचरण :

धर्मतीर्थकरेभ्योऽस्तु स्याद्वादिभ्यो नमोनमः।

ऋषभादिमहावीरान्तेभ्यः स्वात्मोपलब्धये।।1।।

धर्मतीर्थ के करने वाले तथा स्याद्वाद सिद्धान्त के प्रवर्तक ऐसे ऋषभादि महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थङ्करों को स्वात्मा की उपलब्धि के लिए बारम्बार नमस्कार हो।

आत्मा के उत्तमक्षमादि स्वरूप को धर्म कहते हैं अथवा जीवादि तत्त्वों के यथावस्थित स्वभाव को धर्म कहते हैं। किन्तु धर्म (पुण्यापुण्यरूप अदृष्ट) न तो आत्मा का विशेष गुण है, न द्रव्य, गुण और कर्मरूप है और न प्रकृति का परिणाम विशेष है, जैसा कि वैशेषिकादि अन्य दार्शनिकों ने माना है। संसाररूपी समुद्र को पार करने में हेतु होने के कारण उत्तम-क्षमादि धर्म को तीर्थ कहा गया है। ऋषभादि महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थङ्करों ने उसी धर्म का उपदेश दिया है। इसलिए वे धर्मतीर्थकर कहलाते हैं। तीर्थङ्कर केवल धर्मतीर्थकर ही नहीं हैं, किन्तु इसके साथ ही वे स्याद्वादी भी हैं। '**स्याद्वादी**' शब्द में '**स्यात्**' शब्द अनेकान्तात्मक अर्थ का प्रतिपादक है। अर्थात् चौबीस तीर्थङ्कर सत्-असत्, नित्य-अनित्य, आदि रूप अनेकान्तात्मक अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। ऐसे ऋषभादि चौबीस तीर्थङ्करों को **आचार्य अकलङ्कदेव** ने आत्मा के अनन्तज्ञानादि स्वरूप की उपलब्धि के लिए ग्रन्थ के प्रारम्भ में नमस्कार किया है।

यहाँ कोई शङ्का करता है कि क्षणिकत्व, नित्यत्वादि यथावस्थित वस्तुस्वभाव को कहने वाले सुगत, ईश्वर कपिल, ब्रह्म आदि में ही धर्मतीर्थकरत्व है। अतः वे ही शास्त्र के आदि में वन्दनीय हैं और उनके द्वारा प्रतिपादित प्रमाण आदि का लक्षण ही बतलाने योग्य है। ऐसी आशङ्का करने वाले का निराकरण करने के लिए आचार्य अपने प्रमाण आदि के

मार्ग में आगत कण्टक शुद्धि करने के प्रयोजन से कहते हैं-

कण्टक-शुद्धि :

सन्तानेषु निरन्वयक्षणिकचित्तानामसत्स्वेव चेत्
तत्त्वाहेतुफलात्मनां स्वपरसङ्कल्पेन बुद्धः स्वयम्।
सत्त्वार्थं व्यवतिष्ठते करुणया मिथ्याविकल्पात्मकः
स्यामित्यत्त्ववदेव तत्र समये नार्थक्रिया वस्तुनः।।2।।

परमार्थ से अकार्यकारणभूत निरन्वय क्षणिक चित्तों की अविद्यमान सन्तानों में करुणा के कारण प्राणियों के उद्धार के लिए यदि बुद्ध स्व और पर का संकल्प करके स्वयं अवस्थित होते हैं तो ऐसे बुद्ध असत् वस्तु में सत्त्व का अध्यवसाय करने के कारण यथावस्थित वस्तुस्वभाव के प्रतिपादक न होने से कपिल, ईश्वर, ब्रह्म आदि की तरह धर्मतीर्थंकर नहीं हो सकते हैं। वे तो मिथ्या विकल्परूप (असत्यरूप) ही सिद्ध होते हैं। अर्थात् जिस प्रकार बौद्धों के क्षणिकैकान्त पक्ष में वस्तु में अर्थक्रिया नहीं हो सकती है, उसी प्रकार कपिल, ईश्वर और ब्रह्मवादियों के नित्यैकान्त पक्ष में भी वस्तु में किसी प्रकार की अर्थक्रिया सम्भव नहीं है। इसलिए बुद्ध, कपिल, ईश्वर आदि में से कोई भी यथावस्थित वस्तुरूप के प्रतिपादक नहीं होने के कारण धर्मतीर्थंकर सिद्ध नहीं होते हैं।

इस कारिका के द्वारा **अकलङ्कदेव** ने कण्टक-शुद्धि की है। कण्टक-शुद्धि का अर्थ यह है कि यदि मार्ग में चलते समय काँटे आ जावें तो उनको दूर कर देना आवश्यक है। इसी प्रकार धर्मतीर्थंकर ऋषभादि को नमस्कार करने पर किसी ने कहा कि बुद्ध आदि भी धर्मतीर्थंकर हैं, इन्हें भी नमस्कार कीजिए। इस प्रकार हमारे अभिप्रेत मार्ग में आगत कण्टक की शुद्धि करने के लिए यहाँ संक्षेप में यह बतला दिया गया है कि बुद्ध आदि धर्मतीर्थंकर नहीं हो सकते हैं। यहाँ यही कण्टक-शुद्धि है। बुद्ध, कपिल आदि के मतों का निराकरण आगे विस्तार से किया जायेगा।

बौद्धदर्शन में सन्तानवाद :

पूर्वपक्ष- बौद्ध कहते हैं कि चित्त सन्तान असत् नहीं है, उसका सत्त्व सम्भव है। क्योंकि कार्यकारणभाव से प्रवर्तमान पूर्वोत्तर चित्तक्षणों की सन्तान पाई जाती है। यद्यपि चित्तक्षण प्रतिक्षण नष्ट होते रहते हैं,

फिर भी वे भेदरहित (एक सरीखे) प्रतीत होने के कारण सन्तान शब्द के वाच्य होते हैं। यह कहना ठीक नहीं है कि कर्मफल सम्बन्ध के आश्रयभूत एक आत्मा के अभाव में प्रतिक्षण नष्ट होने वाले चित्तक्षणों के मानने पर कृतनाश और अकृताभ्यागम का प्रसङ्ग प्राप्त होगा। क्योंकि सन्तान की अपेक्षा से कर्म और फल का सम्बन्ध बन जाता है। एक सन्तान के अन्तर्गत आनेवाले चित्तक्षणों के क्षणिक होने पर भी उनमें सन्तान की अपेक्षा से कर्मफलसम्बन्ध बन जाने के कारण पूर्वोक्त दोष का प्रसङ्ग प्राप्त नहीं होगा। सन्तानियों से सन्तान भिन्न है या अभिन्न? इत्यादि विकल्प भी यहाँ सम्भव नहीं हैं, क्योंकि ये विकल्प तो वस्तु में किये जाते हैं और अवस्तुभूत सन्तान में ये विकल्प नहीं किये जा सकते हैं। जो अवस्तु होती है उसमें भेद और अभेद का विकल्प नहीं होता है तथा विभिन्न चित्तक्षणों में अभेद की कल्पना-स्वरूप सन्तान भी अवस्तु ही है।

यहाँ ऐसी शङ्का करना भी ठीक नहीं है कि परस्पर में विलक्षण चित्तक्षणों के मानने पर पूर्वोत्तरक्षणों का प्रत्यभिज्ञान करने वाले एक आत्मा के अभाव में प्रत्यभिज्ञान आदि की उत्पत्ति कैसे होगी? क्योंकि पूर्वोत्तरक्षणों में दीपक की तरह सादृश्य के कारण प्रत्यभिज्ञानादि की उत्पत्ति होने में कोई विरोध नहीं है। जिस प्रकार प्रतिक्षण नष्ट होने वाली प्रदीप-ज्वालाओं में सादृश्य होने से 'यह वही प्रदीप है' ऐसा प्रत्यभिज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार पूर्वोत्तरक्षणों में भी सादृश्य के कारण 'यह वही क्षण है' ऐसा प्रत्यभिज्ञान हो जाता है।

यहाँ हम (बौद्ध) जैनदर्शन के अनुयायियों से पूछ सकते हैं कि आपके मत में आत्मा को नित्य और एकरूप मानने पर उसमें क्रम और यौगपद्य के द्वारा अर्थक्रियाकारित्व न बनने के कारण वह असत् सिद्ध होता है। तब असत् आत्मा प्रत्यभिज्ञानादि का हेतु कैसे होगा? यह तो निश्चित है कि नित्य पदार्थ न तो क्रम से अर्थक्रिया कर सकता है और न युगपत्। क्योंकि दोनों ही विकल्पों को मानने में अनेक दोष आते हैं। आप लोग आत्मा को क्रम से होने वाली सुखादि पर्यायों में रहने वाला मानते हैं। यहाँ प्रश्न यह है कि यदि आत्मा क्रमभावी सुखादि पर्यायों में रहता है तो वह एक स्वभाव से उनमें रहता है या अनेक स्वभाव से, इत्यादि विकल्पों द्वारा आत्मा में व्यापकत्व (सुखादि पर्यायों में रहने) का निराकरण

हो जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि आत्मा न तो नित्य है और न क्रमभावी सुखादि पर्यायों में व्यापक है। फिर भी उसके द्वारा जिस प्रकार प्रत्यभिज्ञानादि की उत्पत्ति मानी गई है, उसी प्रकार प्रतिक्षण विनाशशील चित्तक्षणों के द्वारा भी सादृश्य के कारण प्रत्यभिज्ञानादि की उत्पत्ति हो जाती है। इस प्रकार बौद्धों ने पृथक्-पृथक् पूर्वोत्तरक्षणों में सन्तान की सिद्धि की है।

उत्तरपक्ष– बौद्धों ने जो यह कहा है कि कार्यकारणभाव से प्रवर्तमान पूर्वोत्तरक्षणों की सन्तान पाई जाती है, उनका उक्त कथन ठीक नहीं है। क्योंकि क्षणिकैकान्त में कार्यकारणभाव सर्वथा असम्भव है। जो सर्वथा असत् है वह न तो किसी का कार्य हो सकता है और न किसी का कारण हो सकता है। जो सर्वथा असत् है वह किसी के कर्तृत्वधर्म का आधार कैसे हो सकता है? जैसे सर्वथा असत् बन्ध्यापुत्र किसी के कर्तृत्वधर्म का आधार नहीं होता है, वैसे ही बौद्धमत में समझना चाहिए। बौद्धमत में कार्य सर्वथा असत् है। अतः वह किसी के कर्तृत्वधर्म का आधार नहीं होता है। यही बात कारण के विषय में भी समझनी चाहिए। क्षणिकैकान्त पक्ष में कार्य की तरह कारण भी असत् है। इसलिए वह भी किसी कार्य का कारण नहीं हो सकता है। यहाँ एक प्रश्न होता है कि कारण किसे कहा जाता है– कार्यमात्र के उत्पादक को अथवा नियत कार्य के उत्पादक को? प्रथमपक्ष में कोई भी कारण किसी भी कार्य का उत्पादक हो जायेगा। तब कार्यार्थी पुरुष किसी कार्य के लिए नियत उपादान कारण का ग्रहण क्यों करेगा? द्वितीय पक्ष मानना भी असङ्गत है। क्योंकि खपुष्प की तरह असत् कार्य के साथ किसी कारण विशेष का निर्धारण नहीं किया जा सकता है कि यह कारण इसी कार्य के साथ सम्बद्ध है, अन्य के साथ नहीं। एक बात यह भी है कि जब कार्य सर्वथा असत् है तो खपुष्प की तरह उसमें कारणों की प्रवृत्ति हो भी नहीं सकती है। यदि किसी विशेष आधार के बिना ही किसी कार्य में कारणों की प्रवृत्ति होगी तो किसी विवक्षित कार्य की तरह दूसरे कार्य में भी उसी कारण की प्रवृत्ति का प्रसङ्ग प्राप्त होगा।

यहाँ हम (जैन) बौद्धों से पूछना चाहते हैं कि विनष्ट कारण से कार्य उत्पन्न होता है या अविनष्ट कारण से अथवा विनश्यत् अवस्था वाले कारण

से? इनमें से प्रथम पक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि जो स्वरूप से असत् है तथा सम्पूर्ण शक्ति से रहित है ऐसा विनष्ट कारण किसी कार्य के प्रति कारण कैसे हो सकता है तथा विनष्ट कारण से उत्पन्न होने वाला कार्य सहेतुक कैसे कहला सकता है? द्वितीय पक्ष मानने पर अर्थात् अविनष्ट कारण से कार्य की उत्पत्ति स्वीकार करने पर बौद्धों का **'सर्वं क्षणिकम्'** यह सिद्धान्त समाप्त हो जायेगा और ऐसी स्थिति में पदार्थ अनेक क्षण-स्थायी सिद्ध होंगे।अब यदि ऐसा माना जाय कि विनश्यत् अवस्था वाले कारण से कार्य उत्पन्न होता है तो ऐसा मानना भी ठीक नहीं है। क्योंकि एकान्तवादी बौद्धमत में किसी कारण की विनश्यत् अवस्था बन ही नहीं सकती है। एक ही वस्तु का किसीरूप से विनाश और किसीरूप से अवस्थान का नाम ही विनश्यत् अवस्था है। ऐसी विनश्यत् अवस्था अनेकान्त मत में ही सम्भव है, एकान्त मत में नहीं।

यहाँ एक बात यह भी विचारणीय है कि आप (बौद्धों) के यहाँ कार्यकारणसम्बन्ध काल्पनिक है अथवा वास्तविक? उसे काल्पनिक मानने पर कर्मफलसम्बन्ध भी काल्पनिक ही मानना पड़ेगा तथा ऐसा मानने वालों के यहाँ चार्वाकमत का प्रसङ्ग भी प्राप्त होगा। क्योंकि पूर्व भव के अन्तिम चित्तक्षण का वर्तमान भव सम्बन्धी आद्य चित्तक्षण के साथ वास्तविक सम्बन्ध नहीं बन सकेगा। बौद्धों के यहाँ कार्यकारणसम्बन्ध को वास्तविक भी नहीं माना जा सकता है। क्योंकि सर्वथा भिन्न क्षणिक पदार्थों में वास्तविक सम्बन्ध बन ही नहीं सकता है। क्षणिकैकान्त पक्ष में कार्य और कारण में अन्वय-व्यतिरेक की सिद्धि भी नहीं हो सकती है। यहाँ एक बात यह भी ध्यातव्य है कि कारण उपादान और सहकारीरूप से कार्य को उत्पन्न करता है। किन्तु क्षणिकैकान्त मत में कारण में उपादान और सहकारीभाव नहीं बनता है। पदार्थों में क्षणिकत्व सिद्ध हो जाने पर ही सन्तान की अपेक्षा से उनकी कार्यकारणभाव से प्रवृत्ति मानी जा सकती है। परन्तु क्षणिकत्वसाधक किसी प्रमाण के न होने से पदार्थों में क्षणिकत्व सिद्ध होता ही नहीं है। यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि जो व्यक्ति पदार्थों में क्षणिकत्व मानना चाहता है उसे एक प्रमाता का सद्भाव मानना आवश्यक है। क्योंकि एक प्रमाता के अभाव में पूर्वोत्तरक्षणों में विवेकरूप (भेदरूप) क्षणिकत्व की प्रतिपत्ति सम्भव नहीं है। क्योंकि पूर्वक्षण का दर्शन अन्य ज्ञान को होता है और उत्तरक्षण का दर्शन अन्य ज्ञान को होता है। अर्थात्

पूर्वज्ञान उत्तरज्ञान के विषय को नहीं जानता है और उत्तरज्ञान पूर्वज्ञान के विषय को नहीं जानता है। ऐसी स्थिति में एक प्रमाता के अभाव में उन पूर्वोत्तर ज्ञानों में 'यह इससे विलक्षण है' ऐसा परामर्श कैसे होगा? ऐसा परामर्श तो एक प्रमाता के होने पर ही सम्भव है।

बौद्धों ने कहा है कि पूर्वोत्तर चित्तक्षण प्रतिक्षण विनाशशील हैं तथा सादृश्य के कारण उनमें भेद का परामर्श नहीं होता है। इसलिए वे सन्तान शब्द के वाच्य होते हैं। बौद्धों का उक्त कथन अविचारित रमणीय है। क्योंकि वर्तमान चित्तक्षण के काल में पूर्वोत्तर चित्तक्षणों का अस्तित्व न होने के कारण उनमें एक सन्तानत्व (सन्तानपना) नहीं हो सकता है। जो पदार्थ सत् हैं और परस्पर में सम्बद्ध हैं, उन्हीं में सन्तान शब्द का प्रयोग होता है। बौद्धों के यहाँ अतीत, वर्तमान और अनागत चित्तक्षणों में अभेद का परामर्श भी नहीं हो सकता है। क्योंकि जो सर्वथा असत् है वह अभेदपरामर्श का हेतु नहीं होता है। असत् होने के कारण अतीत और अनागत क्षणों में अभेद का परामर्श सम्भव ही नहीं है। इसी प्रकार वर्तमान चित्तक्षण का अतीत और अनागत चित्तक्षणों के साथ अभेद का परामर्श नहीं हो सकता है। क्योंकि वर्तमान चित्तक्षण अतीत और अनागत चित्तक्षणों के काल में नहीं रहता है। अतः प्रतिक्षण विनाशशील चित्तक्षणों में कार्यकारणभाव और अभेदपरामर्श सम्भव न होने के कारण उनमें सन्तानत्व की सिद्धि नहीं होती है।

यदि थोड़ी देर के लिए मान लिया जाय कि प्रतिक्षण विनाशशील चित्तक्षणों की कोई सन्तान है, तो यहाँ प्रश्न यह है कि वह सन्तान सत् है या असत्? यदि वह सत् है तो इसमें भी प्रश्न होता है कि वह अनित्य है या नित्य? सन्तान को अनित्य मानने पर वह कर्मफल की व्यवस्था का हेतु नहीं हो सकती है तथा कृतनाश और अकृताभ्यागम का दोष भी इस पक्ष में प्राप्त होता है। सन्तान को नित्य मानने पर नाम में ही विवाद रहेगा, अर्थ में नहीं। क्योंकि जिसको हम आत्मा कहते हैं उसी को आपने (बौद्धों ने) सन्तान माना है। यदि सन्तान को असत् माना जाय तो ऐसी सन्तान खरविषाण की तरह कार्यकारण आदि की व्यवस्था में हेतु कैसे हो सकती है? बौद्ध सन्तान को संवृतिरूप मानते हैं। संवृति का अर्थ है कल्पना। परन्तु किसी वस्तु में कल्पना तभी की

जाती है जब कोई मुख्य अर्थ विद्यमान हो। मुख्य अर्थ के अभाव में किसी में कल्पना की सम्भावना सम्भव नहीं है। अतः सन्तान को संवृतिरूप तभी माना जा सकता है जब किसी वास्तविक प्रमाता का सद्भाव सिद्ध हो।

एक नित्य प्रमाता के अभाव में प्रत्यभिज्ञान की उत्पत्ति भी सम्भव नहीं है। 'जिसको' मैंने पूर्व में देखा था उसी का इस समय स्पर्श कर रहा हूँ, इस प्रकार का अनुसन्धान एक नित्य प्रमाता के अभाव में नहीं बन सकता है। यदि देखने वाला और स्पर्श करने वाला भिन्न-भिन्न हो तो उक्त प्रकार का अनुसन्धान (प्रत्यभिज्ञान) सम्भव नहीं है। यदि देखने वाला देवदत्त हो और स्पर्श करने वाला यज्ञदत्त हो तो उन दोनों के ज्ञान द्वारा दोनों अवस्थाओं के एकत्व का अनुसन्धान नहीं हो सकता है। अर्थात् देवदत्त के द्वारा दृष्ट अर्थ में यज्ञदत्त को ऐसा प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकता है कि जिसे देवदत्त ने देखा था उसी को मैं स्पर्श कर रहा हूँ। ऐसा तभी सम्भव है जब देखने वाला और स्पर्श करने वाला एक ही प्रमाता हो। परन्तु सन्तानवाद में ऐसा एकत्व सम्भव नहीं है।

बौद्धों ने कहा था कि आत्मा को नित्य और एकरूप मानने पर उसमें न तो क्रम से अर्थक्रियाकारित्व बनता है और न युगपत्, इत्यादि। बौद्धों का ऐसा कथन समीचीन नहीं है। क्योंकि हमने आत्मा को सर्वथा नित्य और एकरूप नहीं माना है, प्रत्युत उसे परिणामिनित्य माना है। अर्थात् आत्मा नित्य होकर भी परिणमनशील है अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप है। बौद्धों का यह कथन भी ठीक नहीं है कि क्रम से होने वाली सुखादि पर्यायों में व्यापक आत्मा उनमें एक स्वभाव से रहता है या अनेक स्वभाव से? इस विषय में जैनदर्शन की मान्यता है कि आत्मा क्रमभावी अनेक पर्यायों में अनेक स्वभाव से ही रहता है। और ऐसा मानने में कोई विरोध नहीं है। यदि कोई व्यक्ति सुखादि अनेक पर्यायव्यापी आत्मा को नहीं मानना चाहता है तो उसके मत में बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था भी नहीं बन सकती है। ऐसा तभी सम्भव है जब बन्ध और मोक्ष का अधिकरण एक ही आत्मा हो। बद्ध और मुक्त आत्मा में सर्वथा भेद मानने पर बद्ध अन्य होगा और मुक्त अन्य होगा। ऐसी स्थिति में बद्ध की मोक्ष के लिए प्रवृत्ति कैसे हो सकेगी? एक आत्मा के अभाव में अधीतस्मृति, दत्तग्रहादि भी सम्भव नहीं हो सकते हैं।

अतः सन्तानवाद में अनेक दोष आने के कारण परिणामिनित्य एक आत्मा का सद्भाव मानना आवश्यक है। इस प्रकार यहाँ युक्तिपूर्वक बौद्धाभिमत सन्तानवाद का निराकरण किया गया है। इस प्रकार कण्टकशुद्धि करके ग्रन्थकार स्वमत में प्रमाण के लक्षण और भेदों को बतलाने के लिए आगे की कारिका कहते हैं–

प्रत्यक्ष का लक्षण एवं भेद :

प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसंव्यवहारतः।
परोक्षं शेषविज्ञानं प्रमाणे इति संग्रहः।।3।।

विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। मुख्यप्रत्यक्ष और संव्यवहारप्रत्यक्ष के भेद से प्रत्यक्ष के दो भेद हैं। प्रत्यक्ष के लक्षण से रहित जो अन्य विज्ञान है अर्थात् जो अविशद ज्ञान है वह परोक्ष है। इन दोनों ज्ञानों में समस्त प्रमाणों का संग्रह हो जाता है। **तत्त्वार्थसूत्र** में भी इसी बात को '**तत्प्रमाणे**' इस सूत्र के द्वारा बतलाया गया है।

यहाँ विचारणीय बात यह है कि शास्त्रकार शास्त्र की रचना में प्रवृत्ति क्यों करते हैं? वस्तुतः शास्त्ररचना में शास्त्रकार की जो प्रवृत्ति होती है वह पर के व्युत्पादन के लिए होती है और जिनके लिए व्युत्पादन करना है ऐसे पर तीन प्रकार के होते हैं– संक्षेपरुचि वाले मध्यमरुचि वाले और विस्तृतरुचि वाले। इनमें भी प्रत्येक के चार भेद होते हैं– व्युत्पन्न, अव्युत्पन्न, सन्दिग्ध और विपर्यस्त। इनमें से व्युत्पन्न और विपर्यस्त (विपरीतबुद्धियुक्त) प्रतिपाद्य नहीं होते हैं। व्युत्पन्न तो स्वयं समझदार होता है। इसलिए उसे व्युत्पादन (समझाने) की कोई आवश्यकता नहीं है और जो विपर्यस्त है उसमें जानने की इच्छा ही नहीं होती है, उसकी बुद्धि तो विपरीत अर्थ में ही लगी रहती है। जो व्यक्ति अव्युत्पन्न है उसमें यद्यपि जानने की इच्छा नहीं होती है, फिर भी उसमें प्रलोभन, भय आदि के द्वारा जानने की इच्छा उत्पन्न की जा सकती है। इस कारण वह व्युत्पाद्य की श्रेणी में आता है। इसी प्रकार इन विभिन्न पक्षों में से कौन पक्ष सत्य है, ऐसी जिज्ञासा करने वाला सन्दिग्ध व्यक्ति भी जब तत्त्वज्ञान की इच्छा करता है तो वह व्युत्पाद्य हो जाता है। अतः यहाँ अव्युत्पन्न और सन्दिग्ध जनों को ध्यान में रखकर विचार किया जा रहा है।

यहाँ शास्त्रकार ने सर्वप्रथम प्रमाण के स्वरूप आदि पर विचार किया है। ऐसा तो सभी दार्शनिक मानते हैं कि प्रमाण की सत्ता अवश्य है। जो शून्यवादी है वह भी प्रमाण की सत्ता का निषेध नहीं कर सकता है। क्योंकि उसे भी अपने इष्ट तत्त्व की सिद्धि करने के लिए और अनिष्ट तत्त्व में दूषण देने के लिए प्रमाण की सत्ता मानना अनिवार्य है। इस प्रकार प्रमाण सामान्य की सत्ता तो सब को स्वीकार्य ही है।

अब यह विचार करना है कि वह प्रमाण कैसा होता है? कुछ लोग प्रमाण को ज्ञानरूप मानते हैं तो दूसरे लोग अज्ञानरूप मानते हैं। यहाँ ग्रन्थकार ने यह बतलाया है कि जो ज्ञानरूप है वही प्रमाण होता है और जो ज्ञानरूप नहीं है वह कभी भी प्रमाण नहीं हो सकता है। घटादि पदार्थ अज्ञानरूप होने के कारण कभी भी प्रमाण की कोटि में नहीं आ सकते हैं। इसी प्रकार अज्ञानरूप सन्निकर्षादि भी प्रमाण नहीं हो सकते हैं। अतः तृतीय कारिका में **'ज्ञानम्'** इस पद के द्वारा प्रमाण सामान्य का लक्षण बतलाया गया है। तथा **'प्रमाणे'** इस पद के द्वारा यह बतलाया गया है कि प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से प्रमाण के दो भेद हैं। इसके अनन्तर **'प्रत्यक्षं विशदम्'** इस पद के द्वारा प्रत्यक्ष का लक्षण प्रतिपादित किया गया है। जो ज्ञान विशद (स्पष्ट) होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। ऐसा प्रत्यक्ष दो प्रकार का है- मुख्य प्रत्यक्ष और सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष। जिस ज्ञान में इन्द्रिय आदि की अपेक्षा नहीं होती है, जो आवरणरहित आत्ममात्र से उत्पन्न होता है और जो अपने विषय में पूर्णरूप से विशद होता है ऐसे ज्ञान को मुख्य प्रत्यक्ष कहते हैं। मुख्य प्रत्यक्ष के तीन भेद हैं- अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। इनमें से केवलज्ञान को सकल प्रत्यक्ष कहते हैं तथा अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान विकल प्रत्यक्ष कहलाते हैं। एकदेश से होने वाले विशद ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष चक्षुरादि इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न होता है। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी दो प्रकार का है- इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष। चक्षु आदि पाँचों इन्द्रियों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह इन्द्रिय प्रत्यक्ष कहलाता है और मन से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष कहते हैं।

यहाँ यह आशङ्का की जा सकती है कि जो ज्ञान अक्ष (इन्द्रिय)

के आश्रित होता है उसे प्रत्यक्ष कहना तो ठीक है, किन्तु जो ज्ञान अनक्ष (आत्मा के आश्रित) है उसे प्रत्यक्ष कैसे कहा जा सकता है? ऐसी आशङ्का ठीक नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार अक्ष का अर्थ इन्द्रिय होता है, उसी प्रकार इसका अर्थ आत्मा भी होता है। **'अक्ष्णोति व्याप्नोति जानाति इति अक्ष-आत्मा'**– इस व्युत्पत्ति के अनुसार अक्ष शब्द का अर्थ आत्मा भी होता है। अतः आत्ममात्र से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष मानने में कोई विसङ्गति नहीं है।

मुख्य प्रत्यक्ष और सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष यह दोनों प्रकार का प्रत्यक्ष विज्ञान कहलाता है। यहाँ 'विज्ञान' शब्द का अर्थ है– स्व और पर को जानने वाला ज्ञान। ज्ञान न तो केवल स्व को जानता है और न केवल पर को जानता है। वह तो स्व और पर-उभय को जानता है। विज्ञान शब्द का एक अर्थ यह भी होता है कि जो ज्ञान, बाधवर्जित (बाधारहित) होता उसे विज्ञान कहते हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से प्रमाण के दो भेद सिद्ध होते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य जितने भी प्रमाण हैं उनका इन दोनों प्रमाणों में ही अन्तर्भाव हो जाता है। इसीलिए कहा गया है– **'प्रमाणे इति संग्रहः'**। अर्थात् प्रमाण दो ही हैं, एक, तीन, चार, पाँच या छह नहीं।

प्रमाण सामान्य का लक्षण :

यद्यपि कारिका क्रमाङ्क तीन में प्रमाण सामान्य का कोई लक्षण नहीं बतलाया गया है, परन्तु न्यायकुमुदचन्द्र में प्रमाण शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार बतलाई गई है–

''प्रकर्षेण हि संशयादिव्यवच्छेदलक्षणेन मीयते परिच्छिद्यते येनार्थः तत्प्रमाणम्।''

अर्थात् जिसके द्वारा संशयादि का व्यवच्छेद करके अर्थ जाना जाता है वह प्रमाण कहलाता है। प्रमाण को अज्ञान का विरोधी होना चाहिए। जो अज्ञानरूप है वह प्रमाण नहीं हो सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि– **ज्ञानमेव प्रमाणम्, नाज्ञानं सन्निकर्षादि।** जो ज्ञानरूप है वही प्रमाण है, *अज्ञानरूप सन्निकर्षादि कभी भी प्रमाण नहीं हो सकते हैं।*

सन्निकर्षवाद :

पूर्वपक्ष– यौग (नैयायिक-वैशेषिक) सन्निकर्ष को प्रमाण मानते हैं। उनका कहना है कि **'ज्ञानमेव प्रमाणम्'** इस प्रकार की मान्यता ठीक नहीं है। क्योंकि अज्ञानरूप सन्निकर्षादि भी प्रमा के जनक होने के कारण प्रमाण कहलाते हैं। सूत्रकार ने कहा भी है– **'प्रमाजनकं प्रमाणम्'** अर्थात् जो प्रमा (प्रमिति) का जनक होता है वह प्रमाण कहलाता है। इसी बात को दूसरे शब्दों में भी कहा गया है– **'प्रमाकरणं प्रमाणम्'** प्रमा का जो करण होता है वह प्रमाण है। करण का अर्थ है– **'साधकतमं करणम्'** अर्थात् प्रमा की उत्पत्ति में जितने कारण होते हैं उनमें साधकतम (सब में प्रमुख) कारण को करण कहते हैं। इसी बात को भाष्यकार वात्स्यायन ने इस प्रकार बतलाया है– **'उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानि'** अर्थात् जो अर्थ की उपलब्धि के साधन हैं वे प्रमाण हैं। अतः अर्थ की उपलब्धि में साधकतम होने के कारण सन्निकर्ष प्रमाण है। प्रमाण की व्याप्ति साधकतम के साथ है, ज्ञान या अज्ञान के साथ नहीं। ज्ञान होने मात्र से कोई प्रमाण नहीं हो जाता है, जैसे संशयादिज्ञान। अज्ञानरूप वस्तु भी प्रमाण नहीं होती है, जैसे घटादि पदार्थ। यतः सन्निकर्ष अर्थोपलब्धि में साधकतम होता है, अतः वह प्रमाण है।

चक्षुरादि इन्द्रियों का अर्थ के साथ जो सम्बन्ध होता है उसे सन्निकर्ष कहते हैं। चक्षु का घट के साथ सन्निकर्ष होने से घट का ज्ञान होता है। यहाँ घटज्ञान में सन्निकर्ष साधकतम कारण होता है। इसी प्रकार सर्वत्र इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से ही प्रमिति की उत्पत्ति होती है और प्रमिति की उत्पत्ति में साधकतम होने के कारण सन्निकर्ष प्रमाण कहलाता है। चक्षुरादि इन्द्रियाँ सन्निकृष्ट अर्थ को ही ग्रहण करती हैं, असन्निकृष्ट को नहीं। यदि चक्षु इन्द्रिय असन्निकृष्ट अर्थ को ग्रहण करे तो फिर उसे व्यवहित अर्थ को भी ग्रहण करना चाहिए, किन्तु ऐसा होता नहीं है। सन्निकर्ष छह प्रकार का होता है– संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय और सम्बद्धविशेषणी-भाव। इनमें से चक्षु का घटादि द्रव्य के साथ जो सन्निकर्ष होता है वह संयोग नाम का सन्निकर्ष है। चक्षु का घट के रूप के साथ जो सन्निकर्ष है वह संयुक्तसमवाय नामक सन्निकर्ष है। प्रत्यक्ष की उत्पत्ति कहीं चार

वस्तुओं के सन्निकर्ष से, कहीं तीन के सन्निकर्ष से और कहीं दो के सन्निकर्ष से होती है। बाह्य पदार्थों में आत्मा, मन, इन्द्रिय और अर्थ- इन चार के सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष होता है। यहाँ आत्मा का मन से, मन का इन्द्रिय से और इन्द्रिय का अर्थ से सन्निकर्ष होता है। सुखादि का प्रत्यक्ष आत्मा, मन और सुख- इन तीन के सन्निकर्ष से होता है। सुखादि के प्रत्यक्ष में चक्षुरादि इन्द्रियों का व्यापार नहीं होता है। योगियों के प्रत्यक्ष की उत्पत्ति आत्मा और मन- इन दो के सन्निकर्ष से होती है। इस तरह यौगों ने सन्निकर्ष में प्रामाण्य सिद्ध किया है।

उत्तरपक्ष- यौगों का उक्त मत अविचारित रमणीय है। अज्ञानरूप सन्निकर्ष प्रमिति की उत्पत्ति में साधकतम हो ही नहीं सकता है। इन्द्रियाँ अचेतन हैं और घटादि अर्थ भी अचेतन हैं। तब दोनों का सन्निकर्षरूप सम्बन्ध भी अचेतन ही होगा। अतः अचेतन या अज्ञानरूप सन्निकर्ष के द्वारा स्वपरपरिच्छित्ति कैसे हो सकती है? जिस प्रकार चक्षु का घट के साथ संयोगरूप सन्निकर्ष है, उसी प्रकार उसका आकाश के साथ भी तो संयोग है। तब चक्षु से आकाश की प्रमिति क्यों नहीं होती है? इससे यही सिद्ध होता है कि सन्निकर्ष स्वपरपरिच्छित्ति करने में समर्थ नहीं होता है, अपितु स्वपरव्यवसायात्मक ज्ञान ही प्रमिति को उत्पन्न करता है। इस प्रकार ज्ञान ही प्रमिति के प्रति साधकतम होता है, अज्ञानरूप सन्निकर्ष नहीं। जिसके होने पर प्रमिति हो और जिसके न होने पर प्रमिति न हो वह वहाँ साधकतम होता है, परन्तु सन्निकर्ष में ऐसा होना सम्भव नहीं है। अतः सन्निकर्ष में प्रमाण का लक्षण न पाये जाने से असम्भव दोष आता है। सन्निकर्ष को प्रमाण मानने में अव्याप्तिदोष भी आता है। क्योंकि चक्षु अप्राप्यकारी है- अर्थात् चक्षु अर्थ को प्राप्त करके नहीं जानती है, अपितु दूर से ही जानती है। इससे यह सिद्ध होता है कि चक्षु का अर्थ के साथ सन्निकर्ष न होने पर भी घटादि अर्थ का ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार सन्निकर्ष सब इन्द्रियों में समान रूप से न रहने के कारण अव्याप्ति दोष से दूषित है।

यहाँ हम (जैन) सन्निकर्षवादियों से पूछना चाहते हैं कि सन्निकर्षमात्र प्रमाण है अथवा सन्निकर्षविशेष? सन्निकर्षमात्र को प्रमाण मानने पर संशयादि को भी प्रमाण मानना पड़ेगा, क्योंकि सन्निकर्ष तो वहाँ भी पाया जाता

है। अब यदि सन्निकर्षविशेष को प्रमाण माना जाय तो यहाँ दो विकल्प होते हैं- विशिष्ट कारण से आत्मलाभ होने का नाम सन्निकर्षविशेष है अथवा विशिष्ट प्रमा का उत्पादक होने के कारण वह सन्निकर्ष विशेष कहलाता है। प्रथम पक्ष में घटादि की तरह आकाश में भी सन्निकर्ष के प्रामाण्य होने का प्रसङ्ग प्राप्त होता है। क्योंकि विशिष्ट कारण से आत्मलाभ होने की बात तो दोनों जगह समान है। सन्निकर्ष को विशिष्ट प्रमा का उत्पादक भी नहीं माना जा सकता है। क्योंकि पहले यह बतलाया जा चुका है कि सन्निकर्ष प्रमिति के प्रति साधकतम कारण नहीं होता है। अतः वह विशिष्ट प्रमा का उत्पादक कैसे हो सकता है? यहाँ यह प्रश्न बना ही रहता है कि सन्निकर्ष आकाशादि का परिहार करके घटादि में ही विशिष्ट प्रमा का उत्पादक क्यों होता है? उसे तो दोनों ही स्थानों में विशिष्ट प्रमा का उत्पादक होना चाहिए। यह मानना भी युक्तिसङ्गत नहीं है कि योग्यता के न होने के कारण सन्निकर्ष आकाश आदि में प्रमा को उत्पन्न नहीं करता है और योग्यता के सद्भाव के कारण वह घटादि में प्रमा को उत्पन्न करता है। ऐसा मानने पर योग्यता के सम्बन्ध में अनेक विकल्प होते हैं। योग्यता क्या है? क्या शक्ति का नाम योग्यता है अथवा प्रतिपत्ता के प्रतिबन्ध के अपाय का नाम योग्यता है? शक्ति को योग्यता स्वीकार करने पर यह विकल्प होता है कि शक्ति अतीन्द्रिय है अथवा सहकारी कारकों के सन्निधान का नाम शक्ति है। इत्यादि विकल्पों द्वारा सन्निकर्ष में योग्यता का निराकरण किया गया है।

सन्निकर्ष के सम्बन्ध में एक बात यह भी विचारणीय है कि चक्षु अप्राप्यकारी होने से उसका घटादि के साथ संयोग नामक सन्निकर्ष नहीं बनता है और घटरूप के साथ संयुक्तसमवाय तथा रूपत्व के साथ संयुक्त-समवेतसमवाय भी सिद्ध नहीं होता है। पूर्वपक्ष का यह कहना ठीक नहीं है कि असन्निकृष्ट अर्थ का ग्रहण होने पर सब को सब अर्थों में ज्ञानोत्पत्ति हो जानी चाहिए।

यहाँ जैनों का कहना है कि योग्य अर्थ का ही ग्रहण होता है, अयोग्य का नहीं। अन्यथा सन्निकृष्ट सब अर्थों का ग्रहण तथा विशेष रूप से चक्षु से सन्निकृष्ट अञ्जन का ग्रहण क्यों नहीं होता है? हम कह सकते हैं कि जिसके होने पर जो उत्पन्न नहीं होता है वह उसका हेतु नहीं

है। जैसे यवबीज के विद्यमान रहने पर गोधूम का अङ्कुर उत्पन्न नहीं होता है तो यवबीज गोधूम के अङ्कुर का हेतु नहीं है। इसी प्रकार आकाशादि में चक्षुसन्निकर्ष के रहने पर भी आकाशादि की परिच्छित्ति न होने से सन्निकर्ष अर्थपरिच्छित्ति का हेतु नहीं है। पूर्वपक्ष द्वारा व्यवहित अर्थ की अनुपलब्धि को सन्निकर्ष के सद्भाव में साधक प्रमाण बतलाना भी ठीक नहीं है। क्योंकि काँच, अभ्रपटल, स्फटिक आदि द्वारा व्यवहित अर्थों की उपलब्धि होती ही है।

सन्निकर्ष को प्रमाण मानने पर सर्वज्ञ का सद्भाव भी सिद्ध नहीं हो सकता है। क्योंकि उसका प्रत्यक्ष चाहे इन्द्रियजन्य हो अथवा मानस हो, परन्तु उसका सन्निकर्ष वर्तमान अर्थों के साथ ही हो सकता है, अतीत और अनागत अर्थों के साथ नहीं। ऐसी स्थिति में सर्वज्ञ अतीत और अनागत अर्थों का ज्ञान कैसे करेगा? क्योंकि वर्तमान काल में अतीत और अनागत अर्थों का सत्त्व न होने के कारण उन अर्थों के साथ सर्वज्ञ के ज्ञान का सन्निकर्ष नहीं होगा और सन्निकर्ष के अभाव में उन अर्थों का ज्ञान किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। तब सर्वज्ञ को अशेषज्ञ कैसे माना जा सकता है? यहाँ एक बात यह भी विचारणीय है कि सन्निकर्ष को प्रमाण मानने वाले यौगों के मत में साध्य और साधन में व्याप्ति का ज्ञान कैसे होगा? क्योंकि साध्य और साधन में जो व्याप्ति होती है वह सर्वदेशावच्छेदेन और सर्वकालावच्छेदेन होती है। अर्थात् व्याप्ति का कोई नियत देश और नियत काल नहीं होता है। वह तो सब देशों और सब कालों से सम्बन्धित होती है। अतः सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाले प्रत्यक्ष से व्याप्ति का ज्ञान सम्भव नहीं है और व्याप्तिज्ञान के अभाव में अनुमान की उत्पत्ति भी नहीं होगी।

इत्यादि प्रकार से विचार करने पर अज्ञानरूप सन्निकर्ष में अनुपचरित प्रामाण्य सिद्ध नहीं होता है। यदि कोई सन्निकर्ष को प्रमाण मानना चाहता है तो उसे उपचार से ही प्रमाण माना जा सकता है।

कारकसाकल्यवाद :

जरन्नैयायिक **जयन्तभट्ट** का मत है कि कारकसाकल्य का नाम प्रमाण है। क्योंकि वह अर्थ की उपलब्धि में साधकतम होता है। कारकसाकल्य

का अर्थ है– आत्मा, मन, अर्थ, आलोक, इन्द्रिय आदि जिन-जिन कारणों से अर्थ की उपलब्धि होती है उनकी समग्रता। इसमें बोधरूप और अबोधरूप सब कारण सम्मिलित रहते हैं। इसी बात को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जाता है कि अव्यभिचारादि विशेषण विशिष्ट और अर्थोपलब्धिजनक जो सामग्री है वह प्रमाण है। इस प्रकार की सामग्री बोधस्वरूप और अबोधस्वरूप– दोनों प्रकार की होती है। प्रमाण की उत्पत्ति किसी एक कारक (कारण) से नहीं होती है, किन्तु अनेक कारकों के समुदाय से होती है। इसमें जड़ और चेतन– दोनों प्रकार के कारण सम्मिलित रहते हैं। कारकसाकल्य ही प्रमाण की उत्पत्ति में साधकतम कारण (करण) होता है और जो प्रमाण की उत्पत्ति में करण होता है उसी का नाम प्रमाण है। किसी भी कार्य की उत्पत्ति में सामग्री का एक देश करण नहीं होता है, अपितु सम्पूर्ण सामग्री करण (साधकतम कारण) होती है। कारकसाकल्य को छोड़कर अन्य किसी कारक में साधकतम होने की सम्भावना नहीं होने के कारण कारकसाकल्य का नाम ही प्रमाण है। ज्ञान को प्रमाण मानना ठीक नहीं है। ज्ञान तो प्रमाण का फल होता है। जिसके द्वारा अर्थ की प्रमिति होती है उसे प्रमाण कहते हैं। इसलिए बोध और अबोधस्वरूप सामग्री के साकल्य का नाम ही प्रमाण है। ऐसा कारकसाकल्यवादियों का मत है।

उत्तरपक्ष– जरन्नैयायिक **जयन्तभट्ट** ने जो कारकसाकल्य को प्रमाण माना है वह युक्तिसंगत नहीं है। पहले हम यह जानना चाहते हैं कि कारकसाकल्य में प्रामाण्य मुख्यरूप से है या उपचार से। कारकसाकल्य मुख्यरूप से तो प्रमाण हो नहीं सकता है, क्योंकि कारकसाकल्य अज्ञानरूप है और जो अज्ञानरूप है वह स्वपरपरिच्छित्ति में मुख्यरूप से साधकतम नहीं हो सकता है। स्वपरप्रमिति में साधकतम तो अज्ञानविरोधी ज्ञान ही होता है। ऐसे ज्ञान का उत्पादक होने से कारकसाकल्य को भी उपचार से साधकतम माना जा सकता है तथा कारण में कार्य का उपचार करके कारकसाकल्य में उपचार से प्रमाण का व्यवहार भी किया जा सकता है, परन्तु अनुपचरित प्रमाण व्यवहार तो ज्ञान में ही होता है। इसी बात को दूसरे प्रकार से भी समझाया गया है। जो पदार्थ किसी क्रिया के करने में दूसरे अर्थ से व्यवहित नहीं होता है वह वहाँ मुख्यरूप से साधकतम कहलाता है। जिस प्रकार अयस्कार (लोहार) छेदनरूप क्रिया के करने

में कुठार से व्यवहित हो जाने के कारण साधकतम नहीं होता है, उसी प्रकार कारकसाकल्य भी स्वपरपरिच्छित्ति में ज्ञान से व्यवहित हो जाने के कारण साधकतम नहीं होता है तथा स्वपरपरिच्छित्ति में साधकतम न होने के कारण कारकसाकल्य में अनुपचरित (मुख्य) प्रमाण व्यवहार कभी भी सम्भव नहीं है। अब यदि कोई कारकसाकल्य को उपचार से प्रमाण मानना चाहें तो इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं है। **'अन्नं वै प्राणाः'** की तरह कारण में कार्य का उपचार करके कारकसाकल्य को उपचार से प्रमाण मानने में कुछ भी अनिष्ट नहीं है। यद्यपि अन्न प्राण नहीं है, किन्तु प्राण का कारण अवश्य है। अतः कारण में कार्य का उपचार करके अन्न को प्राण कह देते हैं। इसी प्रकार कारकसाकल्य स्वयं प्रमाण नहीं है, परन्तु वह प्रमाण का कारण माना जा सकता है। इसलिए कारण में कार्य का उपचार करके कारकसाकल्य को प्रमाण मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

यहाँ एक बात यह भी विचारणीय है कि नित्य और एकरूप आत्मा आदि पदार्थ कारकसाकल्य के उत्पादक माने गये हैं। यहाँ प्रश्न यह है कि आत्मा आदि का स्वभाव कारकसाकल्य को उत्पन्न करने का है या नहीं? यदि उनका स्वभाव कारकसाकल्य को उत्पन्न करने का है तो वे कारकसाकल्य को सर्वदा क्यों नहीं उत्पन्न करते हैं। क्योंकि आत्मा आदि के नित्य होने के कारण उनकी सत्ता तो सर्वदा बनी ही रहती है। फिर वे कारकसाकल्य को सदा क्यों नहीं उत्पन्न करते हैं? अब यदि ऐसा माना जाय कि आत्मा आदि पदार्थों का स्वभाव कारकसाकल्य को उत्पन्न करने का नहीं है तो फिर कारकसाकल्य की उत्पत्ति का कोई नियामक नहीं रहेगा और ऐसी अवस्था में सब कारकों से सब प्रमाणों की उत्पत्ति का दुर्निवार प्रसङ्ग प्राप्त हो जायेगा।

इस प्रकार जब हम कारकसाकल्य के स्वरूप आदि का विचार करते हैं तो उसका कोई स्वरूप ही सिद्ध नहीं होता है। तब उसमें प्रामाण्य कैसे सिद्ध हो सकता है? यदि कारकसाकल्य का कोई स्वरूप सिद्ध हो भी जाय तो भी वह मुख्य प्रमाण नहीं हो सकता है और अज्ञानरूप होने के कारण उसे उपचार से ही प्रमाण माना जा सकता है।

इन्द्रियवृत्तिवाद :

पूर्वपक्ष– सांख्यों का मत है कि अज्ञानरूप सन्निकर्ष तथा कारकसाकल्य में प्रामाण्य सिद्ध नहीं होता है तो न हो, परन्तु अर्थप्रमिति में साधकतम होने के कारण इन्द्रियवृत्ति में प्रामाण्य सिद्ध होने में कोई बाधा नहीं है। इन्द्रियवृत्ति का अर्थ है– इन्द्रियों की विषयाकारपरिणति। जब श्रोत्रादि इन्द्रियाँ प्रतिनियत शब्दादिरूप परिणमन करती हैं, तब शब्दादि का ज्ञान होता है। पहले विषय के साथ सम्पर्क होने से इन्द्रियों में तादूप्याकार (विषयाकार) इन्द्रियवृत्ति होती है। इसके बाद विषयाकार परिणत इन्द्रियवृत्ति को विषय करने वाली मनोवृत्ति होती है। किन्तु मनोवृत्ति शब्दादि को विषय नहीं करती है, क्योंकि वह अन्तरंग वृत्ति है। यदि मनोवृत्ति शब्दादि को विषय करने लगे तो बाह्येन्द्रिय का सद्भाव व्यर्थ हो जायेगा। घटादि बाह्य अर्थ को विषय करने के कारण ही चक्षुरादि बाह्येन्द्रियों का सद्भाव सार्थक सिद्ध होता है। अतः इन्द्रियवृत्ति को ही प्रमाण मानना उचित है। ऐसा सांख्यों का मत है।

उत्तरपक्ष– सांख्यों का उक्त मत समीचीन नहीं है। जब इन्द्रियाँ अचेतन हैं तो इन्द्रियों का व्यापार भी अचेतन ही होगा। अचेतनरूप इन्द्रियवृत्ति को उपचार से ही प्रमाण माना जा सकता है। अचेतन होने के कारण उसके द्वारा स्व और पर की परिच्छित्ति कदापि नहीं हो सकती है। स्वपरपरिच्छित्ति तो अज्ञान के विरोधी ज्ञान के द्वारा ही होती है। इन्द्रियवृत्ति भी सन्निकर्ष की तरह अज्ञानरूप है।

यहाँ यह जानना आवश्यक है कि इन्द्रियवृत्ति का मतलब क्या है– विषय के प्रति इन्द्रियों का गमन अथवा विषय के प्रति इन्द्रियों का आभिमुख्य, अथवा विषयाकाररूप परिणमन? इनमें से प्रथम पक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि इन्द्रियों का अपने विषय के प्रति गमन नहीं होता है। प्रत्यक्ष से भी इस बात की सिद्धि नहीं होती है। सभी जानते हैं कि इन्द्रियाँ अपने स्थान पर स्थित रहकर ही अपने विषयों को जानती हैं। द्वितीय पक्ष भी सङ्गत नहीं है। क्योंकि इन्द्रियों का विषय के प्रति आभिमुख्य स्वयं अर्थप्रमिति का साधकतम नहीं होता है, परन्तु अर्थप्रमिति का साधकतम जो ज्ञान है, उसका हेतु होने से उसे उपचार से ही साधकतम माना जा सकता है। तृतीय पक्ष-इन्द्रियों का विषयाकाररूप परिणमन भी प्रतीतिविरुद्ध है।

जिस प्रकार दर्पण विषयाकार को धारण कर लेता है उसी प्रकार श्रोत्रादि इन्द्रियाँ शब्दादि के आकार को धारण कर लेती हों, ऐसा प्रत्यक्ष से या अनुभव से कभी प्रतीत नहीं होता है। यही प्रतीतिविरोध है।

मान लीजिए कि कोई इन्द्रियवृत्ति है तो यहाँ प्रश्न यह है कि वह इन्द्रियवृत्ति इन्द्रियों से अभिन्न है या भिन्न? यदि अभिन्न है तो वह श्रोत्रादिरूप ही हुई और ऐसी इन्द्रियवृत्ति तो सुषुप्त अवस्था में भी रहती है। तब सुषुप्त और प्रबुद्ध में कोई भेद ही नहीं रहेगा। अब यदि इन्द्रिवृत्ति को इन्द्रियों से भिन्न माना जाय तो यहाँ विकल्प होता है कि वह इन्द्रियों से असम्बद्ध है या सम्बद्ध? प्रथम पक्ष मानने पर यह वृत्ति श्रोत्रादि की है, ऐसा कथन नहीं हो सकेगा। यदि इन्द्रियवृत्ति इन्द्रियों से सम्बद्ध है तो वह समवाय के द्वारा सम्बद्ध है या संयोग के द्वारा, इत्यादि विकल्पों द्वारा इन्द्रियवृत्ति का इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता है। इत्यादि प्रकार से विचार करने पर इन्द्रियवृत्ति में प्रामाण्य सिद्ध नहीं होता है।

ज्ञातृव्यापारवाद :

पूर्वपक्ष- मीमांसक मतानुयायी प्राभाकर ज्ञातृव्यापार को प्रमाण मानते हैं। किसी पदार्थ को जानने के लिए ज्ञाता का जो व्यापार होता है उसका नाम ज्ञातृव्यापार है। उनका कहना है कि अनेक दोषों से युक्त होने के कारण यदि सन्निकर्ष आदि प्रमाण नहीं हैं तो इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु ज्ञातृव्यापार को प्रमाण मानना आवश्यक है। क्योंकि ज्ञातृव्यापार के बिना अर्थप्राकट्यरूप फल की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। यह नियम है कि कार्य की उत्पत्ति कारक के व्यापार के बिना नहीं होती है। किसी भी कारक में जो कारकत्व है वह व्यापार के कारण ही होता है। अन्यथा वह कारक न होकर वस्तुमात्र ही कहलायेगा। परन्तु यह देखा जाता है कि फलार्थी पुरुष वस्तुमात्र का ग्रहण नहीं करते हैं। वे तो उसे ग्रहण करते हैं जो उनके अभिप्रेत प्रयोजन का साधक हो। तात्पर्य यह है कि आत्मा, मन, इन्द्रिय और अर्थ का सम्प्रयोग होने पर अर्थप्राकट्य का कारण ज्ञातृव्यापार उत्पन्न होता है और ऐसा ज्ञातृव्यापार अर्थप्राकट्यरूप फल में साधकतम होने के कारण प्रमाण सिद्ध होता है। ऐसा ज्ञातृव्यापार-वादियों का मत है।

उत्तरपक्ष– ज्ञातृव्यापारवादियों का उक्त मत समीचीन नहीं है। सन्निकर्ष आदि की तरह अज्ञानरूप होने के कारण ज्ञातृव्यापार में भी प्रामाण्य सिद्ध नहीं होता है। ज्ञाता आत्मा चेतना के समवाय से चेतन है, वह स्वतः चेतन नहीं है। अतः उसका व्यापार भी अचेतन ही माना जायेगा और जो अचेतन या अज्ञानरूप है वह प्रमिति की उत्पत्ति में साधकतम नहीं हो सकता है। ज्ञातृव्यापार का ग्राहक कोई प्रमाण भी नहीं है। ज्ञातृव्यापार को प्रमाण मानने वाले प्राभाकरों से हम पूछना चाहते हैं कि ज्ञातृव्यापार की सत्ता किसी प्रमाण से सिद्ध है या नहीं? यदि उसकी सत्ता किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है तो उसे प्रमाण कैसे माना जा सकता है। यदि किसी प्रमाण से ज्ञातृव्यापार की सत्ता सिद्ध होती है तो प्रत्यक्ष या अनुमानादि किस प्रमाण से उसकी सत्ता सिद्ध होगी। यदि प्रत्यक्ष से ज्ञातृव्यापार की सत्ता की सिद्धि मानी जाय तो इसमें कई विकल्प होते हैं– इन्द्रियार्थसंयोगजन्य प्रत्यक्ष, आत्मा और मन के सन्निकर्षजन्य प्रत्यक्ष अथवा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष। इनमें से किस प्रत्यक्ष से उसकी सिद्धि होती है? इनमें से पहला विकल्प तो ठीक नहीं है, क्योंकि चक्षुरादि इन्द्रियाँ स्वसम्बद्ध विषय में ही ज्ञानजनक होती हैं। ज्ञातृव्यापार के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध सम्भव नहीं है। उनका सम्बन्ध तो प्रतिनियत रूपादि के साथ ही होता है। इसी प्रकार आत्मा और मन के सन्निकर्षजन्य प्रत्यक्ष से भी ज्ञातृव्यापार की सिद्धि नहीं होती है। ऐसे प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति तो सुखादि में ही होती है। स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से भी ज्ञातृव्यापार की सिद्धि नहीं होती है, क्योंकि मीमांसकों ने उसका स्वसंवेदन माना ही नहीं है।

अनुमान प्रमाण से भी ज्ञातृव्यापार की सिद्धि सम्भव नहीं है, क्योंकि दो वस्तुओं में साध्य-साधन सम्बन्ध सिद्ध हो जाने पर अनुमान प्रमाण की प्रवृत्ति होती है। यहाँ ज्ञातृव्यापार का अर्थप्राकट्यरूप हेतु से सम्बन्ध का ज्ञान किसी प्रमाण से न होने के कारण उसमें अनुमान की प्रवृत्ति कैसे होगी? इसी प्रकार अर्थापत्ति प्रमाण से भी ज्ञातृव्यापार की सिद्धि नहीं होती है, क्योंकि यहाँ ऐसा कोई अर्थ नहीं है जिसका सद्भाव ज्ञातृव्यापार के बिना न हो, जैसे कि दिन में भोजन न करने वाले देवदत्त में पीनत्व का सद्भाव रात्रिभोजन के बिना नहीं होता है। इस प्रकार किसी भी प्रमाण से ज्ञातृव्यापार का सद्भाव सिद्ध नहीं होता है।

ज्ञातृव्यापार के विषय में एक प्रश्न यह भी होता है कि वह कारकजन्य है या अजन्य? यदि वह कारकजन्य है तो क्रियारूप है या अक्रियारूप? यदि क्रियारूप है तो वह क्रिया परिस्पन्दात्मक है या अपरिस्पन्दात्मक? इत्यादि अनेक विकल्पों द्वारा कारकजन्य ज्ञातृव्यापार का निराकरण हो जाता है। अब यदि ज्ञातृव्यापार को कारकों द्वारा अजन्य माना जाय तो ऐसा मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो भी व्यापार होता है वह कारकजन्य ही होता है, जैसे पाचकादिव्यापार। यहाँ एक प्रश्न यह भी है कि ऐसा ज्ञातृव्यापार अभावरूप है या भावरूप? उसे अभावरूप मानने पर उसके द्वारा अर्थप्राकट्यरूप फल उत्पन्न नहीं हो सकता है। यदि ज्ञातृव्यापार को भावरूप माना जाय तो यहाँ भी यह विकल्प होता है कि वह नित्य है या अनित्य? उसे नित्य मानने पर सब को सदा सर्व पदार्थों की प्रतिपत्ति का प्रसङ्ग प्राप्त होगा तथा अन्ध, सुषुप्त आदि व्यवहार का उच्छेद हो जायेगा। अब यदि भावरूप ज्ञातृव्यापार को अनित्य माना जाय तो ऐसा मानना भी असङ्गत है। क्योंकि जो भावरूप है और अजन्य है वह अनित्य नही हो सकता है, जैसे आकाश। पूर्वपक्ष में जो यह कहा गया है कि किसी भी कारक में जो कारकत्व होता है वह क्रिया (व्यापार) के कारण ही होता है, उनका वह कथन सत्य ही है, क्योंकि हम दृश्यमान परिस्पन्दात्मक कारकव्यापार का अपह्नव नही करते हैं। अग्नि आदि कारकों का नाना प्रकार का जो ज्वालादिव्यापार होता है उसकी प्रतीति तो प्रत्यक्ष से होती ही है। हम तो प्राभाकरों द्वारा परिकल्पित अतीन्द्रिय व्यापार का ही प्रतिषेध करते हैं, क्योंकि उस प्रकार के ज्ञातृव्यापार की प्रतीति किसी भी प्रमाण से नहीं होती है।

उपर्युक्त कथन का निष्कर्ष यह है कि चाहे सन्निकर्षादि हो या ज्ञातृव्यापार– ये सभी अर्थप्रमिति में साधकतम न होने के कारण प्रमाण नहीं हो सकते हैं। इन्हें तो अर्थप्रमिति में उपचार से ही साधकतम माना जा सकता है और उपचार से ही इनमें प्रमाण का व्यपदेश किया जा सकता है।

निर्विकल्पकप्रत्यक्षवाद :

बौद्ध कहते हैं कि यह कथन सत्य है कि ज्ञान ही प्रमाण होता है, अज्ञानरूप सन्निकर्षादि नहीं। ज्ञान दो प्रकार का है– निर्विकल्पक और

सविकल्पक। इनमें से प्रत्यक्षरूप ज्ञान निर्विकल्पक होता है और अनुमानरूप ज्ञान सविकल्पक होता है। धर्मकीर्ति ने न्यायबिन्दु में प्रत्यक्ष का लक्षण इस प्रकार बतलाया है–

प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्।

अर्थात् कल्पनारहित और अभ्रान्त ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। इसी विषय में प्रमाणवार्तिक में भी कहा गया है–

प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिद्ध्यति।
प्रत्यात्मवेद्यः सर्वेषां विकल्पो नामसंश्रयः।।

अर्थात् प्रत्यक्ष कल्पना रहित होता है इस बात की सिद्धि प्रत्यक्ष से ही होती है। और शब्द के आश्रय से होने वाला विकल्प भी सब को अपने अनुभव में आता है।

ज्ञान में नाम, जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य की योजना को कल्पना कहते हैं। किसी व्यक्ति को राम, मोहन आदि कहना यह नाम योजना है। गोत्व विशिष्ट गाय को गौ कहना यह जाति योजना है। किसी पदार्थ को शुक्ल, कृष्ण आदि कहना यह गुण योजना है। पकाने की क्रिया करने वाले को पाचक कहना यह क्रिया योजना है और यह घट है, यह पट है, इत्यादि कथन का नाम द्रव्य योजना है। जो ज्ञान इस प्रकार की कल्पना के संसर्ग से रहित होता है वह निर्विकल्पक होता है और निर्विकल्पक ज्ञान ही प्रत्यक्ष कहलाता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के बाद एक सविकल्पक प्रत्यक्ष भी होता है जिसे बौद्ध कल्पना सहित होने के कारण प्रत्यक्षाभास कहते हैं। अनुमानरूप ज्ञान भी शब्दसंसर्ग सहित होने के कारण कल्पनात्मक या सविकल्पक माना गया है। यहाँ ज्ञातव्य बात यह है कि प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण होता है और अनुमान का विषय सामान्यलक्षण। स्वलक्षण को परमार्थसत् कहते हैं और सामान्यलक्षण को संवृतिसत्। बौद्धदर्शन में प्रमाण केवल दो हैं– प्रत्यक्ष और अनुमान। और दोनों के विषय भी दो हैं– स्वलक्षण और सामान्यलक्षण। मनुष्य, गौ, घट आदि प्रत्येक विशेष को स्वलक्षण कहते हैं तथा मनुष्यत्व, गोत्व, घटत्व आदि को सामान्य लक्षण कहते हैं। ऊपर जिस प्रत्यक्ष का लक्षण बतलाया गया है उसके चार भेद हैं– इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष, स्वसंवेदनप्रत्यक्ष और योगिप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष के

विषय में बौद्धों की ऐसी मान्यता है।

उत्तरपक्ष- बौद्धों का उक्त कथन युक्तिसंगत नहीं है। उनका यह कथन कि प्रत्यक्ष निर्विकल्पक होता है सर्वथा गलत है। निर्विकल्पक का अर्थ होता है- अनिश्चयात्मक। जो ज्ञान अनिश्चयात्मक है वह प्रमाण नहीं हो सकता है, उसको प्रत्यक्ष कहना तो दूर की बात है। जब पहले कोई ज्ञान प्रमाण हो तभी वह प्रत्यक्ष हो सकता है, परन्तु जो ज्ञान प्रमाण ही नहीं है वह प्रत्यक्ष कैसे होगा? जो ज्ञान प्रमाण है वह स्वपरनिश्चायक अवश्य होता है। प्रत्यक्ष के विषय में भी यही बात है। तथाहि-

प्रत्यक्षं स्वार्थव्यवसायात्मकं प्रमाणत्वात् अनुमानवत्।

अर्थात् प्रत्यक्ष स्व और अर्थ का व्यवसायात्मक होता है, प्रमाण होने से, अनुमान की तरह।

बौद्ध अनुमान को सविकल्पक (निश्चयात्मक) मानते हैं, परन्तु प्रत्यक्ष को निर्विकल्पक (अनिश्चयात्मक) मानते हैं। यहाँ बौद्धों द्वारा अभिमत अनुमान का उदाहरण देकर यह सिद्ध किया गया है कि जिस प्रकार अनुमान निश्चयात्मक है उसी प्रकार प्रत्यक्ष भी निश्चयात्मक है। यदि प्रत्यक्ष निश्चयात्मक न हो तो उसमें प्रामाण्य सम्भव ही नहीं है। प्रमाण शब्द की निरुक्ति भी यही बतलाती है। देखिए-

'प्रकर्षेण संशयादिव्यवच्छेदलक्षणेन मीयते परिच्छिद्यते येनार्थः तत् प्रमाणम्। न चैतन्निर्विकल्पके सम्भवतीति कथं तत्र प्रमाणशब्दस्यापि प्रवृत्तिः।'

अर्थात्- जिसके द्वारा संशयादि का व्यवच्छेद करके अर्थ की परिच्छित्ति की जाती है वह प्रमाण कहलाता है, किन्तु निर्विकल्पक प्रमाण में ऐसी परिच्छित्ति सम्भव नहीं है। तब उसमें प्रमाण शब्द की प्रवृत्ति कैसे होगी?

अनध्यवसायरूप ज्ञान की तरह जो भी अनिश्चयात्मक ज्ञान है वह सब अप्रमाण है। व्यवहार में अनुपयोगी होने के कारण भी निर्विकल्पक ज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता है। जो व्यवहार में अनुपयोगी होता है उसे प्रमाण नहीं माना जा सकता है, जैसे 'गच्छत् **तृणस्पर्शज्ञानम्।**' मार्ग में जाते हुए व्यक्ति को तृण का स्पर्श होने पर 'कुछ है' ऐसा जो ज्ञान होता

है उसके द्वारा किसी प्रकार के व्यवहार की सिद्धि नहीं होती है। ऐसे ज्ञान को अनध्यवसाय कहते हैं। इसी प्रकार निर्विकल्पक ज्ञान के द्वारा भी अर्थ में प्रवृत्ति आदि व्यवहार सम्भव न होने से उसे प्रमाण नहीं माना जा सकता है।

बौद्धों का यह कथन भी ठीक नहीं है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष विकल्प को उत्पन्न करने के कारण प्रमाण हो जायेगा। क्योंकि यदि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में व्यवसायात्मकता नहीं है तो उसके द्वारा उत्पन्न विकल्प में व्यवसायात्मकता कैसे आ जायेगी? बौद्धों का यह कथन भी युक्तिसङ्गत नहीं है कि निर्विकल्पक ज्ञान स्पष्ट होता है और सविकल्पक ज्ञान अस्पष्ट होता है। क्योंकि ज्ञानों में जो स्पष्टता और अस्पष्टता की प्रतीति होती है वह स्वसामग्रीविशेष के कारण ही होती है। यदि ज्ञान होनेमात्र से कोई ज्ञान अस्पष्ट हो जाय तो अनुमान की तरह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को भी अस्पष्ट होना चाहिए। ऐसा भी नहीं है कि विकल्पात्मक ज्ञान की प्रवृत्ति परोक्ष अर्थ में ही होती है। सामने अवस्थित प्रत्यक्ष अर्थ में भी स्पष्टाकार- उल्लेखयुक्त विकल्प की प्रवृत्ति देखी जाती है। विकल्प को अर्थसन्निधि निरपेक्ष मानना भी गलत है। क्योंकि सामने अवस्थित अर्थ के होने पर विकल्प की प्रवृत्ति होती है। फिर भी यदि विकल्पात्मक ज्ञान को अप्रत्यक्ष माना जाय तब तो किसी भी ज्ञान में प्रत्यक्षता सम्भव नहीं होगी। निर्विकल्पक को इन्द्रियजन्य मानना और सविकल्पक को इन्द्रियजन्य नहीं मानना, तर्कसङ्गत नहीं है, क्योंकि निर्विकल्पक की तरह सविकल्पक में भी इन्द्रियों का अन्वय-व्यतिरेक पाया जाता है।

इत्यादि प्रकार से अनेक युक्तियों द्वारा निर्विकल्पक ज्ञान में प्रामाण्य का निराकरण किया गया है तथा यह सिद्ध किया गया है कि स्वपरपरिच्छित्ति में साधकतम होने से, संवादक होने से और अनिश्चित अर्थ का निश्चायक होने से सविकल्पक ज्ञान प्रमाण है, अनुमान की तरह। जिस प्रकार बौद्धाभिमत अनुमान निश्चयात्मक होने से प्रमाण है, उसी प्रकार सविकल्पक प्रत्यक्ष भी निश्चयात्मक होने के कारण प्रमाण है। इसके विपरीत निर्विकल्पक प्रत्यक्ष सन्निकर्षादि की तरह प्रमाण नहीं है। क्योंकि वह न तो स्वपरपरिच्छित्ति में साधकतम है, न संवादक है और न ही अनिश्चित अर्थ का निश्चायक है। निष्कर्ष यह है कि प्रत्यक्ष को कल्पनापोढ

(कल्पनारहित) तथा अनिश्चयात्मक मानना सर्वथा असङ्गत है। जब उसमें प्रामाण्य किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है तब उसके इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष, स्वसंवेदनप्रत्यक्ष और योगिप्रत्यक्ष का वर्णन करना तो गगनकुसुम के सौरभ के व्यावर्णन के समान उपेक्षणीय है।

स्मृतिप्रमोषवाद :

पूर्वपक्ष– मीमांसक मतानुयायी प्राभाकरों का मत है है कि शुक्तिका में होने वाला रजतज्ञान विपर्ययज्ञान न होकर स्मृतिप्रमोषरूप होता है। उनका कहना कि शुक्तिका में '**इदं रजतम्**' यह रजत है, ऐसा जो ज्ञान होता है वह एक ज्ञान न होकर दो ज्ञान हैं। यहाँ '**इदम्**' इस पद के द्वारा सामने अवस्थित अर्थ का प्रतिभास होता है, यह प्रत्यक्ष ज्ञान है। तथा '**रजतम्**' इस पद के द्वारा पूर्व में अवगत रजत का सादृश्य आदि के निमित्त से स्मरण होता है, यह स्मरण ज्ञान है। ये दोनों ज्ञान भिन्न-भिन्न कारणों से उत्पन्न होते हैं तथा उनका विषय भी पृथक्-पृथक् है। '**इदम्**' इस प्रत्यक्ष ज्ञान का कारण इन्द्रियादि हैं और '**रजतम्**' इस स्मरण ज्ञान का कारण संस्कार है। इसी प्रकार '**इदम्**' इस ज्ञान का विषय पुरोवर्ती शुक्तिका है और '**रजतम्**' इस ज्ञान का विषय पूर्वदृष्ट रजत है। इससे यह सिद्ध होता है कि शुक्तिका में रजत का जो ज्ञान होता है वह विपर्ययज्ञान नहीं है, परन्तु वहाँ स्मृति का प्रमोष हो जाने के कारण प्रत्यक्ष और स्मरण– इन दो ज्ञानों में विवेक (भेद) की ख्याति नहीं होती है। इसीलिए इस ज्ञान को स्मृतिप्रमोष कहते हैं। अर्थात् वहाँ स्मृति चुरा ली जाती है। जहाँ '**स्मरामि**' ऐसा ज्ञान होता है वहाँ स्मृति का प्रमोष (चोरी) नहीं होता है, किन्तु '**स्मरामि**' ऐसे ज्ञान के अभाव में विपर्ययज्ञान में स्मृति का प्रमोष हो जाता है। विपर्ययज्ञान में 'मैं रजत का स्मरण कर रहा हूँ' ऐसा स्मृतिरूप ज्ञान तो होता नहीं है। अतः उसे स्मृतिप्रमोष मानना सर्वथा उचित है।

यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि रजताकार जो प्रतीति होती है वह रजतविषयक ही होती है, शुक्तिका विषयक नहीं, क्योंकि अन्याकार प्रतीति अन्यविषयक नहीं हो सकती है। *अन्यथा सर्व ज्ञान सर्वविषयक हो जायेंगे।* अतः रजताकार ज्ञान को रजत विषयक ही मानना चाहिए। किन्तु शुक्तिका में रजत ज्ञान के समय रजत सामने अवस्थित तो रहता नहीं है। इससे

यही प्रतीत होता है कि पूर्वदृष्ट रजत का ही उस समय स्मरण होता है। वह ज्ञान इन्द्रिय और अर्थ के संयोगजन्य न होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता है। उस ज्ञान को स्मृतिप्रमोष इसलिए कहते हैं, क्योंकि वहाँ '**स्मरामि**' ऐसा प्रत्यय नहीं होता है। '**स्मरामि**' ऐसे आकार से शून्य ज्ञान का नाम स्मृतिप्रमोष है। जो लोग शुक्तिका में रजतज्ञान को स्मृतिप्रमोष न मानकर विपरीतख्याति मानना चाहते हैं उनके मत में बाह्यार्थ की सिद्धि भी नहीं हो सकती है। क्योंकि शुक्तिका में रजतज्ञान का दृष्टान्त देकर सर्वप्रत्ययों में निरालम्बनत्व का प्रसङ्ग प्राप्त होना अनिवार्य है। हम कह सकते हैं कि जिस प्रकार रजतज्ञान रजत के अभाव में भी रजत का अवभास कराता है, उसी प्रकार सर्व बाह्यार्थप्रत्यय बाह्यार्थ के बिना ही उनके अवभासक हो सकते हैं। अतः शुक्तिका में होने वाले रजतज्ञान को स्मृतिप्रमोष मानना आवश्यक है। ऐसा स्मृतिप्रमोषवादियों का कथन है।

उत्तरपक्ष- प्राभाकरों का उक्त मत प्रमाणसङ्गत नहीं है। शुक्ति में होने वाले रजतज्ञान को एक ज्ञान न मानकर दो ज्ञान मानना तर्कसङ्गत नहीं है। हम यहाँ स्मृतिप्रमोषवादियों से पूछना चाहते हैं कि आप कारण के भेदमात्र से कार्यभेद (ज्ञानभेद) सिद्ध करना चाहते हैं अथवा सामग्री के भेद से? प्रथम पक्ष मानने पर कोई भी ज्ञान एक सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि इन्द्रिय, आलोक आदि अनेक कारणों से उत्पन्न होने वाले घटादिज्ञान में भी अनेकत्व का प्रसङ्ग आयेगा। द्वितीयपक्ष मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ कोई सामग्रीभेद सम्भव नहीं है। शुक्तिका में रजतज्ञान का कारण तो एक ही है और वह है चक्षुरादिकारणकलाप। एक बात यह भी है कि कार्यभेद होने से कारणभेद की कल्पना की जाती है, किन्तु यहाँ कार्यभेद है ही नहीं। शुक्तिका में जो रजतज्ञान होता है उसमें विषयभेद भी नहीं है, क्योंकि शुक्तिका ही इस ज्ञान का विषय है। सामने अवस्थित शुक्तिका को काचकामलादि दोषों के कारण चक्षुरादि रजतरूप से प्रदर्शित करते हैं। '**इदं रजतम्**' ऐसा ज्ञान एकार्थविषयक एक ही ज्ञान है। यहाँ '**इदम्**' शब्द पुरोवर्ती अर्थ को बतलाता है और '**रजतम्**' शब्द रजत के रूप (आकार) को बतलाता है, विषयान्तर को नहीं। इसलिए इस ज्ञान में भेद की आशङ्का कैसे हो सकती है? अन्यथा सत्य रजतज्ञान में भी वैसी ही आशङ्का होनी चाहिए। इन्द्रियों के दोषों की यही महिमा है कि

इनके कारण अविद्यमान अर्थ में भी ज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है। अतः इन्द्रियदोषों के कारण शुक्तिका में रजतविषयक विपरीत ज्ञान की उत्पत्ति होने में कोई विरोध नहीं है।

यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि शुक्तिका में होने वाला रजतज्ञान यदि शुक्तिका को विषय नहीं करता है तो क्या वह निर्विषयक है अथवा अतीतरजतविषयक? उसे निर्विषयक तो नहीं माना जा सकता है, क्योंकि **'रजतमिदम्'** यह रजत है ऐसे विषय का उल्लेख वहाँ होता है। उसे अतीत रजतविषयक भी नहीं कह सकते हैं। यदि ऐसा होता तो वहाँ अतीत रजत का ही प्रतिभास होना चाहिए और ऐसी स्थिति में रजत के इच्छुक लोगों की प्रवृत्ति उसमें नहीं होनी चाहिए, क्योंकि अतीत रजत की प्राप्ति वहाँ सम्भव नहीं है। इसलिए वर्तमान में पुरोवर्ती शुक्तिका विषयक ही रजतज्ञान वहाँ होता है और वह ज्ञान उसी अर्थ में प्रवृत्ति का हेतु होता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि शुक्तिका में जो रजतज्ञान होता है उसमें कोई विषयभेद नहीं है। **'रजतमिदम्'** इस ज्ञान का विषय तो एक ही है। अतः यहाँ विषयभेद के कारण ज्ञान में भेद मानना सर्वथा गलत है।

यह जान लेना भी आवश्यक है कि आप जिसको स्मृतिप्रमोष कहते हैं उसका स्वरूप क्या है? क्या स्मृति के विनाश का नाम स्मृतिप्रमोष है या प्रत्यक्ष के साथ स्मृति के एकत्वाध्यवसाय का नाम स्मृतिप्रमोष है। अथवा 'तत्' इस अंश के तिरोभाव (अनुभव न होने) का नाम स्मृतिप्रमोष है? प्रथम पक्ष मानने में यह दोष है कि साध्य और साधन की स्मृति का साध्य की प्रतिपत्ति काल में विनाश हो जाने के कारण वहाँ भी स्मृतिप्रमोष मानना पड़ेगा। द्वितीय पक्ष-प्रत्यक्ष के साथ स्मृति का एकत्वाध्यवसाय भी सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष और स्मृति दोनों भिन्न-भिन्न ज्ञान हैं। इनमें एकत्व का अध्यवसाय कैसे हो सकता है? यदि यह माना जाय कि स्मृति में प्रत्यक्षरूपतापत्ति (प्रत्यक्षरूप हो जाना) हो जाती है तो उस अवस्था में उसमें स्मृतिरूपता का परित्याग हो जाने के कारण प्रत्यक्षरूपता ही रहेगी, स्मृतिरूपता नहीं। तब उसे स्मृतिप्रमोष कैसे कहेंगे? अब यदि ऐसा माना जाय कि 'तत्' इस अंश के अनुभव न होने का नाम स्मृतिप्रमोष है तो यह विकल्प भी युक्तिसङ्गत नहीं है। यह ठीक है कि वहाँ **'तद्**

रजतम्' ऐसा अनुभव नहीं होता है, किन्तु जिस प्रकार वहाँ 'तत्' इस अंश का अनुभव नहीं होता है उसी प्रकार वहाँ रजताकार के अनुभव का भी अभाव है। आप तो वहाँ 'तद् रजतम्' ऐसा रजतांशयुक्त एक ही स्मरण मानते हैं। अतः वहाँ 'तत्' शब्द का प्रमोष मानने पर रजतरूप अंश का भी प्रमोष मानना पड़ेगा। परन्तु ऐसा नहीं हो सकता है कि 'तत्' शब्द का तो प्रमोष हो और रजत का प्रमोष न हो। शुक्तिका के प्रतिभासित होने पर उसमें रजत का स्मरण कैसे सम्भव है, जिससे कि वहाँ स्मृति का प्रमोष बतलाया जा सके। यदि रजत के स्थान में उससे विपरीत वस्तु के जानने का नाम स्मृतिप्रमोष है तब तो वह विपरीत अर्थ की ख्याति ही हुई। इसीका नाम विपरीतार्थख्याति या **विपर्ययज्ञान है**।

इत्यादि प्रकार से विचार करने पर विपरीत अर्थ की ख्याति के स्थान में स्मृतिप्रमोष मानना किसी भी प्रकार युक्तिसङ्गत नहीं है। यथार्थ बात यह है कि विद्यमान शुक्तिका में जो रजतरूपता की प्रतीति होती है उसका नाम विपरीतख्याति (विपर्ययज्ञान) है, स्मृतिप्रमोष नहीं। अतः शुक्तिका में '**इदं रजतम्**' इस ज्ञान को स्मृतिप्रमोष कहना सर्वथा असङ्गत है।

अख्यातिवाद :

पूर्वपक्ष– चार्वाक विपर्ययज्ञान को अख्यातिरूप मानते हैं। उनका कहना है कि विपर्ययज्ञान में किसी अर्थ की ख्याति नहीं होती है। इस कारण उसको अख्याति कहते हैं। '**शुक्तिकायाम् इदं रजतम्**' इस ज्ञान का विषय रजत का अस्तित्व नहीं है, अन्यथा वह ज्ञान अभ्रान्त हो जायेगा। उस ज्ञान का विषय रजत का अभाव भी नहीं है, क्योंकि वहाँ जो ज्ञान होता है वह विधिपरक होता है, निषेधपरक नहीं। शुक्तिका भी उस ज्ञान का आलम्बन नहीं है, क्योंकि रजतरूप से शुक्तिका का ग्रहण सम्भव नहीं है। अन्य का अन्य के आकाररूप से ग्रहण नहीं होता है, जैसे पट का ग्रहण घटाकाररूप से कभी नहीं होता है। इस कथन का निष्कर्ष यह है कि '**शुक्तिकायाम् इदं रजतम्**' इस ज्ञान में किसी भी वस्तु की ख्याति (प्रतीति) न होने के कारण इसे अख्याति कहते हैं।

उत्तरपक्ष– चार्वाक का उक्त कथन असङ्गत है। यदि '**शुक्तिकायाम् इदं रजतम्**' इस ज्ञान में किसी भी वस्तु का प्रतिभास नहीं होता है

तो उसका विशेषरूप से कथन सम्भव नहीं है। तब उसके विषय में यह रजतज्ञान है अथवा अन्य ज्ञान है, ऐसा कथन कैसे होगा? परन्तु उसका रजतज्ञान के रूप में कथन तो होता ही है। यहाँ यह भी विचारणीय है कि आप जिसे अख्याति कहते हैं वह क्या है? क्या ख्याति के अभाव का नाम अख्याति है अथवा ईषत्ख्याति का नाम अख्याति है? प्रथम पक्ष में भ्रान्ति और सुषुप्त अवस्था में कोई भेद नहीं रहेगा। भ्रान्ति को प्रतिभासविशेषरूप मानने पर ही उसमें सुषुप्त अवस्था से भेद माना जा सकता है, अन्यथा नहीं। अब यदि ईषत्ख्याति का नाम अख्याति है तो यहाँ यह बतलाना आवश्यक है कि ईषत्ख्याति किसे कहते हैं? यदि यथावस्थित अर्थ (शुक्तिका) के अप्रतिभास का नाम ईषत्ख्याति है, तब तो विपरीतार्थख्याति ही हुई, अख्याति नहीं। इस प्रकार विपर्ययज्ञान को अख्यातिरूप मानना किसी भी प्रकार सङ्गत नहीं है।

असत्ख्यातिवाद :

पूर्वपक्ष– सौत्रान्तिक और माध्यमिक (दोनों बौद्ध) विपर्ययज्ञान को असत्ख्यातिरूप मानते हैं। उनका कहना है कि विपर्ययज्ञान में किसी सत् वस्तु की ख्याति न होकर वहाँ असत् की ख्याति होती है। यहाँ यह विचारणीय है कि **'शुक्तिकायाम् इदं रजतम्'** इस ज्ञान में प्रतिभासमान वस्तुस्वरूप ज्ञानधर्म है अथवा अर्थधर्म? वह ज्ञान का धर्म तो नहीं हो सकता है, क्योंकि उसका प्रतिभास अन्तरङ्गरूप से न होकर बहिरङ्गरूप से होता है। वह वस्तु का धर्म भी नहीं है, क्योंकि रजतरूप वस्तु के द्वारा साध्य अर्थक्रियाकारित्व का वहाँ अभाव पाया जाता है तथा उसको वस्तुधर्म मानने में वहाँ **'नेदं रजतम्'** इस बाधक प्रत्यय के द्वारा बाधा भी आती है। इसलिए उस ज्ञान में असत् का ही प्रतिभास होता है, सत् का नहीं। इसीलिए उसका नाम असत्ख्याति है।

उत्तरपक्ष– असत्ख्यातिवादियों का उक्त कथन समीचीन नहीं है। जो सर्वथा असत् है उसका खपुष्प की तरह कभी भी प्रतिभास नहीं हो सकता है। 'असत् का प्रतिभास होता है' ऐसा कथन परस्पर विरुद्ध है। असत् और प्रतिभास–इन दोनों बातों का परस्पर में विरोध है, क्योंकि प्रतिभासमानत्व ही पदार्थों का धर्म अथवा अस्तित्व है। जो सर्वथा असत् हैं, ऐसे शशविषाणादि पदार्थ स्वप्न में भी प्रतिभासित नहीं होते हैं।

असत्ख्यातिवाद में भ्रान्ति का वैचित्र्य भी नहीं बन सकता है, क्योंकि उनके मत में न तो अर्थगत वैचित्र्य है और न ज्ञानगत वैचित्र्य है, जिससे कि अनेक प्रकार की भ्रान्ति सम्भव हो सके। पूर्वपक्ष में कहा गया है कि अर्थक्रियाकारित्व के अभाव में प्रतिभासमान वस्तुरूप को वस्तु का धर्म नहीं कह सकते हैं। यहाँ हम यह जानना चाहते हैं कि आपको ज्ञानसाध्य अर्थक्रियाकारित्व का अभाव इष्ट है अथवा ज्ञेयसाध्य अर्थक्रियाकारित्व का अभाव। प्रथम पक्ष में ज्ञानधर्म के रूप से इसका सत्त्व नहीं बन सकेगा, परन्तु इसमें सत्त्व का सर्वथा अभाव सिद्ध नहीं होगा। यदि कोई वस्तु अन्य वस्तु के द्वारा साध्य अर्थक्रिया को नहीं करती है तो इससे उसका असत्त्व सिद्ध नहीं हो सकता है। अन्यथा पट की अर्थक्रिया को न करने वाले घट का भी असत्त्व हो जायेगा। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि वहाँ ज्ञेयसाध्य अर्थक्रियाकारित्व का सद्भाव पाया ही जाता है। मरीचिका में जलज्ञान होने पर जल के द्वारा होने वाला अभिलाष, प्रवृत्ति आदि अर्थक्रियाकारित्व का सद्भाव वहाँ रहता ही है। यहाँ ऐसी शङ्का करना भी ठीक नहीं है कि यदि वहाँ अर्थक्रियाकारित्व का सद्भाव रहता है तो उस ज्ञान को भ्रान्त क्यों कहा जाता है? उस ज्ञान को भ्रान्त कहने का कारण यह है कि वहाँ स्नानादि अर्थक्रिया नहीं होती है। अर्थक्रिया दो प्रकार की होती है- अर्थमात्र से होने वाली अर्थक्रिया और सत्यार्थ से होने वाली अर्थक्रिया। वहाँ अभिलाषादिरूप अर्थक्रिया अर्थमात्र से होती है और स्नानादिरूप अर्थक्रिया सत्यार्थ (सत्यजल) से होती है। इसलिए सत्यार्थ से होने वाली अर्थक्रिया को करने वाले अर्थ का ग्राहक जो ज्ञान है वह अभ्रान्त कहा जाता है, दूसरा नहीं। इत्यादि प्रकार से विचार करने पर यह सिद्ध होता है कि असत्ख्यातिवाद तर्कसङ्गत नहीं है।

प्रसिद्धार्थख्यातिवाद :

पूर्वपक्ष- सांख्य विपर्ययज्ञान को प्रसिद्ध अर्थ की ख्यातिरूप मानते हैं। उनका कहना है कि विपर्ययज्ञान में प्रतीतिसिद्ध अर्थ जल का ही प्रतिभास होता है। किसी प्रमाण के द्वारा प्रतीतिसिद्ध अर्थ में कोई बाधा भी नहीं आती है। करतलगत आमलक आदि का सत्त्व प्रतीति द्वारा ही सिद्ध होता है। और ऐसा प्रतिभास मरीचिका में प्रतिभासित जल में भी

होता है। यह कहना ठीक नहीं है कि मरीचिका के निकट पहुँचने पर वहाँ जल के न मिलने के कारण उत्तरकाल में उसका असत्त्व सिद्ध हो जाता है। यद्यपि उत्तरकाल में वहाँ जल का प्रतिभास नहीं होता है, किन्तु जिस काल में उसका प्रतिभास होता है उस काल में तो उसका अस्तित्व वहाँ रहता ही है। अन्यथा विद्युत् आदि का भी स्वप्रतिभास काल में अस्तित्व सिद्ध नहीं होगा। इसलिए मरीचिका में प्रसिद्ध अर्थ जल की ही ख्याति होती है। यही प्रसिद्धार्थख्यातिवाद है।

उत्तरपक्ष– सांख्यों का उक्त मत युक्तिसङ्गत नहीं है। उनका यह कथन सर्वथा असङ्गत है कि मरीचिका में प्रसिद्ध अर्थ जल की ख्याति होती है। ऐसा मानने पर तो भ्रान्त और अभ्रान्त प्रतीति की कोई व्यवस्था ही नहीं बन सकेगी तथा सब प्रकार की प्रतीति अभ्रान्त ही कहलायेगी। जब सब प्रकार की प्रतीतियों में प्रतीतिसिद्ध अर्थ की ख्याति समानरूप से होती है तो कोई प्रतीति भ्रान्त और कोई प्रतीति अभ्रान्त कैसे कही जा सकती है? यदि हम ऐसा मान लें कि पूर्वकाल में वहाँ जल था और उत्तर काल में वहाँ जल नहीं रहा तो जल के चिह्न भूमि में स्निग्धता आदि की उपलब्धि वहाँ होनी ही चाहिए, परन्तु जल की सत्ता सिद्ध करने वाला कोई भी चिह्न वहाँ उपलब्ध नहीं होता है। इस प्रकार से विचार करने पर सांख्यों का प्रसिद्धार्थख्यातिवाद निरस्त हो जाता है।

आत्मख्यातिवाद :

पूर्वपक्ष– योगाचार (बौद्ध) विपर्ययज्ञान को आत्मख्याति के रूप में मानते हैं। योगाचार विज्ञानाद्वैतवादी हैं। उनका कहना है कि विपर्ययज्ञान में आत्मा (ज्ञान) की ही ख्याति होती है, अर्थ की नहीं। वास्तव में अर्थ की तो सत्ता ही नहीं है। शुक्तिका में **'इदं रजतम्'** ऐसा जो ज्ञान होता है उसमें रजत का प्रतिभास नहीं होता है, परन्तु यह तो ज्ञान का ही आकार है जो अनादिकालीन अविद्या के कारण बाह्य में प्रतिभासित होता है। अथवा जैसा प्रतिभास हो उसको वैसा ही मानना युक्तिसङ्गत नहीं है। अन्यथा कोई भी प्रत्यय भ्रान्त नहीं रहेगा और सब प्रत्यय अभ्रान्त कहलायेंगे। अतः विपर्ययज्ञान में ज्ञान की ही ख्याति होती है, बाह्य अर्थ की नहीं। इसी का नाम आत्मख्यातिवाद है।

उत्तरपक्ष– आत्मख्यातिवादी योगाचार का उक्त मत युक्तिसङ्गत नहीं है। आत्मख्याति का समर्थन तो तभी किया जा सकता है जब पहले यह सिद्ध हो जाय कि इस विश्व में ज्ञानमात्र की ही सत्ता है, बाह्यार्थ की नहीं, परन्तु किसी प्रमाण के द्वारा विज्ञानमात्र की सत्ता सिद्ध नहीं होती है। यदि सब ज्ञान अपने-अपने आकारमात्र के ग्राहक होते हैं तो उनमें भ्रान्त और अभ्रान्त का विवेक तथा बाध्यबाधकभाव नहीं बन सकता है। यदि रजत के स्वात्मरूप का संवेदन होता है तो **'अहं रजतम्'** मैं रजत हूँ, ऐसी स्वात्मनिष्ठ संवित्ति होनी चाहिए और **'इदं रजतम्'** यह रजत है, ऐसी बहिर्निष्ठ संवित्ति नहीं होनी चाहिए। यदि ऐसा माना जाय कि अनादिकालीन अविद्या के कारण ज्ञान बाह्य अर्थ के रूप में प्रतिभासित होता है, तो फिर इसे विपरीतार्थख्याति मानने में क्या आपत्ति है? क्योंकि ज्ञान से अभिन्न रजताकार का बाह्यार्थरूप से जो संवेदन होता है वही तो विपरीतार्थख्याति या विपर्ययज्ञान है। यहाँ एक बात यह भी विचारणीय है कि आत्मख्यातिवादियों के यहाँ छेद, अभिघात आदि की प्रतीति कैसे होगी? क्योंकि ज्ञानमात्र की संवित्ति होने पर छेद, अभिघात आदि की संवित्ति सम्भव नहीं है। ऐसा तो बाह्यार्थ की संवित्ति मानने पर ही हो सकता है। इत्यादि प्रकार से विचार करने पर आत्मख्यातिवाद निरस्त हो जाता है।

अनिर्वचनीयार्थख्यातिवाद :

पूर्वपक्ष– ब्रह्माद्वैतवादी विपर्ययज्ञान को अनिर्वचनीयार्थख्याति के रूप में मानते हैं। उनका कहना है कि शुक्तिका में जिस रजताकार का प्रतिभास होता है वह अनिवर्चननीय है। अर्थात् वहाँ जो रजताकार प्रतिभासित होता है उसका सत्, असत् इत्यादिरूप से कथन नहीं किया जा सकता है। इसी बात का यहाँ विचार किया जा रहा है कि शुक्तिका में प्रतिभासमान रजताकार सत् है, असत् है अथवा उभयरूप है। उसे सत् नहीं माना जा सकता है। यदि वह सत् होता तो उत्तरकाल में 'यह रजत नहीं है किन्तु शुक्तिका है' इसप्रकार के बाधकप्रत्ययज्ञान की उत्पत्ति सम्भव नहीं है, परन्तु बाधक प्रत्यय की उत्पत्ति देखी जाती है। इस कारण वह सत् नहीं है। यदि वह असत् हो तो आकाशपुष्प की तरह उसका प्रतिभास नहीं होना चाहिए, किन्तु उसका प्रतिभास होता ही है। तब उसे असत्

कैसे माना जाय? उसे उभयरूप भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि उसे उभयरूप मानने पर दोनों पक्षों में प्रदत्त दोष समानरूप से विद्यमान रहते हैं। इस कारण शुक्तिका में प्रतिभासित रजताकार का सत्, असत् इत्यादिरूप से निर्वचन न होने के कारण उसे अनिर्वचनीयार्थ की ख्याति कहते हैं और इसी का नाम अनिर्वचनीयार्थख्यातिवाद है।

उत्तरपक्ष– अनिर्वचनीयार्थख्यातिवादी ब्रह्माद्वैतवादियों का उक्त मत समीचीन नहीं है। जो प्रतिभासित है उसे अनिर्वचनीयार्थख्याति नहीं माना जा सकता है। चाहे वह सत् हो अथवा असत् हो– दोनों ही स्थितियों में उसमें वचनीयता और प्रतिभासता रहती ही है। जो सत् है उसे सत् रूप से जाना जाता है और कहा जाता है, उसमें अनिर्वचनीयता कैसे हो सकती है? अन्यथा घटादि में भी अनिर्वचनीयता का प्रसङ्ग प्राप्त होगा। इसी प्रकार जो असत् है उसका असत्‌रूप से ज्ञान और कथन होता है। अन्यथा घटादि के अभाव में भी अनिर्वचनीयत्व का प्रसङ्ग आयेगा। यदि शुक्तिका में होने वाला रजतज्ञान अनिर्वचनीय है तो '**इदं रजतम्**' इस प्रकार का ज्ञान और कथन नहीं बन सकता है। यतः पूर्वदृष्ट रजत सादृश्य के कारण शुक्तिका में प्रतिभासित होता है, अतः उसे विपरीतार्थ की ख्याति मानना ही श्रेयस्कर है। इसप्रकार से विचार करने पर अनिर्वचनीयार्थ-ख्यातिवाद निरस्त हो जाता है।

अलौकिकार्थख्यातिवाद :

पूर्वपक्ष– कुछ लोग अलौकिकार्थख्यातिवादी हैं। उनका कथन है कि विपर्ययज्ञान में अलौकिक अर्थ की ख्याति होती है। अर्थात् विपर्ययज्ञान में ऐसे अलौकिक अर्थ की प्रतीति होती है जिसका स्वरूप न तो अन्तरङ्ग में निर्धारित है और न बहिरङ्ग में निर्धारित है। एक प्रकार से वह अर्थ अलौकिक कहलाता है और ऐसे अर्थ की विपर्ययज्ञान में ख्याति होती है। इसलिए उसे अलौकिकार्थख्यातिवाद कहते हैं।

उत्तरपक्ष– अलौकिकार्थख्यातिवादियों द्वारा विपर्ययज्ञान को अलौकिक अर्थ की ख्यातिरूप मानना सर्वथा असङ्गत है। हम यहाँ यह जानना चाहते हैं कि अर्थ की अलौकिकता क्या है? अर्थ का अन्यरूप होना, अन्य अर्थ की क्रिया करना, अन्य कारण से उत्पन्न होना अथवा

कारण से उत्पन्न न होना। इनमें अर्थ की अलौकिकता किसे कहेंगे? यहाँ प्रथमपक्ष मानना ठीक नहीं है। क्योंकि जैसा सत्य पदार्थ का रूप प्रतिभासित होता है वैसा ही रूप असत्य का भी प्रतिभासित होता है। किसी पदार्थ में अन्यरूप का अवभास मानने पर तो आपने विपरीतार्थख्याति का ही नाम अलौकिकार्थ कर दिया। यहाँ केवल नाम में भेद हुआ, अर्थ में नहीं। द्वितीय पक्ष स्वीकार करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि कोई पदार्थ अन्य अर्थ की क्रिया करने लगे तो एक कारण से ही सब पदार्थों की उत्पत्ति हो जायेगी। तब भिन्न-भिन्न कारणों की कल्पना करना व्यर्थ ही है। इसी प्रकार अन्य कारण से उत्पन्न होने रूप तृतीय विकल्प भी निरस्त हो जाता है, क्योंकि यदि अन्य कारण से अन्य वस्तु उत्पन्न होने लगे तो प्रतिनियत कारण से प्रतिनियत वस्तु की व्यवस्था ही नहीं बनेगी। अब यदि चतुर्थ विकल्प- कारण से उत्पन्न न होने का नाम अलौकिकता माना जाय तो यहाँ यह प्रश्न होता है कि ऐसा अर्थ सद्रूप है या असद्रूप? उसे सद्रूप मानने पर वह नित्य हो जायेगा और यदि वह असद्रूप है तो '**इदं रजतम्**' ऐसी विधिरूप प्रतीति होने का कारण क्या है? यदि किसी विभ्रम के कारण असद्रूप अर्थ की प्रतीति सद्रूप से होती है तो ऐसी स्थिति में वह विपरीतार्थ की ख्याति ही हुई। इत्यादिप्रकार से विचार करने पर अलौकिकार्थख्यातिवाद निरस्त हो जाता है।

विपरीतार्थख्यातिरूप विपर्ययज्ञान की सिद्धि :

पूर्वपक्ष- यहाँ कोई कहता है कि जब हम विपरीतार्थ की ख्याति का विचार करते हैं तो वह भी नहीं बनती है। यहाँ प्रश्न होता है कि विपरीतार्थख्याति का आलम्बन क्या है- रजत अथवा शुक्तिका? यदि रजत उसका आलम्बन है तो वह असत्ख्याति होगी, विपरीतख्याति नहीं, क्योंकि वहाँ असत् रजत का प्रतिभास होता है। उसका आलम्बन शुक्तिका भी नहीं है, क्योंकि वहाँ जो ज्ञान होता है वह रजताकार होता है। शुक्तिका को रजताकार प्रतीति का आलम्बन मानना ठीक नहीं है, क्योंकि यदि उसका आलम्बन शुक्तिका है तो उस ज्ञान को भ्रान्त कैसे कह सकते हैं? इस प्रकार विपरीतार्थख्याति की सिद्धि भी नहीं होती है।

उत्तरपक्ष- हम (जैन) विपर्ययज्ञान को विपरीतार्थ की ख्यातिरूप मानते हैं और ऐसा मानना सर्वथा तर्कसङ्गत है। नैयायिक-वैशेषिक भी

ऐसा ही मानते हैं। अभी असत्ख्याति, आत्मख्याति आदि कई ख्यातियों पर विचार किया गया है, परन्तु पूर्वोक्त कोई भी ख्याति युक्तिसङ्गत प्रतीत नहीं होती है। अन्त में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हमको शुक्तिका आदि में जो रजतादि की प्रतीति होती है उसका नाम विपरीतार्थख्याति है और उसी का दूसरा नाम विर्ययज्ञान है। इसका तात्पर्य यह है कि विपर्ययज्ञान में विपरीत अर्थ की ख्याति होती है। शुक्तिका के विपरीत है रजत और शुक्तिका में जो रजत की प्रतीति होती है वह दोनों में सादृश्य के कारण होती है। विपरीतख्याति का आलम्बन रजत ही है, शुक्तिका नहीं। यहाँ विज्ञान से भिन्न अर्थ का प्रतिभास होने के कारण इसे असत्ख्याति या आत्मख्याति नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि स्मृति के द्वारा उपस्थापित रजत शुक्तिका के सादृश्य के कारण इस प्रतीति का आलम्बन होती है। अथवा रजताकार को धारण करने वाली शुक्तिका इस प्रतीति का आलम्बन होती है। दोनों ही स्थितियों में शुक्तिका में विपरीत अर्थ रजत की ही ख्याति होती है। इसी का नाम विपरीतार्थख्याति है और विपर्ययज्ञान विपरीत अर्थ की ख्यातिरूप होता है। यही सिद्धान्त पक्ष है, जो प्रमाणसङ्गत है।

प्रत्यक्षैकप्रमाणवाद :

पूर्वपक्ष– पहले बतलाया जा चुका है कि प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से प्रमाण के दो भेद होते हैं, किन्तु चार्वाकदर्शन में केवल प्रत्यक्ष प्रमाण का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। उन्होंने अनुमान आदि अन्य किसी प्रमाण को नहीं माना है। प्रत्यक्ष में प्रमाणता की सिद्धि इस प्रकार की गई है–

'प्रत्यक्षमेव प्रमाणम् अगौणत्वात्, नानुमानं तद्विपर्ययात्'

अर्थात्– प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, अगौण होने से, अनुमान प्रमाण नहीं है, गौण होने से। अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक होता है। इसलिए प्रत्यक्ष को अगौण और अनुमान को गौण कहा गया है। यहाँ एक बात यह भी द्रष्टव्य है कि प्रमाण अर्थ का निश्चायक होता है, परन्तु अनुमान अर्थ का निश्चायक नहीं है। प्रतीयमान अर्थ से अर्थान्तर की प्रतीति का नाम अनुमान है। जैसे धूम से अग्नि की प्रतीति का होना अनुमान है। यहाँ प्रश्न यह है

कि प्रतीयमान अर्थ अर्थान्तर से सम्बद्ध होकर अर्थान्तर का गमक होता है या असम्बद्ध होकर? वह असम्बद्ध होकर अर्थान्तर का गमक नहीं हो सकता है। यदि ऐसा हो तो कोई भी अर्थ किसी भी अर्थ का गमक हो जायेगा। अब यदि सम्बद्ध अर्थ को अर्थान्तर का गमक माना जाता है तो उसके सम्बन्ध की सिद्धि किस प्रमाण से होगी- प्रत्यक्ष से या अनुमान से? प्रत्यक्ष से तो सम्बन्ध की सिद्धि हो नहीं सकती है, क्योंकि प्रत्यक्ष नियतदेश और नियतकालवर्ती होता है और अनुमान में दूसरे अर्थ के साथ सम्बन्ध का ग्रहण सार्वदेशिक और सार्वकालिक होता है। अर्थात् साधन की साध्य के साथ व्याप्ति का ग्रहण सार्वत्रिक और सार्वकालिक होता है। अनुमान से भी व्याप्तिरूप सम्बन्ध का ग्रहण सम्भव नहीं है। अनुमान से व्याप्ति का ग्रहण मानने पर उस अनुमान में अन्य अनुमान से व्याप्ति का ग्रहण मानना पड़ेगा तथा अन्य अनुमान में उससे भिन्न दूसरे अनुमान से व्याप्ति का ग्रहण होगा। इस प्रकार अनवस्था दोष का प्रसङ्ग प्राप्त होता है।

उपर्युक्त कथन का निष्कर्ष यह है कि अनुमान व्याप्तिपूर्वक होता है और साध्य-साधन में व्याप्ति का ग्रहण न तो प्रत्यक्ष से हो सकता है और न अनुमान से। व्याप्तिग्रहण के अभाव में अनुमान की उत्पत्ति ही सम्भव नहीं है तब उसमें प्रमाणता कहाँ से आयेगी? अतः यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि अगौण (मुख्य) होने से प्रत्यक्ष प्रमाण है और गौण होने से अनुमान अप्रमाण है। इस प्रकार चार्वाक ने प्रत्यक्ष में प्रमाणता और अनुमान में अप्रमाणता सिद्ध की है। इसी का नाम प्रत्यक्षैकप्रमाणवाद है।

उत्तरपक्ष- प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है तथा अनुमान अप्रमाण है, चार्वाक का ऐसा कथन अविचारित रमणीय है। प्रमाण का लक्षण है- अविसंवादकत्व और यह लक्षण अनुमान में भी पाया जाता है। तब प्रत्यक्ष को ही प्रमाण कहना कहाँ तक उचित है? प्रत्यक्ष में जो प्रामाण्य है वह अविसंवादकता के कारण ही है। अनुमान में भी ऐसा प्रामाण्य पाया ही जाता है। अतः उसे प्रमाण मानने में कोई बाधा नहीं है।

चार्वाक ने कहा है कि अगौण होने के कारण प्रत्यक्ष प्रमाण है और गौण होने के कारण अनुमान अप्रमाण है। यहाँ हम यह जानना चाहते हैं कि अनुमान गौण क्यों है- अविशद स्वभाव के कारण, स्वार्थनिश्चय

में परापेक्ष होने से, विसंवादक होने से अथवा प्रत्यक्षपूर्वक होने से? अविशद स्वभाव के कारण अनुमान को गौण कहना ठीक नहीं है, क्योंकि प्रमाण का लक्षण वैशद्य नहीं है। यदि प्रमाण का लक्षण वैशद्य होता तो यह कहा जा सकता था कि वैशद्य न होने के कारण अनुमान अप्रमाण है। इसके विपरीत द्विचन्द्रादि के ज्ञान में वैशद्य होने पर भी प्रामाण्य नहीं पाया जाता है। अनुमान स्वार्थनिश्चय में परापेक्ष भी नहीं होता है। वह तो प्रत्यक्ष की तरह परनिरपेक्ष होकर ही स्वार्थ का निश्चय करता है। अनुमान को विसंवादक कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि सम्यक् अनुमान के द्वारा ज्ञात वस्तु में किसी प्रकार का विसंवाद नहीं देखा जाता है। अनुमानाभास में विसंवाद अवश्य पाया जाता है, इस कारण उसको अप्रमाण मानना सर्वथा उचित है। अनुमान को प्रत्यक्षपूर्वक मानना भी गलत है, क्योंकि अनुमान की उत्पत्ति तर्क प्रमाण पूर्वक होती है, प्रत्यक्षपूर्वक नहीं। मान लिया जाय कि अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक होता है तो भी इससे अनुमान को गौण नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि कहीं प्रत्यक्ष भी अनुमानपूर्वक देखा जाता है और तब प्रत्यक्ष को भी गौण मानना पड़ेगा। इस प्रकार किसी भी दृष्टि से अनुमान में गौणत्व सिद्ध नहीं होता है। यथार्थ बात यह है कि साध्य और साधन में व्याप्तिग्रहणपूर्वक ही अनुमान होता है और व्याप्ति का ग्रहण न तो प्रत्यक्ष से होता है और न अनुमान से, किन्तु तर्क नामक प्रमाण से व्याप्ति का ग्रहण होता है।

प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है, ऐसा मानने वालों से पूछा जा सकता हैं कि प्रत्यक्षमात्र प्रमाण है अथवा प्रत्यक्षविशेष? प्रथम पक्ष में द्विचन्द्रादि के प्रत्यक्ष में भी प्रामाण्य का प्रसङ्ग प्राप्त होगा, परन्तु द्विचन्द्रादि प्रत्यक्ष को कोई भी प्रमाण नहीं मानता है। दूसरी बात यह कि चन्द्र तो एक है और एक चन्द्र में होने वाला द्विचन्द्र का ज्ञान प्रमाण कैसे हो सकता है? अब यदि प्रत्यक्षविशेष को प्रमाण माना जाय तो यहाँ जिज्ञासा होती है कि प्रत्यक्ष का विशेष क्या है? यदि यथार्थता का नाम विशेष है तो यह मानना पड़ेगा कि यथार्थ प्रत्यक्ष प्रमाण है और अयथार्थ प्रत्यक्ष अप्रमाण है। ऐसी स्थिति में प्रत्यक्ष में यथार्थता और अयथार्थता का निश्चय किसी अन्य प्रमाण से मानना पड़ेगा। और तब प्रमाणान्तर का सद्भाव सिद्ध हो जायेगा। चार्वाक अनुमान प्रमाण का निषेध करते हैं। इस विषय में हमारी जिज्ञासा यह है कि अनुमान के निषेध करने का कारण क्या

है? क्या अनुमान का कोई स्वरूप नहीं है अथवा उसका कोई निर्दोष लक्षण नहीं है? अनुमान का स्वरूप तो सर्वलोक प्रसिद्ध है। अबला, बाल-गोपाल आदि सामान्यजन भी पर्वत में धूम को देखकर यह जान लेते हैं कि वहाँ अग्नि है। इसलिए अनुमान के स्वरूप का अपलाप नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार **'साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानम्'** साधन से होने वाले साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं, ऐसा अनुमान का निर्दोष लक्षण भी विद्यमान है। ऐसी स्थिति में अनुमान प्रमाण का निषेध करना कहाँ तक उचित है? हम कह सकते हैं कि जिस प्रकार प्रत्यक्ष अपने विषय में अविसंवादक होने से प्रमाण है, उसी प्रकार अनुमान भी अपने विषय में अविसंवादक होने के कारण प्रमाण है।

चार्वाक प्रत्यक्ष में प्रमाणत्व की सिद्धि, अन्य प्राणी में बुद्धि की सिद्धि और परलोक का निषेध करते हैं। परन्तु ये सब बातें अनुमान प्रमाण का सद्भाव मानने पर ही बन सकती हैं। इस विषय में बौद्धदार्शनिक धर्मकीर्ति का कथन द्रष्टव्य है–

प्रमाणेतरसामान्यस्थितेरन्यधियो गतेः।
प्रमाणान्तरसद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित्।।

अर्थात् प्रमाण और अप्रमाण की सामान्य व्यवस्था होने से, पर की बुद्धि का ज्ञान होने से और परलोक आदि का निषेध करने से अनुमान का सद्भाव सिद्ध होता है। इस कथन का विशेषार्थ इस प्रकार है–

चार्वाक कहता है कि प्रत्यक्ष प्रमाण है, अविसंवादक होने से तथा अनुमान अप्रमाण है, विसंवादक होने से। यहाँ स्वभावहेतुजन्य अनुमान से प्रत्यक्ष को प्रमाण और अनुमान को अप्रमाण बतलाया गया है। इससे स्पष्ट है कि प्रमाण और अप्रमाण की व्यवस्था करने के लिए चार्वाक को अनुमान प्रमाण मानना आवश्यक है। अन्य प्राणी में बुद्धि है इस बात का ज्ञान बुद्धि के कार्य, व्यापार, व्याहार आदि को देखकर किया जाता है। यह कार्यहेतुजन्य अनुमान है। चार्वाक अन्य पुरुष में बुद्धि के सद्भाव का ज्ञान इसी अनुमान से करता है। चार्वाक परलोक आदि का निषेध करता है। यह निषेध अनुपलब्धिहेतुजन्य अनुमान के द्वारा किया जाता है। बौद्धन्याय में हेतु के तीन भेद हैं– स्वभाव हेतु, कार्य

हेतु और अनुपलब्धि हेतु। उपरिलिखित कारिका में यह बतलाया गया है कि चार्वाक को उक्त तीनों हेतुजन्य अनुमानों को मानना पड़ता है। इनके बिना उसका काम नहीं चल सकता है। इस प्रकार से बौद्धों ने चार्वाक के लिए अनुमान प्रमाण की सिद्धि की है जो जैनों को भी अभीष्ट है। इत्यादि प्रकार से विचार करने पर चार्वाक द्वारा अभिमत प्रत्यक्षैकप्रमाणवाद निरस्त हो जाता है।

वैशद्य और अवैशद्य का स्वरूप :

अनुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम्।
तद्वैशद्यं मतं बुद्धेरवैशद्यमतः परम्।।4।।

अनुमान आदि का अतिरेक करके पदार्थों में जो विशेष प्रतिभास होता है वह बुद्धि का वैशद्य कहलाता है और इससे भिन्न जो प्रतिभास है उसे अवैशद्य कहते हैं।

प्रत्यक्ष का लक्षण वैशद्य है और परोक्ष का लक्षण अवैशद्य है। अनुमान आदि परोक्ष हैं। इनमें पदार्थों का प्रतिभास सामान्यरूप से होता है, परन्तु प्रत्यक्ष में पदार्थों का जो प्रतिभास होता है वह अनुमान आदि परोक्ष प्रमाणों से अतिरिक्त विशेषता को लिए हुए होता है। अर्थात् प्रत्यक्ष में पदार्थों के वर्ण, संस्थान (आकार) आदि विशेष रूपों का प्रतिभास होता है। परोक्ष प्रमाण के द्वारा अर्थ का सामान्य प्रतिभास होता है और प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा उसका विशेष प्रतिभास होता है। अनुमान आदि में नहीं पाये जाने वाले विशेष प्रतिभास को वैशद्य कहते हैं और विशेष प्रतिभास रहित केवल सामान्य-प्रतिभास को अवैशद्य कहते हैं।

चक्षुःसन्निकर्षवाद :

यहाँ इस बात पर विचार किया गया है कि चक्षु का अर्थ के साथ सन्निकर्ष होता है या नहीं? इस विषय में जैनदर्शन की मान्यता है कि चक्षु इन्द्रिय का अर्थ के साथ सन्निकर्ष नहीं होता है। चक्षु प्राप्यकारी नहीं है, अपितु अप्राप्यकारी है। चक्षु अन्य इन्द्रियों की तरह अर्थ को छूकर नहीं जानती है, अपितु अपने स्थान में स्थित रहकर ही अर्थ को जान लेती है। इसके विपरीत न्यायदर्शन की मान्यता है कि चक्षु प्राप्यकारी

है और वह स्पर्शन आदि अन्य इन्द्रियों की तरह अर्थ को प्राप्त करके ही जानती है।

पूर्वपक्ष– नैयायिक कहते हैं कि चक्षु को अप्राप्यकारी मानना प्रमाण-विरुद्ध है। उनका कहना है कि चक्षु का अर्थ के साथ सन्निकर्ष होता है। वे इसकी सिद्धि अनुमान प्रमाण से करते हैं। वह अनुमान इस प्रकार है–

चक्षुः प्राप्तार्थप्रकाशकं बाह्येन्द्रियत्वात् स्पर्शनेन्द्रियादिवत्।

अर्थात् चक्षु अर्थ को प्राप्तकर (छूकर) ही जानती है, क्योंकि वह बाह्येन्द्रिय है। जैसे कि स्पर्शन आदि इन्द्रियाँ। यहाँ बाह्येन्द्रियत्व हेतु से चक्षु में प्राप्यकारित्व सिद्ध किया गया है। इस हेतु में असिद्ध आदि किसी दोष की सम्भावना नहीं है। अतः यहाँ निर्दोष हेतु से साध्य की सिद्धि की गई है।

यहाँ कोई शङ्का कर सकता है कि चक्षु अपने अधिष्ठानदेश में ही रहती है, वह अन्यत्र नहीं जाती है और अधिष्ठान के बन्द कर देने पर वह विषय का ग्रहण नहीं करती है। जैसे अधिष्ठान के बन्द कर देने पर घ्राण गन्ध का ग्रहण नहीं करती है, वैसे ही चक्षु भी अधिष्ठान के बन्द कर देने पर रूप का ग्रहण नहीं करती है। इस कारण चक्षु अधिष्ठानदेश में ही रहकर अपने विषय को ग्रहण करने के कारण प्राप्यकारी कैसे हो सकती है? किन्तु उक्त प्रकार की शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि चक्षु का अधिष्ठान गोलकरूप है और उससे निकली हुई रश्मियाँ प्रदीप से निकली हुई रश्मियों की तरह अर्थ के देश तक फैल जाती हैं। अतः चक्षु से निकली हुई किरणें अर्थ को ग्रहण करती हैं और अधिष्ठान के बन्द कर देने पर चक्षु अर्थ को ग्रहण नहीं करती है। इस कारण चक्षु में प्राप्यकारित्व का निषेध नहीं किया जा सकता है। घ्राणादि में भी यही बात देखी जाती है, परन्तु इतने मात्र से घ्राणादि में प्राप्यकारित्व का निषेध नहीं किया जाता है। अर्थात् अधिष्ठान के बन्द कर देने पर घ्राणादि अपने विषय का ग्रहण नहीं करती हैं, फिर भी वे प्राप्यकारी ही कहलाती हैं।

चक्षु में किरणें विद्यमान रहती हैं इस बात की सिद्धि भी अनुमान

प्रमाण से इस प्रकार होती है- चक्षु रश्मिवान् है, तैजस् होने से, प्रदीप की तरह। चक्षु में तैजसत्व की सिद्धि इस तरह होती है- यतः चक्षु रूपादि के मध्य में रूप की ही प्रकाशक होती है अतः वह तैजस् है। यहाँ कोई शङ्का कर सकता है कि यदि चक्षु प्राप्यकारी है तो इतनी छोटी चक्षु महान् पर्वत आदि की प्रकाशक कैसे होगी? इसका उत्तर यह है कि धत्तूरकपुष्प की तरह प्रारम्भ में चक्षु की किरणें सूक्ष्म होने पर भी अन्त में वे महत्त्व गुण से युक्त हो जाती हैं। वे आलोक के साथ मिलकर अर्थपर्यन्त बढ़ती जाती हैं। इस कारण वे महान् पर्वत आदि की प्रकाशक हो जाती हैं। चक्षु को प्राप्यकारी मानने में एक शङ्का यह भी की जाती है कि यदि चक्षु प्राप्यकारी है तो शाखा और चन्द्रमा का ग्रहण एक साथ कैसे हो सकता है? ऐसी शङ्का करना भी ठीक नहीं है। क्योंकि शाखा और चन्द्रमा का ग्रहण एक साथ नहीं होता है। सबसे पहले सन्निकट पदार्थ शाखा का ग्रहण होता है और तदनन्तर दूरवर्ती चन्द्रमा का ग्रहण होता है, परन्तु एक साथ दोनों को ग्रहण करने की भ्रान्ति उसी प्रकार हो जाती है जिस प्रकार शत उत्पलपत्रों को एक साथ भेदन करने की भ्रान्ति हो जाती है। शत उत्पलपत्रों का सुई से भेदन एक साथ न होकर क्रमशः होता है, परन्तु देखने में ऐसा प्रतीत होता है कि उनका भेदन एक साथ हो गया। यही बात शाखा और चन्द्रमा के एक साथ ग्रहण करने में भी समझनी चाहिए। यहाँ एक बात और द्रष्टव्य है कि यदि चक्षु अप्राप्यकारी है तो जैसे वह कुड्य (दीवाल) आदि से अव्यवहित अर्थ का ग्रहण करती है, वैसे ही कुड्यादि से व्यवहित घटादि का तथा अनेक योजनशतव्यवहित मेरु आदि का भी उसे ग्रहण करना चाहिए, किन्तु ऐसा होता नहीं है। इससे यही सिद्ध होता है कि चक्षु प्राप्यकारी है।

उत्तरपक्ष- नैयायिकों ने चक्षु को प्राप्यकारी माना है और चक्षु में प्राप्यकारित्व सिद्ध करने के लिए जो अनुमान दिया है, उसमें बाह्येन्द्रियत्व को हेतु बतलाया है। यहाँ यह जिज्ञासा है कि बाह्येन्द्रियत्व क्या है? क्या बाह्य अर्थ के ग्रहण के प्रति आभिमुख्य का नाम बाह्येन्द्रियत्व है? अथवा बहिर्देश में अवस्थायित्व का नाम बाह्येन्द्रियत्व है? प्रथम पक्ष में बाह्येन्द्रियत्व हेतु मन के द्वारा अनैकान्तिक हो जाता है। मन अप्राप्यकारी है। अप्राप्यकारी होने पर भी मन में बाह्य अर्थ के ग्रहण के प्रति आभिमुख्य

पाया जाता है। इस कारण उसमें भी बाह्येन्द्रिय का सद्भाव सिद्ध होता है। द्वितीय पक्ष में दो विकल्प होते हैं कि आप (नैयायिक) रश्मिरूप अथवा गोलकस्वभावरूप चक्षु में से किस चक्षु में बहिर्देश अवस्थायित्व मानते हैं? प्रथम विकल्प–रश्मिरूप चक्षु का बहिर्देश में अवस्थायित्व मानना युक्तिसङ्गत नहीं है। क्योंकि रश्मिरूप चक्षु बहिर्देश के आश्रित न रहकर गोलकान्तर्गत तैजस द्रव्य के आश्रित ही रहता है। तब उसमें बहिर्देश अवस्थायित्व कैसे बनेगा? चक्षु रश्मिरूप है, यह बात किसी प्रमाण से सिद्ध भी नहीं होती है। अब यदि गोलकरूप चक्षु में बहिर्देश अवस्थायित्व माना जाय तो ऐसा मानने में प्रत्यक्ष से बाधा आती है, क्योंकि गोलकरूप चक्षु अर्थदेश के साथ सम्बद्ध न होकर शरीरप्रदेश में ही वर्तमान रहती है। यदि गोलकरूप चक्षु अर्थदेश में चली जाय तो गोलकरहित नयनपक्ष्म का उपलम्भ (ग्रहण) होना चाहिए, किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता है। इससे यही सिद्ध होता है गोलकरूप चक्षु का बहिर्देश में गमन नहीं होता है। नैयायिकों ने अनुमान प्रमाण से चक्षु को रश्मिवान् सिद्ध किया है, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि रश्मिरूप चक्षु की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं होती है। प्रत्यक्ष से जिस प्रकार अर्थ की प्रतीति होती है उस प्रकार रश्मियों की प्रतीति नहीं होती। यदि प्रत्यक्ष से रश्मियों की प्रतीति होती हो तो इस विषय में किसी प्रकार का विवाद ही नहीं रहता। अनुमान से रश्मियों की सिद्धि मानने में भी अन्योन्याश्रय और अनवस्था आदि अनेक दोष आते हैं। चक्षु को रश्मिवान् मानने पर चक्षु के द्वारा अर्थ का प्रकाशन करने में आलोक की अपेक्षा नहीं होनी चाहिए। जो रश्मिवान् होता है उसे अर्थ के प्रकाशन में प्रदीप की तरह आलोक की अपेक्षा नहीं होती है।

नैयायिकों ने चक्षु को तैजस माना है वह भी गलत है। प्रत्यक्ष से भास्वररूप और उष्णस्पर्शरहित चक्षु की प्रतीति सर्वजन प्रसिद्ध है। तम का प्रकाशक होने से भी चक्षु तैजस सिद्ध नहीं होती है। जो तैजस होता है वह तम का प्रकाशक नहीं होता है, जैसे आलोक। यहाँ नैयायिक कह सकता है कि मार्जार आदि के चक्षु में तैजसत्व की प्रतीति होती ही है। इससे चक्षु में तैजसत्व की सिद्धि हो जाती है। नैयायिक का उक्त कथन समीचीन नहीं है। क्योंकि मार्जार के नेत्र का दृष्टान्त देकर सब प्राणियों के नेत्रों में तैजसत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता है, क्योंकि

गौ आदि के नेत्रों में कृष्णत्व को देखकर तथा नर-नारियों के नेत्रों में धावल्य को देखकर सब के नेत्रों को भी वैसा ही मानना चाहिए। पूर्वपक्ष में कहा गया है कि रूपादि के मध्य में रूप का ही प्रकाशक होने से चक्षु तैजस सिद्ध होता है। यहाँ चक्षु को तैजस सिद्ध करने में रूप के प्रकाशकत्व को हेतु बतलाया गया है, किन्तु यह हेतु जल, अञ्जन, चन्द्र, माणिक्य आदि के द्वारा अनैकान्तिक हो जाता है। जलादि भी तो रूप के प्रकाशक होते हैं, परन्तु वे तैजस नहीं हैं। इस प्रकार चक्षु में किसी प्रमाण से तैजसत्व की सिद्धि नहीं होने के कारण उसमें रश्मिवत्व की सिद्धि कैसे हो सकती है? जिससे चक्षु को प्राप्यकारी माना जा सके।

चक्षु को प्राप्यकारी मानने में एक प्रश्न यह भी होता है कि क्या विषय चक्षु के देश में जाता है अथवा चक्षु विषय के देश में जाती है? प्रथम पक्ष में प्रत्यक्ष से बाधा आती है, क्योंकि चक्षु प्रदेश में घटादि अथवा पर्वतादि विषय का आगमन न तो किसी ने देखा है और न सुना है। चक्षु विषय के प्रदेश में जाती है ऐसा मानने में भी प्रत्यक्ष से विरोध आता है। हमें तो यही अनुभव होता है कि चक्षु स्वदेश में स्थित रहकर ही अपने विषय का ज्ञान करती है। जो लोग ऐसा मानते हैं कि चक्षु अपने स्थान से बाहर जाकर अर्थ के साथ सम्बन्ध करती है तो उनके यहाँ काँच, अभ्रपटल, स्फटिक आदि के द्वारा व्यवहित अर्थों का चक्षु से उपलम्भ कैसे होगा? क्योंकि चक्षु के वहाँ जाने पर काँचादि के द्वारा उसका प्रतिबन्ध (रुकावट) हो जाना अवश्यम्भावी है। यदि चक्षु प्राप्यकारी है तो उसे आँख में लगे हुए अञ्जन का प्रकाशक भी होना चाहिए। जो दूरवर्ती अर्थ को जानने में समर्थ है उससे निकटवर्ती अर्थ का ज्ञान क्यों नहीं होगा? अर्थात् अवश्य होगा, किन्तु ऐसा होता नहीं है। चक्षु को प्राप्यकारी मानने में एक हानि यह भी है कि संशय और विपर्यय– इन दोनों ज्ञानों की उपपत्ति नहीं बन सकेगी, क्योंकि संशय और विपर्ययज्ञान विशेषों की अनुपलब्धि के कारण होते हैं। परन्तु प्राप्यकारी चक्षु सामान्य की तरह सन्निकृष्ट विशेषों का भी उपलम्भ करेगी ही। ऐसी स्थिति में कहीं भी संशय और विपर्यय ज्ञान नहीं होंगे। यहाँ कोई कह सकता है कि यदि चक्षु अप्राप्यकारी है तो उसके द्वारा सब पदार्थों का ग्रहण क्यों नहीं होता है? इसका उत्तर यह है कि अप्राप्यकारी चक्षु अयस्कान्त की तरह योग्य देश में स्थित पदार्थों का ही ग्रहण करती

है, सबका नहीं।

उपर्युक्त कथन का निष्कर्ष यह है कि न तो चक्षु बाहर जाकर अर्थ के साथ सन्निकर्ष करती है और न अर्थ चक्षु के पास आकर चक्षु के साथ सन्निकर्ष करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि चक्षु प्राप्तार्थप्रकाशक न होकर अप्राप्तार्थप्रकाशक है। इस प्रकार नैयायिकों का चक्षुसन्निकर्षवाद निराकृत हो जाता है।

श्रोत्र में प्राप्यकारित्व की सिद्धि :

पूर्वपक्ष– बौद्धों की मान्यता है कि चक्षु की तरह श्रोत्र भी अप्राप्यकारी है। बौद्ध चक्षु और श्रोत्र दोनों को अप्राप्यकारी मानते हैं। उनका कहना है कि श्रोत्र को प्राप्यकारी मानने पर शब्द में दूरादि का व्यवहार नहीं बन सकेगा, परन्तु यह शब्द दूर है, यह शब्द निकट है, इत्यादि व्यवहार देखा जाता है। इससे श्रोत्र में अप्राप्यकारित्व सिद्ध होता है। इस विषय में अनुमान प्रयोग भी द्रष्टव्य है।

'शब्दः स्वग्राहकेण असन्निकृष्ट एव गृह्यते, दूरादिप्रत्ययग्राह्यत्वात्, पादपादिवत्।'

अर्थात् श्रोत्र के द्वारा असन्निकृष्ट शब्द का ही ग्रहण होता है, दूरादिप्रत्ययग्राह्य होने से, पादपादि की तरह। जैसे चक्षु के द्वारा असन्निकृष्ट (दूरवर्ती) पादप का ग्रहण होता है, वैसे ही श्रोत्र के द्वारा असन्निकृष्ट शब्द का ग्रहण होता है। यहाँ ऐसी शङ्का करना ठीक नहीं है कि श्रोत्र के द्वारा असन्निकृष्ट शब्द का ग्रहण करने पर तीव्र शब्द के द्वारा श्रोत्र का अभिघात कैसे होता है? इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार चक्षु के द्वारा असन्निकृष्ट भास्वररूप का ग्रहण करने पर चक्षु का अभिघात देखा जाता है, वैसे ही शब्द के द्वारा श्रोत्र का अभिघात हो जाता है। दोनों में विशेषता यह है कि जैसे भास्वररूप में तेजस्विता चक्षु के अभिघात का कारण होती है वैसे ही शब्दों की तीव्रता श्रोत्र के अभिघात का हेतु है। इस प्रकार बौद्धों ने शब्द में अप्राप्यकारित्व सिद्ध किया है।

उत्तरपक्ष– बौद्धों की उक्त मान्यता समीचीन नहीं है। उनका यह कथन ठीक नहीं है कि श्रोत्र के द्वारा असन्निकृष्ट शब्द का ग्रहण होता

है। ऐसा नहीं है कि श्रोत्र के द्वारा सदा असन्निकृष्ट शब्द का ही ग्रहण होता हो, अपितु सन्निकृष्ट शब्द का भी ग्रहण होता है। श्रोत्र के द्वारा कर्णशष्कुली के अन्तःप्रविष्ट सन्निकृष्ट मशकादि के शब्द का ग्रहण देखा ही जाता है। यह कहना भी ठीक नहीं है कि यदि शब्द प्राप्यकारी है तो उसके द्वारा दूरादि प्रत्यय कैसे होता है? क्योंकि प्राप्यकारी होने पर भी श्रोत्र के द्वारा शब्द विषयक दूरादि प्रत्यय होने में कोई विरोध नहीं है। जैसे कि नासिका के द्वारा सन्निकृष्ण गन्ध का ग्रहण करने पर भी उसमें दूरादि प्रत्यय बन ही जाते हैं। सन्निकृष्ट गन्ध के ग्रहण करने पर भी उसमें दूर-निकट आदि का व्यवहार होता ही है। यह गन्ध दूर है, यह गन्ध निकट है, इत्यादि व्यवहार लोकप्रसिद्ध है। इसी प्रकार शब्द में भी दूर-निकट आदि शब्द-व्यवहार बन जाता है।

यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि शब्द में जो दूरादिप्रत्ययग्राह्यत्व पाया जाता है वह साकारज्ञान की अपेक्षा से है अथवा निराकारज्ञान की अपेक्षा से। यहाँ प्रथम पक्ष मानना उचित नहीं है, क्योंकि स्वज्ञानगत शब्दाकार के ग्रहण करने पर शब्द में दूर-निकट आदि का व्यवहार नहीं बन सकता है। साकारज्ञानवादी के मत में दूरादि ज्ञानवेद्य नहीं होता है। वहाँ ज्ञान का जो वेद्य है वह तो ज्ञान का आकारमात्र है, दूरादि नहीं। दूरादि तो ज्ञान के आकार से अभिन्न होता है। जिस प्रकार अन्धव्यक्ति में दूर और निकट का वास्तविक व्यवहार सम्भव नहीं है, उसी प्रकार साकारज्ञानवादी के यहाँ भी दूरादि का व्यवहार सम्भव नहीं हो सकता है। इतना अवश्य है कि जो निराकार ज्ञानवादी है वह 'यह दूर है' और 'यह निकट है', ऐसा कह सकता है, क्योंकि उसके मत में ज्ञान भिन्न देश में स्थित अर्थ को जानता है। देखा जाता है कि घ्राणेन्द्रिय द्वारा सन्निकृष्ट गन्ध का ग्रहण होने पर भी गन्ध के मूल कारण के दूर होने से उसमें दूरादि का व्यवहार हो जाता है। उसी प्रकार कर्णशष्कुली में प्रविष्ट शब्द के ग्रहण करने पर शब्द के मूल कारण के दूर होने से उसमें भी दूरादि के व्यवहार के होने में कोई बाधा नहीं है।

यहाँ यह जान लेने की जिज्ञासा है कि शब्द में दूरादि स्वभाव स्वरूप की अपेक्षा से है अथवा दूरादिदेश से आने के कारण। स्वरूप से दूरादि स्वभाव मानना तो ठीक नहीं है। ऐसा मानने पर निकटवर्ती शब्द में

भी ऐसा व्यवहार होना चाहिए। अब यदि दूरादिदेश से आने के कारण शब्द में दूरादि का व्यवहार माना जाता है तो ऐसा मानना उचित ही है। दूरादि देश से आगत गन्ध या शब्द अपनी-अपनी इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष होने पर योग्यता-विशेष के कारण दूर या निकट प्रतीत होता है। एक बात यह भी जानने योग्य है कि शब्द में देश की अपेक्षा से जो दूरत्व है वह देश के ग्रहण करने पर ज्ञात होता है अथवा देश के ग्रहण के बिना ही? देशग्रहण के बिना तो दूरत्व का ज्ञान हो नहीं सकता है, क्योंकि यहाँ देश विशेषण है और विशेषण के ज्ञान के बिना विशेष्य का ज्ञान सम्भव नहीं है। जैसे कि विशेषण दण्ड के ग्रहण के बिना विशेष्य दण्डी का ज्ञान नहीं होता है। अतः यह मानना आवश्यक है कि शब्द में दूरादि का प्रत्यय दूर देशादि के ग्रहण करने पर ही होता है। देखा जाता है कि पादप आदि में दूरादि का प्रत्यय दूरादि देश के ग्रहण करने पर ही होता है। अतः जिस प्रकार गतिपरिणत गन्ध में दूरादिप्रत्यय होता है उसी प्रकार गतिपरिणत शब्द में भी दूरादिप्रत्यय समझना चाहिए। इस प्रकार नासिका की तरह श्रोत्र में भी प्राप्यकारित्व सिद्ध होता है। अतः यह निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि श्रोत्र अप्राप्यकारी नहीं है, अपितु प्राप्यकारी है।

सर्वज्ञत्ववाद :

पूर्वपक्ष– यहाँ विचारणीय विषय यह है कि इस संसार में कोई सर्वज्ञ है या नहीं? संसार के समस्त पदार्थों के जानने वाले को सर्वज्ञ अथवा अशेषार्थवेदी कहते हैं। इस विषय में मीमांसकों का मत है कि सर्वज्ञ साधक कोई प्रमाण न होने से सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है। प्रत्यक्ष, अनुमान आदि कोई भी प्रमाण सर्वज्ञ का साधक नहीं होता है। यह तो स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष प्रमाण से सर्वज्ञ की सत्ता सिद्ध नहीं होती है, क्योंकि प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति इन्द्रिय सम्बद्ध और वर्तमान प्रतिनियतरूपादि विषय में ही होती है। अशेषार्थवेदी पुरुष न तो इन्द्रिय सम्बद्ध है और न वर्तमान है। तब उसमें प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है। सर्वज्ञसाधक कोई अनुमान भी नहीं है। साध्य और साधन में अविनाभाव का ग्रहण होने पर अनुमान से साध्य की प्रतिपत्ति होती है। सर्वज्ञ के साथ अविनाभावी किसी लिङ्ग के होने पर उसके द्वारा सर्वज्ञ का अनुमान

किया जा सकता है, किन्तु ऐसा कोई लिङ्ग उपलब्ध नहीं है। वह लिङ्ग कार्य, स्वभाव आदि में से कोई हो सकता है। यहाँ ऐसा कोई कार्य लिङ्ग दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है जिसके द्वारा सर्वज्ञ का अनुमान किया जा सके। सर्वज्ञ अतीन्द्रिय है और ऐसे अतीन्द्रिय सर्वज्ञ के कार्य का ज्ञान हो जाने पर उन दोनों में कार्यकारण सम्बन्ध का ज्ञान हो सकता है, किन्तु ऐसे किसी सम्बन्ध का ज्ञान किसी को होता नहीं है। ऐसी स्थिति में कार्यलिङ्गजन्य अनुमान से सर्वज्ञ का ज्ञान सम्भव नहीं है। इसी प्रकार स्वभावलिङ्गजन्य अनुमान से भी सर्वज्ञ का अनुमान नहीं हो सकता है। जब सर्वज्ञ अप्रत्यक्ष है तो उसका स्वभाव भी अप्रत्यक्ष ही रहेगा। तब स्वभावलिङ्गजन्य अनुमान से सर्वज्ञ का अनुमान कैसे हो सकता है?

आगम प्रमाण भी सर्वज्ञ का साधक नहीं है। आगम दो प्रकार का होता है- नित्य और अनित्य। नित्य आगम के द्वारा सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि ऐसा कोई नित्य आगम नहीं है जो सर्वज्ञ का साधक हो। एक बात यह भी है कि नित्य आगम (वेद) अनादि है और सर्वज्ञ सादि है। तब अनादि आगम सर्वज्ञ का साधक कैसे हो सकता है?-

'हिरण्यगर्भः सर्वज्ञः, स सर्ववित् स लोकवित्' इत्यादि आगम भी कर्मार्थवाद (स्तुतिरूप कथन) का विधायक होने से अशेषज्ञ का विधायक नहीं है। नित्य आगम की तरह अनित्य आगम भी सर्वज्ञसाधक नहीं है। अनित्य आगम दो प्रकार का होता है- सर्वज्ञ प्रणीत और असर्वज्ञ प्रणीत। सर्वज्ञ प्रणीत आगम को सर्वज्ञसाधक मानने पर अन्योन्याश्रय दोष आता है। सर्वज्ञ की सिद्धि हो जाने पर सर्वज्ञ प्रणीत आगम की सिद्धि हो सकती है और सर्वज्ञ प्रणीत आगम की सिद्धि होने पर सर्वज्ञ की सिद्धि सम्भव है। यहाँ दोनों की सिद्धि एक-दूसरे पर निर्भर है। इसी का नाम अन्योन्याश्रय दोष है। असर्वज्ञ प्रणीत आगम तो प्रमाण ही नहीं है। ऐसे अप्रमाणभूत आगम से सर्वज्ञसिद्धि का तो कोई प्रश्न ही नहीं है। उपमान प्रमाण भी सर्वज्ञ का साधक नहीं है। सदृश पदार्थ के ग्रहण करने पर उपमान की प्रवृत्ति होती है। जैसे गोसदृश गवय के ग्रहण करने पर उपमान प्रमाण से गवय का ज्ञान होता है, परन्तु सर्वज्ञ के सदृश इस जगत् में कोई दूसरा पदार्थ है ही नहीं। अतः सर्वज्ञ सदृश व्यक्ति के अभाव में उपमान

से सर्वज्ञ का ज्ञान सम्भव नहीं है। इसी प्रकार अर्थापत्ति प्रमाण भी सर्वज्ञ का साधक नहीं हो सकता है। अर्थापत्ति प्रमाण की प्रवृत्ति वहाँ होती है जहाँ कोई ज्ञात अर्थ अज्ञात अर्थ के बिना नहीं हो सकता हो। यदि कोई ऐसा अर्थ उपलब्ध हो जो सर्वज्ञ के अस्तित्व के बिना सम्भव न हो तो उस अर्थ के द्वारा सर्वज्ञ का ज्ञान किया जा सकता है, किन्तु ऐसा कोई अर्थ उपलब्ध ही नहीं है। तब अर्थापत्ति सर्वज्ञ की साधक कैसे हो सकती है?

इस प्रकार सदुपलम्भक पाँच प्रमाणों में से किसी भी प्रमाण के द्वारा सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है। अब शेष रहता है अभाव प्रमाण और इस प्रमाण के द्वारा किसी वस्तु की असत्ता ही सिद्ध होती है। अतः अभाव प्रमाण सर्वज्ञ के सर्वथा अभाव का ही साधक होता है। यहाँ यह भी विचारणीय है कि यदि कोई सर्वज्ञ है तो वह अतीतादिकालगत समस्त वस्तुओं को अतीतादिकालरूप से जानता है या वर्तमानकालरूप से। प्रथम पक्ष में सर्वज्ञ के ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं कह सकते हैं, क्योंकि वह अतीतकालीन वस्तुओं को अतीतरूप से जानता है और अनागतकालीन वस्तुओं को अनागतरूप से जानता है, वर्तमानरूप से नहीं। अब यदि ऐसा माना जाय कि सर्वज्ञ का ज्ञान अतीतादिकालगत वस्तुओं को वर्तमानरूप से जानता है तो वह द्विचन्द्रादि के ज्ञान की तरह भ्रान्त हो जायेगा, क्योंकि वह अन्यथारूप से स्थित अर्थ को अन्यथारूप से जानता है। अर्थात् वह अतीत और अनागत कालवर्ती वस्तुओं को वर्तमानरूप से जानता है। इत्यादि प्रकार से विचार करने पर सर्वज्ञ की सत्ता सिद्ध नहीं होती है।

उत्तरपक्ष- मीमांसकों का उक्त कथन सर्वथा असमीचीन है। यद्यपि प्रत्यक्षादि चार प्रमाणों से सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है तथापि अनुमान प्रमाण से सर्वज्ञ की सत्ता सिद्ध की जाती है। सर्वज्ञसाधक अनुमान इस प्रकार है- **सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित् प्रत्यक्षाः अनुमेयत्वात्, अग्न्यादिवत्।** अर्थात् परमाणु आदि सूक्ष्मपदार्थ, राम-रावणादि अन्तरित पदार्थ और मेरु आदि दूरवर्ती पदार्थ किसी पुरुष के प्रत्यक्ष होते हैं, अनुमेय होने से, अग्नि आदि की तरह। जो पदार्थ अनुमेय होता है वह किसी के प्रत्यक्ष अवश्य होता है। पर्वत में स्थित अग्नि पर्वत के नीचे स्थित पुरुष को अनुमेय होती है, परन्तु वही अग्नि पर्वत पर स्थित पुरुष

को प्रत्यक्ष होती है। इसी प्रकार जिन सूक्ष्मादि पदार्थों को हम अनुमान से जानते हैं उन्हीं पदार्थों को कोई पुरुष प्रत्यक्ष से अवश्य जानता है। और जो उनको प्रत्यक्ष से जानता है वही सर्वज्ञ है। सर्वज्ञसाधक दूसरा अनुमान इस प्रकार है-

'अस्ति कश्चित् सकलपदार्थसाक्षात्कारी तद्ग्रहणस्वभाववत्त्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वात्'

अर्थात् कोई पुरुष सम्पूर्ण पदार्थों का साक्षात्कार करने वाला है, क्योंकि उसका स्वभाव उनको ग्रहण करने का है तथा पदार्थों को जानने में ज्ञानावरणादि जो प्रतिबन्धक कारण थे वे नष्ट हो गये हैं। केवल इतना ही नहीं है, अपितु सर्वज्ञसाधक और भी अनेक अनुमान हैं जिनके द्वारा निश्चितरूप से सर्वज्ञ की सिद्धि होती है। इस प्रकार सर्वज्ञसाधक कई निर्दोष अनुमान हैं। इन अनुमानों में असिद्ध, विरुद्ध आदि कोई भी दोष नहीं पाये जाते हैं। अतः अनुमान प्रमाण से सर्वज्ञ की सिद्धि करने में कोई भी बाधा नहीं है। यद्यपि प्रत्यक्ष, आगम, उपमान और अर्थापत्ति- इन चार प्रमाणों से सर्वज्ञ की सिद्धि सम्भव नहीं है, परन्तु अनुमान प्रमाण से सर्वज्ञ की सिद्धि होती ही है। इसलिए मीमांसकों का यह कथन असङ्गत है कि सदुपलम्भक पाँच प्रमाणों का विषय न होने से सर्वज्ञ की सत्ता नहीं है। इसके विपरीत हम यह बतलाना चाहते हैं कि सर्वज्ञ की सत्ता अवश्य है। इसका कारण यह है कि सर्वज्ञ की सत्ता में कोई भी बाधक प्रमाण नहीं है। यहाँ बाधक प्रमाणों का असम्भव सुनिश्चित है। प्रत्यक्षादि किसी प्रमाण से सर्वज्ञ के अस्तित्व में कोई बाधा नहीं आती है। इसी बात को हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि कोई भी प्रमाण सर्वज्ञाभाव का साधक नहीं है। यहाँ इसी बात को बतलाया जा रहा है।

प्रत्यक्षप्रमाण सर्वज्ञाभाव का साधक नहीं हो सकता है। प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है- इन्द्रियप्रत्यक्ष और अतीन्द्रियप्रत्यक्ष। इनमें से इन्द्रिय प्रत्यक्ष सम्बद्ध और वर्तमान अर्थ को ही जानता है, परन्तु सर्वज्ञ न तो इन्द्रिय सम्बद्ध है और न वर्तमान है। इसका अर्थ यही है कि सर्वज्ञ इन्द्रियप्रत्यक्ष का विषय नहीं है। जब वह इन्द्रियप्रत्यक्ष का विषय नहीं है तब वह सर्वज्ञ का अभाव कैसे सिद्ध कर सकता है? क्योंकि जो जिसका विषय नहीं है वह उसके अभाव को बतलाने में समर्थ नहीं होता है।

अब अतीन्द्रियप्रत्यक्ष का विचार कीजिए। जिसको अतीन्द्रियप्रत्यक्ष हो जाता है वही तो सर्वज्ञ कहलाता है। अतः अतीन्द्रियप्रत्यक्ष सर्वज्ञाभाव का बाधक न होकर उसका साधक ही होता है। वर्तमान में हमलोगों में से किसी को भी अतीन्द्रियप्रत्यक्ष नहीं है। एक बात यह भी है कि मीमांसक अतीन्द्रियप्रत्यक्ष की सत्ता मानते ही नहीं हैं। तब अतीन्द्रियप्रत्यक्ष के द्वारा वे सर्वज्ञाभाव कैसे सिद्ध कर सकते हैं?

इस प्रकरण में मीमांसक कहते हैं कि यद्यपि प्रवर्तमान प्रत्यक्ष सर्वज्ञाभाव का साधक नहीं है तथापि निवर्तमान प्रत्यक्ष सर्वज्ञाभाव का साधक होता है। यहाँ हम मीमांसकों से पूछना चाहते हैं कि क्या आपके प्रत्यक्ष की निवृत्ति सर्वज्ञाभाव को सिद्ध करती है या सब के प्रत्यक्ष की निवृत्ति? इनमें से प्रथम पक्ष ठीक नहीं है। आपके प्रत्यक्ष की निवृत्ति तो देशादि का व्यवधान होने पर अर्थ के सद्भाव में भी देखी जाती है। वहाँ अर्थ का सद्भाव होने पर भी आपके प्रत्यक्ष की निवृत्ति पाई जाती है। तब क्या आपके प्रत्यक्ष की निवृत्ति होने से वहाँ अर्थ का अभाव हो जायेगा? अर्थात् प्रत्यक्ष की निवृत्ति होने मात्र से वहाँ अर्थाभाव सिद्ध नहीं होगा।

यहाँ द्वितीय पक्ष स्वीकार करना भी समीचीन नहीं है। यह बात आप कैसे कह सकते हैं कि सर्वज्ञ के विषय में सबके प्रत्यक्ष की निवृत्ति है। सर्वज्ञ के विषय में सर्वप्रत्यक्ष की निवृत्ति की बात वही कह सकता है जो सर्वज्ञ हो, अल्पज्ञ नहीं। इस प्रकार यह निश्चित है कि प्रत्यक्ष के द्वारा सर्वज्ञाभाव की सिद्धि नहीं हो सकती है। अनुमान प्रमाण भी सर्वज्ञ की सत्ता का बाधक नहीं है। ऐसा कोई अनुमान उपलब्ध नहीं होता है जो सर्वज्ञ की असत्ता को सिद्ध करता हो। मान लीजिए कि ऐसा कोई अनुमान है तो वहाँ सर्वज्ञ धर्मी होगा और उसका असत्त्व साध्य होगा। संस्कृत में इस बात को इस प्रकार कहेंगे 'सर्वज्ञो नास्ति' अर्थात् सर्वज्ञ नहीं है। अब विचारणीय यह है कि सर्वज्ञ के नास्तित्व सिद्ध करने में साधन (हेतु) क्या है। अनुपलम्भ अथवा वक्तृत्वादिक? यदि अनुपलम्भ साधन है तो स्वसम्बन्धी अनुपलम्भ अथवा सर्वसम्बन्धी अनुपलम्भ? स्वसम्बन्धी अनुपलम्भ से सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता है, क्योंकि प्रत्येक पुरुष में स्वसम्बन्धी अनुपलम्भ तो परचित्त आदि अनेक वस्तुओं का पाया ही जाता है, परन्तु इससे उन वस्तुओं का अभाव सिद्ध

नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार सर्वज्ञाभाव सिद्ध करने के लिए सर्वसम्बन्धी अनुपलम्भ भी समर्थ नहीं है, क्योंकि असर्वज्ञ व्यक्ति सब पुरुषों को और उनके ज्ञानों को जाने बिना ऐसा कैसे कह सकता है कि सब को सर्वज्ञ का अनुपलम्भ है। इस प्रकार अनुपलम्भ हेतु सर्वज्ञाभाव का साधक नहीं होता है। पूरा अनुमान इस तरह होगा- **'सर्वज्ञो नास्ति अनुपलब्धेः'** अर्थात् कोई सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि उसकी उपलब्धि नहीं होती है। इस अनुमान का निराकरण ऊपर कर दिया गया है।

अब सर्वज्ञाभाववादी सर्वज्ञाभाव सिद्ध करने के लिए दूसरा अनुमान प्रस्तुत करते हैं- **'सर्वज्ञो नास्ति, वक्तृत्वात्, पुरुषत्वात्, रथ्यापुरुषवत्'।** अर्थात् कोई पुरुष सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि वह वक्ता है, पुरुष है, रथ्यापुरुष की तरह। यहाँ वक्तृत्व, पुरुषत्व आदि हेतुओं के द्वारा सर्वज्ञाभाव सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है, किन्तु उनका उक्त कथन तर्कसङ्गत नहीं है, क्योंकि जब हम सर्वज्ञाभावसाधक वक्तृत्व आदि हेतुओं का विचार करते हैं तो उनमें विरुद्ध आदि अनेक दोष आते हैं। इस कारण ये हेतु सर्वज्ञाभावसाधक नहीं हो सकते हैं। यहाँ हम मीमांसकों से पूछ सकते हैं कि आप वक्तृत्व सामान्य से सर्वज्ञाभाव सिद्ध करना चाहते हैं अथवा वक्तृत्वविशेष से? यहाँ प्रथम विकल्प तो हमारे अनुकूल है। हम भी मानते हैं कि जो सामान्य वक्ता है वह सर्वज्ञ नहीं हो सकता है। इसके विपरीत एक ऐसा भी वक्तृत्व होता है जो रागादिदोषरहित और ज्ञानादिगुणों से युक्त होता है। इसे वक्तृत्व विशेष कहते हैं। इस प्रकार के वक्तृत्व विशेष से सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता है। ऐसा वक्तृत्व तो सर्वज्ञ का साधक ही होता है। सर्वज्ञत्व और वक्तृत्व में कोई विरोध भी नहीं है। इस तरह किसी भी साधन से सर्वज्ञ की असत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती है।

यहाँ हम यह भी कह सकते हैं कि वक्तृत्व, पुरुषत्वादि युक्त जैमिनि या अन्य कोई भी सर्वज्ञाभाव का ज्ञाता नहीं हो सकता है। इतना ही नहीं, हम यह भी कहेंगे कि जैमिनी आदि पूर्वोक्त हेतुओं के कारण वेदार्थज्ञ भी नहीं हैं। इस प्रकार लाभ की इच्छा करने वाले मीमांसकों के मत में मूल के उच्छेद का प्रसङ्ग भी आता है। अर्थात् सर्वज्ञाभाव सिद्ध करते समय वेदार्थज्ञ का भी अभाव हो जाता है।

आगमप्रमाण भी सर्वज्ञाभाव का साधक नहीं है। यदि आगम को सर्वज्ञाभाव का साधक माना जाय तो प्रश्न होता है कि अपौरुषेय और पौरुषेय में से कौन सा आगम सर्वज्ञाभाव का साधक है? अपौरुषेय आगम (वेद) सर्वज्ञाभाव का साधक नहीं हो सकता है, क्योंकि मीमांसकों ने अर्थवाद (करणीय तथा अकरणीय कार्य का कथन) में ही वेद को प्रमाण माना है, स्वरूप में नहीं। सर्वज्ञ के अभाव का प्रतिपादक कोई वेदवाक्य है भी नहीं। प्रत्युत **'हिरण्यगर्भः सर्वज्ञः'** इत्यादि सर्वज्ञसाधक वेदवाक्य पाये जाते हैं। इस तरह अपौरुषेय आगम सर्वज्ञाभाव का साधक नहीं है। अब यदि पौरुषेय आगम को सर्वज्ञाभाव का साधक माना जाय तो यहाँ भी प्रश्न है कि कौन सा आगम सर्वज्ञाभाव का साधक है– सर्वज्ञप्रणीत अथवा इतरप्रणीत? यहाँ प्रथम पक्ष सर्वथा असङ्गत है, क्योंकि सर्वज्ञप्रणीत आगम सर्वज्ञाभाव को सिद्ध न करके सर्वज्ञ को ही सिद्ध करेगा। जो आगम सर्वज्ञप्रणीत है वह सर्वज्ञ का विरोध क्यों करेगा? द्वितीय पक्ष भी युक्तिसङ्गत नहीं है, क्योंकि इतरप्रणीत आगम रथ्यापुरुष के वचनों के समान प्रमाण ही नहीं है। तब वह सर्वज्ञाभाव का प्रतिपादन कैसे कर सकता है? इस प्रकार आगम प्रमाण सर्वज्ञाभाव को सिद्ध करने में असमर्थ है।

उपमान प्रमाण के द्वारा भी सर्वज्ञाभाव का प्रतिपादन सम्भव नहीं है। उपमान प्रमाण तो किसी अर्थ में तभी प्रवृत्त होता है जब गौ और गवय के समान उपमान और उपमेयभूत पदार्थों का प्रत्यक्ष हो। गौ के सादृश्य से गवय का जो ज्ञान होता है वह उपमान कहलाता है। यदि किसी पुरुष ने वर्तमानकालवर्ती सब पुरुषों को असर्वज्ञ के रूप में देखा हो तो वह कह सकता है कि जैसे ये पुरुष असर्वज्ञ हैं वैसे ही अन्य सब पुरुष असर्वज्ञ हैं, परन्तु ऐसा तो किसी ने देखा नहीं है। यदि किसी ने ऐसा देखा या जाना है तो देखने वाला ही सर्वज्ञ हो जायेगा। ऐसी स्थिति में उपमान से सर्वज्ञाभाव सिद्ध करने का कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं होगा। इस प्रकार उपमान प्रमाण सर्वज्ञाभाव का साधक नहीं होता है।

अर्थापत्ति प्रमाण से भी सर्वज्ञाभाव सिद्ध करना सम्भव नहीं है। यदि अर्थापत्ति का उत्पादक ऐसा कोई अर्थ विद्यमान हो जो सर्वज्ञाभाव के बिना

नहीं हो सकता हो तो उस अर्थ को देखकर ऐसा कहा जा सकता है कि कोई सर्वज्ञ नहीं है, परन्तु ऐसा कोई अर्थ उपलब्ध ही नहीं है। तब अर्थापत्ति के द्वारा सर्वज्ञाभाव कैसे सिद्ध किया जा सकता है? मीमांसक वेदप्रामाण्य को अर्थापत्ति का उत्थापक नहीं कह सकते हैं, क्योंकि वेद में प्रामाण्य सर्वज्ञ के सद्भाव में ही बन सकता है, सर्वज्ञ के अभाव में नहीं। हम कह सकते हैं कि गुणवान् वक्ता के अभाव में वचनों में प्रमाणता नहीं आती है। अतः अर्थापत्ति प्रमाण सर्वज्ञाभाव का साधक नहीं है।

अभाव प्रमाण भी सर्वज्ञाभाव का साधक नहीं होता है। यहाँ पहली बात यह है कि जैनदर्शन की दृष्टि से अभाव कोई प्रमाण ही नहीं है। मान लीजिए कि अभाव प्रमाण है तो प्रश्न होता है कि वह प्रसज्यरूप है या पर्युदासरूप? प्रसज्य का अर्थ है- सर्वथा अभावरूप। ऐसा अभाव सर्वथा नीरूप (तुच्छ स्वभावरूप) होता है और नीरूप होने के कारण प्रसज्यरूप अभाव अर्थपरिच्छित्ति का हेतु नहीं हो सकता है। पर्युदास पक्ष मानने पर अभाव भावान्तररूप होता है। जैसे घटाभाव भूतलरूप होता है। यदि पर्युदासरूप अभाव सर्वज्ञाभाव को सिद्ध करता है तो कहीं पर कदाचित् किसी में सर्वज्ञाभाव सिद्ध करता है, अथवा सर्वत्र सर्वदा सब पुरुषों में सर्वज्ञाभाव सिद्ध करता है। प्रथम पक्ष मानने में तो सिद्धसाध्यता है। अर्थात् हम भी ऐसा मानते हैं कि जहाँ जब किसी में किञ्चिज्ज्ञत्व की सिद्धि होती है तब वहाँ उसमें असर्वज्ञत्व मानने में कोई विरोध नहीं है। अब यदि कोई सर्वत्र सर्वदा सब पुरुषों में सर्वज्ञाभाव सिद्ध करना चाहता है तो ऐसा करना सम्भव नहीं है, क्योंकि जो व्यक्ति त्रिकाल और त्रिलोकवर्ती सब पुरुषों का साक्षात्कार करेगा वही सर्वज्ञ बन जायेगा। तब उसके द्वारा सर्वज्ञाभाव की बात करना सर्वथा अनुचित है। इस प्रकार सर्वज्ञ के सद्भाव में बाधक प्रमाणों का असम्भव सुनिश्चित होने के कारण सर्वज्ञ की सत्ता सिद्ध होने में कोई बाधा नहीं आती है।

पूर्वपक्ष में कहा गया है कि सर्वज्ञ अतीतादिकालगत वस्तुओं को किस रूप में जानता है, इत्यादि। तो इस विषय में हमारा कथन यह है कि सर्वज्ञ के ज्ञान में सब वस्तुओं का प्रतिभास अपने रूप में ही होता है। अर्थात् अतीतकालवर्ती वस्तुओं का प्रतिभास अतीतरूप से और अनागतकालवर्ती वस्तुओं का प्रतिभास अनागतरूप से होता है, ऐसा मानने

पर सर्वज्ञ के ज्ञान में प्रत्यक्षता का कोई विरोध उपस्थित नहीं होता है। क्योंकि सन्निहितदेश और सन्निहितकाल रूप से प्रतिभास का नाम प्रत्यक्षता नहीं है, परन्तु स्पष्टरूप से प्रतिभास का नाम प्रत्यक्षता है। और ऐसा प्रतिभास सर्वज्ञ के ज्ञान में सदा पाया ही जाता है। अतः उसे सर्वज्ञ मानने में कोई बाधा नहीं आती है। इस प्रकार यहाँ मीमांसकाभ्युपगत असर्वज्ञत्व का निराकरण करके सर्वज्ञत्व को प्रमाणपूर्वक सिद्ध किया गया है।

ईश्वरवाद :

पूर्वपक्ष– यहाँ नैयायिक, वैशेषिक कहते हैं कि बाधक प्रमाणों का अभाव सुनिश्चित होने के कारण सर्वज्ञ का सद्भाव सिद्ध नहीं होता है, किन्तु क्षित्यादि कार्यों का कर्ता होने से वह ईश्वर तथा सर्वज्ञ सिद्ध होता है। वे मानते हैं कि ईश्वर पृथिवी, शरीर आदि कार्यों का कर्त्ता है और इसकी सिद्धि वे अनुमान प्रमाण से करते हैं। ईश्वर में कर्तृत्व साधक अनुमान इस प्रकार है–

क्षित्यादिकं बुद्धिमत्कर्तृपूर्वकं कार्यत्वात् घटादिवत्।

अर्थात् क्षिति, पर्वत, वृक्ष आदि पदार्थ किसी बुद्धिमान् कर्त्ता के द्वारा निर्मित हैं, क्योंकि वे कार्य हैं। जो कार्य होता है वह किसी बुद्धिमान् के द्वारा निर्मित होता है, जैसे घटादि। जो कार्य होता है उसका कोई बुद्धिमान् कर्त्ता अवश्य होता है। घट एक कार्य है तो उसके कर्त्ता कुम्भकार को मानना ही पड़ता है। ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि क्षित्यादि कार्य नहीं हैं, क्योंकि सावयवत्व हेतु के द्वारा उनमें कार्यत्व की सिद्धि होती है। जिस प्रकार घट सावयव होने से कार्य है उसी प्रकार क्षिति, पर्वत, तरु आदि भी सावयव होने से कार्य हैं। कार्यत्व तथा सावयवत्व हेतुओं में असिद्ध आदि कोई दोष नहीं पाये जाते हैं। इसलिए सावयवत्व हेतु क्षित्यादि में कार्यत्व की सिद्धि करता है और कार्यत्व हेतु जगत् के निर्माण में समर्थ और सर्वज्ञत्वादिविशेषणविशिष्ट बुद्धिमान् कर्त्ता की सिद्धि करता है।

यहाँ कोई ऐसी आशङ्का कर सकता है कि कार्यत्व हेतु नैयायिकों के लिए इष्ट का विघात करने वाला है, क्योंकि नैयायिक जगत् के कर्ता को सर्वज्ञ, नित्यज्ञान-इच्छा-प्रयत्नसम्पन्न तथा अशरीर मानते हैं और दृष्टान्त

घटादि में इससे विलक्षण कर्त्ता देखा जाता है। अर्थात् घट का कर्त्ता अल्पज्ञ है, अनित्यज्ञानादिसम्पन्न है और सशरीर है। तथा दृष्टान्त में देखे धर्म के अनुसार ही अदृष्ट साध्यरूप अर्थ में ज्ञान होता है। नैयायिक कार्यत्व हेतु के द्वारा सर्वज्ञ और अशरीर कर्त्ता को सिद्ध करना चाहते हैं, किन्तु दृष्टान्त के द्वारा अल्पज्ञ और सशरीर कर्त्ता सिद्ध होता है। इसलिए यहाँ हेतु विरुद्ध है और दृष्टान्त साध्यविकल है।

उक्त आशङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि साध्य और साधन में जो व्याप्ति होती है वह सामान्य धर्म की अपेक्षा से होती है, विशेषधर्म की अपेक्षा से नहीं। यदि ऐसा न माना जाय तो कोई भी निर्दोष अनुमान नहीं बन सकेगा। अतः कार्यत्व हेतु की व्याप्ति केवल बुद्धिमान् कर्त्ता के साथ है, सशरीर कर्त्ता के साथ नहीं। कर्तृत्वसामग्री में शरीर का उतना महत्त्व नहीं है जितना ज्ञान, चिकीर्षा और प्रयत्न का है। शरीर के रहने पर भी ज्ञानादि के अभाव में कुम्भकार में भी घट का कर्तृत्व नहीं बन सकता है। पहले कार्य के उत्पादक कारणों का ज्ञान होना चाहिए, इसके बाद कार्य करने की इच्छा होनी चाहिए और तदनन्तर तदनुकूल प्रयत्न होना चाहिए। किसी भी कार्य के करने में इन तीन बातों का होना आवश्यक है। जो जगत् का कर्त्ता है उसे सर्वज्ञ होना आवश्यक है, क्योंकि जो जिस कार्य का कर्त्ता होता है उसे उस कार्य के उपादान आदि कारणों का ज्ञान होना चाहिए। तभी वह उस कार्य की उत्पत्ति कर सकता है। जैसे घट का कर्त्ता कुम्भकार घटोत्पादक मृत्, दण्ड, चक्र आदि कारणों का अभिज्ञ होता है। इसी प्रकार जगत् का कर्त्ता ईश्वर भी सकल कार्यों के उपादानादि कारणों का ज्ञाता होना चाहिए। पृथिवी आदि रूप चार प्रकार के परमाणु जगत् के उपादान हैं, अदृष्टादि निमित्त हैं, भोक्ता आत्मा है और भोग्य तनुकरणादि हैं। तथा इनका जो अभिज्ञ है वही क्षित्यादि का कर्त्ता हो सकता है। इस तरह क्षित्यादि का कर्त्ता ईश्वर सर्वज्ञ सिद्ध हो जाता है। क्षित्यादि के कर्त्ता ईश्वर के ज्ञानादि नित्य होते हैं और घटादि के कर्त्ता कुम्भकारादि के ज्ञानादि अनित्य होते हैं। साध्यधर्मी और दृष्टान्तधर्मी में सर्वथा साम्य नहीं होता है। जैसी अग्नि महानस में देखी जाती है वैसी ही पर्वत में नहीं पाई जाती है। इसलिए ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता सिद्ध करने में कार्यत्व हेतु को विरुद्ध और दृष्टान्त को साध्यविकल बतलाना ठीक नहीं है। क्षित्यादि का जो कर्त्ता है वह सर्वज्ञ होने के

साथ एक है, अनेक नहीं। एक ही ईश्वर सम्पूर्ण जगत् का कर्त्ता होता है। यद्यपि किसी महाप्रासाद के निर्माण में अनेक कारीगरों की प्रवृत्ति देखी जाती है, किन्तु वे भी एक सूत्रधार से नियन्त्रित होकर ही कार्य में प्रवृत्ति करते हैं। इसी प्रकार जगत् में जहाँ भी अनेक कर्त्ता देखे जाते हैं वे भी एक अधिष्ठाता (ईश्वर) से नियन्त्रित होकर ही प्रवृत्ति करते हैं।

यहाँ कोई कह सकता है कि क्षित्यादि कार्यों का कर्त्ता कोई बुद्धिमान् नहीं है, क्योंकि उसकी उपलब्धि नहीं होती है। ऐसा कथन ठीक नहीं है। अनुपलब्धि के द्वारा बुद्धिमत्कर्त्ता का अभाव बतलाना तर्कसङ्गत नहीं है। इसका कारण यह है कि सर्वत्र दृश्यानुपलब्धि से ही किसी के अभाव की सिद्धि होती है, अदृश्यानुपलब्धि से नहीं। क्षित्यादि का जो कर्त्ता है वह अदृश्य है और उसकी अनुपलब्धि अदृश्यानुपलब्धि है। अतः अदृश्यानुपलब्धि के द्वारा जगत् के कर्त्ता ईश्वर का अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता है। यहाँ एक आशङ्का यह हो सकती है कि जब ईश्वर को परम कारुणिक माना गया है तब वह दुःखोत्पादक शरीरादि का निर्माण क्यों करता है? और यदि वह ऐसा करता है तो उसे परम कारुणिक कैसे कहा जा सकता है? ऐसी आशङ्का करना उचित नहीं है। इसका उत्तर यह है कि शरीरादि के निर्माण में अदृष्ट (धर्म और अधर्म) सहकारी कारण होता है। अतः जिसका जैसा अदृष्ट होता है उसी के अनुसार सुख और दुःख रूप फल के उपभोग के लिए उस प्राणी का उसी प्रकार के शरीरादि का निर्माण होता है। इसलिए करुणावान् होने पर भी दुःखोत्पादक शरीरादि के निर्माण में ईश्वर की प्रवृत्ति के होने में कोई विरोध नहीं है। यहाँ यह कहना भी ठीक नहीं है कि यदि कार्योत्पत्ति में ईश्वर की प्रवृत्ति अदृष्ट की सहायता से होती है तो अदृष्ट के द्वारा ही कार्योपत्ति हो जायेगी और ऐसा मान लेने पर ईश्वर की कल्पना करना व्यर्थ है। इस विषय में हमारा कथन यह है कि अदृष्ट अचेतन है और अचेतन होने के कारण कार्योत्पत्ति में उसकी प्रवृत्ति चेतन से अधिष्ठित होकर ही हो सकती है। अचेतन अदृष्ट का कोई अधिष्ठाता अवश्य होना चाहिए और जो धर्माधर्मरूप अदृष्ट का अधिष्ठाता है वही ईश्वर है। इस प्रकार नैयायिक-वैशेषिकों ने सृष्टिकर्त्ता ईश्वर की सिद्धि की है।

उत्तरपक्ष– नैयायिक-वैशेषिकों ने ईश्वर में सृष्टिकर्तृत्व सिद्ध करने के लिए जो कुछ कहा है वह तर्कसङ्गत नहीं है। उन्होंने कार्यत्व हेतु के द्वारा क्षित्यादि में बुद्धिमत्हेतुकत्व की सिद्धि की है। यहाँ विचारणीय यह है कि कार्यत्व क्या है? क्या सावयवत्व का नाम कार्यत्व है या 'यह किया गया' ऐसे ज्ञान का विषय होना कार्यत्व है अथवा विकारित्व का नाम कार्यत्व है? यदि सावयवत्व का नाम कार्यत्व है तो यह विचारणीय है कि सावयवत्व क्या है? इस पक्ष में तीन विकल्प होते हैं– क्या अवयवों में रहने का नाम सावयवत्व है या अवयवों के द्वारा आरम्भ होने का नाम सावयवत्व है अथवा प्रदेशवत्त्व का नाम सावयवत्व है? प्रथमपक्ष में अवयव सामान्य के द्वारा कार्यत्व हेतु अनैकान्तिक हो जाता है, क्योंकि अवयव सामान्य अकार्य होकर भी अवयवों में रहता है। द्वितीय पक्ष में सावयत्व हेतु साध्यसम (साध्य के समान) हो जाता है। अर्थात् जिस प्रकार क्षित्यादि में कार्यत्व साध्य है उसी प्रकार परमाणु आदि अवयवों के द्वारा आरभ्यमानत्व भी साध्य है। तृतीय पक्ष में सावयवत्व हेतु आकाश के द्वारा अनैकान्तिक दोष से दूषित हो जाता है, क्योंकि आकाश में प्रदेशवत्त्व होने पर भी अकार्यत्व पाया जाता है। इस प्रकार यहाँ यह सिद्ध किया गया है कि सावयवत्व का नाम कार्यत्व नहीं हो सकता है।

अब इस बात पर विचार करना है कि 'यह किया गया' ऐसे ज्ञान का विषय होना कार्यत्व है या नहीं? जब हम इस पर विचार करते हैं तो यही प्रतीत होता है कि उक्त प्रकार के ज्ञान के विषय होने को भी कार्यत्व नहीं माना जा सकता है, क्योंकि खनन, उत्सेचन आदि के द्वारा **'कृतमाकाशम्'** (आकाश किया गया) ऐसा कृतप्रत्यय आकाश में भी देखा जाता है, किन्तु आकाश कार्य नहीं है, नित्य होने से वह तो अकार्य है, फिर भी उसमें कृतप्रत्यय हो जाता है। अब यदि विकारित्व को कार्यत्व माना जाय तो ईश्वर में भी कार्यत्व का प्रसङ्ग प्राप्त होता है, क्योंकि सत् वस्तु के अन्यथाभाव होने का नाम कार्यत्व है और ऐसा कार्यत्व ईश्वर में भी पाया जाता है। यदि ईश्वर सांख्य-पुरुष की तरह सर्वथा कूटस्थ नित्य रहेगा तो उसमें कार्यकारित्व नहीं बन सकता है। ईश्वर क्षित्यादि का कर्ता तभी हो सकता है जब वह कथञ्चित् विकारी हो, सर्वथा अविकारी नहीं। सर्वथा अविकारी वस्तु को कार्यकारी मानने में अनेक दोष आते हैं। इस प्रकार जब हम कार्यत्व हेतु के स्वरूप का

विचार करते हैं तो वह सिद्ध नहीं होता है। अतः कार्यत्व हेतु असिद्ध है और असिद्ध होने के कारण वह क्षित्यादि में बुद्धिमत्हेतुकत्व को सिद्ध करने में असमर्थ है।

यहाँ यह भी विचारणीय है कि जो वस्तु कादाचित्क होती है वही कार्य होता है। ईश्वर का जगत् तो सदा सत् है तब उसमें कार्यत्व कैसे हो सकता है? यदि ऐसा माना जाय कि जगत् के अन्तर्गत तरु, तृणादि के कार्य होने से जगत् में भी कार्यत्व सिद्ध हो जाता है। यदि ऐसा है तो हम कहेंगे कि ईश्वर के अन्तर्गत बुद्ध्यादि में और परमाणु आदि के अन्तर्गत पाकजरूपादि में कार्यत्व होने के कारण ईश्वर में तथा परमाणु में भी कार्यत्व का अनुषङ्ग प्राप्त होता है। और ऐसी स्थिति में ईश्वर में अन्य बुद्धिमत्हेतुकत्व का प्रसङ्ग आता है, जो कि पूर्वपक्ष को अनिष्ट है।

थोड़ी देर के लिए मान लिया जाय कि जगत् कार्य है तो यहाँ प्रश्न यह है कि कार्यसामान्य का नाम हेतु है या कार्यविशेष का नाम? प्रथमपक्ष में सामान्यरूप कार्यत्व हेतु से सामान्य कारण (सामान्य कर्ता) का ही अनुमान होगा, विशेष कारण (ईश्वररूप बुद्धिमान् कारण) का नहीं। अब यदि नैयायिक कार्यविशेष को हेतु मानना चाहें अर्थात् वे ऐसा कहना चाहें कि जिस हेतु का बुद्धिमान् कारण के साथ अन्वय-व्यतिरेक सिद्ध है ऐसे कार्यविशेष को हम हेतु मानते हैं तो उनका ऐसा मानना सङ्गत नहीं है, क्योंकि ऐसा कार्यविशेषरूप हेतु नहीं पाया जाता है। यदि क्षित्यादि में ऐसा कार्यविशेषरूप हेतु है जो बुद्धिमान् कारण को सिद्ध करता है तो जिस प्रकार जीर्णकूप, प्रासाद आदि में अक्रियादर्शी पुरुष को कृतबुद्धि हो जाती है उसी प्रकार क्षित्यादि कार्यों में भी कृतबुद्धि होनी चाहिए। अर्थात् जिस पुरुष ने जीर्णकूप या प्रासाद का निर्माण नहीं देखा है उस पुरुष को जीर्ण कूप या जीर्ण प्रासाद में ऐसा ज्ञान हो जाता है कि इसे किसी ने बनाया है, किन्तु क्षित्यादि को देखकर ऐसा ज्ञान क्यों नहीं होता है कि इसे किसी ने बनाया है। इस प्रकार विशेषरूप कार्यत्व हेतु सिद्ध नहीं होता है, जिससे उसके द्वारा ईश्वररूप बुद्धिमत्कारण का अनुमान किया जा सके। यहाँ एक बात यह भी विचारणीय है कि यदि कार्यत्व हेतु से बुद्धिमान् कारण का अनुमान किया जाता है तो वह घटादि के

कर्त्ता कुम्भकारादि की तरह शरीरादिविशिष्ट बुद्धिमान् ही सिद्ध होगा। और तब कार्यत्व हेतु विरुद्ध नामक हेत्वाभास कहलायेगा, क्योंकि नैयायिक कार्यत्व हेतु के द्वारा शरीरादिरहित बुद्धिमान् कारण को सिद्ध करना चाहते हैं, परन्तु क्षित्यादि कार्य में घटादि के दृष्टान्त द्वारा शरीरादिविशिष्ट बुद्धिमान् कर्त्ता ही सिद्ध होता है। बीज के बिना बोए उत्पन्न हुए तरु, तृणादि के द्वारा कार्यत्व हेतु व्यभिचारी भी हो जाता है। इस संसार में दो प्रकार के कार्य देखे जाते हैं। कुछ कार्य बुद्धिमान् कर्त्ता द्वारा उत्पन्न होते हैं, जैसे घटादि कार्य। और कुछ कार्य बुद्धिमान् कर्त्ता के बिना ही उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे बिना बोए उत्पन्न तरु, तृणादि। इत्यादि प्रकार से कार्यत्व हेतु के द्वारा सृष्टिकर्त्ता ईश्वर का सद्भाव सिद्ध नहीं होता है।

ऐसा भी कोई नियम नहीं है कि '**निखिलकार्यमेकेनैव कर्त्तव्यम्। एकनियमितैरनेकैर्वा।**' अर्थात् सम्पूर्ण कार्य एक के द्वारा ही किया जाना चाहिए अथवा एक के द्वारा नियन्त्रित अनेक के द्वारा भी कार्य किया जाता है। यथार्थ बात यह है कि कार्यकर्तृत्व अनेक प्रकार से देखा जाता है। कहीं एक व्यक्ति एक कार्य का कर्त्ता होता है, जैसे जुलाहा पट का कर्त्ता होता है। कहीं एक ही पुरुष अनेक कार्यों का कर्त्ता होता है, जैसे कुम्भकार घट, सुराही, सकोरा आदि अनेक कार्यों का कर्त्ता है। कहीं अनेक पुरुष मिलकर अनेक कार्यों को करते हैं, जैसे अनेक पुरुष मिलकर शिविका (पालकी) को ढोते हैं। यह भी आवश्यक नहीं है कि किसी महाप्रासाद के निर्माण में अनेक कारीगर एक अधिष्ठाता से नियन्त्रित होकर ही कार्य करें। वे स्वतन्त्ररूप से भी अपने-अपने विभाग का काम कर सकते हैं।

नैयायिक ईश्वर को अदृश्य मानते हैं। यहाँ हम यह जानना चाहते हैं कि ईश्वर के अदृश्य होने का कारण क्या है– शरीराभाव, विद्यादिप्रभाव अथवा जातिविशेष? ईश्वर में शरीराभाव मानना तो ठीक नहीं है, क्योंकि शरीर रहित ईश्वर में कार्यकर्तृत्व नहीं बन सकता है। हम कह सकते हैं कि ईश्वर क्षित्यादि का कर्त्ता नहीं है, शरीररहित होने के कारण, *मुक्तात्मा की तरह। ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न के द्वारा ईश्वर में कर्तृत्व मानना भी तभी सम्भव है जब ज्ञानादि का आश्रय शरीर का सद्भाव* हो। शरीर के अभाव में मुक्तात्मा की तरह ईश्वर ज्ञानादि का आश्रय

भी नहीं हो सकता है। अब यदि विद्यादि का प्रभाव ईश्वर के अदृश्य होने में कारण है तो ईश्वर को कभी तो दृश्य होना चाहिए, सर्वदा अदृश्य नहीं। जो भी मन्त्र-तन्त्रादि जानने वाले लोग विद्या के प्रभाव से अदृश्य देखे जाते हैं वे कुछ काल के लिए ही अदृश्य होते हैं, सर्वदा के लिए नहीं। पिशाचादि की तरह जातिविशेष को ईश्वर के अदृश्य होने में कारण नहीं माना जा सकता है, क्योंकि किसी एक व्यक्ति में जातिविशेष नहीं होता है, वह तो अनेक व्यक्तिनिष्ठ माना गया है। ईश्वर को अदृश्य मान लेने पर भी यह प्रश्न तो बना ही रहता है कि ईश्वर क्षित्यादि का कर्त्ता किस कारण से होता है- सत्तामात्र से, ज्ञानवान् होने से अथवा ज्ञानेच्छाप्रयत्नवान् होने से? यदि ईश्वर सत्तामात्र से क्षित्यादि कार्यों का कर्त्ता होता है तो कुम्भकारादि भी क्षित्यादि के कर्त्ता हो जायेंगे, क्योंकि सत्तामात्र तो इनमें भी विद्यमान है। ज्ञानवान् होने से ईश्वर को क्षित्यादि का कर्त्ता मानने पर योगियों में भी क्षित्यादि के कर्तृत्व का प्रसङ्ग प्राप्त होगा, क्योंकि ज्ञानवान् तो वे भी हैं। अब यदि ईश्वर को ज्ञानेच्छाप्रयत्नवान् मानकर क्षित्यादि का कर्त्ता सिद्ध किया जाता है तो ऐसा करना भी सङ्गत नहीं है, क्योंकि शरीररहित प्राणी के ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न का होना सम्भव नहीं है।

यहाँ यह जान लेना भी आवश्यक है कि जगत् के निर्माण में ईश्वर की प्रवृत्ति कैसे होती है? अपनी रुचि के अनुसार, कर्म की परतन्त्रता से, करुणा के द्वारा, क्रीड़ा से, निग्रह-अनुग्रह के लिए अथवा स्वभाव से ईश्वर की प्रवृत्ति होती है। अपनी रुचि के अनुसार जगत् के निर्माण में प्रवृत्ति मानने पर यह दोष आता है कि कभी इस सृष्टि से भिन्न अन्य प्रकार की सृष्टि भी हो सकती है। प्राणियों के कर्म के अनुसार सृष्टि करने पर ईश्वर में स्वातन्त्र्यहानि का प्रसङ्ग आता है। यदि ईश्वर अदृष्ट के अधीन होकर कार्य करता है तो अदृष्ट को ही सृष्टिकर्त्ता मान लीजिए, ईश्वर की कल्पना करने से क्या लाभ है? यदि ईश्वर अदृष्टाधीन है तो जगत् को ही अदृष्टाधीन मान लीजिए, दोनों के बीच में ईश्वर को मानने की क्या आवश्यकता है? यदि ईश्वर करुणा के द्वारा जगत् के निर्माण में प्रवृत्ति करता है तो सभी प्राणियों को सुखी होना चाहिए, फिर दुःखी प्राणी क्यों देखे जाते हैं? यदि ईश्वर क्रीड़ा के लिए सृष्टि की रचना करता है तो वह रथ्यापुरुष तथा बालक के समान ज्ञानवान् और वीतराग

नहीं हो सकता है। किसी का निग्रह और किसी का अनुग्रह करने के लिए प्रवृत्ति करने पर वह रागी और द्वेषी सिद्ध होता है। अब यदि ईश्वर आदित्य की तरह स्वभाव से ही जगत् के निर्माण में प्रवृत्ति करता है तो अचेतन पदार्थों की स्वभाव से ही अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्ति हो जायेगी। तब उनका एक अधिष्ठाता मानने की क्या आवश्यकता है?

इत्यादि प्रकार से विचार करने पर ईश्वर में सृष्टिकर्तृत्व सिद्ध नहीं होता है। उपरिलिखित सम्पूर्ण कथन का निष्कर्ष यह है कि ईश्वर में जगत् के कर्तृत्व का साधक कोई निर्दोष प्रमाण न होने के कारण न तो वह सृष्टिकर्ता है, न सर्वज्ञ है और न अनादिमुक्त है।

सांख्यमत में ईश्वर का स्वरूप :

पूर्वपक्ष– सांख्यों का कहना है कि सांख्यमत में ईश्वर का स्वरूप यौगों के द्वारा अभिमत ईश्वर से भिन्न है। अतः नैयायिक-वैशेषिक मत में जो दोष दिये गये हैं वे दोष सांख्यमत में नहीं आते हैं। सांख्याभिमत ईश्वर का स्वरूप इस प्रकार है–

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। –योगसूत्र 1/24

अर्थात् क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से रहित पुरुष विशेष को ईश्वर कहते हैं। क्लेश पाँच प्रकार का होता है– अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। अनित्य, अपवित्र, दुःख तथा अनात्म में नित्य, पवित्र, सुख तथा आत्मबुद्धि करना अविद्या है। दृक्शक्ति (पुरुष) तथा दर्शनशक्ति (बुद्धि) में अभेदात्मक ज्ञान करना अस्मिता है। सुखोत्पादक वस्तुओं में लोभ का होना राग कहलाता है। दुःखोत्पादक वस्तुओं में क्रोध का होना द्वेष है और क्षुद्र जन्तु से लेकर विद्वान् को भी जो मृत्यु का भय लगा रहता है वह अभिनिवेश कहलाता है। शुभ और अशुभ के भेद से कर्म दो प्रकार का होता है। कर्म के फल को विपाक कहते हैं। कर्म के संस्कार को आशय कहते हैं। आशय का तात्पर्य धर्म और अधर्म से है। इस प्रकार ईश्वर क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से रहित होता है। ईश्वर अनादिकाल से मुक्त और एक है। अन्य सब मुक्त आत्माएँ ईश्वर नहीं कहला सकती हैं, क्योंकि वे अनादि से बन्धनमुक्त नहीं होती हैं। उनमें अनेक प्रकार के बन्धनों का सद्भाव रहता है। बन्धनमुक्त आत्माएँ

विवेकरूप ज्ञान से तथा कर्मफल के उपभोग द्वारा बन्धनों का विनाश करके कैवल्य को प्राप्त होती हैं, परन्तु ईश्वर तो सदा ही मुक्त और सदा ही ईश्वर रहता है तथा वह आठ प्रकार के ऐश्वर्य से सम्पन्न होता है। आठ प्रकार का ऐश्वर्य इस प्रकार है- अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व और यत्रकामावसायिता।

अणिमा के द्वारा ईश्वर अणु शरीर धारण करके सर्वप्राणियों के द्वारा अदृश्य होकर सर्वलोक में विचरण करता है। लघिमा के द्वारा वायु की तरह लघु होकर ईश्वर लोक में विचरण करता है। महिमा के द्वारा वह सर्वलोक पूजित होता है। प्राप्ति के द्वारा वह मन से जिसका चिन्तन करता है उसको प्राप्त कर लेता है। प्राकाम्य के द्वारा वह जिसकी कामना करता है उसके भोगने में समर्थ होता है। ईशित्व के द्वारा वह त्रैलोक्य का प्रभु होता है। वशित्व के द्वारा वह सब जीवों को वश में कर लेता है और यत्रकामावसायिता के द्वारा वह तीनों लोकों में से जिस लोक में या गति में जहाँ भी रहने की कामना करता है वहाँ निवास करता है। ईश्वर में ज्ञान, ऐश्वर्य आदि का परम प्रकर्ष पाया जाता है। इस प्रकार के ईश्वर की प्रवृत्ति संसार के समस्त प्राणियों के अनुग्रह के लिए होती है। ईश्वर का ध्यान करने वाले प्राणियों के लिए वह अभिमत फल को देता है। नित्य होने से ईश्वर वर्तमान, भूत और भविष्य- इन तीनों कालों में अनवच्छिन्न रहता है तथा वह कपिल आदि गुरुओं का भी गुरु है।

विशेष- सांख्य दो प्रकार के होते हैं- निरीश्वरसांख्य और सेश्वरसांख्य। निरीश्वरसांख्य का सामान्य नाम सांख्य है। ये लोग ईश्वर को नहीं मानते हैं। सेश्वरसांख्य का दूसरा नाम योग है। योगदर्शन ईश्वर को मानता है। ऊपर ईश्वर का जो स्वरूप बतलाया गया है वह योगदर्शन के अनुसार है। दोनों सांख्यमतों में प्रकृति, पुरुष आदि 25 तत्त्व समानरूप से मान्य हैं। परन्तु योगदर्शन 25 तत्त्वों के अतिरिक्त एक ईश्वर को भी मानता है। इसीलिए उसको सेश्वरसांख्य कहते हैं।

उत्तरपक्ष- सांख्यों ने जो क्लेश, कर्म आदि से रहित पुरुष विशेष को ईश्वर बतलाया है वह सुविचारित नहीं है। यहाँ हम यह जानना चाहते हैं कि क्या क्लेशादि से रहित होना ही ईश्वर का स्वरूप है अथवा इसके साथ **सर्वज्ञ** होना भी आवश्यक है। प्रथम पक्ष में क्लेशादि से रहित

होने के कारण वह अन्य मुक्तात्माओं की तरह मुक्त ही होगा, ईश्वर नहीं। यदि उसको ईश्वर मानने का आग्रह है तो अन्य मुक्तात्माओं को भी ईश्वर मानना चाहिए। यदि ऐसा माना जाय कि अन्य मुक्त आत्माएँ सदा से बन्धन रहित नहीं थीं तो ऐसा कहना श्रद्धामात्र है। हम कह सकते हैं कि आपके द्वारा अभिमत ईश्वर भी अनादिकाल से बन्धनरहित नहीं था। अब यदि आप कहें कि क्लेशादि से रहित होने के साथ ही सर्वज्ञ होना भी ईश्वर के स्वरूप में सम्मिलित है तो हम यहाँ पूछ सकते हैं कि ईश्वर में सर्वज्ञत्व कैसे सिद्ध होता है– सब पदार्थों का कर्त्ता होने से अथवा ऐश्वर्य का आश्रय होने से? ईश्वर को क्षित्यादि सब पदार्थों का कर्त्ता मानना युक्तिसङ्गत नहीं है, क्योंकि यौगों के द्वारा अभिमत ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता मानने में जो दोष दिये गये हैं वे सब दोष यहाँ भी आते हैं। यदि ईश्वर को कर्त्ता माना जाता है तो **'अकर्त्ता निर्गुणः शुद्धः'** इत्यादिरूप से आत्मा का जो लक्षण बतलाया गया है वह नहीं बनेगा।

थोड़ी देर के लिए हम मान लेते हैं कि ईश्वर कर्त्ता है तो जिज्ञासा होती है कि वह स्वतन्त्र होकर कार्य करता है अथवा प्रकृतितन्त्र (प्रकृति के अधीन) रहकर कार्य करता है। यदि ईश्वर स्वतन्त्ररूप से कार्य करता है तो यौगाभिमत ईश्वर से सांख्याभिमत ईश्वर में कोई विशेषता न होने के कारण यौगमत में प्रदर्शित दोष यहाँ भी आते हैं। इस कारण ईश्वर में कर्तृत्व सिद्ध नहीं हो सकता है। अब यदि ऐसा माना जाय कि ईश्वर प्रकृतितन्त्र होकर कार्य करता है तो इस मान्यता में भी दो विकल्प होते हैं कि क्या प्रकृति ईश्वर में कोई अतिशय उत्पन्न कर देती है अथवा दोनों एक साथ मिलकर कार्य करते हैं। इनमें से प्रथम विकल्प तो सर्वथा अनुपयुक्त है, क्योंकि ईश्वर सर्वथा नित्य और अविकारी होने से प्रकृति उसमें अतिशय उत्पन्न नहीं कर सकती है। द्वितीय विकल्प स्वीकार करने पर सब कार्यों की उत्पत्ति एक साथ प्राप्त होगी, क्योंकि ईश्वर और प्रधान (प्रकृति)– ये दोनों कारण सर्वदा तथा सर्वत्र विद्यमान रहते हैं। अतः नित्य ईश्वर तथा प्रधान–दोनों कारणों से सब कार्यों की युगपत् उत्पत्ति का प्रसङ्ग अनिवार्य है।

यहाँ सांख्य कह सकते हैं कि ईश्वर और प्रधान के सर्वत्र और

सर्वदा विद्यमान रहने पर भी सब कार्यों की उत्पत्ति एक साथ नहीं होती है, क्योंकि पदार्थों की स्थिति, उत्पत्ति और विनाश में सत्त्व, रज और तमोगुण क्रमशः सहकारी कारण होते हैं और ये तीनों गुण क्रमभावी हैं। अतः सब कार्यों की युगपत् उत्पत्ति सम्भव नहीं है। सांख्यों का उक्त कथन तर्कसङ्गत नहीं है। यहाँ हम यह जानना चाहते हैं कि जब ईश्वर और प्रकृति पदार्थों की उत्पत्ति करते हैं तब उनमें प्रलय और स्थिति करने की सामर्थ्य रहती है या नहीं? यदि सामर्थ्य रहती है तो उत्पत्ति के समय में प्रलय और स्थिति का भी प्रसङ्ग प्राप्त होता है। इसी प्रकार प्रलय के समय में उत्पत्ति और स्थिति का प्रसङ्ग प्राप्त होगा तथा स्थिति के समय में उत्पत्ति और प्रलय का प्रसङ्ग आयेगा। अब यदि माना जाय कि ईश्वर और प्रकृति में एक समय में उत्पत्ति आदि में से एक ही कार्य को करने की सामर्थ्य है तो उस कार्य को ही सदा होना चाहिए और दूसरे कार्यों को कभी नहीं होना चाहिए, क्योंकि दूसरे समय में दूसरे कार्यों को करने की सामर्थ्य उनमें उत्पन्न नहीं हो सकती है। अन्यथा उनमें नित्य और एक स्वभाव का व्याघात हो जायेगा। इस प्रकार सांख्याभिमत ईश्वर सकल कार्यों का कर्ता सिद्ध न होने के कारण सर्वज्ञ सिद्ध नहीं होता है।

अणिमा आदि ऋद्धियों-स्वरूप ऐश्वर्य का आश्रय मानकर भी ईश्वर को सर्वज्ञ सिद्ध नहीं किया जा सकता है। यदि ईश्वर में अणिमा आदि का ऐश्वर्य है तो वह स्वाभाविक है या प्रकृतिकृत है। ईश्वर में ऐश्वर्य को स्वाभाविक नहीं माना जा सकता है, क्योंकि सांख्यों ने चैतन्य को ही स्वाभाविक माना है तथा ऐश्वर्य को प्रकृति का धर्म माना है। सांख्यों ने माना है कि जब प्रकृति बुद्धिरूप से परिणमन करती है तब उसमें धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य आदि गुण उत्पन्न हो जाते हैं। इसका अर्थ यही हुआ है कि ईश्वर में स्वाभाविक ऐश्वर्य नहीं है। अतः स्वाभाविक ऐश्वर्य का आश्रय न होने से भी ईश्वर को सर्वज्ञ नहीं माना जा सकता है। इत्यादि प्रकार से विचार करने पर यही सिद्ध होता है कि सांख्याभिमत ईश्वर न तो सृष्टिकर्ता है, न सर्वज्ञ है और न अणिमा आदि आठ प्रकार के ऐश्वर्य से सम्पन्न है।

पहले बतलाया गया है कि प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है– सांव्यवहारिक

प्रत्यक्ष और मुख्य प्रत्यक्ष। मतिज्ञान के जो अवग्रह आदि चार भेद हैं वे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के अन्तर्गत ही हैं। अतः यहाँ आचार्य अवग्रह आदि का स्वरूप बतला रहे हैं–

अवग्रह आदि का स्वरूप :

अक्षार्थयोगे सत्तालोकोऽर्थाकारविकल्पधीः।
अवग्रहो विशेषाकाङ्क्षेहाऽवायो विनिश्चयः।।5।।
धारणा स्मृतिहेतुस्तन्मतिज्ञानं चतुर्विधम्।

पहले इन्द्रिय और अर्थ का सम्बन्ध होने पर सत्तामात्र का दर्शन होता है। दर्शन में पदार्थ का सामान्य अवभास होता है। उसके बाद पदार्थ के आकार को लिए हुए जो विकल्पात्मक (निश्चयात्मक) ज्ञान होता है उसे अवग्रह कहते हैं। अवग्रह द्वारा गृहीत अर्थ में विशेष को जानने की जो आकांक्षा होती है उसका नाम ईहा है। जिस अर्थ के विशेष को जानने की आकांक्षा हुई थी उसके विनिश्चय को अवाय कहते हैं और जो स्मृति में कारण होता है उसे धारणा कहते हैं। इस प्रकार मतिज्ञान के चार भेद हैं।

समस्त पदार्थों में सत्त्व-सामान्य पाया जाता है। इसी को सत्ता कहते हैं। पदार्थों में जो सत्ता का आलोक (निर्विकल्पक रूप से ग्रहण) होता है उसे दर्शन कहते हैं। सामान्यरूप से ग्रहण का नाम दर्शन है और विशेषरूप से जो ग्रहण होता है उसे ज्ञान कहते हैं। छद्मस्थों के दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है, परन्तु केवली के दर्शन और ज्ञान एक साथ होते हैं। दर्शन में हमें किसी वस्तु का सामान्य अवभास होता है। फिर वही दर्शन 'यह मनुष्य है' इत्यादिरूप से निर्णयात्मक बुद्धि के रूप में परिणत हो जाता है। इसी का नाम अवग्रह है। अवग्रह के द्वारा गृहीत अर्थ में विशेष को जानने की जो आकांक्षा होती है उसका नाम ईहा है। जैसे यह मनुष्य दाक्षिणात्य (दक्षिण का रहने वाला) है या औदीच्य (उत्तर का रहने वाला) है, इस प्रकार से जानने की आकांक्षा होती है। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि अवग्रह और ईहा के बीच में कुछ संशय होता है और जब वह संशय दूर होकर ज्ञान किसी निर्णय की ओर पहुँचने का प्रयत्न करता है तब वह ज्ञान ईहा कहलाता है। ईहा के पश्चात् मनुष्य के कुछ विशेष चिह्नों– वेषभूषा, भाषा आदि को देखकर यह निश्चय हो जाता

है कि यह दाक्षिणात्य ही है। इस प्रकार निश्चयात्मक ज्ञान का नाम अवाय है। तदनन्तर अवाय के द्वारा गृहीत अर्थ का हृदय में धारणारूप संस्कार पड़ जाता है और यह संस्कार कालान्तर में उस पदार्थ की स्मृति में हेतु होता है। अर्थात् धारणारूप ज्ञान स्मृति का कारण होता है। इस प्रकार मतिज्ञान के अवग्रह आदि चार भेदों का स्वरूप बतलाया गया है।

विज्ञानाद्वैतवाद :

पूर्वपक्ष– यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि बौद्ध दार्शनिकों के चार भेद हैं– वैभाषिक (बाह्यार्थप्रत्यक्षवादी) सौत्रान्तिक (बाह्यार्थानुमेयवादी) योगाचार (विज्ञानाद्वैतवादी) और माध्यमिक (शून्यवादी)।

विज्ञानाद्वैतवादी योगाचार कहते हैं कि इस संसार में विज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ की सत्ता नहीं है। जो भी प्रतिभासमान वस्तु है वह सब ज्ञानस्वरूप के अन्तःप्रविष्ट है, इसलिए संवेदन ही पारमार्थिक तत्त्व है। ऐसा कहना ठीक नहीं है कि विज्ञानाद्वैत का साधक प्रमाण ही नहीं है। हम अनुमान प्रमाण से विज्ञानाद्वैत की सिद्धि करते हैं। तथाहि–

'यदवभासते तज्ज्ञानमेव यथा सुखादि, अवभासन्ते च भावा इति'

अर्थात् जो अवभासित होता है वह ज्ञान ही है, जैसे सुखादि। सब पदार्थ भी अवभासित होते हैं, इसलिए वे भी ज्ञानरूप ही हैं और स्वतः प्रतिभासित होते हैं। पदार्थों का प्रतिभास पर से हो भी नहीं सकता है। यदि माना जाय कि पदार्थ का प्रतिभास पर (ज्ञान) से होता है तो यहाँ प्रश्न यह है कि पर अर्थ से असम्बद्ध है या सम्बद्ध? असम्बद्धपर से तो पदार्थ का प्रतिभास हो नहीं सकता है। ऐसा मानने में अतिप्रसङ्ग दोष आता है। फिर तो किसी का किसी से भी प्रतिभास हो जायेगा। अब यदि सम्बद्धपर से अर्थ का प्रतिभास माना जाय तो यहाँ भी जिज्ञासा होती है कि अर्थ और ज्ञान में कौन सा सम्बन्ध है– तादात्म्य अथवा तदुत्पत्ति? यदि ज्ञान और अर्थों में तादात्म्य सम्बन्ध है तो या तो अर्थों में ज्ञानरूपता हो जायेगी अथवा ज्ञान में जड़रूपता माननी पड़ेगी। अर्थों में ज्ञानरूपता स्वीकार करने पर ज्ञानाद्वैत की सिद्धि स्वतः हो जाती है और ज्ञान को जड़रूप मानने पर अर्थ का कोई व्यवस्थापक ही नहीं रहेगा।

तब अर्थ की सिद्धि कैसे होगी?

अब यदि ज्ञान और अर्थ में तदुत्पत्ति सम्बन्ध स्वीकार किया जाय तो ऐसा मानना पड़ेगा कि या तो ज्ञान से अर्थ उत्पन्न होता है अथवा अर्थ से ज्ञान उत्पन्न होता है। प्रथम पक्ष में ज्ञान से उत्पन्न होने के कारण सब अर्थ ज्ञानरूप हो जायेंगे और तब ज्ञानाद्वैत की सिद्धि स्वतः हो जायेगी। द्वितीय पक्ष में– अर्थ से ज्ञान उत्पन्न होता है ऐसा मानने पर प्रश्न होता है कि समकालीन अर्थ से ज्ञान उत्पन्न होता है या भिन्नकालीन अर्थ से? समकालीन अर्थ से ज्ञान की उत्पत्ति मानने पर सव्येतरगोविषाण की तरह उनमें कार्यकारणभाव नहीं बन सकता है और भिन्नकालीन अर्थ से ज्ञान की उत्पत्ति स्वीकार करने पर ज्ञान में अहेतुकत्व का प्रसङ्ग आता है, क्योंकि ज्ञान के काल में अर्थ असत् है और जो असत् है उससे किसी की भी उत्पत्ति सम्भव नहीं है।

इस प्रकरण में यह भी विचारणीय है कि यदि अर्थ का अस्तित्व है तो वह निराकार ज्ञान से ग्राह्य है अथवा साकारज्ञान से? प्रथम पक्ष में प्रतिकर्मव्यवस्था का लोप हो जायेगा। अर्थात् यह ज्ञान नील का ग्राहक है और यह ज्ञान पीत का ग्राहक है, ऐसी जो प्रतिकर्मव्यवस्था है वह नहीं बन सकेगी। प्रतिकर्मव्यवस्था तो साकार ज्ञान के मानने पर ही बनती है। यह ज्ञान घट को क्यों जानता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि घटाकार होने से यह घट को जानता है यही प्रतिकर्मव्यवस्था है जो ज्ञान को साकार मानने पर बनती है। और ज्ञान को साकार मानने की स्थिति में अर्थ की कल्पना करना व्यर्थ हो जाती है। ज्ञान और अर्थ में सहोपलम्भ नियम होने से भी यह सिद्ध होता है कि अर्थ ज्ञान से भिन्न नहीं है। नील पदार्थ और नील पदार्थ का ज्ञान इन दोनों में सहोपलम्भनियम पाया जाता है। अर्थात् दोनों (अर्थ और अर्थ का ज्ञान) साथ-साथ रहते हैं। इस सहोपलम्भनियम से नील अर्थ और नील बुद्धि में अभेद सिद्ध होता है। कहा भी है– **सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः।**

यद्यपि ज्ञानमात्र तत्त्व ग्राह्य और ग्राहक के भेद से रहित है तथापि वह अनादिकालीन अविद्या के कारण ग्राह्य और ग्राहक के भेद को लिये हुए प्रतिभासित होता है। वास्तव में तो वह विभाग रहित है। इसी विषय में **धर्मकीर्ति** ने **प्रमाणवार्तिक** में कहा है–

अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते।।

अर्थात् बुद्धि का स्वरूप अविभाग (विभागरहित) है, परन्तु विपरीत बुद्धि वाले पुरुषों के द्वारा उसमें ग्राह्य और ग्राहक के भेद की कल्पना कर ली जाती है। और भी देखिए–

नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति तस्या नानुभवोऽपरः।
ग्राह्यग्राहक-वैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते।।

अर्थात् बुद्धि के द्वारा अन्य कोई बाह्य अर्थ ग्राह्य नहीं है और उस बुद्धि का भी अन्य कोई ग्राहक नहीं है। वह बुद्धि ग्राह्य और ग्राहक के वैधुर्य (अभाव) के कारण स्वयं प्रकाशित होती है।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि बाह्यार्थ के अभाव में भी बाह्यार्थ का ज्ञान हो जाता है। जैसे तिमिर रोग वाले पुरुष को दो चन्द्र के अभाव में भी द्विचन्द्रदर्शन हो जाता है। यथार्थ में ज्ञानाकार ही ज्ञेयाकाररूप से प्रतिभासित होता है। इस प्रकार विज्ञानाद्वैतवादी विज्ञानाद्वैत की सिद्धि करते हैं।

उत्तरपक्ष– विज्ञानाद्वैतवादियों का उक्त मत समीचीन नहीं है। उन्होंने कहा है– जो अवभासित होता है वह ज्ञान ही है, जैसे सुखादि, इत्यादि। यहाँ हम यह जानना चाहते है कि अर्थों का अवभास स्वतः होता है या परतः? अर्थों का अवभाव स्वतः मानना तो असङ्गत है। हम देखते हैं कि किसी को भी घटादि का परनिरपेक्ष स्वतः प्रतिभास स्वप्न में भी नहीं देखा गया है। अब यदि अर्थों का अवभास परतः माना जाता है तो इससे यही सिद्ध होता है कि अर्थ जड़ हैं, क्योंकि जड़ पदार्थ ही अपने प्रतिभास के लिए पर की अपेक्षा करते हैं। विज्ञानाद्वैतवादी मानते हैं कि ज्ञान और अर्थ में अभेद है। अथवा ज्ञान ही अविद्या के कारण अर्थरूप से प्रतिभासित होता है, परन्तु हम देखते हैं कि प्रत्यक्ष से नीलपीतादिरूप अर्थों की प्रतीति स्पष्टरूप से होती है। पुरोवर्ती घटादि *अर्थों की प्रतीति बहिरङ्ग* प्रतीति कहलाती है। इसके विपरीत ज्ञान, सुखादि की प्रतीति *अन्तरङ्ग*रूप से होती है। घटादि पदार्थ बहिरङ्ग हैं और ज्ञानादि

अन्तरङ्ग हैं। ग्राहकरूप विज्ञान अन्तरङ्ग है और ग्राह्यरूप नीलादि बहिरङ्ग हैं। ऐसा स्पष्ट प्रतिभास होने पर भी यदि उनमें अभेद माना जायेगा तो फिर कहीं भी भेद सिद्ध नहीं होगा।

अनुमान से भी ज्ञान और अर्थ में भेद की सिद्धि होती है। **तथाहि-**

"यद् द्व्याकारतया प्रतिभासते तत् तत्त्वतो भिन्नम्, यथा सुखदुःखे। द्व्याकारतया प्रतिभासेते च विषयज्ञानाकारौ।"

अर्थात् जो वस्तु दो आकाररूप से प्रतिभासित होती है वह वास्तव में भिन्न है, जैसे- सुख और दुःख। विषय (घटादि) और ज्ञान भी दो प्रकार के आकारों के रूप में प्रतिभासित होते हैं, अतः वे दोनों भिन्न हैं। यदि विज्ञानाद्वैतवादी बाह्य अर्थ का अपह्नव करना चाहते हैं तो प्रतिनियत मनुष्यादि जाति की सिद्धि कैसे होगी? यदि जगत् में ज्ञानमात्र ही तत्त्व है तो कोई नियामक न होने से मनुष्य अश्व हो जायेगा और अश्व मनुष्य हो जायेगा। इसी प्रकार हस्ती पिपीलिका हो जायेगा और पिपीलिका हस्ती हो जायेगी। परन्तु बाह्यार्थ का सद्भाव मानने पर मनुष्यादि जाति का सद्भाव सुगमता से बन जाता है। जिस प्राणी ने मनुष्यत्व जाति के उपभोग योग्य सुखादि कर्म का उपार्जन किया है वह उस कर्म के द्वारा उसी जाति को प्राप्त करता है। इसी प्रकार अन्य प्राणियों के विषय में भी समझ लेना चाहिए। विज्ञानाद्वैतवादी कहते हैं कि बाह्य अर्थ का असत्त्व है। यहाँ हम उनसे पूछना चाहते हैं कि बाह्य अर्थ का असत्त्व क्यों है? क्या बाह्य अर्थ का साधक कोई प्रमाण नहीं है या उसमें अर्थक्रियाकारित्व का अभाव है, अथवा उसमें बाधक प्रमाण का सद्भाव है? हम पहले बतला चुके हैं कि प्रत्यक्ष से तथा अनुमान से बाह्य अर्थ की सिद्धि होती है। अतः यह कहना सर्वथा गलत है कि बाह्य अर्थ का साधक कोई प्रमाण नहीं है। बाह्य अर्थ घटादि में अर्थक्रियाकारित्व का अभाव बतलाना भी सङ्गत नहीं है, क्योंकि घटादि अर्थ जलधारण आदि अर्थक्रिया को करते ही हैं। इसका अनुभव भी प्रत्यक्ष से होता ही है। ऐसा कोई प्रमाण दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है जो बाह्य अर्थ के सद्भाव में बाधक होता हो। इस प्रकार निर्विवादरूप से ज्ञान से भिन्न बाह्य अर्थ की सिद्धि होती है।

पूर्वपक्ष में कहा गया है कि यदि अर्थ का प्रतिभास पर (ज्ञान) से

होता है तो पर अर्थ से सम्बद्ध है या असम्बद्ध, इत्यादि। इस विषय में हमारा कहना है कि अर्थ के साथ सम्बद्ध ज्ञान से ही अर्थ का प्रतिभास होता है, असम्बद्ध से नहीं। ज्ञान और अर्थ में योग्यतारूप सम्बन्ध माना गया है, तादात्म्य और तदुत्पत्तिरूप सम्बन्ध नहीं। ज्ञान और अर्थ में न तो तादात्म्य सम्बन्ध है और न तदुत्पत्ति सम्बन्ध। स्वावरण के क्षयोपशम का नाम योग्यता है और ऐसी योग्यता जिस अर्थ में पायी जाती है उस अर्थ का ज्ञान के द्वारा प्रतिभास होता है, चाहे वह अर्थ समकालवर्ती हो या भिन्नकालवर्ती। पूर्वपक्ष में यह भी कहा गया है कि यदि अर्थ की सत्ता है तो वह साकारज्ञान ग्राह्य है या निराकारज्ञान ग्राह्य। इस विषय में जैनदर्शन का मत है कि ज्ञान अर्थाकार नहीं होता है। वह निराकार रहकर ही अर्थ का ग्रहण करता है। घटज्ञान घटाकार न होकर भी स्वावरण क्षयोपशमरूप योग्यता के द्वारा घट का ग्रहण करता है। इसलिए यहाँ प्रतिकर्मव्यवस्था आसानी से बन जाती है। इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

विज्ञानाद्वैतवादियों ने ज्ञान और अर्थ में अभेद सिद्ध करने के लिए जो सहोपलम्भ नियम बतलाया है वह भी युक्तिसङ्गत नहीं है, क्योंकि जहाँ भेद होता है वहीं सहोपलम्भ देखा जाता है, अभेद में नहीं। विज्ञान और अर्थ में सहोपलम्भ सिद्ध नहीं होता है। ऐसा नहीं है कि सदा ही अर्थ और ज्ञान का उपलम्भ एक साथ देखा जाता हो। बाह्य अर्थ के उपलम्भ के बिना भी सुखादि का संवेदन होता ही है। उनका **'अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा'** तथा **'स्वयं सैव प्रकाशते'** इत्यादि कथन भी तर्कसङ्गत नहीं है, क्योंकि ज्ञानाकार ज्ञेयाकाररूप से प्रतिभासित नहीं होता है और न ज्ञान में ग्राह्य-ग्राहक का वैधुर्य (अभाव) है। यह स्पष्टरूप से प्रतिभासित होता है कि घटादि पदार्थ ग्राह्य हैं और ज्ञान उनका ग्राहक है। प्रत्यक्ष द्वारा प्रतिभासित होने पर भी यदि बाह्य अर्थ का अभाव माना जायेगा तो विज्ञानमात्र तत्त्व का भी अभाव मानना पड़ेगा। विज्ञान से भिन्न बाह्यार्थ की सत्ता के बिना द्विचन्द्रदर्शन भी सम्भव नहीं है। चक्षु इन्द्रिय में काच-कामलादि दोष के कारण बाह्य में स्थित एक चन्द्र में जो द्विचन्द्र का ज्ञान होता है वह बाह्य अर्थ के सद्भाव में ही सम्भव है। यह भी विचारणीय है कि विज्ञानाद्वैत का साधक कोई प्रमाण है या नहीं? यदि विज्ञानाद्वैत का साधक कोई प्रमाण है तो द्वैत का प्रसङ्ग प्राप्त होता है और यदि

अद्वैत का साधक कोई प्रमाण नहीं है तो फिर विज्ञानाद्वैत के अस्तित्व की सिद्धि कैसे होगी? प्रमाण के अभाव में प्रमेय की सिद्धि किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। इत्यादि प्रकार से विचार करने पर विज्ञानाद्वैतवादियों द्वारा अभिमत विज्ञानाद्वैतवाद निरस्त हो जाता है।

चित्राद्वैतवाद :

पूर्वपक्ष– विज्ञानाद्वैतवाद के अन्तर्गत एकमत चित्राद्वैतवादियों का है। चित्राद्वैतवादी बाह्य अर्थ की सत्ता न मानकर ज्ञानमात्र की ही सत्ता मानते हैं। उनका कहना है कि ज्ञान में नील, पीत आदि अनेक आकार होते हैं। वह ज्ञान चित्र (नाना) प्रतिभास वाला होकर भी एक ही रहता है तथा वह बाह्य चित्र से विलक्षण है, क्योंकि बाह्य अर्थ वस्त्रादि में जो नील, पीत आदि अनेक आकार होते हैं, उनको हम पृथक् कर सकते हैं, परन्तु ज्ञान में जो अनेक आकार होते हैं उनका पृथक्करण नहीं किया जा सकता है। इसी का नाम चित्राद्वैत है। चित्राद्वैतवादी बाह्य अर्थ की सत्ता नहीं मानते हैं, क्योंकि बाह्य अर्थ का साधक कोई प्रमाण ही नहीं है। यदि बाह्य अर्थ का साधक कोई प्रमाण है तो प्रश्न होता है कि वह निराकार है या साकार? निराकार ज्ञान को बाह्य अर्थ का साधक नहीं माना जा सकता है, क्योंकि उसके द्वारा प्रतिनियत विषय की व्यवस्था नहीं हो सकती है। अब यदि साकार ज्ञान को बहिरर्थ का साधक माना जाय तो इससे नीलादि अनेक आकारों से युक्त चित्रज्ञान की ही सिद्धि होती है, बाह्य अर्थ की नहीं। इसी विषय में **प्रमाणवार्तिक** में कहा गया है–

धियोऽनीलादिरूपत्वे बाह्योऽर्थः किंनिबन्धनः।
धियो नीलादिरूपत्वे बाह्योऽर्थः किंनिबन्धनः।।

अर्थात् यदि ज्ञान अनीलादिरूप (नीलादिरूप रहित) है तो बाह्यार्थ की सत्ता का कोई कारण न होने से उसकी सत्ता सिद्ध नहीं होती है और यदि ज्ञान नीलादिरूप है तो बाह्य अर्थ के मानने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अर्थनिरपेक्ष ज्ञान ही स्वसामग्री से नीलादि अनेक आकाररूप उत्पन्न होता है। यहाँ ऐसी आशङ्का नहीं की जा सकती है कि नाना आकाररूप से प्रतिभासित ज्ञान में एकत्व कैसे सम्भव है? इसका उत्तर यह है कि

यद्यपि ज्ञान में नीलादि अनेक आकार पाये जाते हैं, किन्तु उनका पृथक्-पृथक् विवेचन सम्भव नहीं है। अर्थात् उनमें यह नील है और यह पीत है, इत्यादि प्रकार से पृथक्करण नहीं किया जा सकता है। यद्यपि बुद्धि चित्रप्रतिभासरूप है, फिर भी वह बाह्य चित्र से विलक्षण होने के कारण एक ही है, क्योंकि बाह्य चित्र का विवेचन (पृथक्करण) शक्य है, परन्तु बुद्धि के नीलादि आकारों का विवेचन अशक्य है। जैसे एक चित्रपट है। उसमें हरे, पीले, नीले आदि अनेक रंग होते हैं, परन्तु जिस प्रकार चित्रपट के उन अनेक रंगों का पृथक्करण किया जा सकता है उस प्रकार ज्ञान के नीलपीतादि आकारों का पृथक्करण सम्भव नहीं है। ज्ञान में जो चित्राकारता है वह अर्थ का धर्म न होकर ज्ञान का ही धर्म है और प्रत्येक ज्ञान चित्राकार ही उत्पन्न होता है। सुखादि भी ज्ञानस्वरूप ही हैं, ज्ञान से भिन्न नहीं, क्योंकि ज्ञान के जो हेतु हैं उन्हीं हेतुओं से सुखादि भी उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार चित्रज्ञान में नीलादि आकार की तरह सुखादि आकार का भी समावेश हो जाता है। अतः नीलादिरूप तथा सुखादिरूप चित्रज्ञान के सिद्ध होने में कोई बाधा नहीं है। इस तरह चित्राद्वैतवादियों ने चित्राद्वैत की सिद्धि की है।

उत्तरपक्ष- चित्राद्वैतवादियों का उक्त मत युक्तिसङ्गत नहीं है। चाहे विज्ञानाद्वैतवाद हो या चित्राद्वैतवाद- दोनों में बाह्य अर्थ की सत्ता नहीं मानी गई है। हम पहले विज्ञानाद्वैत के निराकरण के प्रसङ्ग में बहिरर्थ की सत्ता सिद्ध कर आये हैं। चित्राद्वैतवाद विज्ञानाद्वैतवाद का ही एक रूप है। इसकी विशेषता यह है कि इसमें ज्ञान के अनेक आकार मानकर भी ज्ञान को एक ही माना गया है, अनेक नहीं। पूर्वपक्ष में बतलाया गया है कि चित्राकाररूप से प्रतिभासमान ज्ञान एक ही है, क्योंकि उसके नीलपीतादि विभिन्न आकारों का विवेचन अशक्य है। हम यहाँ यह जानना चाहते हैं कि ज्ञान के विभिन्न आकारों में अशक्यविवेचनत्व क्या है? क्या ज्ञान से अभिन्न होने का नाम अशक्यविवेचनत्व है या ज्ञान के साथ उत्पन्न हुए नीलादि आकारों का अन्य ज्ञान का परिहार करके उसी ज्ञान के द्वारा अनुभव होने का नाम अशक्यविवेचनत्व है अथवा उनमें भेदपूर्वक विवेचन के न होने का नाम अशक्यविवेचनत्व है? प्रथम पक्ष में अशक्यविवेचनत्व हेतु साध्यसम (साध्य के समान) हो जाता है। अर्थात् जिस प्रकार साध्य असिद्ध होता है उसी प्रकार हेतु भी असिद्ध है। चित्राद्वैतवादी कहते हैं-

'ज्ञानादभिन्ना नीलादयः अशक्यविवेचनत्वात्'। यहाँ 'नीलादि ज्ञान से अभिन्न हैं', यह साध्य है और अशक्यविवेचनत्व हेतु है। यहाँ साध्य और हेतु- दोनों एक समान हैं। ज्ञान से अभिन्नत्व और अशक्यविवेचनत्व में कोई भेद नहीं है। द्वितीय पक्ष मानने पर हेतु अनैकान्तिक हो जाता है, क्योंकि सुगतज्ञान के साथ उत्पन्न जगत् के पदार्थों का सुगतज्ञान के द्वारा अनुभव तो होता है, परन्तु ज्ञान और अर्थों में एकत्व नहीं माना गया है। तृतीय पक्ष में यह माना गया है कि ज्ञान के आकारों में भेदपूर्वक विवेचन का अभाव पाये जाने के कारण उनमें अशक्यविवेचनत्व है, परन्तु यहाँ भेदपूर्वक विवेचन का अभाव बतलाना सर्वथा गलत है। क्योंकि नील अर्थ और नीलज्ञान- इन दोनों का विवेचन सुप्रसिद्ध है। नील अर्थ का सम्बन्ध बहिर्देश से है और नीलज्ञान का सम्बन्ध अन्तर्देश से है। इसी प्रकार ज्ञान के नीलपीतादि आकारों का भी विवेचन किया जा सकता है। अतः उनमें विवेचन का अभाव मानना युक्तिसङ्गत नहीं है। इस तरह अशक्यविवेचनत्व हेतु के द्वारा चित्रज्ञान में एकत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता है।

पूर्वपक्ष में कहा गया है-**'ज्ञानात्मकाः सुखादयः ज्ञानाभिन्नहेतुजत्वात्।'** अर्थात् सुखादि ज्ञानस्वरूप हैं, क्योंकि ज्ञान की उत्पत्ति के जो हेतु हैं उन्हीं हेतुओं से सुखादि की भी उत्पत्ति होती है। इस विषय में दो विकल्प होते हैं- क्या सुख और ज्ञान के हेतु सर्वथा समान हैं अथवा कथञ्चित्। प्रथम विकल्प मानना असङ्गत है। ज्ञान और सुख के हेतु सर्वथा समान नहीं हैं, किन्तु भिन्न हैं। सुख का हेतु सातावेदनीय कर्म का उदय है और ज्ञान का हेतु ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम है। ज्ञान और सुख का स्वरूप भिन्न होने के कारण उनके हेतु भी भिन्न हैं। सुख का स्वरूप आह्लादनाकार है और ज्ञान का स्वरूप प्रमेय को जानना है। कहा भी है- **सुखमाह्लादनाकारं विज्ञानं मेयबोधनम्।**

अब यदि सुख और ज्ञान के हेतुओं में कथञ्चित् समानता मानी जाय तो ऐसा मानने पर भी सुख को ज्ञानरूप सिद्ध नहीं किया जा सकता है। ज्ञान और सुख सर्वथा एक नहीं हैं। अन्तस्तत्त्व होने के कारण उनमें कथञ्चित् एकत्व माना जा सकता है, सर्वथा नहीं। इस प्रकार सुखादि में ज्ञानरूपता सिद्ध नहीं होती है। इसलिए चित्राद्वैतवादियों का यह कथन-

'नीलसुखादिविविधचित्रप्रतिभासापि एकैव बुद्धिः अशक्यविवेचनत्वात्' निरस्त हो जाता है। इस प्रकार चित्राद्वैतवाद का निराकरण किया गया है।

शून्याद्वैतवाद :

पूर्वपक्ष- बौद्धदार्शनिकों में माध्यमिकों के अनुसार शून्यमात्र ही तत्त्व है। उनका कहना है कि चित्रज्ञान में जो नीलादि आकारों का प्रतिभास होता है वह अविद्याकल्पित होने के कारण अवास्तविक है। यथार्थ में तो चित्राकाररहित ज्ञान ही वास्तविक है। एक ज्ञान में चित्रता हो भी नहीं सकती है। एकत्व और चित्रता में विरोध भी है। जो एक है वह चित्राकार कैसे हो सकता है। कहा भी है-

किं स्यात् सा चित्रतैकस्यां न स्यात् तस्यां मतावपि।

इसका तात्पर्य यही है कि एक ज्ञान में चित्रता नहीं हो सकती है। ज्ञान में चित्रता के न रहने पर भी संवेदनमात्रता के रहने में कोई विरोध नहीं है। माध्यमिकों का सिद्धान्तपक्ष इस प्रकार है-

संवेदनमात्रमेव आलम्बनप्रत्ययरहितं वास्तवं तत्त्वं सकलप्रत्ययानां निरालम्बनस्वभावत्वात्। सर्वे प्रत्ययाः निरालम्बनाः प्रत्ययत्वात्, स्वप्नेन्द्रजालादिप्रत्ययवत्।

अर्थात् आलम्बन प्रत्यय से रहित संवेदनमात्र ही वास्तविक तत्त्व है, क्योंकि सकल प्रत्ययों का स्वभाव निरालम्बन होना है। सर्वप्रत्यय निरालम्बन होते हैं, प्रत्यय होने से, स्वप्न, इन्द्रजाल आदि प्रत्ययों की तरह। आलम्बनप्रत्यय का अर्थ है- विषय। शून्यवाद में जितने भी प्रत्यय (ज्ञान) होते हैं वे सब आलम्बन (विषय) से रहित होते हैं। किसी भी ज्ञान का कोई विषय नहीं होता है। हम सभी स्वप्नज्ञान का अनुभव करते हैं। स्वप्नज्ञान का कोई आलम्बन नहीं होता है। वह तो सर्वदा निरालम्बन होता है। इसी प्रकार सब ज्ञानों के विषय में समझना चाहिए। इसी का नाम सर्वधर्मनिरात्मकता तथा सकलधर्मशून्यता है। पदार्थों के स्वरूप के विषय में जब हम विचार करते हैं तो वे न एक सिद्ध होते हैं और न अनेक। इस कारण वे सर्वधर्मरहित कहे जाते हैं। जिस प्रकार खरविषाणादि पदार्थ परमार्थसत् नहीं हैं, उसी प्रकार परपरिकल्पित आत्मादि पदार्थ भी परमार्थसत् नहीं हैं। कहा भी है-

भावा येन निरूप्यन्ते तद् रूपं नास्ति तत्त्वतः।
यस्मादेकमनेकं च रूपं तेषां न विद्यते।।
– प्रमाणवार्तिक 3/360

अर्थात् जिस एक या अनेक स्वभाव से पदार्थों का निरूपण किया जाता है, वास्तव में वह पदार्थों का स्वभाव ही नहीं है। क्योंकि उनका न तो कोई एक रूप है और न अनेक रूप।

इसी प्रकार सर्वपदार्थ उत्पादादि धर्मरहित भी हैं। कोई भी पदार्थ कभी भी न तो स्वतः उत्पन्न होते हैं, न परतः उत्पन्न होते हैं, न दोनों से उत्पन्न होते हैं और न हेतु के बिना उत्पन्न होते हैं। क्योंकि इस प्रकार के विकल्पों में अनेक प्रकार के दोष आते हैं। इसी विषय में कहा गया है–

न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन।।
– माध्यमिककारिका

अतः मरीचिकादि में जलादि की प्रतीति की तरह उत्पादादि की प्रतीति भ्रान्त ही है। अनादिकालीन अविद्यारूप वासना के कारण असत् वस्तुओं का भी प्रतिभास हो जाता है। इसी प्रकार ज्ञान में ग्राह्य और ग्राहकभाव अविद्या के कारण ही होता है। ज्ञान का न तो कोई ग्राह्य है और न कोई ग्राहक है। वास्तव में वह तो ग्राह्य-ग्राहकभाव से शून्य होने के कारण स्वयं प्रकाशित होता है। प्रमाणवार्तिक (3/327) में कहा भी है–

नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति तस्या नानुभवोऽपरः।
ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते।।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि आलम्बन रहित स्वयं प्रकाशमान ज्ञान का नाम ही शून्याद्वैत है। शून्य का अर्थ यह नहीं है कि इस संसार में किसी भी तत्त्व की सत्ता नहीं है। कुछ लोग शून्य का अर्थ ऐसा ही समझते हैं कि यहाँ सब कुछ शून्य है। अर्थात् किसी भी तत्त्व की सत्ता नहीं है।

विशेष– उपरिलिखित विवरण से ऐसा प्रतीत होता है आलम्बनरहित ज्ञान का नाम शून्याद्वैत है। इससे ज्ञानाद्वैत और शून्याद्वैत में विशेष अन्तर मालूम नहीं पड़ता है। यथार्थ बात यह है कि माध्यमिकों के अनुसार शून्य का अर्थ तत्त्व की अवाच्यता से है। किसी पदार्थ के स्वरूप के निर्णय के लिए अस्ति, नास्ति, उभय और अनुभय– इन चार कोटियों का प्रयोग किया जाता है। परन्तु परमार्थ तत्त्व का इन चार कोटियों द्वारा कथन सम्भव नहीं है। अतः परमार्थ तत्त्व उक्त चार कोटियों से रहित होने के कारण अवाच्य है और इसी का नाम शून्यवाद है। शून्यवाद के प्रणेता नागार्जुन के अनुसार पदार्थों का अपना कोई स्वभाव न होने से वे निःस्वभाव हैं और पदार्थों की यही निःस्वभावता शून्यता है। शून्य तत्त्व भावात्मक है, अभावात्मक नहीं। नागार्जुन ने जिस शून्य तत्त्व का विवेचन किया है वह निषेधात्मक अवश्य प्रतीत होता है, परन्तु वह अभावात्मक नहीं है।

उत्तरपक्ष– माध्यमिकों द्वारा अभिमत शून्याद्वैतवाद तर्कसङ्गत नहीं है। उन्होंने कहा है कि ज्ञान में नीलादि आकारों का प्रतिभास अविद्याजन्य होने के कारण अवास्तविक है। यहाँ हम यह जानना चाहते हैं कि नीलादि आकारों का प्रतिभास अविद्याजन्य क्यों है? उसके बाधित होने से अथवा उसके विषयभूत अर्थ में अर्थक्रियाकारित्व का अभाव होने से? यहाँ प्रथम पक्ष मानना ठीक नहीं है, क्योंकि जल, नीलादि सब प्रतिभासों में अविद्याजन्यत्व की कल्पना करना गलत है। किन्तु जहाँ कोई प्रतिभास बाधित होता है वहाँ उसे अविद्याजन्य मानना तो ठीक है। जैसे मरीचिका में जलप्रतिभास को अथवा शुक्तिका में रजत प्रतिभास को अविद्याजन्य मानना सर्वथा उचित है, परन्तु सत्य जल में जल प्रतिभास को अथवा सत्य रजत में रजत प्रतिभास को अविद्याजन्य नहीं कहा जा सकता है। द्वितीय पक्ष के अनुसार प्रतिभास के विषयभूत अर्थ में अर्थक्रियाकारित्व का अभाव होने के कारण नीलादि के प्रतिभास को अविद्याजन्य मानना भी गलत है, क्योंकि जल आदि प्रतिभास के विषयभूत अर्थ में स्नानपानादि अर्थक्रिया पायी ही जाती है।

माध्यमिकों का यह कथन भी अविचारित रमणीय है कि स्वप्नप्रत्यय की तरह सर्वप्रत्यय निरालम्बन होते हैं। सर्वप्रत्ययों को निरालम्बन कहना

किसी भी प्रकार उचित नहीं है। प्रत्यक्ष से इस बात की प्रतीति होती है कि जाग्रत् प्रत्यय स्थिर-स्थूलरूप घट-पटादि अर्थों के प्रकाशक होते हैं। स्वप्नादि प्रत्ययों को भी सर्वथा निरालम्बन कहना गलत है। स्वप्न दो प्रकार का होता है- सत्य और असत्य। सत्य-स्वप्न देवताविशेषकृत या धर्माधर्मकृत होता है। इस स्वप्न में जिस प्रकार के अर्थ को देखा जाता है उस अर्थ की प्राप्ति जाग्रद् अवस्था में हो जाती है। दूसरे प्रकार का स्वप्न वह है जिसे वातपित्तादि के उद्वेग से उत्पन्न होने के कारण असत्य माना जाता है। ऐसा स्वप्न भी सर्वथा अर्थमात्र का व्यभिचारी नहीं होता है, परन्तु वह अर्थविशेष का व्यभिचारी अवश्य होता है। इसी कारण उसे असत्य कहा जाता है। माध्यमिक स्वप्न-प्रत्यय का दृष्टान्त देकर सर्वप्रत्ययों को बहिरङ्ग में मिथ्या सिद्ध करना चाहते हैं, परन्तु इससे तो सर्वप्रत्यय अन्तरङ्ग (स्वरूप) में भी मिथ्या हो जायेंगे।

पूर्वपक्ष में कहा गया है कि प्रत्येक अर्थ उत्पादादि धर्मरहित है। यह कथन भी सङ्गत नहीं है, क्योंकि द्रव्यरूप से सत् तथा पर्यायरूप से असत् पदार्थों में उत्पादादि धर्मों का सद्भाव निश्चितरूप से पाया जाता है। किन्तु ऐसा अवश्य है कि सर्वथा सत् अथवा सर्वथा असत् पदार्थों में उत्पादादि धर्म नहीं हो सकते हैं। यदि सब पदार्थ उत्पादादिधर्म से सर्वथा शून्य हों तो वे खपुष्प की तरह असत् हो जायेंगे अथवा आकाश की तरह नित्य हो जायेंगे।

माध्यमिकों को सकलशून्यता का सिद्धान्त इष्ट है। यहाँ हम उनसे पूछना चाहते हैं कि सकलशून्यता का अर्थ क्या है? क्या सकल पदार्थों के अभाव का नाम सकलशून्यता है अथवा ग्राह्य-ग्राहकभाव से रहित संवित्तिमात्र का नाम सकलशून्यता है? प्रथम विकल्प के अनुसार यदि सकल पदार्थों के अभाव का नाम सकलशून्यता है तो इस विषय में भी हम जानना चाहते हैं कि ऐसी शून्यता का साधक कोई प्रमाण है या नहीं। यदि शून्यता का साधक कोई प्रमाण नहीं है तो उसकी सिद्धि कैसे होगी? क्योंकि प्रमाणों के बिना प्रमेय की सिद्धि नहीं होती है। और यदि शून्यता का साधक कोई प्रमाण है तो सकलशून्यता कैसे सिद्ध होगी? क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणों का सद्भाव मानने पर सकलशून्यता का निरास स्वतः हो जाता है। अब यदि द्वितीय विकल्प के अनुसार ग्राह्य-ग्राहकभाव

से रहित संवित्तिमात्र का नाम सकलशून्यता है तो यहाँ भी वही जिज्ञासा है कि इस प्रकार की शून्यता की सिद्धि कैसे होती है, अभ्युपगममात्र से अथवा ऐसी प्रतीति होने से? अभ्युपगममात्र से शून्यता की सिद्धि मानने पर सबको स्वेष्टसिद्धि का प्रसङ्ग प्राप्त होगा। और यदि ऐसी प्रतीति होने से ग्राह्य-ग्राहकभाव रहित संवित्तिमात्र की सिद्धि मानी जाती है तो यहाँ द्रष्टव्य यह है कि प्रत्यक्षादि किसी भी प्रत्यय से ऐसी सिद्धि होती ही नहीं है, प्रत्युत प्रत्यक्षादि प्रत्यय से तो ग्राह्य-ग्राहकभाव सहित संवित्ति की प्रतीति अवश्य होती है।

जो व्यक्ति प्रतीति के द्वारा वस्तु की व्यवस्था करना चाहता है उसे बाह्य में तथा अन्तरङ्ग में अनेकान्तात्मक वस्तु को अवश्य स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि प्रत्यक्षादिप्रत्यय में ग्राह्य-ग्राहक आदि अनेक आकारों से युक्त बाह्य और आध्यात्मिक अर्थों का प्रतिभास होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रमाण का विषयभूत बाह्य अर्थ है। नागार्जुन का यह कथन भी ठीक नहीं है कि तत्त्व अस्ति, नास्ति आदि चार कोटियों से रहित होने के कारण अवाच्य है। क्योंकि कोई भी तत्त्व सर्वथा अवाच्य नहीं होता है। प्रत्येक तत्त्व कथञ्चित् वाच्य और कथञ्चित् अवाच्य होता है। अतः तत्त्व को अवाच्य मानकर उसे शून्य बतलाना सर्वथा असङ्गत है। इत्यादि प्रकार से विचार करने पर माध्यमिकों द्वारा अभिमत शून्याद्वैतवाद निरस्त हो जाता है।

शब्दब्रह्मवाद :

पूर्वपक्ष– प्रसिद्ध वैयाकरण भर्तृहरि शब्दब्रह्मवादी हैं। शब्दब्रह्मवाद का पर्यायवाची शब्द शब्दाद्वैतवाद है। भर्तृहरि का कथन है कि इस संसार में एकमात्र तत्त्व शब्दब्रह्म है और यह समस्त जगत् शब्दब्रह्म का विवर्त है। शब्दब्रह्म की सिद्धि प्रत्यक्ष और अनुमान से होती है। सम्पूर्ण योगज तथा अयोगज प्रत्यक्ष में शब्दब्रह्म का प्रतिभास होता है। बाह्य और आध्यात्मिक अर्थों में उत्पन्न होने वाला प्रत्यक्ष शब्दानुविद्ध (शब्दरूपता को प्राप्त) होकर ही उत्पन्न होता है। शब्दसंसर्ग के अभाव में किसी भी प्रत्यय (ज्ञान) में प्रकाशमानता सम्भव नहीं है। यदि ज्ञान में शब्दरूपता न हो तो उसमें प्रकाशरूपता भी नहीं आ सकती है। ज्ञान में जो वाग्रूपता है वह शाश्वती और प्रकाशरूप है। इस विषय में भर्तृहरि ने **वाक्यपदीय**

(1/124-125) ग्रन्थ में बतलाया है–

> **न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमाद् ऋते।**
> **अनुविद्धमिवाभाति सर्वं शब्दे प्रतिष्ठितम्।।**
> **वाग्रूपता चेदुत्क्रामेद् अवबोधस्य शाश्वतीः।**
> **न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी।।**

अर्थात् लोक में ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जिसमें शब्द का अनुगम (अन्वय) न हो। शब्दब्रह्म में स्थित सर्ववाच्य-वाचक तत्त्व शब्दानुविद्ध होकर ही प्रतिभासित होता है। यदि ज्ञान की शाश्वती वाग्रूपता ज्ञान से निकल जाय तो प्रकाश (ज्ञान) प्रकाशित ही नहीं होगा, क्योंकि प्रत्यवमर्श करने वाली वाग्रूपता ही है। शब्दब्रह्म अनादिनिधन है। उसे अक्षर भी कहते हैं, क्योंकि वह अकारादि अक्षरों का कारण होता है। वही शब्दब्रह्म घटादि अर्थरूप से परिणमन करता है। शब्दब्रह्म वाच्य और वाचक दोनों रूप होता है।

लोक में जितना भी व्यवहार है वह सब शब्दानुविद्ध ही होता है। 'मैं भोजन करूँगा', 'उसे कुछ दूँगा' इत्यादि शब्दों के उल्लेख के बिना कोई भी कार्य करने में प्रवृत्त नहीं होता है। चेतन और अचेतन तत्त्वों का आविर्भाव भी शब्दाधीन ही है। इस विषय में कहा गया है–

सुषुप्तावस्थायामनुल्लिखितशब्दरूपत्वात् मृतान्न कश्चिद्विशिष्यते।

अर्थात् सुषुप्त अवस्था में शब्द का उल्लेख न होने से सुप्त व्यक्ति मृत के समान हो जाता है और उत्तरकाल में किसी शब्द से प्रबुद्ध पुरुष अन्तर्जल्परूप शब्द के द्वारा अपने जीवन को प्राप्त होता है। नाना प्रकार की शब्द भावनायें अपने-अपने विषयभूत अर्थों का आविर्भाव करती हैं। और जब पुरुष के द्वारा उच्चारित शब्द का तिरोभाव हो जाता है तब वह अपने विषयभूत अर्थ का भी तिरोभाव कर देता है। यहाँ यह कहना भी ठीक नहीं है कि अद्वैतरूप तत्त्व में आविर्भाव और तिरोभावरूप भेद-प्रपञ्च कैसे होगा? क्योंकि यह सब भेदप्रपञ्च अविद्या के कारण बन जाता है। जिस प्रकार जिसके नेत्र तिमिररोग से दूषित हैं ऐसा नर विशुद्ध आकाश को नाना प्रकार की रेखाओं से अन्वित देखता है, उसी प्रकार

अविद्यारूप तिमिर से उपहत जन भेदप्रपञ्च से रहित शब्दब्रह्म को भेदप्रपञ्च से अन्वित समझता है। इसी विषय में कहा गया है–

यथा विशुद्धमाकाशं तिमिरोपप्लुतो जनः।
संकीर्णमिवमात्राभिश्चित्राभिरभिमन्यते ।।
तथेदममलं ब्रह्म निर्विकारमविद्यया।
कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं प्रपश्यति।।

यथार्थ में शब्दब्रह्म तो निर्मल और निर्विकार है, परन्तु अज्ञानी जन उसे कालुष्य को प्राप्त भेदरूप देखते हैं। यद्यपि शब्दब्रह्म की प्रतीति प्रत्यक्ष से होती है तथापि अविद्या के कारण जो लोग उसे स्वीकार नहीं करते हैं उनके लिए हम अनुमान से शब्दब्रह्म की सिद्धि करते हैं। शब्दब्रह्म साधक अनुमान इस प्रकार है–

ये यदाकारानुस्यूताः ते तन्मयाः यथा घटशरावोदञ्चनादयो मृद्विकारा मृन्मयाः, शब्दाकारानुस्यूताश्च सर्वे भावा इति।

अर्थात् जो पदार्थ जिसके आकार से अनुस्यूत होते हैं वे तन्मय (उसरूप) होते हैं। जैसे घट, सकोरा आदि मृद्विकार से अनुस्यूत (अन्वित) होने के कारण मिट्टी रूप हैं। उसी प्रकार सर्वपदार्थ शब्दाकार से अनुस्यूत होने के कारण शब्दमय हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष तथा अनुमान से शब्दब्रह्म की सत्ता सिद्ध होती है। ऐसा शब्दाद्वैतवादियों का मत है।

उत्तरपक्ष– शब्दाद्वैतवादियों का उक्त मत समीचीन नहीं है। उनका यह कथन ठीक नहीं है कि शब्दब्रह्म की सिद्धि प्रत्यक्ष और अनुमान से होती है। यहाँ हम यह जानना चाहते हैं कि शब्दब्रह्म की सिद्धि इन्द्रिय प्रत्यक्ष, अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष अथवा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष में से किस प्रत्यक्ष से होती है? इन्द्रिय प्रत्यक्ष से उसकी सिद्धि मानने पर यहाँ दो विकल्प होते हैं– क्या श्रोत्रेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष से उसकी प्रतीति होती है अथवा इतरेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष से? श्रोत्रेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष तो शब्दस्वरूपमात्र को विषय करता है। वह शब्दाकारपरिणत सकल पदार्थों को विषय करने में असमर्थ है। जिस प्रकार चाक्षुष ज्ञान रस को नहीं जान सकता है उसी प्रकार श्रोत्रज्ञान शब्दाकारपरिणत सकल पदार्थ समूह को नहीं जान

सकता है। विषयान्तर होने के कारण इतरेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष से भी शब्दब्रह्म की प्रतिपत्ति सम्भव नहीं है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष तो प्रतिनियत रूपादि को ही विषय करता है। वह शब्दब्रह्म को विषय करने में सर्वथा असमर्थ है।

अब यदि ऐसा माना जाय कि अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से शब्दब्रह्म की सिद्धि होती है तो ऐसा मानना भी तर्कसङ्गत नहीं है, क्योंकि ऐसा कोई अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं है जो शब्दब्रह्म का ग्राहक हो। योगियों के योगजप्रत्यक्ष को शब्दब्रह्म का ग्राहक मानने पर योगी, योग और योगज प्रत्यक्ष के सद्भाव से शब्दाद्वैत के अभाव का प्रसङ्ग प्राप्त होता है। इसी प्रकार स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से भी शब्दब्रह्म की प्रतिपत्ति नहीं होती है। आत्मज्योतिस्वरूप शब्दब्रह्म स्वप्न में भी स्वसंवेदन का गोचर नहीं होता है। यदि शब्दब्रह्म स्वयं संवेदन का गोचर हो जाय तो सकल प्राणियों को बिना किसी प्रयत्न के मोक्ष हो जायेगा। क्योंकि शब्दब्रह्म के स्वसंवेदन को ही आपके यहाँ मोक्ष माना गया है। यहाँ एक बात यह भी विचारणीय है कि घटादि शब्द तथा घटादि अर्थ में स्वसंवेदन स्वभाव कभी भी उपलब्ध नहीं होता है। तब स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के द्वारा शब्दब्रह्म का ज्ञान कैसे हो सकता है?

शब्दब्रह्माद्वैतवादी अर्थों को शब्दानुविद्ध मानते हैं। यहाँ ऐसी जिज्ञासा होती है कि शब्द और अर्थ में कोई सम्बन्ध है या नहीं? यदि उनमें कोई सम्बन्ध नहीं है तो सम्बन्ध के अभाव में अर्थ शब्दानुविद्ध कैसे हो सकते हैं? अब यदि शब्द और अर्थ में कोई सम्बन्ध माना जाता है तो वह सम्बन्ध कौन सा है- संयोग, तादात्म्य अथवा वाच्यवाचकभाव। शब्द और अर्थ का देश भिन्न होने के कारण उनमें संयोग सम्बन्ध सम्भव नहीं है। पृथक्-पृथक् इन्द्रियग्राह्य होने के कारण शब्द और अर्थ में तादात्म्य सम्बन्ध भी नहीं बनता है। शब्दाकाररहित घटादि का लोचनविज्ञान में प्रतिभास होता है और घटाकाररहित शब्द का श्रोत्रविज्ञान में प्रतिभास होता है। अतः शब्द और अर्थ में तादात्म्य सम्बन्ध नहीं बन सकता है। फिर भी यदि शब्द और अर्थ में तादात्म्य सम्बन्ध माना जाय तो क्षुरा, अग्नि, पाषाण आदि शब्दों को सुनने से कर्ण में कर्तन, दाह, अभिघात आदि का प्रसङ्ग आना अनिवार्य है। अन्त में शब्द और अर्थ में वाच्यवाचक सम्बन्ध मानने पर तो उनमें भेद की ही सिद्धि होती है, क्योंकि भेद

के बिना उनमें वाच्यवाचक सम्बन्ध बन ही नहीं सकता है।

पूर्वपक्ष में कहा गया है– **'तथेदममलं ब्रह्म निर्विकारमविद्यया'** इत्यादि। यहाँ हम यह जानना चाहते हैं कि अविद्या ब्रह्म से व्यतिरिक्त है या अव्यतिरिक्त? यदि अविद्या ब्रह्म से व्यतिरिक्त है तो वह वस्तु है या अवस्तु? वह अवस्तु तो हो नहीं सकती, क्योंकि अवस्तु कोई अर्थक्रिया नहीं करती है। अब यदि अविद्या को वस्तु माना जाय तो ब्रह्म और अविद्या के भेद से द्वैत का प्रसङ्ग आने के कारण अद्वैतवाद की क्षति हो जाती है। अब यदि आप ऐसा मानते हैं कि अविद्या ब्रह्म से अव्यतिरिक्त है तो मिथ्याभूत अविद्या से अभिन्न होने के कारण ब्रह्म में भी मिथ्यात्व का प्रसङ्ग आता है। इस प्रकार लाभ की इच्छा करने वाले अद्वैतवादी का मूलोच्छेद ही हो जाता है। पूर्वपक्ष का यह कथन भी गलत है कि सकल व्यवहार शब्दानुविद्ध ही होता है। यह ठीक है कि श्रोत्र के द्वारा होने वाले शब्दव्यवहार का शब्दानुविद्ध के रूप में अनुभव होता है, किन्तु चक्षुरादि के द्वारा होने वाले व्यवहार का शब्दानुविद्ध के रूप में अनुभव नहीं होता है। पूर्वपक्ष में जो यह कहा गया है– **'सुषुप्तावस्थायामनुल्लिखितशब्दरूपत्वात् मृताच्च कश्चिद् विशिष्यते'** वह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि अद्वैतवाद में सुषुप्त अवस्था और जागृद् अवस्था का भेद नहीं बन सकता है। यदि ऐसा भेद बनता है तो अद्वैत का अभाव हो जायेगा।

अद्वैतवादियों ने– **'ये यदाकारानुस्यूताः ते तन्मयाः'** इत्यादि अनुमान के द्वारा शब्दाद्वैत को सिद्ध किया है। उनके उक्त अनुमान के द्वारा भी शब्दाद्वैत की सिद्धि नहीं होती है, क्योंकि उक्त अनुमान प्रत्यक्ष बाधित है। प्रत्यक्ष से नीलादि को जानने वाला प्रमाता नीलादि को शब्दाकार से अननुविद्ध (अनन्वित) ही जानता है। ऐसा भी नहीं है कि शब्द से व्यतिरिक्त अर्थ की सत्ता ही नहीं हो। शब्द से भिन्न अर्थ की सत्ता है और उसकी प्रतीति प्रत्यक्ष से होती है। चाक्षुषप्रत्यक्ष से शब्द की प्रतीति नहीं होने पर भी घटादि अर्थ की प्रतीति होती ही है। यदि ऐसा न हो तो बधिर को चक्षुरादिजन्य प्रत्यक्ष से रूपादि अर्थ की प्रतीति कैसे होगी?

आप कहते हैं कि जगत् शब्दमय है। यहाँ हम यह जानना चाहते हैं कि क्या शब्द का परिणाम होने से जगत् शब्दमय है, जैसे कि मृद् का परिणाम होने से घट मृण्मय है? अथवा शब्द से उत्पन्न होने के कारण

जगत् शब्दमय है? यहाँ प्रथमपक्ष समीचीन नहीं है, क्योंकि शब्दब्रह्म में कोई परिणाम ही सम्भव नहीं है। यहाँ जिज्ञासा होती है कि शब्द-ब्रह्म नीलादिरूप परिणमन करता है तो अपने शब्दरूप को छोड़कर वैसा करता है अथवा शब्दरूप को छोड़े बिना ही नीलादिरूप हो जाता है। यदि वह अपने शब्दरूप को छोड़ देता है तो वह अनादिनिधन कैसे हो सकता है? अब यदि वह अपने शब्दरूप को नहीं छोड़ता है तो नीलादि अर्थ के संवेदन के समय बधिर को भी शब्द के संवेदन का प्रसङ्ग आता है। शब्दब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण जगत् को शब्दमय मानना भी तर्कसङ्गत नहीं है। यदि शब्दब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति होती है तो हम कह सकते हैं कि जगत् की उत्पत्ति क्रमिक क्यों होती है, युगपत् क्यों नहीं? क्योंकि शब्दब्रह्म तो नित्य तथा समर्थ है। अतः उसके द्वारा सब पदार्थों की युगपत् उत्पत्ति होनी चाहिए। किन्तु ऐसा होता नहीं है। इस प्रकार किसी भी प्रमाण से न तो शब्दब्रह्म का सद्भाव सिद्ध होता है और न सब पदार्थों में शब्दानुविद्धत्व सिद्ध होता है। अतः शब्दब्रह्मवाद स्वतः निरस्त हो जाता है।

परमब्रह्मवाद :

वेदान्तदर्शन के अनुयायी वेदान्ती परमब्रह्मवादी हैं। वे कहते हैं कि इस संसार में एकमात्र तत्त्व परमब्रह्म है। परमब्रह्म को छोड़कर अन्य किसी तत्त्व की सत्ता यहाँ नहीं है। उपनिषदों में परमब्रह्म के विषय में बतलाया गया है-

सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन।
आरामं तस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन।।

अर्थात् निश्चय से यह सब कुछ ब्रह्म है। इस संसार में नाना कुछ नहीं है। संसारी प्राणी ब्रह्म की पर्यायों को देखते हैं, किन्तु उस ब्रह्म को कोई नहीं देखता है।

उक्त प्रकार का ब्रह्म चेतन और अचेतन परिणाम के द्वारा जगत्-प्रपञ्च की रचना में प्रवृत्त होता है। जो भी चेतनात्मक जगत् है वह ब्रह्म का चेतन परिणाम है और उसका अचेतन परिणाम पृथिव्यादिमहाभूतरूप है। यहाँ ऐसी आशङ्का करना ठीक नहीं है कि ब्रह्म तो एक है, फिर

उसका नानारूप परिणमन कैसे होगा? इसका उत्तर यह है कि एक का भी नानारूप परिणमन देखा जाता है। सुवर्ण, क्षीरादि के एक होने पर भी उनका कटक, दधि आदि नानारूप से परिणमन देखने में आता ही है। एक ही सुवर्ण कटक, कुण्डल आदि रूप से परिणत हो जाता है। एक ही क्षीर दधि, घृत आदिरूप से परिणत हो जाता है। ऐसी शङ्का करना भी उचित नहीं है कि ब्रह्म के एक होने पर उसमें देशभेद और कालभेद कैसे बनेगा? तथा यदि उसमें देशभेद और कालभेद है तो ब्रह्म में एकत्व कैसे बनेगा? इसका उत्तर यह है कि चित्रपट आदि में देशभेद और कालभेद होने पर भी उनमें एकत्व पाया जाता है। प्रतिभास भेद भी एकत्व का विरोधी नहीं है, क्योंकि एक ही पादप में दूर और आसन्न पुरुषों की अपेक्षा से अनेक प्रतिभास पाये जाते हैं। इसी प्रकार सामर्थ्यभेद भी एकत्व का विरोधी नहीं है, क्योंकि एक ही समुद्र में तरङ्ग, बुदबुद, फेन आदि अनेक कार्यों को करने के कारण सामर्थ्यभेद का अध्यवसाय होता है। फिर भी समुद्र तो एक ही है, अनेक नहीं।

यहाँ कोई यह भी कह सकता है कि यदि ब्रह्म एक है तो उसके द्वारा विचित्र सृष्टि-विधान, उत्कृष्ट और अपकृष्ट प्राणियों का उत्पादन तथा घृणा के योग्य नरकादि के दुःखों की रचना आदि कार्य कैसे होंगे? इसका उत्तर यह है कि ब्रह्म धर्माधर्मादि की सहायता से विचित्र-सृष्टि को उत्पन्न करता है। उत्कृष्ट और अपकृष्ट प्राणियों की तथा नरकादि के दुःखों की उत्पत्ति में भी अदृष्ट सहायक कारण होता है। यद्यपि ये सब कार्य एकरूप ब्रह्म की पर्यायें हैं तथापि वे सब पर्यायें अविद्या के कारण भेद को प्राप्त होकर कर्मों के कर्त्ता के रूप में और कर्मफल के भोक्ता के रूप में जानी जाती हैं। अथवा हम ऐसा भी कह सकते हैं कि ब्रह्म कारणान्तर निरपेक्ष होकर भी स्वभाव से ही जगत् के वैचित्र्य का कारण होता है। जैसे कि मकड़ी स्वभाव से ही अंशुओं (रेशों) की उत्पत्ति का कारण होती है।

यहाँ एक बात यह भी विचारणीय है कि यदि घटादि पदार्थों में भेद अविद्याकृत न होकर वास्तविक हो तो इस बात की प्रतीति प्रत्यक्ष से अथवा अनुमान से होनी चाहिए, किन्तु प्रत्यक्ष से तो भेद की प्रतीति नहीं होती है। क्योंकि भेद व्यावृत्तिरूप (निषेधरूप) होता है। 'यह इससे

भिन्न है' ऐसा व्यावृत्तिरूप भेदव्यवहार प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। प्रत्यक्ष तो विधि को विषय करता है, निषेध को नहीं। कहा भी है- **'आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं न निषेद्धृ विपश्चितः।'** अर्थात् विद्वान् प्रत्यक्ष को विधान करने वाला कहते हैं, निषेध करने वाला नहीं। 'यह ऐसा है' इस प्रकार के कथन को विधान कहते हैं। और 'यह ऐसा नहीं है' इस प्रकार के कथन को निषेध कहते हैं।

अनुमान के द्वारा भी भेद की प्रतीति नहीं होती है, क्योंकि अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक होता है। पहले प्रत्यक्ष के द्वारा साध्य और साधन में सम्बन्ध की प्रतिपत्ति होनी चाहिए तभी अनुमान की उत्पत्ति सम्भव है, किन्तु जो प्रत्यक्ष का विषय ही नहीं है उसमें अविनाभाव सम्बन्ध की प्रतिपत्ति कैसे हो सकती है? भेद के साथ अविनाभावी कोई लिङ्ग भी नहीं है जिसके द्वारा भेद का अनुमान किया जा सके। अतः पदार्थों में भेद का साधक कोई प्रमाण न होने से भेद अवास्तविक है, वास्तविक नहीं। इत्यादि प्रकार से विचार करने पर परमब्रह्मवाद की सिद्धि होती है। परमब्रह्मवाद को ब्रह्माद्वैतवाद भी कहते हैं। ऐसा वेदान्तियों का मत है।

उत्तरपक्ष- वेदान्तियों का उक्त परमब्रह्मवाद प्रमाण-विरुद्ध है। ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जिससे परमब्रह्म की सिद्धि होती हो। प्रत्यक्ष से तो सर्वत्र भेद की ही प्रतीति होती है। प्रतीतिसिद्ध भेद का अपलाप नहीं किया जा सकता है। पूर्वपक्ष में जो यह कहा गया है कि ब्रह्म चेतन और अचेतन परिणाम के द्वारा जगत् प्रपञ्च की रचना में निमित्त होता है, वह कथन सर्वथा गलत है। परिणाम का अर्थ है- पूर्वधर्म का परित्याग करके धर्मान्तर को स्वीकार करना। यदि चिद्रूपब्रह्म चिद्रूप को छोड़कर आकाशादिरूप हो जाता है तो इससे यही सिद्ध होता है कि ब्रह्म ने अपने स्वरूप को छोड़ दिया। ब्रह्म को चिदानन्दमय माना गया है। ऐसा तो हो नहीं सकता कि ब्रह्म अपने स्वरूप को छोड़े बिना आकाशादिरूप से परिणत हो जाय। सुवर्ण, क्षीर आदि का दृष्टान्त देकर एक ब्रह्म का नाना परिणाम बतलाना भी ठीक नहीं है। क्योंकि सहकारी कारणों की अपेक्षा से सुवर्ण, क्षीर आदि का कटक, दधि आदिरूप से नाना परिणाम देखा जाता है। किन्तु ब्रह्म का तो कोई सहकारी कारण नहीं है। तब उसका आकाशादिरूप से परिणमन कैसे होगा?

यहाँ यह भी विचारणीय है कि प्रेक्षावान् व्यक्ति की जो भी प्रवृत्ति होती है वह किसी न किसी प्रयोजन के लिए होती है। यहाँ यह जिज्ञासा है कि विश्व की रचना करने में ब्रह्म का कोई प्रयोजन है या नहीं? यदि कोई प्रयोजन नहीं है तो ब्रह्म प्रेक्षापूर्वकारी (विचारवान्) नहीं हो सकता है। प्रयोजन के बिना तो मूर्ख व्यक्ति भी प्रवृत्ति नहीं करता है। कहा भी है–

प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते।

अब यदि ऐसा माना जाय कि विश्व की रचना करने में ब्रह्म का कोई प्रयोजन है तो इसका मतलब यह हुआ कि ब्रह्म साकांक्ष है और साकांक्ष होने से वह कृतार्थ नहीं कहला सकता है। इष्ट साध्य को प्रयोजन कहते हैं और जो कृतार्थ होता है उसका कोई साध्य नहीं होता है जिसे सिद्ध किया जाय। यहाँ यह भी विचारणीय है कि ब्रह्म सावयव है या निरवयव। चिद्रूप होने के कारण वह सावयव नहीं हो सकता है, क्योंकि चैतन्य के अवयव नहीं होते हैं। यदि चैतन्य में भी अवयव माने जावें तो उसमें कार्यत्व का प्रसङ्ग आने से नित्यत्व की क्षति होना अनिवार्य है और ब्रह्म को निरवयव मानने पर उसे प्रारम्भ से ही आकाशादिरूप से परिणत मानना पड़ेगा। इस कारण उसके चैतन्यस्वरूप की प्रच्युति का प्रसङ्ग प्राप्त होगा। चित्रपट, पादप और समुद्र आदि में सर्वथा एक स्वभाव नहीं है। चित्रपट में चित्ररूप होने से, पादप में विशद और अविशद प्रतिभास का विषय होने से और समुद्र में तरङ्ग, बुदबुद आदि कार्य करने की सामर्थ्य होने से कथञ्चित् भेद की सिद्धि होती है। इसी प्रकार ब्रह्म में भी यदि देश-कालभेद, प्रतिभासभेद और सामर्थ्यभेद है तो उसे भी सर्वथा अभेदरूप नहीं माना जा सकता है। उसे कथञ्चित् भेदरूप मानना भी आवश्यक है।

पूर्वपक्ष में कहा गया है कि अविद्या के कारण ब्रह्म भेदरूप प्रतिभासित होता है। वह कथन सर्वथा असङ्गत है, क्योंकि अविद्या अज्ञानरूप है और ब्रह्म ज्ञानरूप है। तथा ज्ञानरूप और अज्ञानरूप वस्तु में कोई सम्बन्ध नहीं बन सकता है। अविद्या को अवस्तुरूप मानना भी ठीक नहीं है। सकल भेद-प्रपञ्च को उत्पन्न करने वाली अविद्या यदि अवस्तुरूप है तो फिर ब्रह्म को भी अवस्तुरूप मानना पड़ेगा। पूर्वपक्ष में ऐसा कथन किया

गया है कि ब्रह्म अदृष्ट की सहायता से विचित्र सृष्टि उत्पन्न करता है। यदि ऐसा है तो इससे यही सिद्ध होता है कि ब्रह्म सृष्टि के निर्माण में स्वयं समर्थ नहीं है तथा कार्यों की उत्पत्ति में उसे अदृष्ट की सहायता की आवश्यकता होती है। इस दृष्टि से वह स्वतन्त्र न होकर परतन्त्र सिद्ध होता है। सृष्टि के निर्माण के विषय में पूर्वपक्ष ने एक दूसरा विकल्प भी बतलाया है कि ब्रह्म स्वभाव से ही जगत् के वैचित्र्य का कारण होता है, जैसे कि मकड़ी स्वभाव से ही अंशुओं की उत्पत्ति का कारण होती है। यहाँ मकड़ी का दृष्टान्त सही नहीं है। मकड़ी कारणान्तर निरपेक्ष होकर स्वभाव से ही अंशुओं की उत्पत्ति नहीं करती है, अपितु बाह्य और अन्तरङ्ग कारण की अपेक्षा लेकर ही अंशुओं की उत्पत्ति में समर्थ होती है।

वेदान्तियों ने कहा है कि भेद की सिद्धि न तो प्रत्यक्ष से होती है और न अनुमान से। उनका उक्त कथन समीचीन नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्ष के द्वारा आबालगोपाल सबको भेद की प्रतीति होती है। चाक्षुष प्रत्यक्ष के द्वारा परस्पर में असम्बद्ध नीलादि पदार्थों का प्रतिभास होता है और परस्पर में असम्बद्ध नीलादि का प्रतिभास होना ही भेद का प्रतिभास है। ब्रह्माद्वैत की सिद्धि करने के लिए–

सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन।

इत्यादि जो आगम बतलाया गया है वह भी अद्वैत का साधक न होकर द्वैत का ही साधक है। क्योंकि आगम और ब्रह्म के भेद से अथवा प्रतिपादक और प्रतिपाद्य के भेद से द्वैत की सिद्धि का प्रसङ्ग अनिवार्यरूप से उपस्थित होता है। अतः ब्रह्माद्वैतवाद के अभिनिवेश को छोड़कर अबाधित ज्ञान के द्वारा प्रतिभासित घट-पटादि बाह्य अर्थों का सद्भाव स्वीकार करना चाहिए। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि केवल ब्रह्म का अस्तित्व मानकर सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्म की पर्याय मानना प्रमाणसङ्गत नहीं है।

इन्द्रिय-विचार :

जैनदर्शन में इन्द्रिय के दो भेद हैं– द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। इनमें से चक्षुरादि द्रव्येन्द्रिय पुद्गलात्मक (पुद्गल की रचनारूप) होती है तथा भावेन्द्रिय आत्मस्वरूप होती है। लब्धि और उपयोग का नाम भावेन्द्रिय

है। अर्थ के ग्रहण करने की शक्ति का नाम लब्धि है और अर्थ को ग्रहण करने के लिए जो व्यापार होता है उसका नाम उपयोग है।

पूर्वपक्ष- यहाँ नैयायिक कहते हैं कि सब इन्द्रियों को पुद्गलात्मक मानना ठीक नहीं है। क्योंकि अत्यन्त भिन्न जाति वाले पृथिवी आदि द्रव्यों से अत्यन्त भिन्न जाति वाली चक्षु आदि इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। घ्राणेन्द्रिय की उत्पत्ति पृथिवी से होती है। गन्ध पृथिवी का गुण है। इसलिए घ्राणेन्द्रिय गन्धगुण की अभिव्यञ्जक होती है। रसनेन्द्रिय की उत्पत्ति जल से होती है। रस जल का गुण है। अतः रसनेन्द्रिय रसगुण की अभिव्यञ्जक होती है। चक्षुरिन्द्रिय की उत्पत्ति तेजरूप द्रव्य (अग्नि) से होती है। रूप तेजरूप द्रव्य का गुण है। इस कारण चक्षुरिन्द्रिय रूप गुण की अभिव्यञ्जक होती है। स्पर्शनेन्द्रिय वायु से उत्पन्न होती है। स्पर्श वायु का गुण है। इसलिए स्पर्शनेन्द्रिय स्पर्शगुण की अभिव्यञ्जक होती है। श्रोत्रेन्द्रिय की उत्पत्ति आकाश से होती है। शब्द आकाश का विशेष गुण है। अतः श्रोत्रेन्द्रिय शब्द गुण की अभिव्यञ्जक होती है। इस प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय की उत्पत्ति पृथक्-पृथक् द्रव्य से होती है। इस कारण सब इन्द्रियों को पुद्गलात्मक मानना ठीक नहीं है।

उत्तरपक्ष- इन्द्रियों की उत्पत्ति के विषय में नैयायिकों की उक्त मान्यता तर्कसङ्गत नहीं है। पृथिवी, जल, अग्नि आदि ये सब द्रव्य पुद्गलात्मक ही हैं। इन सबकी पृथक्-पृथक् जाति मानकर इनको द्रव्यान्तर (पृथक् द्रव्य) सिद्ध करना ठीक नहीं है। पृथिवी, जल आदि सर्वदा अपने निजरूप में स्थित नहीं रहते हैं, किन्तु पृथिवी जलरूप से परिणत हो जाती है और जल पृथिवीरूप से परिणत हो जाता है। इसी प्रकार अन्य द्रव्यों के विषय में भी समझ लेना चाहिए। इनमें पृथिवीत्व आदि जातिभेद से पृथिवी, जल आदि में भेद मानना सर्वथा गलत है। घ्राणेन्द्रिय के द्वारा गन्ध की अभिव्यक्ति मानना उचित नहीं है। सूर्य की किरणों द्वारा तथा उदकसिञ्चन द्वारा भी गन्ध की अभिव्यक्ति देखी जाती है। तैल से मालिश किये हुए व्यक्ति में सूर्य की किरणों से और पृथिवी पर उदक के सिञ्चन से भी गन्ध की अभिव्यक्ति होती है। इसी प्रकार रसनेन्द्रिय को जलीय, चक्षु को तैजस और स्पर्शन को वायुजन्य मानना भी असङ्गत है। लवण जलीय न होकर भी रस का अभिव्यञ्जक होता है। माणिक्य तैजस न

होकर भी रूप का प्रकाशक होता है। कर्पूर वायुजन्य न होकर भी शीतस्पर्श का अभिव्यञ्जक होता है।

जिस प्रकार स्पर्शनेन्द्रिय वायु के स्पर्श का अभिव्यञ्जक होने से वायु का कार्य है उसी प्रकार पृथिवी, जल और तेज के स्पर्श का अभिव्यञ्जक होने से स्पर्शन इन्द्रिय में पृथिवी आदि के कार्यत्व का प्रसङ्ग प्राप्त होता है। चक्षुरिन्द्रिय को तैजस द्रव्य के रूप का अभिव्यञ्जक होने से तैजस द्रव्य का कार्य माना गया है तो पृथिवी और जल के रूप का अभिव्यञ्जक होने से उसे पृथिवी और जल का कार्य मानना चाहिए। जिस प्रकार रसनेन्द्रिय जलीय रस का अभिव्यञ्जक होने से जल का कार्य है उसी प्रकार उसे पृथिवी के रस का अभिव्यञ्जक होने से पृथिवी का कार्य भी मानना चाहिए। शब्द आकाश का विशेषगुण न होकर पुद्गल की ही पर्याय है और श्रोत्रेन्द्रिय भी पुद्गलात्मक है। इस प्रकार घ्राण आदि इन्द्रियाँ प्रतिनियत पृथिवी आदि का कार्य सिद्ध नहीं होती हैं, अपितु समस्त इन्द्रियाँ पौद्गलिक ही हैं। यहाँ जानने योग्य विशेष बात यह है कि पृथिवीत्व आदि जाति के भेद से पृथिवी, जल आदि में भेद मानना सर्वथा गलत है। तात्पर्य यह है कि पृथिवी, जल आदि में पर्याय के भेद से परस्पर में भेद है तथा रूपरसगन्धस्पर्शात्मक पुद्गल द्रव्य की अपेक्षा से उनमें अभेद है। यही कारण है कि पृथिवी, जल आदि में उपादान-उपादेयभाव पाया जाता है। अर्थात् पृथिवी जलादिरूप से परिणत हो जाती है और जलादि पृथिवी आदिरूप से परिणत हो जाता है।

इन्द्रिय के विषय में सांख्यमत :

पूर्वपक्ष- इन्द्रियों के विषय में सांख्यों का मत नैयायिकों के मत से भिन्न है। सांख्यों का मत है कि इन्द्रियाँ आहङ्कारिक (अहङ्कारजन्य) हैं। सांख्यदर्शन के अनुसार प्रकृति से महत् तत्त्व की उत्पत्ति होती है और महत् से अहङ्कार तत्त्व की उत्पत्ति होती है। तदनन्तर अहङ्कार से ग्यारह इन्द्रियों और पाँच तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है। सांख्यकारिका में बतलाया गया है-

प्रकृतेर्महान् ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि।।

अर्थात् सबसे पहले प्रकृति से महत् (बुद्धि) तत्त्व की उत्पत्ति होती है। फिर महत् से अहङ्कार की उत्पत्ति होती है। तदनन्तर अहङ्कार से सोलह तत्त्वों की उत्पत्ति होती है जो इस प्रकार हैं- स्पर्शनादि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ- ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन ये ग्यारह इन्द्रियाँ तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध- ये पाँच तन्मात्रायें। और अन्त में पाँच तन्मात्राओं द्वारा पाँच भूतों की उत्पत्ति होती है। पाँच भूतों के नाम हैं- पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। ऐसा सांख्यों का मत है।

उत्तरपक्ष- इन्द्रिय विषयक उक्त सांख्यमत समीचीन नहीं है, क्योंकि सांख्यों के उक्त मत को सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है। इसके विपरीत सांख्यों के इन्द्रिय विषयक उक्त मत को सिद्ध करने में प्रमाण से बाधा भी आती है। सांख्यों के अनुसार इन्द्रियाँ आहङ्कारिक हैं। इस विषय में हमारा कथन यह है कि इन्द्रियाँ आहङ्कारिक नहीं हैं। इन्द्रियों में आहङ्कारित्व का निषेध अनुमान प्रमाण से किया गया है। **तथाहि "नाहङ्कारिकाणि इन्द्रियाणि अचेतनत्वे सति करणत्वात् वास्यादिवत्। इन्द्रियत्वाद्वा कर्मेन्द्रियवत्। प्रतिनियतज्ञानव्यपदेशनिमित्तत्वाद्वा रूपादिवत्। प्रतिनियतविषयप्रकाशकत्वाद्वा प्रदीपवत्।"** अर्थात् स्पर्शनादि इन्द्रियाँ अहङ्कारजन्य नहीं हैं, क्योंकि वे अचेतन होकर भी करण होती हैं, वास्यादि की तरह। बढ़ई का औजार वास्य (वसूला) अचेतन है तथा वह छेदनरूप क्रिया का करण तो होता है, किन्तु वह आहङ्कारिक नहीं है। इसी प्रकार इन्द्रियाँ भी आहङ्कारिक नहीं हैं। इसी बात को हम दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि इन्द्रियाँ आहङ्कारिक नहीं हैं, प्रतिनियत ज्ञान के व्यपदेश (कथन) में निमित्त होने से, रूपादि की तरह। अथवा प्रतिनियत विषय का प्रकाशक होने से प्रदीप की तरह।

इस कथन का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार रूपज्ञान, रसज्ञान इत्यादि प्रतिनियत ज्ञान के व्यपदेश में हेतु होने वाले रूपादि आहङ्कारिक नहीं हैं उसी प्रकार चक्षुर्ज्ञान, रसनज्ञान इत्यादि प्रकार से प्रतिनियत ज्ञान *के व्यपदेश में हेतु होने से चक्षुरादि इन्द्रियाँ भी आहङ्कारिक नहीं हैं।* दर्पणादि की तरह प्रतिनियत विषय का प्रकाशक होने से भी इन्द्रियाँ आहङ्कारिक नहीं हैं। इसी विषय में हम और भी कह सकते हैं कि- इन्द्रियाँ

आहङ्कारिक नहीं हैं, पौद्गलिक अनुग्रह और उपघात का आश्रय होने से, दर्पणादि की तरह। जिस प्रकार पौद्गलिक भस्म, पाषाणादि के द्वारा किये गये अनुग्रह और उपघात के आश्रयभूत दर्पणादि आहङ्कारिक नहीं हैं, उसी प्रकार पौद्गलिक अञ्जनादि के द्वारा किये गये अनुग्रह और उपघात के आश्रयभूत चक्षुरादि इन्द्रियाँ भी आहङ्कारिक नहीं हैं। इसी प्रकार मन भी आहङ्कारिक नहीं है, अनियतविषय होने से, आत्मा की तरह। अतः द्रव्येन्द्रियों को प्रतिनियत इन्द्रिय योग्य पुद्गल द्रव्य से उत्पन्न मानना चाहिए। ऐसा मानना ही श्रेयस्कर है। इत्यादि प्रकार से विचार करने पर इन्द्रियविषयक सांख्यमत निरस्त हो जाता है।

शक्तिस्वरूपवाद :

पूर्वपक्ष- जैनदर्शन भावेन्द्रिय को लब्धि और उपयोगरूप मानता है तथा अर्थग्रहण करने की अतीन्द्रिय शक्ति को लब्धि कहा गया है। यहाँ नैयायिक का कथन है कि अतीन्द्रिय शक्ति के सद्भाव में कोई प्रमाण न होने से भावेन्द्रिय लब्धिरूप कैसे हो सकती है? क्योंकि अतीन्द्रिय शक्ति का साधक कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। तन्तुसंयोग के अनन्तर उत्पन्न होने वाला पट तथा अग्नि और अङ्गुली के संयोग के अनन्तर होने वाला दाह किसी शक्तिरूप अन्य कारणान्तर की अपेक्षा नहीं करता है। दृष्ट कारण से ही उनकी उत्पत्ति हो जाती है। ऐसा नहीं है कि अतीन्द्रिय शक्ति के न मानने पर 'जल से पिपासा दूर होती है, अनल से नहीं, अनल से शीत दूर होती है, जल से नहीं', ऐसा नियम नहीं बन सकता है। इसका कारण यह है कि स्वरूपशक्ति और सहकारिशक्ति के द्वारा उक्त नियम बन जाता है। शक्ति दो प्रकार की होती है- स्वरूपशक्ति और सहकारिशक्ति। स्वरूपशक्ति तन्तु आदि में तन्तुत्व आदिरूप होती है। तन्तुओं के विद्यमान रहने पर भी तन्तुसंयोग के बिना पट की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। इसी प्रकार अनलत्व के सम्बन्ध से अनल ही शीत को दूर करता है, जल नहीं तथा जलत्व के सम्बन्ध से जल ही पिपासा को दूर करता है, अनल नहीं। यह सब स्वरूपशक्ति का प्रभाव है। स्वरूपशक्ति की तरह कारणों में एक सहकारिशक्ति भी होती है। दहनादि के कारण अपने सहकारियों की सन्निधिरूप सामर्थ्य को धारण करते हैं। क्योंकि वे प्रतिबन्धक न होने पर ही अपने कार्य को उत्पन्न करते हैं। यहाँ कोई

कह सकता है कि प्रतिबन्धक मणि आदि के सन्निधान में भी अग्नि के द्वारा स्फोट (फफोला) आदि कार्य होना चाहिए। क्योंकि वहाँ निजसहकारी सन्निधानरूप शक्ति रहती ही है। उक्त कथन ठीक नहीं है। क्योंकि स्फोट की उत्पत्ति में करतल और अनल के संयोग की तरह प्रतिबन्धक मणि आदि का अभाव भी सहकारी होता है। यतः वहाँ प्रतिबन्धक मणि का अभाव नहीं है अतः वहाँ स्फोट की उत्पत्ति नहीं होती है। यह सब सहकारिशक्ति का प्रभाव है।

यहाँ यह भी विचारणीय है कि यदि कोई अतीन्द्रिय शक्ति है तो वह नित्य है या अनित्य? यदि वह नित्य है तो उसके द्वारा सर्वदा कार्योत्पाद का प्रसङ्ग आता है। शक्ति को नित्य मानकर भी सहकारी कारणों की अपेक्षा से कार्योत्पत्ति मानना युक्तिसङ्गत नहीं है। इससे अच्छा तो यही है कि सहकारी कारणों की अपेक्षा से स्वरूपशक्ति को ही कार्योत्पादक मान लीजिए। अब यदि शक्ति को अनित्य माना जाय तो प्रश्न होता है कि शक्ति की उत्पत्ति किससे होती है- पदार्थ के स्वरूपमात्र से अथवा अपनी आगन्तुक सामर्थ्य के द्वारा? प्रथम पक्ष में दोष यह है कि पदार्थ का स्वरूप शाश्वतिक होने से शक्ति का उत्पाद भी सदा होता रहेगा और ऐसी स्थिति में सदा कार्योत्पाद के प्रसङ्ग का निवारण कैसे होगा? दूसरा पक्ष स्वीकार करने पर यह दोष आता है कि यदि अपनी आगन्तुक सामर्थ्य के द्वारा शक्ति उत्पन्न होती है तो फिर उस आगन्तुक सामर्थ्य के द्वारा सीधे कार्य की उत्पत्ति मान लीजिए। उसके लिए अतीन्द्रिय शक्ति की कल्पना करने से क्या लाभ है? यहाँ यह भी विचारणीय है कि प्रत्येक पदार्थ में एक शक्ति रहती है या अनेक? यदि शक्ति एक है तो उससे एक साथ अनेक कार्यों की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, किन्तु एक साथ अनेक कार्यों की उत्पत्ति देखी जाती है। जैसे दीपक से अन्धकार विनाश, अर्थप्रकाश, वर्तिकादाह, तैलशोष आदि अनेक कार्य एक साथ होते हुए देखे जाते हैं। अब यदि अर्थ में अनेक शक्तियाँ हैं तो यहाँ भी प्रश्न होता है कि शक्तियाँ शक्तिमान् से भिन्न हैं या अभिन्न? शक्तियों को शक्तिमान् से भिन्न मानने पर अपसिद्धान्त का प्रसङ्ग आता है, क्योंकि शक्तियों को सिद्धान्त में भिन्न नहीं माना गया है। अभदेपक्ष में भी दो विकल्प होते हैं- क्या शक्तियों से शक्तिमान् अभिन्न है अथवा शक्तिमान् से शक्तियाँ अभिन्न हैं। यदि शक्तियों से शक्तिमान् अभिन्न है तो शक्तिस्वरूप की तरह

शक्तिमान् में अनेकत्व और अतीन्द्रियत्व का प्रसङ्ग आता है। अब यदि शक्तिमान् से शक्तियाँ अभिन्न हैं तो शक्तिमान् की तरह शक्तियों में भी एकत्व का अनुषङ्ग आता है। क्योंकि एक अर्थ से अभिन्न शक्तियों में अनेकत्व सम्भव नहीं है और जब शक्तियाँ अनेक नहीं होंगी तब कार्यनानात्व कैसे बनेगा? अतः यह सिद्ध होता है कि वह्नि आदि पदार्थों में किसी अतीन्द्रिय शक्ति का सद्भाव नहीं है तथा प्रत्येक पदार्थ का जो स्वरूप है वही उसकी शक्ति है। ऐसी नैयायिकों की मान्यता है।

उत्तरपक्ष– शक्ति के स्वरूप के सम्बन्ध में नैयायिकों का उक्त मत समीचीन नहीं है। उनका यह कहना ठीक नहीं है कि स्वरूपशक्ति और सहकारिशक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई अतीन्द्रिय शक्ति नहीं है। क्योंकि अतीन्द्रिय शक्ति के बिना प्रतिनियत कार्यकारणव्यवस्था नहीं बन सकती है। पट तन्तुओं से बनता है, मिट्टी से नहीं। दाह अनल से होता है, जल से नहीं। यह जो प्रतिनियत कार्यकारण व्यवस्था है वह पदार्थस्वरूप के अतिरिक्त किसी अतीन्द्रिय शक्ति की अपेक्षा करती है। यदि पदार्थस्वरूप के अतिरिक्त कोई अतीन्द्रिय शक्ति न हो तो सबसे सबकी उत्पत्ति का प्रसङ्ग प्राप्त होता है, जो दुर्निवार है। इस दोष के निवारण के लिए यदि पदार्थों में स्वभाव-भेद माना जाता है तो इसका मतलब यही हुआ कि पदार्थ का विशिष्ट स्वभाव ही किसी कार्यकारणव्यवस्था का हेतु होता है और जो पदार्थ का विशिष्ट स्वभाव है वही अतीन्द्रिय शक्ति है। यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि अग्नित्व, जलत्व आदि सामान्य के द्वारा प्रतिनियत कार्यकारण की व्यवस्था नहीं बन सकती है। अग्नि में जो अग्नित्व है वह केवल स्फोट के प्रति ही कारण नहीं है, परन्तु अन्य सब कार्यों के प्रति अग्नि अग्नि ही है। दूसरे कार्यों के प्रति अग्नि अनग्नि नहीं हो जाती है। अतः उसे जल की तरह पिपासा को भी दूर करना चाहिए। तथा जल को अग्नि की तरह दहनरूप कार्य करना चाहिए, किन्तु ऐसा होता नहीं है। अतः कार्यकारण व्यवस्था की नियामक अतीन्द्रिय शक्ति को मानना आवश्यक है। स्वरूपशक्ति और सहकारिशक्ति को कार्यकारण व्यवस्था का नियामक मानने पर लोकप्रतीति से विरोध आता है। लोक में स्वरूपशक्ति और सहकारिशक्ति युक्त बलीवर्द, मनुष्य आदि में 'यह इस कार्य में समर्थ है और यह असमर्थ है', ऐसा व्यवहार देखा जाता है। इससे सिद्ध होता है कि स्वरूपशक्ति और सहकारिशक्ति से अतिरिक्त

भी अन्य कोई अतीन्द्रियशक्ति है।

यहाँ एक जिज्ञासा यह होती है कि पदार्थ सहकारी कारण के मिल जाने मात्र से कार्य करते हैं अथवा पदार्थ में स्वभावभेद होने पर सहकारी के मिल जाने से? प्रथम पक्ष में सहकारी के मिल जाने पर भी पदार्थ का स्वरूप अविशिष्ट (विशेषता रहित) ही रहेगा। तब मृत्पिण्ड से घट की तरह पट की भी उत्पत्ति होनी चाहिए। अग्नि की स्वरूपशक्ति और सहकारिशक्ति के सन्निधिमात्र से कार्यकारी मानने पर प्रतिबन्धक मणि आदि के सन्निधान में भी स्फोट की उत्पत्ति होनी चाहिए, क्योंकि उस समय अग्नित्व तथा सहकारी करतल और अनल संयोग रहते ही हैं। परन्तु प्रतिबन्धक के रहने पर स्फोट की उत्पत्ति नहीं होती है। इसका तात्पर्य यही है कि जब दृष्ट कारण से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है तब उस कार्य की उत्पत्ति का कोई अदृष्ट कारण अवश्य है और जो अदृष्ट कारण है वही अतीन्द्रियशक्ति है। अब यदि ऐसा माना जाता है कि स्वभावभेद के होने पर सहकारी के मिलने से पदार्थ कार्य करते हैं तो इस पक्ष का आशय यही है कि पदार्थों में स्वभावभेद शक्तिभेद के होने पर ही होता है और यह शक्तिभेद अतीन्द्रियशक्ति का ही सूचक है।

शक्ति के सम्बन्ध में शक्ति नित्य है या अनित्य इत्यादि विकल्प करना भी युक्तिसङ्गत नहीं है। क्योंकि द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से शक्ति नित्य है और पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से अनित्य है। इसी प्रकार यह कहना भी ठीक नहीं है कि शक्ति एक है या अनेक? सामान्यरूप से शक्ति एक है और विशेषरूप से अनेक है। वास्तव में पदार्थों में अनेक प्रकार की शक्तियाँ पायी जाती हैं, क्योंकि वे प्रतिक्षण अनेक कार्यों को करते हैं। यदि ऐसा न होता तो किसी के प्रति प्रतिबद्ध (प्रतिबन्धयुक्त) अग्नि अन्य के प्रति दाह को कैसे उत्पन्न करेगी? अथवा जिस विष की मारणशक्ति प्रतिबद्ध हो गई है वह व्याधि का उपशम कैसे करेगी? शक्ति और शक्तिमान् में सर्वथा भेद और अभेद मानकर दूषण बतलाना भी असङ्गत है। क्योंकि उन दोनों में न तो सर्वथा भेद है और न सर्वथा अभेद, किन्तु कथञ्चित् भेद और कथञ्चित् अभेद है। इत्यादि प्रकार से विचार करने पर नैयायिक मत के निराकरणपूर्वक अतीन्द्रियशक्ति का सद्भाव सिद्ध हो जाता है।

साकारज्ञानवाद :

सौत्रान्तिक नामक बौद्धदार्शनिक साकारज्ञानवादी हैं। उनका कथन है कि ज्ञान जिस अर्थ से उत्पन्न होता है वह उसके आकार हो जाता है। घट से उत्पन्न ज्ञान घटाकार होता है। यहाँ इस बात पर विचार करना है कि ज्ञान सम्बद्ध अर्थ का ग्राहक होता है या असम्बद्ध का? असम्बद्ध अर्थ का ग्रहण नहीं हो सकता है। यदि ऐसा हो तो कोई भी ज्ञान किसी भी अर्थ का ग्राहक हो जायेगा। अतः ज्ञान असम्बद्ध अर्थ का ग्राहक नहीं होता है। अब ज्ञान को सम्बद्ध अर्थ का ग्राहक मानने पर यह देखना है कि ज्ञान का अर्थ के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है या तदुत्पत्ति सम्बन्ध। उनमें तादात्म्य सम्बन्ध मानने पर तो योगाचार मत के ज्ञानाद्वैतवाद का प्रसङ्ग आता है। समानकालवर्ती ज्ञान और अर्थ में सव्येतरगोविषाण की तरह तदुत्पत्ति सम्बन्ध भी नहीं बन सकता है। यथार्थ बात यह है कि ज्ञान और अर्थ का काल भिन्न होता है और ज्ञान की उत्पत्ति के समय अर्थ नष्ट हो जाता है, किन्तु अर्थ नष्ट होते समय ज्ञान को अपना आकार प्रदान करके नष्ट होता है। घटज्ञान घट से उत्पन्न होता है और घटाकार होता है। इसीलिए वह घट को जानता है। इसी विषय में धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक में कहा है-

> भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदुः।
> हेतुत्वमेव युक्तिज्ञाः तदाकारार्पणक्षमम्।।

अर्थात् ज्ञान और अर्थ का काल भिन्न होता है। तब प्रश्न यह है कि भिन्नकालवर्ती अर्थ ज्ञान का ग्राह्य कैसे होता है? क्योंकि ज्ञान की सत्ता के समय अर्थ तो नष्ट हो जाता है। इसका उत्तर यह है कि जिस अर्थ से ज्ञान उत्पन्न होता है वह अर्थ ज्ञान के लिए अपना आकार समर्पण करके नष्ट होता है। अतः ज्ञान उस अर्थाकार को ग्रहण करता है। अपने आकार को ज्ञान के लिए अर्पण करने में समर्थ हेतुत्व का नाम ही ग्राह्यता है, ऐसा विद्वानों का कथन है।

इसका तात्पर्य यही है कि अर्थ से उत्पन्न होने के कारण ज्ञान अर्थाकार होता है और अर्थाकार होने से वह अर्थ का ग्राहक होता है। यहाँ यह भी विचारणीय है कि अतीत और अनागत पदार्थों को विषय करने वाले

ज्ञानों का तथा केशोण्डुक आदि ज्ञानों का कोई बाह्य अर्थ तो ग्राह्य होता नहीं है। तब आकार के बिना उनका ग्रहण कैसे होगा? अतः जो ज्ञान जिस पदार्थ के आकार होता है वह उस पदार्थ को ग्रहण करता है।

यदि ज्ञान निराकार हो तो ज्ञान के स्वरूप का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। यह नील है, यह पीत है, इत्यादि प्रकार से उत्पन्न हुए ज्ञान की प्रतीति आकार के द्वारा ही होती है। ज्ञानों को निराकार मानने पर उनमें परस्पर में भेद भी नहीं बतलाया जा सकता है। इसके विपरीत साकार ज्ञानों में आकार के कारण भेद आसानी से बन जाता है। अर्थाकारता के कारण ज्ञान में प्रतिकर्म व्यवस्था भी बन जाती है। यह ज्ञान घट को ही क्यों ग्रहण करता है, पट को क्यों नहीं? इसका उत्तर यह है कि घटज्ञान घटाकार होने से घट को ग्रहण करता है, पट को नहीं। यही प्रतिकर्म व्यवस्था है। इसी विषय में कहा गया है–

अर्थेन घटयत्येनां न हि मुक्त्वार्थरूपताम्।
तस्मात् प्रमेयाधिगतेः प्रमाणं मेयरूपता।।

अर्थात् अर्थाकारता को छोड़कर बुद्धि का अर्थ के साथ संयोजन नहीं हो सकता है। अर्थरूपता ही बुद्धि का अर्थ के साथ संयोजन करती है। इसलिए प्रमेय के जानने में अर्थाकारता प्रमाण है, क्योंकि अर्थाकारता के द्वारा ही प्रमेय की अधिगति होती है।

यहाँ यह शङ्का की जा सकती है कि अर्थ की तरह चक्षुरादि भी ज्ञान में कारण होते हैं तो ज्ञान अर्थ के आकार की तरह चक्षुरादि के आकार को क्यों नहीं धारण करता है? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि ज्ञान के कई कारण होते हैं, फिर भी वह सब के आकार को धारण न करके अर्थ के आकार को ही धारण करता है। जैसे कि सन्तान की उत्पत्ति में माता-पिता, आहार, काल आदि कई कारण होते हैं, किन्तु अपत्य माता-पिता में से किसी एक के ही आकार को धारण करता है, अन्य किसी के आकार को नहीं। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि ज्ञान अर्थ के आकार को धारण करता है। यही कारण है कि बौद्धों ने मेयरूपता (अर्थाकारता) को प्रमाण माना है और अर्थ की अधिगति को फल माना है, *यही बौद्धों का साकारज्ञानवाद है।*

उत्तरपक्ष– सौत्रान्तिकों द्वारा अभिमत साकारज्ञानवाद का सिद्धान्त युक्तिसङ्गत नहीं है। हम देखते हैं कि घटादि के आकार से रहित ज्ञान घटादि अर्थ का ग्राहक होता है। ज्ञान दर्पणादि की तरह अर्थ के आकार को धारण नहीं करता है। यदि ज्ञान अर्थ के आकार को धारण करता हो तो पदार्थों में दूर, निकट आदि के व्यवहार का अभाव हो जायेगा। किन्तु 'यह पर्वत दूर है', 'मेरा हाथ निकट है', इत्यादि अबाधित व्यवहार देखा जाता है। पूर्वपक्ष में पूछा गया है कि ज्ञान सम्बद्ध अर्थ का ग्राहक होता है या असम्बद्ध का? इस विषय में हमारा कहना है कि ज्ञान सम्बद्ध अर्थ का ही ग्राहक होता है। ज्ञान और अर्थ में जो सम्बन्ध है वह योग्यतालक्षणसम्बन्ध है, तदुत्पत्तिलक्षण नहीं। योग्यतालक्षण सम्बन्ध से ज्ञान समकालवर्ती और भिन्नकालवर्ती अर्थ का ग्राहक होता है, इसमें कोई विरोध नहीं है। अतः पूर्वपक्ष का '**भिन्नकालं कथं ग्राह्यम्**' इत्यादि कथन तर्कसङ्गत नहीं है। प्रत्यक्ष के द्वारा यह अनुभव में आता है कि अर्थाकार रहित ज्ञान ही घटादि का ग्राहक होता है, दर्पणादि की तरह प्रतिबिम्बाक्रान्त ज्ञान नहीं। ज्ञान में अर्थाकारता बन भी नहीं सकती है, क्योंकि ज्ञान में नीलादि के आकार का संक्रमण नहीं होता है। नीलादि का आकार तो जड़ का धर्म है और जो जड़ का धर्म है वह ज्ञान में संक्रमित नहीं होता है। जैसे जड़ता जड़ पदार्थ का धर्म है और इसका ज्ञान में संक्रमण नहीं होता है, वैसे ही नीलादि आकार भी जड़ का ही धर्म है। तब उसका ज्ञान में संक्रमण कैसे होगा?

यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि यदि ज्ञान का अर्थ के साथ सारूप्य है तो वह सर्वथा है अथवा एकदेश से? सर्वथा सारूप्य मानने पर जैसे अर्थ जड़ है वैसे ज्ञान भी जड़ हो जायेगा, और ऐसी स्थिति में ज्ञान को प्रमाण भी नहीं माना जा सकता है। जैसे जड़ होने से घट प्रमाण नहीं है वैसे ही जड़ज्ञान भी प्रमाण नहीं होगा। अब यदि इस दोष के निराकरण के लिए ज्ञान और अर्थ में एक देश से सारूप्य माना जाय, अर्थात् ज्ञान को जड़ाकार न मानकर अजड़ाकार माना जाय तो अजड़ाकार ज्ञान के द्वारा जड़ता की प्रतीति कैसे होगी? क्योंकि अजड़ाकार ज्ञान के द्वारा जड़ता की प्रतीति नहीं हो सकती है। तथा ज्ञान के द्वारा जड़ता की प्रतीति न होने पर नीलता की प्रतीति भी नहीं होगी। अन्यथा उन दोनों में भेद मानना पड़ेगा, क्योंकि ज्ञान के द्वारा जड़ता की प्रतीति न

होने पर भी नीलता की प्रतीति होती है। यदि सौत्रान्तिक ऐसा मानते हैं कि अजड़ाकार ज्ञान जड़ता को जानता है तो फिर ऐसा भी मान लीजिए कि अतदाकार ज्ञान भी नीलादि अर्थों को जानने में समर्थ है।

यहाँ एक बात यह भी विचारणीय है कि यदि ज्ञान साकार है तो उसका आकार ज्ञान से भिन्न है या अभिन्न? ज्ञान से आकार को भिन्न मानने पर ज्ञान निराकार ही रहेगा। और उन दोनों में अभेद मानने पर दोनों में से किसी एक का ही अस्तित्व रहेगा। इस पक्ष में एक दोष यह भी है कि ज्ञान से आकार को अभिन्न मानने पर ज्ञानग्राह्य अर्थ में दूरासन्नादि व्यवहार नहीं बनेगा। जब पर्वत, प्रासाद आदि का आकार ज्ञान से अभिन्न है तो पर्वत को दूर कहना और प्रासाद को निकट कहना कैसे बनेगा? पूर्वपक्ष में कहा गया है कि जो ज्ञान जिसके आकार नहीं होता है वह उसका ग्राहक नहीं होता है। इस प्रकार का कथन समीचीन नहीं है, क्योंकि जब हम ज्ञान में अर्थसारूप्य का विचार करते हैं तो वह सिद्ध नहीं होता है। पूर्वपक्ष में यह भी बतलाया गया है कि यदि ज्ञान निराकार हो तो ज्ञान के स्वरूप का भी प्रत्यक्ष नहीं होगा, इत्यादि। यह कथन भी कथनमात्र है। क्योंकि ज्ञान का आकार स्वपरप्रकाशकत्व है, नीलादि आकार होना नहीं। नीलादि आकार तो अर्थ का धर्म है। नीलादि के आकार से ज्ञान में प्रत्यक्षता नहीं आती है, किन्तु स्वाकार से ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। 'मैं नील को जानता हूँ' इत्यादि प्रकार से ज्ञान में प्रत्यक्षता का अनुभव होता है।

यहाँ कोई कह सकता है कि ज्ञान को निराकार मानने पर सब ज्ञान सब पदार्थों के ग्राहक हो जायेंगे। इस प्रकार का कथन अविचारित रमणीय है। प्रदीप की तरह निराकार ज्ञान सामने अवस्थित अर्थ का ग्रहण करता है। ऐसा नहीं है कि प्रदीप घटादि के आकार को धारण करके घटादि का प्रकाशक होता हो। ऐसा भी नहीं है कि घटादि के आकार से रहित प्रदीप में सकल घटादि अर्थों के प्रकाशकत्व का प्रसङ्ग आता हो। यथार्थ बात यह है कि प्रतिनियत सामग्री से उत्पन्न प्रदीप प्रतिनियत घटादि का प्रकाशक होता है, सब पदार्थों का नहीं। जो बात प्रदीप के विषय में है, ज्ञान के विषय में भी उसे उसी प्रकार समझ लेना चाहिए। जो लोग साकार ज्ञान को अर्थप्रकाशक मानते हैं उनसे हम कहना चाहते हैं कि यदि घटज्ञान साकार

होने के कारण एक घट का प्रकाशक है तो उसे त्रैलोक्यवर्ती समस्त घटों का भी प्रकाशक होना चाहिए, किन्तु ऐसा होता नहीं है। अतः साकारज्ञानवाद प्रमाणसङ्गत नहीं है। पूर्वपक्ष में एक बात यह भी बतलाई गयी है कि ज्ञान को साकार न मानने पर प्रतिकर्मव्यवस्था नहीं बन सकेगी। घटज्ञान का विषय घट ही है, पट नहीं, ऐसी ज्ञान के विषय की व्यवस्था तभी बनती है जब ज्ञान साकार हो। नैयायिक के उक्त कथन का उत्तर यह है कि ज्ञान को निराकार मानने पर भी स्वावरणक्षयोपशमलक्षण योग्यता के द्वारा ज्ञान के विषय की व्यवस्था आसानी से बन जाती है। घटज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न ज्ञान घट को विषय करता है और पटज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न ज्ञान पट को विषय करता है। इसी प्रकार अन्य पदार्थों के विषय में भी समझ लैना चाहिए। इत्यादि प्रकार से विचार करने पर बौद्धों का साकारज्ञानवाद निरस्त हो जाता है।

पहले मतिज्ञान के अवग्रह आदि चार भेद बतलाये जा चुके हैं। अब उन्हीं के और विशेष भेद बतलाने के लिए कहते हैं–

मतिज्ञान के विशेष भेद :

बह्वाद्यवग्रहाद्यष्टचत्वारिंशत् स्वसंविदाम्।।6।।
पूर्वपूर्वप्रमाणत्वं फलं स्यादुत्तरोत्तरम्।

अर्थ के बहु, बहुविध आदि बारह भेद होते हैं और इनमें से प्रत्येक के अवग्रह आदि चारों ज्ञान होते हैं। अतः बहु आदि बारह भेदों के साथ अवग्रह आदि चारों ज्ञानों का गुणा करने पर मतिज्ञान के अड़तालीस भेद हो जाते हैं। ये ज्ञान बाह्यार्थ का ग्रहण तो करते ही हैं, किन्तु उन सब ज्ञानों का स्वसंवेदन भी होता है। इस कारिका में '**स्वसंविदाम्**' शब्द आया है। इसका अभिप्राय यही है कि जिस प्रकार बहुज्ञान, बहुविधज्ञान आदि अड़तालीस ज्ञान बाह्य अर्थ का ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार वे स्वसंवेदी भी होते हैं। अर्थात् 'स्व' का भी ग्रहण करते हैं। इन अवग्रहादि चारों भेदों में से पूर्व-पूर्व का ज्ञान प्रमाण है और उत्तर-उत्तर का ज्ञान फल है।

अवग्रह आदि चारों ज्ञान बारह प्रकार के अर्थों के होते हैं। ये बारह अर्थ हैं– बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त, ध्रुव और इनके प्रतिपक्षभूत एक, एकविध, चिर, निःसृत, उक्त और अध्रुव। बहु, बहुविध आदि का

स्वरूप **तत्त्वार्थसूत्र** से जान लेना चाहिए। अवग्रह आदि चारों ज्ञानों में से प्रत्येक के बारह भेद होते हैं और चारों ज्ञानों के अड़तालीस भेद होते हैं। इनमें से प्रत्येक ज्ञान पाँच इन्द्रियों और मन से उत्पन्न होने के कारण उक्त अड़तालीस ज्ञानों को छह से गुणा करने पर दो सौ अट्ठासी भेद होते हैं। ये भेद अर्थावग्रह के हैं। व्यञ्जन का केवल अवग्रह ही होता है, और वह चक्षु और मन को छोड़कर शेष चार इन्द्रियों से होता है। अतः बहु आदि बारह का चार से गुणा करने पर व्यञ्जनावग्रह के अड़तालीस भेद होते हैं। इस प्रकार अर्थावग्रह के 288 और व्यञ्जनावग्रह के 48- इन दोनों को मिलाकर मतिज्ञान के कुल 336 भेद होते हैं। ये भेद केवल बाह्य अर्थ को ग्रहण करने वाले ज्ञान के ही नहीं हैं, किन्तु उन ज्ञानों का जो स्वसंवेदनरूप ज्ञान होता है उनके भी ये भेद हैं।

परोक्षज्ञानवाद :

पूर्वपक्ष- मीमांसक परोक्षज्ञानवादी हैं। वे ज्ञान को स्वसंवेदी नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि ज्ञान अर्थ को तो जानता है, किन्तु स्वयं को नहीं जानता है। ज्ञान के द्वारा अर्थ का तो प्रत्यक्ष होता है, परन्तु अपना प्रत्यक्ष नहीं होता है। वे ज्ञान में परोक्षता सिद्ध करने के लिए तर्क देते हैं कि ज्ञान की प्रतीति कर्मरूप से न होने के कारण ज्ञान परोक्ष है। तथा जिसकी प्रतीति कर्मरूप से होती है वह प्रत्यक्ष होता है, जैसे घटादि पदार्थ। **'अहं घटं जानामि'** इस प्रतीति में घट कर्म है, परन्तु **'अहं ज्ञानं जानामि'** ऐसी प्रतति कभी नहीं होती है। इस प्रतीति में ज्ञान कर्म है। यदि ऐसी प्रतीति होती तो ज्ञान का प्रत्यक्ष हो जाता। यद्यपि ज्ञान कर्म नहीं होता है, किन्तु करण अवश्य होता है, क्योंकि ज्ञान के द्वारा अर्थ का प्रत्यक्ष होता है। अतः हम कह सकते हैं कि अर्थ की प्रत्यक्षता में ज्ञान करण होता है। जिस साधन से कोई कार्य किया जाता है उस साधन को करण कहते हैं। जैसे छेदनरूप क्रिया का करण कुठार है। एक ही ज्ञान में कर्मरूपता और करणरूपता- ये दोनों नहीं हो सकते हैं। अतः ज्ञान कर्मरूप न होकर करणरूप ही है।

यहाँ कोई शङ्का कर सकता है कि यदि ज्ञान सर्वथा परोक्ष है तो ऐसे ज्ञान का सद्भाव कैसे सिद्ध होगा? उक्त शङ्का सर्वथा असङ्गत है। यह सत्य है कि प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञान की प्रतीति नहीं होती है और

इसी कारण ज्ञान सर्वथा परोक्ष है। परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि परोक्ष ज्ञान का ग्राहक कोई प्रमाण ही नहीं है। अर्थापत्ति नामक प्रमाण ज्ञान का ग्राहक होता है। हम अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा ज्ञान का सद्भाव सिद्ध करते हैं। कोई भी क्रिया निष्फल नहीं होती है। अर्थ में जाननेरूप जो क्रिया होती है उसका कोई कारण अवश्य होना चाहिए। '**मया अर्थः ज्ञातः**' 'मैने अर्थ को जान लिया', यहां अर्थ में जो ज्ञातता आई वह ज्ञान के बिना नहीं आ सकती है। अतः हम (मीमांसक) कह सकते हैं कि ज्ञान का सद्भाव अवश्य है, अन्यथा अर्थ में ज्ञातता कैसे आती? अर्थापत्ति के अतिरिक्त अनुमान प्रमाण से भी परोक्षज्ञान की सिद्धि होती है। शाबरभाष्य में कहा गया है– '**ज्ञाते त्वनुमानादवगच्छति बुद्धिम्**'– अर्थात् अर्थ के जान लेने पर अनुमान के द्वारा बुद्धि को जाना जाता है। प्रवृत्ति का विषय यदि अज्ञात हो तो उसमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। प्रयोजनार्थी पुरुष कदाचित् ज्ञात विषय में प्रवृत्ति करता है और कभी प्रवृत्ति नहीं भी करता है। यहाँ उसकी प्रवृत्ति का कारण ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। प्रवृत्ति के कादाचित्क होने से ज्ञात होता है कि प्रवृत्ति का कारण अर्थ के अतिरिक्त अन्य कोई है, जिसके होने पर अर्थ प्रवृत्ति के योग्य होता है और वह कारण ज्ञान है। ज्ञान के बिना पुरुष की अर्थ में प्रवृत्ति नहीं हो सकने के कारण ज्ञान का अनुमान किया जाता है। इस प्रकार अर्थापत्ति और अनुमान के द्वारा परोक्ष ज्ञान की सिद्धि होती है। ऐसा मीमांसकों का मत है। इस मत को परोक्षज्ञानवाद कहते हैं।

उत्तरपक्ष– मीमांसकों द्वारा अभिमत परोक्षज्ञानवाद सर्वथा असङ्गत है। प्रत्येक ज्ञान स्वार्थव्यवसायात्मक होता है। वह अर्थ को जानने के साथ स्व को भी जानता है। मीमांसक कहते हैं कि ज्ञान अर्थ को तो जानता है, किन्तु वह स्वयं अपने को नहीं जानता है। इस विषय में जैनों का कहना है कि यदि ज्ञान स्वयं को न जाने तो वह अर्थ को भी नहीं जान सकता है। यदि ज्ञान अप्रत्यक्ष है तो वह अर्थ का प्रत्यक्ष कैसे कर सकता है? मीमांसकों का यह कथन ठीक नहीं है कि *ज्ञान की प्रतीति कर्मरूप से न होने के कारण वह परोक्ष है।* क्योंकि प्रमाता तथा प्रमिति (फलज्ञान) की प्रतीति कर्मरूप से न होने पर भी उनको प्रत्यक्ष माना गया है। यदि यहाँ ऐसा माना जाय कि प्रमाता की प्रतीति कर्तारूप से तथा प्रमिति की प्रतीति फलरूप से होती है, इसलिए उनमें

प्रत्यक्षता मानने में कोई विरोध नहीं है। यदि ऐसा है तो हम (जैन) कह सकते हैं कि प्रमाणरूप से माने गये ज्ञान की प्रतीति कर्मरूप से न होने पर भी करणरूप से होती है। इसलिए करणरूप ज्ञान को प्रत्यक्ष मानने में भी कोई विरोध नहीं है।

मीमांसक कहते हैं कि ज्ञान में कर्मत्व की असिद्धि है। अर्थात् ज्ञान घटादि की तरह कर्म नहीं होता है। यहाँ हम उनसे यह जानना चाहते हैं कि ज्ञान में कर्मत्व की असिद्धि सकल प्रमाणों की अपेक्षा से है या स्वरूप की अपेक्षा से है? यदि सकल प्रमाणों की अपेक्षा से ज्ञान में कर्मत्व की असिद्धि है तो ज्ञान का सत्त्व सिद्ध करना भी असम्भव हो जायेगा। क्योंकि जो सकल प्रमाणों की अपेक्षा से कर्म नहीं होता है उसका सत्त्व खरविषाण की तरह दुर्लभ मानना होगा। और जब किसी प्रमाण का सत्त्व सिद्ध नहीं होगा तो प्रमेय की सत्ता में कौन विश्वास करेगा? क्योंकि प्रमेय की सिद्धि प्रमाण के द्वारा होती है। अब यदि ऐसा माना जाय कि स्वरूप की अपेक्षा से ज्ञान मे कर्मत्व की असिद्धि है तो यह पक्ष भी अनुभव विरुद्ध होने से युक्त नहीं है। हमारा अनुभव तो यही बतलाता है कि मैं घटग्राहकज्ञानविशिष्ट आत्मा का अनुभव कर रहा हूँ। इस अनुभव से यही सिद्ध होता है कि ज्ञान स्वरूप की अपेक्षा से कर्म होता है। यदि ज्ञान स्वसंवेदन प्रत्यक्ष का विषय नहीं होगा तो उसके सत्त्व की सिद्धि कैसे होगी?

पूर्वपक्ष में बतलाया गया है कि परोक्ष ज्ञान की सिद्धि अर्थापत्ति तथा अनुमान प्रमाण से होती है। उनका यह कथन समीचीन नहीं है। इस विषय में जैनदर्शन की मान्यता यह है कि जब स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से ज्ञान की सिद्धि हो रही है तब अर्थापत्ति और अनुमान से उसकी सिद्धि करने में क्या लाभ है? इसलिए परोक्षतैकान्त के आग्रह को छोड़कर ज्ञान को अर्थव्यवसायात्मक की तरह स्वव्यवसायात्मक भी मानना चाहिए। उपर्युक्त कथन का निष्कर्ष यह है कि जिस प्रकार अर्थ का प्रत्यक्ष होता है उसी प्रकार प्रमाता (कर्ता) करण (ज्ञान) और प्रमिति का भी प्रत्यक्ष होता है। इत्यादि प्रकार से विचार करने पर मीमांसकों के द्वारा अभिमत परोक्षज्ञानवाद निरस्त हो जाता है।

ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवाद :

पूर्वपक्ष– नैयायिक-वैशेषिकों का मत है कि ज्ञान का प्रत्यक्ष तो होता है, किन्तु वह प्रत्यक्ष स्वतः न होकर ज्ञानान्तर से होता है। प्रथम ज्ञान का प्रत्यक्ष द्वितीय ज्ञान से और द्वितीय ज्ञान का प्रत्यक्ष तृतीय ज्ञान से होता है। इस प्रकार प्रत्येक ज्ञान ज्ञानान्तरवेद्य होता है। ऐसी मान्यता का नाम है– ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवाद। ज्ञान में ज्ञानान्तरवेद्यत्व की सिद्धि अनुमान प्रमाण से होती है। तथाहि–

ज्ञानं ज्ञानान्तरवेद्यं प्रमेयत्वात्, घटादिवत्।

अर्थात् ज्ञान दूसरे ज्ञान के द्वारा वेद्य होता है, प्रमेय होने से, घटादि की तरह। जो भी प्रमेय होता है वह ज्ञान के द्वारा वेद्य होता है। घट एक प्रमेय है। वह स्वतः वेद्य न होकर ज्ञान के द्वारा वेद्य होता है। उसी प्रकार ज्ञान भी प्रमेय होने के कारण स्वतः वेद्य न होकर दूसरे ज्ञान के द्वारा वेद्य होता है। यहाँ कोई कह सकता है कि ज्ञान को ज्ञानान्तरवेद्य मानने में ईश्वरज्ञान के द्वारा व्यभिचार आता है। क्योंकि ईश्वरज्ञान ज्ञानान्तरवेद्य न होकर स्वतः वेद्य होता है, परन्तु यहाँ इस प्रकार का दोष (व्यभिचार) बतलाना न्यायसङ्गत नहीं है। क्योंकि हमने (यौगों ने) यहाँ ज्ञान को जो ज्ञानान्तरवेद्य बतलाया है वह हम लोगों के ज्ञान की अपेक्षा से बतलाया है। ईश्वर का ज्ञान तो हम लोगों के ज्ञान से विलक्षण है। अतः ईश्वर के ज्ञान की अपेक्षा से दोष देना अनुचित है।

कुछ लोग ज्ञान को स्वसंवेदी मानते हैं। अर्थात् ज्ञान स्वयं अपना संवेदन करता है या स्वयं अपने को जानता है। उनका ऐसा कहना युक्तिसङ्गत नहीं है, क्योंकि स्वात्मा में क्रिया का विरोध है। कोई भी सुतीक्ष्ण तलवार अपने को नहीं काट सकती है और कोई भी सुशिक्षित नट अपने कन्धे पर नहीं चढ़ सकता है। इसी प्रकार कोई भी ज्ञान अपने को नहीं जान सकता है। इसलिए ऐसा कहना अयुक्त है कि ज्ञान प्रदीप की तरह अर्थ का प्रकाशक होने के साथ ही स्वप्रकाशक भी होता है। यहाँ एक प्रश्न यह भी है कि ज्ञान जिस स्वभाव से अपने को प्रकाशित करता है क्या उसी स्वभाव से अर्थ को प्रकाशित करता है अथवा दूसरे स्वभाव से? यदि ज्ञान उसी स्वभाव से अर्थ को प्रकाशित करता है तो अभिन्न स्वभाव

से ग्राह्य होने के कारण ज्ञान और अर्थ में भेद नहीं माना जा सकता है। अब ऐसा माना जाय कि ज्ञान अर्थ को दूसरे स्वभाव से प्रकाशित करता है तो इस पक्ष में दो विकल्प होते हैं– ज्ञान के वे दोनों स्वभाव ज्ञान से अभिन्न हैं या भिन्न? यदि ज्ञान के वे दोनों स्वभाव ज्ञान से अभिन्न हैं तो दोनों में से एक ही रहेगा। अर्थात् या तो दोनों स्वभाव रहेंगे अथवा ज्ञान ही रहेगा। ऐसी स्थिति में वह ज्ञान स्व और अर्थ का प्रकाशक कैसे होगा? अब यदि ऐसा माना जाय कि ज्ञान के वे दोनों स्वभाव ज्ञान से भिन्न हैं तो यहाँ भी विकल्प होता है कि वे स्वसंविदित हैं या नहीं? यदि वे स्वसंविदित हैं तो उसी स्वभाव से या स्वभावान्तर से? इत्यादि प्रकार से इस पक्ष में अनवस्था दोष आता है। अतः ज्ञान को स्वसंवेद्य न मानकर ज्ञानान्तरवेद्य मानना ही तर्कसङ्गत है। यौगों का यह मत ज्ञानान्तरवेद्य-ज्ञानवाद कहलाता है।

उत्तरपक्ष– यौगों का उक्त मत समीचीन नहीं है। यदि प्रथम ज्ञान का संवेदन द्वितीय ज्ञान से और द्वितीय ज्ञान का संवेदन तृतीय ज्ञान से माना जायेगा तो इस प्रकार की प्रक्रिया का कहीं विराम नहीं होने के कारण अनवस्था दोष प्राप्त होगा। इस दोष को दूर करने के लिए ज्ञानान्तरवेद्य-ज्ञानपरम्परा में यदि किसी ज्ञान को स्वतः वेद्य मान लिया जाता है तो प्रथम ज्ञान को ही स्वतः वेद्य मान लेने में क्या हानि है? पूर्वपक्ष में कहा गया है– **'ज्ञानं ज्ञानान्तरवेद्यं प्रमेयत्वात्, घटवत्'**। यहाँ प्रश्न यह है कि प्रमेयत्व हेतु के द्वारा ज्ञानसामान्य में ज्ञानान्तरवेद्यत्व सिद्ध किया जाता है अथवा हम लोगों के ज्ञान में? प्रथम पक्ष में ईश्वर के ज्ञान के द्वारा हेतु अनैकान्तिक हो जाता है। क्योंकि ईश्वर का ज्ञान ज्ञानान्तरवेद्य नहीं है, अपितु स्वसंवेद्य है। अब यदि ऐसा माना जाता है कि हम लोगों का ज्ञान ज्ञानान्तरवेद्य होता है, ईश्वर का ज्ञान नहीं, तो ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है। हम लोगों का ज्ञान ही ज्ञानान्तरवेद्य क्यों है और ईश्वर का ज्ञान ज्ञानान्तरवेद्य क्यों नहीं है? इस प्रश्न का उत्तर क्या है? नियम तो सर्वत्र एकसा होना चाहिए। ईश्वर के ज्ञान को विलक्षण ज्ञान मानकर काम नहीं चल सकता है।

नैयायिक कहते हैं कि ज्ञान स्वसंवेद्य नहीं होता है, परन्तु ज्ञानान्तरवेद्य होता है। यहाँ प्रश्न यह है कि ज्ञान कौन से ज्ञान से संवेद्य होता है–

सहसम्भूत ज्ञान से अथवा उत्तरकालीन ज्ञान से? यहाँ प्रथम पक्ष मानना सर्वथा गलत है, क्योंकि अनेक ज्ञानों की युगपत् उत्पत्ति नहीं होती है। **न्यायसूत्र** में कहा भी है– **'युगपज्ज्ञानानुपपत्तिर्मनसो लिङ्गम्।'** अतः एक ज्ञान के साथ दूसरे ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होने से कोई सहसम्भूतज्ञान सम्भव ही नहीं है। अब यदि यह पक्ष माना जाय कि ज्ञान उत्तरकालीन ज्ञान से संवेद्य होता है तो यह पक्ष भी स्वीकार करने योग्य नहीं है। क्योंकि पहले अर्थज्ञान होता है, तदनन्तर अन्य ज्ञान के द्वारा ज्ञान का संवेदन होता है, ऐसी विच्छिन्न प्रतीति किसी को भी नहीं होती है। प्रत्युत अर्थज्ञान के साथ ही 'स्व' की प्रतीति भी उसी समय हो जाती है। यहाँ यह भी विचारणीय है कि उत्तरकालीन ज्ञान के समय पूर्वकालीन ज्ञान रहता है या नहीं? यदि रहता है तो ज्ञानयौगपद्य का प्रसङ्ग आता है जो नैयायिकों को अनिष्ट है और यदि उत्तरकालीन ज्ञान के समय पूर्वकालीन ज्ञान नहीं रहता है तो फिर वह किस ज्ञान को ग्रहण करता है? क्योंकि उत्तरकालीन ज्ञान के द्वारा ग्राह्य पूर्वज्ञान तो पहले ही नष्ट हो चुका है।

पूर्वपक्ष में कहा गया है कि ज्ञान स्वसंवेदी नहीं हो सकता है, क्योंकि स्वात्मा में क्रिया का विरोध है, इत्यादि। यहाँ हम यह बतलाना चाहते हैं कि क्रिया कई प्रकार की होती है। जैसे उत्पत्तिरूप क्रिया, परिस्पन्दात्मक क्रिया, ज्ञप्तिरूप क्रिया, धात्वर्थरूप क्रिया इत्यादि। इनमें से स्वात्मा में किस क्रिया का विरोध है? उत्पत्तिरूप क्रिया का स्वात्मा में विरोध तो हम भी मानते हैं। कोई भी ज्ञान या अर्थ स्व (अपने) से उत्पन्न नहीं होता है। हर एक वस्तु की उत्पत्ति स्वसामग्री से होती है। परिस्पन्दात्मक क्रिया भी ज्ञान में सम्भव नहीं है। यह क्रिया तो द्रव्य में होती है, गुणरूप ज्ञान में नहीं। अब रही बात ज्ञप्तिरूप क्रिया की, तो ज्ञान में ज्ञप्तिरूप क्रिया का कोई विरोध नहीं है। ज्ञप्ति तो ज्ञान का स्वरूप है और स्वरूप के साथ किसी का विरोध नहीं होता है। अन्यथा प्रदीप का भी स्वप्रकाशन-रूप क्रिया के साथ विरोध प्राप्त होगा। इससे यही सिद्ध होता है कि ज्ञान में ज्ञप्तिरूप क्रिया का विरोध नहीं है। **'ज्ञानं स्वात्मानं जानाति'** इस वाक्य में **'जानाति'** क्रिया का स्वात्मा के साथ कोई विरोध नहीं है। जो लोग ज्ञान में ज्ञप्तिरूप क्रिया का विरोध मानते हैं उनका मत ईश्वर के ज्ञान तथा प्रदीप के प्रकाश के द्वारा निरस्त हो जाता है। क्योंकि ईश्वर का ज्ञान स्वसंवेदन में ज्ञानान्तर की अपेक्षा नहीं करता है तथा

प्रदीप का प्रकाश भी स्वप्रकाशन में प्रकाशान्तर की अपेक्षा नहीं करता है।

पूर्वपक्ष में कहा गया है कि ज्ञान यदि स्वप्रकाशक है तो जिस स्वभाव से वह अपने को प्रकाशित करता है उसी स्वभाव से अर्थ को प्रकाशित करता है या दूसरे स्वभाव से? इस कथन में कोई सार नहीं है। क्योंकि स्वभाव और स्वभाववान् में भेद और अभेद के प्रति अनेकान्त है। ज्ञानरूप से स्वभाव और स्वभाववान् में अभेद है, परन्तु स्वप्रकाशक और परप्रकाशक स्वभाव की दृष्टि से भेद है। अर्थात् ज्ञान की दृष्टि से स्वभाव और स्वभाववान् में अभेद है तथा उसके दो स्वभावों की दृष्टि से भेद है। ज्ञान में प्रमाणत्व और प्रमेयत्व- ये दोनों धर्म एक साथ रह सकते हैं। इसमें कोई विरोध नहीं है। ज्ञान 'जानता है' इस अपेक्षा से वह प्रमाण है और 'जाना जाता है' इस अपेक्षा से वह प्रमेय है। अपने कारणों से उत्पन्न ज्ञान स्वपरप्रकाशक ही उत्पन्न होता है। इस प्रकार यह अच्छी तरह से सिद्ध हो जाता है कि प्रत्येक ज्ञान स्वसंवेद्य ही होता है, ज्ञानान्तरसंवेद्य नहीं।

अचेतनज्ञानवाद :

पूर्वपक्ष- सांख्यदर्शन में ज्ञान को अचेतन माना गया है। इस दर्शन में मुख्यरूप से दो तत्त्व हैं- प्रकृति और पुरुष। इनमें से प्रकृति अचेतन है और पुरुष चेतन है। ज्ञान की उत्पत्ति प्रकृति से होने के कारण उसे अचेतन माना गया है। सांख्य कहते हैं कि अचेतन होने से ज्ञान घटादि की तरह स्वव्यवसायात्मक नहीं हो सकता है। ज्ञान प्रकृति का परिणाम है। घटादि पदार्थ भी प्रकृति के परिणाम हैं। जो भी प्रकृति के परिणाम हैं वे सब अचेतन होते हैं। इसके विपरीत जो चेतन है वह प्रकृति का परिणाम नहीं होता है, जैसे पुरुष या आत्मा। पुरुष का स्वरूप चैतन्य है। सांख्य ज्ञान और चैतन्य में भेद मानते हैं और ज्ञान को पुरुष का धर्म न मानकर प्रकृति का धर्म मानते हैं।

'प्रकृतेर्महान्' इत्यादि **सांख्यकारिका** के द्वारा यह सिद्ध होता है कि प्रकृति से महत् (बुद्धि) तत्त्व की उत्पत्ति होती है। यह महत् तत्त्व एक व्यापक, विषय के अध्यवसायरूप और प्रलयपर्यन्त स्थायी होता है। यह महत् तत्त्व हम लोगों के द्वारा संवेद्य नहीं होता है, परन्तु महत् तत्त्व

के द्वारा प्राणियों में इन्द्रियवृत्तिरूप और मनोवृत्तिरूप जो बुद्धि की वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं वे प्रमाणान्तर के द्वारा संवेद्य होती हैं। पहले इन्द्रियवृत्ति विषयाकार परिणत होती है। तदनन्तर मनोवृत्ति के द्वारा बुद्धिवृत्ति एक ओर विषयाकार को संक्रान्त करती है और दूसरी ओर चैतन्य की छाया को संक्रान्त करती है। इस प्रकार वह विषय की व्यवस्थापक होती है। बुद्धि दर्पण के समान है। यदि उसमें विषयाकार का संक्रमण न हो तो पुरुष अर्थ को नहीं जान सकता है। कहा भी है- **'बुद्ध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते'**। अर्थात् बुद्धि में प्रतिबिम्बित अर्थ को पुरुष जानता है।

यहाँ कोई कह सकता है कि बुद्धि से भिन्न चैतन्य की कभी भी प्रतीति नहीं होती है। तब बुद्धि में चैतन्य की छाया की संक्रान्ति कैसे सम्भव है? यह कथन समीचीन नहीं है। यद्यपि बुद्धि और चैतन्य- ये दोनों सत् हैं, किन्तु इनमें अयोगोलक और वह्नि की तरह विभ्रमवश विवेक (भेद) का निश्चय नहीं हो पाता है। अयोगोलक और वह्नि में अभेद नहीं माना जा सकता है। उनमें रूप और स्पर्श के द्वारा भेद की प्रतीति प्रत्यक्ष से होती है। अयोगोलक का रूप अभासुर है और स्पर्श अनुष्ण है, किन्तु वह्नि का रूप भासुर है और स्पर्श उष्ण है। अयोगोलक और वह्नि के प्रदेशों का परस्पर में अनुप्रवेशरूप संसर्ग के कारण विप्रलब्ध नर उनमें भेद का अवधारण नहीं कर पाता है। यही बात बुद्धि और चैतन्य के विषय में है। कहा भी है-

तस्मात् तत्संसर्गादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्।

अर्थात् अचेतन बुद्धि चैतन्य के संसर्ग से चेतन की तरह मालूम पड़ती है। ऐसा अचेतन ज्ञानवादी सांख्यों का मत है।

उत्तरपक्ष- सांख्यों का उक्त मत प्रमाणसङ्गत नहीं है। ज्ञान को प्रकृति का धर्म मानना ठीक नहीं है। यथार्थ में ज्ञान प्रकृति का धर्म न होकर आत्मा का धर्म है। हम कह सकते हैं कि द्रष्टा होने के कारण आत्मा ज्ञानपर्याय से युक्त है। जो ज्ञानपर्याय से युक्त नहीं होता है वह घट की तरह द्रष्टा नहीं हो सकता है। जिस प्रकार आत्मा में 'मैं चेतन हूँ' ऐसा अनुभव होता है, उसी प्रकार 'मैं ज्ञाता हूँ' ऐसा अनुभव भी होता है और ऐसा अनुभव होने से आत्मा में ज्ञानस्वभाव की सिद्धि होती है।

सांख्यों ने प्रारम्भ में कहा है-

ज्ञानं स्वव्यवसायात्मकं न भवति अचेतनत्वात् पटादिवत्।

उन्होंने अचेतन होने के कारण ज्ञान को स्वव्यवसायात्मक नहीं माना है। यहाँ हम सांख्यों से पूछना चाहते हैं कि अचेतनत्व क्या है- अस्वसंविदितत्व, अर्थाकारधारित्व अथवा जड़परिणामत्व? यदि अस्वसंविदितत्व का नाम अचेतनत्व है तो यहाँ हेतु साध्य के समान हो जाता है। अर्थात् जैसे साध्य असिद्ध है वैसे हेतु भी असिद्ध है। और असिद्ध हेतु साध्य की सिद्धि कैसे कर सकता है? यदि अर्थाकारधारित्व का नाम अचेतनत्व है तो यहाँ पट का जो दृष्टान्त दिया है वह साधनविकल है, क्योंकि दर्पणादि की तरह पटादि अर्थाकार के धारी नहीं होते हैं। अमूर्त ज्ञान में मूर्त अर्थ के आकार का धारण सम्भव भी नहीं है। इसलिए अचेतनत्व (अर्थाकारधारित्व) हेतु स्वरूपासिद्ध भी हो जाता है। इसी तरह ज्ञान में जड़परिणामत्व भी असिद्ध है। ज्ञान तो आत्मा का परिणाम है, वह जड़ का परिणाम कैसे हो सकता है? द्रष्टा होने से आत्मा ज्ञानपरिणामवान् है। जो द्रष्टा नहीं होता है वह ज्ञानपरिणामवान् नहीं होता है, जैसे पट। सांख्यों ने प्रकृति का परिणाम होने से ज्ञान को अचेतन बतलाया है जो सर्वथा गलत है। जैनदर्शन ने युक्तिपूर्वक यह सिद्ध किया है कि ज्ञान प्रकृति का परिणाम न होकर आत्मा का परिणाम है। पूर्वपक्ष में बुद्धि को एक, व्यापक और नित्य बतलाया गया है। उनका ऐसा कथन युक्तिसङ्गत नहीं है। हम कह सकते हैं कि प्रकृति का परिणाम होने के कारण पटादि की तरह बुद्धि एक, व्यापक और नित्य नहीं है। घट, पट आदि पदार्थ प्रकृति के परिणाम तो हैं, किन्तु वे एक, व्यापक और नित्य नहीं हैं।

सांख्य कहते हैं कि '**आत्मनो हि भोगो मया सम्पादनीयः।**' ऐसा सोचकर प्रकृति महत् आदि तत्त्वों की उत्पत्ति करती है। अर्थात् प्रकृति आत्मा के लिए भोग्य पदार्थों की उत्पत्ति में प्रवृत्त होती है। उनका ऐसा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जड़स्वभावयुक्त प्रकृति में उक्त विचार उत्पन्न होना सर्वथा असम्भव है। सांख्य मानते हैं कि बुद्धि में पुरुष के चैतन्य की संक्रान्ति हो जाती है। अर्थात् जिस प्रकार दर्पण में मुख प्रतिबिम्बित होता है उसी प्रकार बुद्धि में चैतन्य प्रतिबिम्बित होता है। उक्त मत समीचीन

नहीं है। क्योंकि सांख्यों के अनुसार आत्मा व्यापक है और व्यापक पदार्थ का कहीं पर प्रतिबिम्बन नहीं होता है, जैसे आकाश का कहीं भी प्रतिबिम्बन सम्भव नहीं है। सांख्य बुद्धि में चैतन्य को उपचरित मानते हैं, वास्तविक नहीं। परन्तु यदि बुद्धि में वास्तविक चैतन्य नहीं है तो बुद्धि में विषय व्यवस्थापन की शक्ति भी नहीं आ सकती है। यहाँ एक बात यह भी विचारणीय है कि मुख और दर्पण की तरह बुद्धि और चैतन्य में भेद सिद्ध होने पर चैतन्य का बुद्धि में प्रतिबिम्बन माना जा सकता है। परन्तु उनमें भेद सिद्ध होता ही नहीं है। संवित्तिरूप तथा चैतन्ययुक्त आत्मा विषय का व्यवस्थापक होता है। उसी के चैतन्य, बुद्धि, अध्यवसाय, ज्ञान और संवित्ति- ये सब पर्यायें हैं। शब्दों के भेदमात्र से वास्तविक अर्थभेद सिद्ध नहीं होता है।

पूर्वपक्ष में यह भी बतलाया गया है कि बुद्धि और चैतन्य में भेद है, किन्तु अयोगोलक (लोहे का गोला) और वह्नि की तरह संसर्गविशेष के कारण विप्रलब्ध नर उनमें भेद का निर्धारण नहीं कर पाता है। सांख्यों का ऐसा कथन कथनमात्र है, इसमें कोई तथ्य नहीं है। हम सिद्ध कर सकते हैं कि अयोगोलक और वह्नि में भी कोई भेद नहीं है। क्योंकि अयोगोलक वह्नि के सन्निधान से अपने पूर्वाकार का परित्याग करके विशिष्ट रूप और स्पर्श पर्याय को धारण करने वाला नूतनरूप में उत्पन्न हो जाता है। उस समय अयोगोलक और वह्नि में भेद की प्रतीति नहीं होती है। इसी प्रकार बुद्धि और चैतन्य भी पृथक्-पृथक् नहीं हैं। वे तो एक ही आत्मा की पर्यायें हैं। इस प्रकार सांख्याभिमत अचेतन ज्ञानवाद का निराकरण करके यहाँ यह सिद्ध किया गया है कि ज्ञान अचेतन प्रकृति या प्रधान का धर्म न होकर चेतन आत्मा का धर्म है।

प्रामाण्यवाद :

यहाँ इस बात पर विचार किया गया है कि प्रमाण के प्रामाण्य का ज्ञान कैसे होता है? किसी को ऐसा ज्ञान हुआ कि वहाँ जल है, यह जलज्ञान सत्य है या असत्य, इस बात की जानकारी कैसे होती है। जलज्ञान सत्य है, इस बात के ज्ञान का नाम प्रमाण का प्रामाण्य (संवादकता) है। *प्रमाण के प्रामाण्य का तात्पर्य यह है कि प्रमाण ने अर्थ को जैसा जाना है उसे वैसा ही होना चाहिए।* यहाँ यह भी विचारणीय है कि प्रमाण

का प्रामाण्य स्वतः होता है या परतः। इसी बात का यहाँ विचार किया जा रहा है।

पूर्वपक्ष– मीमांसक स्वतः प्रामाण्यवादी हैं। उनका कहना है कि परतः प्रामाण्य मानने में अनेक दोष आने के कारण प्रामाण्य को स्वतः मानना चाहिए। प्रमाण में अर्थ का परिच्छेद (ज्ञान) करने वाली जो शक्ति है उसका नाम प्रामाण्य है। और यह शक्ति विज्ञानमात्र की उत्पादक सामग्री से उत्पन्न होती है। वह अपनी उत्पत्ति में विज्ञानमात्र की उत्पादक सामग्री के अतिरिक्त अन्य किसी गुणादि की अपेक्षा नहीं करती है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिन कारणों से प्रमाण की उत्पत्ति होती है उन्हीं कारणों से प्रामाण्य भी उत्पन्न हो जाता है। अर्थ की परिच्छेदक शक्तिका नाम प्रामाण्य है और पदार्थों की शक्तियों का आविर्भाव स्वतः ही होता है। इसी विषय में मीमांसाश्लोकवार्तिक में कहा गया है–

स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम्।
नहि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते।।

अर्थात् सब प्रमाणों का प्रामाण्य स्वतः होता है, ऐसा जानना चाहिए। क्योंकि जो शक्ति स्वयं असत् है उसे अन्य कोई उत्पन्न नहीं कर सकता है। इसका भाव यह है कि जो कार्यगत धर्म कारण में रहता है वह कार्य की तरह कारण से ही उत्पन्न हो जाता है। जैसे मृत्पिण्ड में विद्यमान रूपादि मृत्पिण्ड से उत्पन्न हुए घट में भी उत्पन्न हो जाते हैं, किन्तु जो कार्यधर्म कारणों में नहीं रहता है उसकी उत्पत्ति स्वतः ही हो जाती है। जैसे घट में उदक के आहरण की शक्ति। इसी प्रकार प्रमाण में भी अर्थपरिच्छेदक शक्ति प्रमाण के कारण चक्षुरादि में नहीं रहती है। अतः उसकी उत्पत्ति चक्षुरादि कारणों से नहीं होती है। परन्तु उसका आविर्भाव स्वतः हो जाता है। इसलिए उत्पत्ति में प्रामाण्य गुणादि की अपेक्षा नहीं करता है। इसी तरह अर्थपरिच्छित्तिरूप स्वव्यापार में भी प्रामाण्य किसी की अपेक्षा नहीं करता है, क्योंकि जिसका प्रामाण्य गृहीत नहीं हुआ है ऐसे प्रमाण से भी अर्थ की परिच्छित्ति देखी जाती है। प्रामाण्य का निश्चय न तो संवादकज्ञान से होता है, न गुणों के ज्ञान से और न अर्थक्रिया के ज्ञान से। क्योंकि ऐसा मानने में अनवस्था आदि अनेक दोषों का प्रसङ्ग प्राप्त होता है। इस कारण प्रामाण्य सर्वत्र स्वतः ही होता है।

इसके विपरीत अप्रामाण्य परतः होता है। क्योंकि अप्रामाण्य की उत्पत्ति में ज्ञानोत्पादक कारणों के अतिरिक्त दोष नामक कारण की अपेक्षा होती है। तथा अप्रामाण्य निवृत्तिरूप स्वकार्य में स्वग्रहण की अपेक्षा करता है। संशय, विपर्यय और अज्ञान के भेद से अप्रमाण तीन प्रकार का है। इनमें ज्ञानाभावरूप अज्ञान स्वतः सिद्ध होने के कारण इसमें किसी की अपेक्षा नहीं होती है। परन्तु संशय और विपर्यय की उत्पत्ति में क्षुधादि प्रमाता के दोष, अप्रणिधानादि मन के दोष, तिमिरादि इन्द्रिय-दोष और चलत्वादि विषय के दोष यथासम्भव कारण होते हैं। तथा निवृत्तिरूप स्वकार्य में स्वज्ञप्ति की अपेक्षा होती है। संशयादि ज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर वह ज्ञान पुरुष को पदार्थ से तब तक निवृत्त नहीं करता है जब तक कारणों में दोषज्ञान के द्वारा वह मिथ्यात्वरूप से नहीं जान लिया जाता है। इस प्रकार अप्रामाण्य की उत्पत्ति में कारणों के दोषज्ञान की अपेक्षा होती है। इतना ही नहीं, अप्रामाण्य की उत्पत्ति में बाधक प्रत्यय भी कारण होता है। किसी को शुक्तिका में रजत का ज्ञान हुआ। बाद में उसे ऐसा ज्ञान हुआ कि यह रजत नहीं है, यह तो शुक्तिका है। यहाँ पूर्व ज्ञान में बाधक प्रत्यय के आ जाने के कारण पूर्व ज्ञान अप्रमाण हो जाता है। इससे यही सिद्ध होता है कि अप्रामाण्य परतः होता है।

यदि यहाँ कोई ऐसा कहना चाहे कि प्रामाण्य की उत्पत्ति भी गुण नामक कारण से होती है। अतः प्रामाण्य को भी परतः मानना चाहिए, किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि गुणों की सिद्धि किसी भी प्रमाण से नहीं होती है। गुणों की सिद्धि हो जाने पर भी उनका व्यापार प्रामाण्य की उत्पत्ति में न होकर दोषों को दूर करने में ही होता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि प्रामाण्य स्वतः होता है और अप्रामाण्य परतः होता है। ऐसा मीमांसकों का मत है।

उत्तरपक्ष- प्रामाण्य स्वतः होता है और अप्रामाण्य परतः होता है, ऐसा मीमांसकों का मत सर्वथा असमीचीन है। यहाँ प्रमाण के प्रामाण्य का विचार तीन प्रकार से करना है- (1) उत्पत्ति में प्रामाण्य, (2) ज्ञप्ति में प्रामाण्य, और (3) प्रवृत्तिरूप स्वकार्य में प्रामाण्य।

यहाँ सर्वप्रथम उत्पत्ति में प्रामाण्य का विचार करना है। मीमांसकों ने अर्थ का परिच्छेद करने वाली शक्ति को प्रामाण्य माना है। यहाँ हम

यह जानना चाहते हैं कि क्या अर्थमात्र की परिच्छेदक शक्ति का नाम प्रामाण्य है अथवा वास्तविक अर्थ की परिच्छेदक शक्ति का नाम प्रामाण्य है। प्रथम पक्ष में संशय, विपर्यय और स्वप्नादि ज्ञानों के द्वारा प्रामाण्य के लक्षण में व्यभिचार आता है। क्योंकि संशयादि ज्ञानों में अप्रामाण्य होने पर भी अर्थमात्र परिच्छेदक शक्ति का वहाँ सद्भाव पाया जाता है और द्वितीय पक्ष स्वीकार करने पर परतः प्रामाण्य की सिद्धि होती है। क्योंकि विज्ञानमात्र की उत्पादक चक्षुरादि सामग्री से प्रामाण्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, परन्तु गुणयुक्त चक्षुरादि सामग्री से प्रामाण्य की उत्पत्ति होती है। यह कहना गलत है कि चक्षुरादि सामग्री के अतिरिक्त अन्य कोई गुण नहीं है। लोक में आबालवृद्ध सभी को गुणों की प्रतीति होती है। चक्षु के गुण नैर्मल्यादि, मन के गुण प्रणिधानादि, विषय के गुण निश्चलत्वादि और प्रकाश के गुण स्फुटत्वादि, इन गुणों का अस्तित्व सभी को अनुभव में आता है। यह कहना भी ठीक नहीं है कि नैर्मल्यादि तो चक्षु का स्वरूप है, गुण नहीं। नैर्मल्यादि को चक्षु का स्वरूप बतलाने वालों के यहाँ काचकामलादि में दोषता कैसे सिद्ध होगी? जन्मजात तैमरिक रोग वाले की चक्षु दोषयुक्त ही उत्पन्न होती है। अतः हम कह सकते हैं कि गुण की तरह दोष भी चक्षु का स्वरूप है। यदि चक्षुरादि इन्द्रियों में गुणों का सद्भाव न हो तो पुरुष में पटुत्व आदि गुणों के तारतम्य का सद्भाव नहीं बनेगा। यह नर पटु इन्द्रिययुक्त है और यह पटुतर इन्द्रिययुक्त है, इत्यादिरूप से पटुत्वगुण का तारतम्य देखा जाता है। यदि मीमांसक गुणों को नहीं मानते हैं तो उन्होंने जो कहा है कि '**गुणेभ्यो दोषाणामभावः**' अर्थात् गुणों के द्वारा दोषों का अभाव हो जाता है, वह कैसे सिद्ध होगा? गुणों के मान लेने पर भी यह कहना ठीक नहीं है कि उनका व्यापार दोषों के दूर करने में होता है, प्रामाण्य की उत्पत्ति में नहीं। अतः 'प्रामाण्य को स्वतः मानना चाहिए'। इसके विपरीत हम (जैन) यह कह सकते हैं कि दोषों का व्यापार गुणों के दूर करने में होता है, अप्रामाण्य की उत्पत्ति में नहीं। अतः अप्रामाण्य को स्वतः मानना चाहिए।

उपर्युक्त कथन का निष्कर्ष यह है कि मीमांसकों को प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को स्वतः अथवा दोनों को परतः मानना चाहिए। जैनदर्शन की दृष्टि तो यह है कि प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों की उत्पत्ति परतः होती है। क्योंकि प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों विशिष्ट कार्य हैं और

इन दोनों की उत्पत्ति के लिए विशिष्ट कारणों का होना अनिवार्य है। जिस प्रकार अप्रामाण्यरूप विशिष्ट कार्य कामलादिदोष विशिष्ट चक्षुरादि से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार प्रामाण्यरूप विशिष्ट कार्य भी निर्मलता आदि गुणविशिष्ट चक्षुरादि से उत्पन्न होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि ज्ञान में प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उत्पत्ति अपने-अपने विशिष्ट कारणों से होती है। प्रामाण्य की उत्पत्ति में गुण कारण होते हैं और अप्रामाण्य की उत्पत्ति में दोष कारण होते हैं। इस प्रकार उत्पत्ति में स्वतः प्रामाण्य मानना सर्वथा असङ्गत है।

अब प्रामाण्य की ज्ञप्ति के विषय में विचार करना है। ज्ञप्ति का अर्थ है- जानना। किसी अपरिचित देश में जाते हुए किसी स्थान में दूरसे ही हमें जो जलज्ञान होता है उसके प्रामाण्य को हम कैसे जानते हैं? इसका उत्तर यह है कि अभ्यासदशा में प्रामाण्य का निश्चय स्वतः होता है और अनभ्यासदशा में प्रामाण्य का निश्चय परतः होता है। मीमांसक तो ज्ञप्ति में भी प्रामाण्य को स्वतः मानते हैं। किन्तु ज्ञप्ति में भी प्रामाण्य सर्वत्र स्वतः नहीं होता है। क्योंकि ज्ञप्ति में प्रामाण्य का निश्चय कादाचित्क होने से किसी निमित्त के बिना नहीं हो सकता है। जो भी कार्य कादाचित्क होता है वह निर्निमित्तक नहीं होता है। प्रामाण्य का निश्चय भी कादाचित्क है। अतः उसका कोई निमित्त अवश्य होना चाहिए। उसका निमित्त क्या है- ज्ञान का स्वरूप या अन्य कोई? उसका निमित्त ज्ञान का स्वरूप तो हो नहीं सकता है। क्योंकि मीमांसकों ने ज्ञान को अस्वसंवेदी माना है। अन्य किसी को उसका निमित्त मानने पर स्वतः प्रामाण्य का व्याघात अवश्यम्भावी है। प्रामाण्य का निश्चायक यदि अन्य कोई निमित्त है तो वह प्रत्यक्ष है या अनुमान? प्रामाण्य के निश्चय में प्रत्यक्ष निमित्त नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रत्यक्ष का व्यापार इन्द्रिय सम्बद्ध विषय में होता है। और इन्द्रिय का अर्थसंवेदन के साथ सम्बन्ध न होने के कारण प्रत्यक्ष से प्रामाण्य की प्रतीति नहीं हो सकती है। ज्ञप्ति में प्रामाण्य अनुमान से भी नहीं जाना जा सकता है। क्योंकि अनुमान लिङ्गजन्य होता है और यहाँ ऐसा कोई लिङ्ग नहीं है जिससे उत्पन्न अनुमान ज्ञप्ति के प्रामाण्य का निश्चय करा सके। इस प्रकार ज्ञप्ति में प्रामाण्य स्वतः सिद्ध नहीं होता है।

जैनदर्शन के अनुसार ज्ञप्ति में प्रामाण्य का निश्चय अभ्यासदशा में स्वतः होता है और अनभ्यासदशा में परतः होता है। जब हमें किसी अपरिचित स्थान में जलज्ञान होता है तो वह जलज्ञान सत्य है या असत्य, इस बात का निश्चय स्वतः नहीं होता है। किन्तु उसके प्रामाण्य का निश्चय परतः होता है। वहाँ जलप्रदेश की ओर से आने वाली शीतल वायु के स्पर्श से, कमलों की सुगन्ध से तथा मेढकों की आवाज आदि परनिमित्तों से जलज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय होता है। इसी प्रकार अनभ्यासदशा में अप्रामाण्य का निश्चय भी स्वतः न होकर परतः ही होता है। तात्पर्य यह है कि अनभ्यासदशा में प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों का निश्चय परतः ही होता है। इसके विपरीत अभ्यासदशा में प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों का निश्चय स्वतः हो जाता है। क्योंकि वहाँ जो भी वस्तु दृष्टिगोचर होती है वह अभ्यस्त रहती है। इस कारण वहाँ अभ्यस्त वस्तु में संशयादि होने की कोई सम्भावना नहीं रहती है।

अब प्रामाण्य के प्रवृत्तिरूप स्वकार्य के विषय में विचार करना है। प्रामाण्य का स्वकार्य है– अपने विषय में प्रवृत्ति कराना। प्रवृत्तिरूप स्वकार्य में भी प्रामाण्य स्वतः नहीं होता है। प्रामाण्य अर्थ में पुरुष की प्रवृत्ति में निमित्त तभी होता है जब ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय हो जाय। प्रेक्षावान् नर किसी वस्तु का इच्छुक होने मात्र से उसमें प्रवृत्ति नहीं करता है। किन्तु उस वस्तु के प्रामाण्य का निश्चय होने पर ही उसमें प्रवृत्ति करता है। जलज्ञान होने पर जल की ओर गमन करना, जल पीना आदि जलज्ञान का प्रवृत्तिरूप स्वकार्य है। यह कार्य भी स्वग्रहण सापेक्ष होता है। अर्थात् यह जलज्ञान प्रमाण है ऐसा निश्चय होने पर ही जलज्ञान स्वकार्य में प्रवृत्ति कराता है। अतः प्रवृत्तिरूप स्वकार्य में प्रामाण्य स्वतः नहीं होता है। अप्रामाण्य के विषय में भी यही बात है। वहाँ भी शुक्तिका में जो रजतज्ञान हुआ है वह असत्य है, ऐसा निश्चय हो जाने पर ही रजत ज्ञान उस पदार्थ से निवृत्तिरूप स्वकार्य कराता है। इस प्रकार निवृत्तिरूप स्वकार्य में भी अप्रामाण्य परतः होता है।

प्रमाण के विषय में मीमांसक का एक मत यह भी है कि पहले सब ज्ञान प्रमाणरूप ही उत्पन्न होते हैं। बाद में यदि वहाँ ज्ञान के कारणों में दोषज्ञान और बाधकप्रत्यय का उदय हो जावे तो वह ज्ञान अप्रमाण

हो जाता है। अर्थात् पहले उत्पन्न हुए ज्ञान का बाधक कोई दूसरा ज्ञान वहाँ आजाय अथवा चक्षुरादि इन्द्रियों में कामलादि दोष का ज्ञान हो जाय तो वह ज्ञान अप्रमाण मान लिया जाता है।

मीमांसक का उक्त मत समीचीन नहीं है। उक्त मत के विपरीत हम ऐसा भी कह सकते हैं कि पहले सब ज्ञान अप्रमाणरूप ही उत्पन्न होते हैं। बाद में वहाँ बाधारहित ज्ञान और इन्द्रिय में दोषाभाव का ज्ञान हो जाने पर वह ज्ञान प्रमाण मान लिया जाता है। निष्कर्ष यह है कि न तो सब ज्ञान प्रमाणरूप उत्पन्न होते हैं और न अप्रमाणरूप उत्पन्न होते हैं, अपितु उत्पत्ति की दृष्टि से प्रामाण्य और अप्रामाण्य–दोनों परतः होते हैं। ज्ञप्ति की अपेक्षा से प्रामाण्य और अप्रामाण्य अभ्यासदशा में स्वतः और अनभ्यासदशा में परतः होते हैं। तथा प्रवृत्तिरूप स्वकार्य में प्रामाण्य और निवृत्तिरूप स्वकार्य में अप्रामाण्य परतः होते हैं। प्रमाण के प्रामाण्य के विषय में यही वास्तविक स्थिति है।

प्रमाण और फल का विचार :

पहले कारिका क्रमाङ्क 6 में बतलाया गया है कि अवग्रह आदि के भेद से मतिज्ञान के चार भेद होते हैं और इसके आगे की कारिका में यह बतलाया गया है कि उन चार ज्ञानों में से पूर्वज्ञान प्रमाण होता है और उत्तरज्ञान फल होता है। अर्थात् अवग्रहरूप ज्ञान प्रमाण है और ईहारूप ज्ञान उसका फल है। पुनः अवाय की अपेक्षा से ईहा ज्ञान प्रमाण है और अवाय उसका फल है। इसी प्रकार धारणा की अपेक्षा से अवाय प्रमाण है और धारणा उसका फल है। इस तरह पूर्व-पूर्व ज्ञान प्रमाण और उत्तर-उत्तर ज्ञान फल कहलाते हैं। इसी बात को कारिका क्रमाङ्क 7 के प्रारम्भ में कहा गया है– **पूर्वपूर्वप्रमाणत्वं फलं स्यादुत्तरोत्तरम्।**

अब यहाँ इस बात पर विचार करना है कि प्रमाण और फल में सर्वथा भेद है या सर्वथा अभेद है अथवा कथञ्चित् भेद और कथञ्चित् अभेद है। कुछ लोग प्रमाण और फल में सर्वथा भेद मानते हैं। दूसरे लोग उनमें सर्वथा अभेद मानते हैं। परन्तु जैन दार्शनिक प्रमाण और फल में कथञ्चित् भेद और कथञ्चित् अभेद मानते हैं।

प्रमाण और फल में सर्वथा भेदवाद :

पूर्वपक्ष- नैयायिक मानते हैं कि प्रमाण और फल में सर्वथा भेद है। उन्होंने अनुमान प्रमाण से प्रमाण और फल में भेद सिद्ध किया है। वह अनुमान इस प्रकार है- **'प्रमाणं आत्मव्यतिरिक्तक्रियाकारि कारकत्वात्'**। अर्थात् प्रमाण कारक होने से अपने से व्यतिरिक्त (भिन्न) पदार्थ में क्रिया करता है। जो भी कारक होता है वह स्वयं से व्यतिरिक्त अर्थ में क्रिया करता है, जैसे कुठार। उसी प्रकार करण होने से प्रमाण अपने से भिन्न फल को उत्पन्न करता है। जो भी करण होता है वह अपने से भिन्न फल को उत्पन्न करता है, जैसे वास्यादि। वास्यादि अपने में क्रिया को नहीं करते हैं। वे तो अपने से भिन्न अर्थ काष्ठ आदि में क्रिया या फल को उत्पन्न करते हैं। एक ही ज्ञान में प्रमाणरूपता और फलरूपता- ये दोनों धर्म नहीं बन सकते हैं। इसलिए प्रमाण और फल में भेद मानना आवश्यक है। विशेषणज्ञान प्रमाण होता है और विशेष्य ज्ञान फल होता है। इन दोनों में अभेद कैसे हो सकता है? दोनों ज्ञानों की उत्पादक सामग्री भिन्न है और विषय भी भिन्न है। इसलिए उन दोनों ज्ञानों में भेद सिद्ध होता है। जिस प्रकार घटज्ञान और पटज्ञान में अभेद नहीं माना जा सकता है, उसी प्रकार प्रमाण और फल में अभेद मानना असङ्गत है। ऐसा नैयायिकों का मत है।

उत्तरपक्ष- नैयायिकों द्वारा अभिमत प्रमाण और फल में सर्वथा भेदवाद का पक्ष युक्तिसङ्गत नहीं है। उन्होंने प्रमाण और फल में भेद सिद्ध करने के लिए कहा है- **'प्रमाणं आत्मव्यतिरिक्तक्रियाकारि कारकत्वात्'**। यहाँ कारकत्व हेतु से प्रमाण और फल में भेद सिद्ध किया गया है। यहाँ यह जिज्ञासा है कि इस हेतु से प्रमाण और फल में कथञ्चित् भेद सिद्ध किया जाता है अथवा सर्वथा भेद? यदि नैयायिक प्रमाण और फल में कथञ्चित् भेद सिद्ध करना चाहते हैं तो यह हमारे अनुकूल ही है। क्योंकि जैनदर्शन प्रमाण और फल में कथञ्चित् भेद मानता है। अज्ञाननिवृत्ति, हान, उपादान और उपेक्षा- ये प्रमाण के फल हैं। इनमें एक फल प्रमाण से अभिन्न है और शेष फल प्रमाण से भिन्न हैं। अज्ञाननिवृत्ति प्रमाण का *धर्म होने से प्रमाण से अभिन्न फल है। तथा हान, उपादान और उपेक्षा*- ये भिन्न फल हैं। सर्वथा भेद अथवा अभेद में धर्मधर्मिभाव नहीं बन सकता

है। जैसे सह्य और विन्ध्य पर्वतों में सर्वथा भेद होने के कारण धर्मधर्मिभाव नहीं है, उसी प्रकार सर्वथा अभेद में भी धर्मधर्मिभाव सम्भव नहीं है। अतः धर्म और धर्मी में कथञ्चित् भेद मानना चाहिए। साधकतम होने के कारण ज्ञान में प्रमाणरूपता और अज्ञाननिवृत्तिरूप होने के कारण उसमें फलरूपता होती है। और ये दोनों कथञ्चित् अभिन्न हैं। अर्थात् अज्ञान-निवृत्तिरूप फल प्रमाण से कथञ्चित् अभिन्न है। परन्तु हान, उपादान और उपेक्षा- ये तीन फल प्रमाण से कथञ्चित् भिन्न हैं। क्योंकि अज्ञाननिवृत्तिरूप फल के उत्पन्न होने के अनन्तर हान, उपादान और उपेक्षारूप फल उत्पन्न होते हैं। अज्ञाननिवृत्तिरूप फल के द्वारा व्यवधान होने के कारण हानादि फल में प्रमाण से भेद माना गया है। इस प्रकार कारक या करण होने के कारण प्रमाण और फल में सर्वथा भेद सिद्ध नहीं होता है।

पूर्वपक्ष में जो यह कहा गया है कि विशेषणज्ञान प्रमाण होता है और विशेष्यज्ञान फल होता है; वह कथन समीचीन नहीं है। ऐसा नहीं है कि विशेषण एक ज्ञान का आलम्बन हो और विशेष्य दूसरे ज्ञान का आलम्बन हो, अपितु दोनों एक ज्ञान के आलम्बन होते हैं। शुक्ल वस्त्र, दण्डी पुरुष इत्यादि स्थलों में विशेषण और विशेष्य में ज्ञानभेद का अनुभव नहीं होता है। विषयभेद से भी ज्ञानभेद नहीं होता है। पाँच अङ्गुल आदि का विषय अनेक होते हुये भी एक ज्ञान का आलम्बन होता है। इस प्रकार प्रमाण और फल में सर्वथा भेदवाद का निराकरण करके उनमें कथञ्चित् भेद और कथञ्चित् अभेद सिद्ध किया गया है।

प्रमाण और फल में सर्वथा अभेदवाद :

पूर्वपूक्ष- बौद्ध प्रमाण और फल में सर्वथा अभेद मानते हैं। उनका कहना है कि एक ही ज्ञान प्रमाणरूप और फलरूप-दोनों होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि एक ही ज्ञान में दो अंश होते हैं- अर्थसारूप्य और अर्थाधिगति। इनमें से अर्थसारूप्य (अर्थाकारता) का नाम प्रमाण है और अर्थाधिगति का नाम फल है। प्रत्येक ज्ञान अर्थ से उत्पन्न होता है और जिस अर्थ से उत्पन्न होता है वह उसके आकार को धारण कर लेता है। ज्ञान में यही अर्थसारूप्य है। इस अर्थसारूप्य के कारण ही ज्ञान घटादि किसी निश्चित अर्थ को जानता है। अर्थाकारता और अर्थाधिगति (अर्थ का ज्ञान)- ज्ञान के ये दोनों अंश ज्ञान से पृथक् नहीं हैं, अपितु

एक ही ज्ञान के दो रूप हैं। यही कारण है कि बौद्ध प्रमाण और फल में सर्वथा अभेद मानते हैं।

उत्तरपक्ष– बौद्धों का उक्त मत प्रमाणसङ्गत नहीं है। प्रमाण और फल में सर्वथा अभेद नहीं, किन्तु कथञ्चित् अभेद है। प्रमाण के फल को प्रमाण से सर्वथा अभिन्न मानने पर यह प्रमाण है और यह उसका फल है, ऐसा भेद व्यवहार नहीं बन सकता है। सर्वथा अभेद पक्ष में या तो प्रमाण ही रहेगा अथवा फल ही रहेगा, दोनों नहीं रह सकते हैं। यहाँ बौद्ध कहना चाहें कि प्रमाण और फल में अभेद मानने पर भी अतद्व्यावृत्ति से प्रमाण और फल का व्यवहार बन जायेगा। अर्थात् प्रमाण में अप्रमाण की व्यावृत्ति होने से प्रमाण का व्यवहार और अफल की व्यावृत्ति होने से फल का व्यवहार बन जायेगा। किन्तु बौद्धों का उक्त कथन ठीक नहीं है। क्योंकि व्यावृत्ति के द्वारा प्रमाण और फल की व्यवस्था नहीं की जा सकती है। बात यह है कि यदि प्रमाण में अप्रमाण की व्यावृत्ति होने से इसे प्रमाण माना जाय तो इसमें प्रमाणान्तर की व्यावृत्ति होने से इसे अप्रमाण भी मानना पड़ेगा। इसी प्रकार यदि फल में अफल की व्यावृत्ति होने से इसे फलरूप माना जाता है तो इसमें फलान्तर की व्यावृत्ति होने से इसे अफलरूप भी मानना पड़ेगा। इससे यह सिद्ध होता है कि सर्वथा अभेदपक्ष में अतद्व्यावृत्ति के द्वारा भी प्रमाण और फल की व्यवस्था नहीं हो सकती है।

उपर्युक्त कथन का निष्कर्ष यह है कि प्रमाण और फल में न तो सर्वथा भेद है और न सर्वथा अभेद है, किन्तु उनमें कथञ्चित् भेद और कथञ्चित् अभेद है। जैनदर्शन का अनेकान्त सिद्धान्त भी यही कहता है।

।।प्रथम प्रमाणप्रवेश के अन्तर्गत प्रथम प्रत्यक्षपरिच्छेद समाप्त।।

प्रमाणप्रवेश : द्वितीय विषयपरिच्छेद

अब प्रमाण का विषय बतलाने के लिए कहते हैं-

प्रमाण का विषय :

तद् द्रव्यपर्यायात्माऽर्थो बहिरन्तश्च तत्त्वतः।।7।।

बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग में द्रव्यपर्यायरूप जो अर्थ है वह प्रमाण का विषय होता है। अर्थ दो प्रकार का होता है- बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग। घटादि बहिरङ्ग अर्थ हैं और आत्मादि अन्तरङ्ग अर्थ है। चाहे बहिरङ्ग अर्थ हो अथवा अन्तरङ्ग अर्थ, वह सब द्रव्य और पर्यायरूप होता है। कोई भी अर्थ न तो द्रव्यरूप है और न पर्यायरूप, किन्तु प्रत्येक अर्थ उभयरूप है। बुद्धि में द्रव्यपर्यायरूप अर्थ का ही प्रतिभास होता है। कोई दार्शनिक अर्थ को केवल द्रव्यरूप मानते हैं और कोई उसे केवल पर्यायरूप मानते हैं। कोई दार्शनिक ऐसे भी हैं जो अर्थ को द्रव्यपर्यायरूप मानकर भी दोनों (द्रव्य और पर्याय) को सर्वथा भिन्न मानते हैं। इन दार्शनिकों के मत का निराकरण करने के लिए अकलङ्कदेव ने अर्थ को द्रव्यपर्यायात्मा बतलाया है। वह द्रव्यपर्यायरूप अर्थ वास्तविक है, काल्पनिक नहीं। इसी बात को कारिका में 'तत्त्वतः' शब्द के द्वारा बतलाया गया है। अतः प्रमाण का विषय वही होता है जो अर्थ द्रव्यपर्यायरूप हो। और जो अर्थ द्रव्यपर्यायरूप नहीं होता है वह प्रमाण का विषय नहीं हो सकता है। अर्थ न तो सर्वथा भेदरूप है और सर्वथा अभेदरूप है, किन्तु कथञ्चित् भेदाभेदरूप है। इस बात का निर्णय अनेकान्त के द्वारा होता है। वैशेषिकाभ्युपगत षट्पदार्थरूप भेदैकान्त में तथा नैयायिकाभ्युपगत षोडशपदार्थरूप भेदैकान्त में अर्थक्रिया की सिद्धि नहीं होती है।

वैशेषिकाभिमत षट्पदार्थवाद :

पूर्वपक्ष- वैशेषिक द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय के भेद से छह पदार्थ मानते हैं। ये छहों पदार्थ परस्पर में अत्यन्त भिन्न हैं और इनका लक्षण भी पृथक्-पृथक् है। द्रव्य वह है जिसमें द्रव्यत्व का सम्बन्ध रहता है। द्रव्य का लक्षण इस प्रकार है-

क्रियावद्गुणवत् समवायिकारणं द्रव्यम्। -वैशे.सू. 1/1/15

अर्थात् जो क्रियावान् हो, गुणवान् हो और कार्य की उत्पत्ति में समवायी

कारण हो वह द्रव्य कहलाता है। द्रव्य 9 होते हैं- पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन। इनमें से प्रथम चार द्रव्य नित्य और अनित्य के भेद से दो प्रकार के होते हैं। इनमें परमाणुरूप द्रव्य नित्य हैं और परमाणुओं से उत्पन्न होने वाले द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि कार्यद्रव्य अनित्य हैं। इनके अतिरिक्त आकाशादि 5 द्रव्य नित्य हैं। इनकी उत्पत्ति कभी नहीं होती है। ये सब द्रव्य द्रव्यत्व सामान्य के सम्बन्ध से द्रव्य कहलाते हैं। आत्मा, आकाश, काल और दिशा- ये चार द्रव्य व्यापक हैं और शेष द्रव्य अव्यापक हैं। द्रव्य, गुण आदि प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने विशेष लक्षण के कारण अन्य पदार्थों से भिन्न होता है। नौ द्रव्यों के भी पृथक्-पृथक् लक्षण हैं। जिसमें पृथिवीत्व का सम्बन्ध हो वह पृथिवी है, जिसमें जलत्व का सम्बन्ध हो वह जल है, जिसमें अग्नित्व का सम्बन्ध हो वह अग्नि है, जिसमें वायुत्व का सम्बन्ध हो वह वायु है, जिसमें आत्मत्व का सम्बन्ध हो वह आत्मा है और जिसमें मनस्त्व का सम्बन्ध हो वह मन है। आकाश, काल, और दिक्- ये तीन द्रव्य एक हैं, अनेक नहीं। इस कारण इनकी परिभाषा दूसरे प्रकार से की जाती है। जो आकाश शब्द का वाच्य हो वह आकाश है, जो काल शब्द का वाच्य हो वह काल है और जो दिक् शब्द का वाच्य हो वह दिक् है। मन द्रव्य अणुरूप तथा अनेक है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि 24 गुण होते हैं। इनमें से कुछ गुण ऐसे हैं जो कुछ द्रव्यों के विशेष गुण होते हैं। जैसे गन्ध पृथिवी का विशेष गुण है, रस जल का विशेष गुण है, रूप अग्नि का विशेष गुण है, स्पर्श वायु का विशेष गुण है और शब्द आकाश का विशेष गुण है। बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार- ये 9 आत्मा के विशेष गुण हैं। उत्क्षेपण, अवक्षेपण आदि पाँच प्रकार के कर्म होते हैं। पर और अपर के भेद से दो प्रकार का सामान्य होता है। नित्य द्रव्यों में रहने वाले तथा उनमें परस्पर में अत्यन्त व्यावृत्ति कराने वाले विशेष पदार्थ अनेक होते हैं। समवाय पदार्थ वह है जो अयुतसिद्ध (अपृथक्भूत) पदार्थों में रहता है तथा **'इहेदम्'** 'इसमें यह' ऐसे प्रत्यय का हेतु होता है। इस प्रकार वैशेषिकाभिमत छह पदार्थों का यह संक्षिप्त निरूपण है।

परमाणुरूप नित्यद्रव्य-विचार :

उत्तरपक्ष- पृथिवी, अप्, तेज और वायु- ये चार द्रव्य नित्य और

अनित्य के भेद से दो प्रकार के होते हैं, पूर्व पक्ष का यह कथन समीचीन नहीं है। यहाँ पहले परमाणुरूप नित्यद्रव्य का विचार किया जा रहा है। परमाणुरूप नित्यद्रव्य की सिद्धि न तो प्रत्यक्ष से होती है और न अनुमान से। अतीन्द्रिय होने के कारण परमाणुओं में इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति सम्भव नहीं है। इसी प्रकार परमाणुओं का सद्भाव बतलाने वाला कोई अनुमान भी नहीं है।

यहाँ पूर्वपक्ष कह सकता है कि परमाणुओं की सत्ता का साधक अनुमान है और वह इस प्रकार है–

'द्व्यणुकादिकार्यं स्वपरिमाणादल्पपरिमाणकारणारब्धं कार्यत्वात् घटादिवत्'।

अर्थात् द्व्यणुक आदि कार्य स्वपरिमाण से अल्प परिमाण वाले कारण से उत्पन्न होता है, कार्य होने से, घट की तरह। तात्पर्य यह है कि परमाणु का परिमाण अल्प है और द्व्यणुक का परिमाण उससे बड़ा है। यतः द्व्यणुक एक कार्य है, अतः उसकी उत्पत्ति अल्प परिमाण वाले अणुओं से होती है।

वैशेषिकों का उक्त कथन तर्कसङ्गत नहीं है। यहाँ ऐसी जिज्ञासा होती है कि अल्प परिमाण वाले कारण से कार्यमात्र की उत्पत्ति होती है अथवा द्रव्यत्वविशिष्ट कार्य की। प्रथम पक्ष में बुद्धि आदि के द्वारा व्यभिचार आता है। क्योंकि बुद्धि कार्य तो है, किन्तु वह अल्प परिमाण वाले कारण से उत्पन्न नहीं होती है। और द्वितीय पक्ष में भस्म आदि के द्वारा व्यभिचार आता है। भस्म के द्रव्यत्वविशिष्ट कार्य होने पर भी उसकी उत्पत्ति अल्प परिमाण वाले कारण से नहीं होती हैं। सर्वत्र ऐसी व्याप्ति नहीं है कि कार्य के परिमाण से अल्प परिमाण वाला द्रव्य ही कारण होता है, अपितु ऐसी व्याप्ति अवश्य है कि कारण के बिना कार्य नहीं होता है। और वह कारण कार्य के परिमाण से अधिक, न्यून अथवा बराबर भी हो सकता है। इस प्रकार परमाणुओं का सद्भाव किसी प्रमाण से सिद्ध न होने के कारण वैशेषिकों का यह कथन निरस्त हो जाता है कि परमाणुरूप पृथिव्यादि नित्य द्रव्य हैं।

यहाँ यह भी विचारणीय है यदि परमाणु सर्वथा नित्य हैं तो क्या

उनके द्वारा क्रम से अथवा युगपत् अर्थक्रिया हो सकती है? हम जानना चाहते हैं कि सर्वथा नित्य परमाणुओं में सर्वदा कार्य को उत्पन्न करने का स्वभाव है या नहीं? यदि परमाणुओं में सर्वदा कार्य को उत्पन्न करने का स्वभाव नहीं है तो उनके द्वारा द्व्यणुक आदि कार्य कभी नहीं हो सकते हैं और कार्य न करने के कारण तो परमाणुओं का असत्त्व ही सिद्ध होगा। अब यदि ऐसा माना जाय कि परमाणुओं का स्वभाव कार्य करने का है तो यहाँ भी दो विकल्प होते हैं- क्या वे अकेले कार्य करते हैं अथवा सहकारी कारणों के मिलने पर कार्य करते हैं। प्रथम विकल्प मानने पर उनके द्वारा उत्पन्न होने वाले सब कार्यों की उत्पत्ति एक साथ हो जानी चाहिए। क्योंकि वहाँ कार्योत्पत्ति का अविकल कारण विद्यमान ही है। फिर भी यदि कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है तो आगे भी कार्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। अब यदि ऐसा माना जाता है कि सहकारी कारणों के मिलने पर परमाणु कार्य करते हैं तो यहाँ ऐसी जिज्ञासा होती है कि सहकारी कारण परमाणुओं में कुछ अतिशय उत्पन्न करते हैं या नहीं? यदि सहकारी कारण परमाणुओं में कोई अतिशय उत्पन्न नहीं करते हैं तो वे परमाणु पूर्ववत् अकारक ही बने रहेंगे तथा कभी भी कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकेंगे। अब यदि ऐसा मानते हैं कि सहकारी कारण परमाणुओं में अतिशय उत्पन्न करते हैं तो फिर वे सर्वथा नित्य नहीं माने जा सकते हैं। उनमें अतिशय उत्पन्न हो जाने के कारण वे कथञ्चित् अनित्य सिद्ध होंगे।

उपर्युक्त कथन का निष्कर्ष यह है कि सर्वथा नित्य परमाणुओं के द्वारा कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। वे परमाणु जब प्राक्तन अजनन स्वभाव का परित्याग करके विशिष्ट संयोगरूप परिणाम से परिणत होकर जननरूप स्वभाव को धारण करते हैं तभी उनके द्वारा कार्योत्पत्ति होती है। इसका मतलब यही है कि परमाणु सर्वथा नित्य नहीं है, किन्तु कथञ्चित् नित्य और कथञ्चित् अनित्य हैं।

द्व्यणुकादि अवयविरूप अनित्यद्रव्य-विचार :

वैशेषिक मत में परमाणुओं से उत्पन्न द्व्यणुक आदि अवयवी द्रव्य भी सिद्ध नहीं होता है। दो द्रव्यों में कार्यकारणभाव सिद्ध होने पर ही यह कहा जा सकता है कि यह इससे उत्पन्न हुआ है, किन्तु वैशेषिक

मत में कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता है। वे द्व्यणुक आदि अवयवी द्रव्य को कार्य कहते हैं। यहाँ पहले इस बात पर विचार करना है कि कार्यत्व क्या है? क्या स्वकारणसत्तासमवाय का नाम कार्यत्व है अथवा अभूत्वाभावित्व का नाम कार्यत्व है? प्रथम पक्ष में दो विकल्प होते हैं- कार्य का स्वकारणों से तथा सत्ता से समवाय अथवा स्वकारणों का सत्ता से समवाय। यहाँ प्रथम विकल्प में भी पुनः दो विकल्प होते हैं। वे हैं- उत्पन्न कार्य का स्वकारणों से तथा सत्ता से समवाय अथवा अनुत्पन्न कार्य का। यदि उत्पन्न कार्य का स्वकारणों से तथा सत्ता से समवाय माना जाता है तो ऐसा मानने में अन्योन्याश्रय दोष आता है। स्वकारणसत्तासमवाय सिद्ध हो जाने पर कार्योत्पत्ति की सिद्धि हो सकती है और कार्योत्पत्ति के सिद्ध हो जाने पर स्वकारणसत्तासमवाय सिद्ध होता है। यही अन्योन्याश्रय दोष है। अब यदि ऐसा माना जाय कि अनुत्पन्न कार्य का स्वकारणों से तथा सत्ता से समवाय होता है तो ऐसा मानना सर्वथा गलत हैं। क्योंकि जो अनुत्पन्न है वह तो आकाशपुष्प की तरह असत् है, उसका स्वकारणों से तथा सत्ता से समवाय कैसे सम्भव है? अब हम स्वकारणसत्तासमवाय के द्वितीय विकल्प पर विचार करते हैं। द्वितीय विकल्प है- स्वकारणों का सत्ता से समवाय। यहाँ यह देखना है कि कारणों का सत्ता से समवाय होने पर कार्य में क्या घटित हुआ। यह ठीक है कि कारणों का सत्ता से समवाय हुआ, किन्तु इससे कार्य में कोई विशेषता नहीं आयी। जैसे घट का सत्ता से समवाय होने पर पट में कोई विशेषता नहीं आती है, वैसे ही कारणों का सत्ता से समवाय होने पर कार्य में कोई विशेषता नहीं आती हैं। इस प्रकार स्वकारणसत्तासमवाय का नाम कार्यत्व सिद्ध नहीं होता है। इसी प्रकार अभूत्वाभावित्व का नाम भी कार्यत्व नहीं हो सकता है। अभूत्वाभावित्व का अर्थ है- नहीं होकर के होना। और जो नहीं है वह तो गगनकुसुम के समान असत् है। उसमें कार्यत्व की कल्पना कैसे की जा सकती है? जो पहले नहीं था किन्तु वह अब हो गया। यहाँ भी यह कहा जा सकता है कि पहले असत् था वह अब सत् कैसे हो गया? होने का अर्थ है- स्वरूपप्राप्ति और असत् में स्वरूपप्राप्ति कैसे सम्भव हो सकती है। उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि वैशेषिक मत में कार्यत्व की सिद्धि नहीं होती है।

वैशेषिक मत में कार्यत्व की तरह कारणत्व की सिद्धि भी नहीं होती

है। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि कारणत्व क्या है? क्या कार्यमात्र का निष्पादक होना कारणत्व है अथवा नियतकार्य का निष्पादक होना? प्रथम पक्ष में सब कारण सब कार्यों के निष्पादक हो जायेंगे। तब कोई भी नियत कार्यार्थी व्यक्ति नियत कारणों का उपादान क्यों करेगा? घटार्थी पुरुष घट की उत्पत्ति के लिए तन्तुओं का भी उपादान कर लेगा, किन्तु ऐसा करने से घट की उत्पत्ति नहीं होगी। अतः कार्यमात्र के निष्पादक होने का नाम कारणत्व नहीं है। द्वितीयपक्ष यह है कि नियत कार्य का निष्पादक होना कारणत्व है। इस पक्ष में भी यह दोष है कि उत्पत्ति के पहले कार्य अश्वविषाण के समान असत् होता है। ऐसी स्थिति में उस असत् कार्य के द्वारा कारण के स्वरूप का अवच्छेद (परिज्ञान) कैसे होगा, जिससे वह उसी कारण का ग्रहण करे, अन्य का नहीं। इस प्रकार जब हम इस बात का विचार करते हैं कि वैशेषिक मत में कार्य क्या है और कारण क्या है तो कार्य और कारण का कोई निश्चित स्वरूप सिद्ध नहीं होता है। तब उनका यह कथन गलत सिद्ध हो जाता है कि द्व्यणुकादि अवयवीरूप पृथिवी आदि अनित्य द्रव्य हैं। इस प्रकार यहाँ वैशेषिकाभिमत परमाणुरूप नित्य द्रव्य विचार और द्व्यणुकादि अवयवीरूप अनित्य द्रव्य का विचार करके युक्तिपूर्वक उनका निराकरण किया गया है।

अवयव-अवयवी में भेदाभेद-विचार :

यहाँ इस बात का विचार किया गया है कि अवयव और अवयवी में सर्वथा भेद है या सर्वथा अभेद है अथवा कथञ्चित् भेद और कथञ्चित् अभेद है? यौग मानते हैं कि अवयव और अवयवी में सर्वथा भेद है। बौद्ध मानते हैं कि अवयवों के अतिरिक्त अन्य कोई अवयवी नहीं है। इसके विपरीत जैन दार्शनिक मानते हैं कि अवयव और अवयवी में कथञ्चित् भेद और कथञ्चित् अभेद है।

यौगाभिमत अवयव-अवयवी में भेदवाद :

पूर्वपक्ष– यौग (नैयायिक-वैशेषिक) मानते हैं कि अवयव और अवयवी में सर्वथा भेद है। वे अनुमान के द्वारा अवयवों से सर्वथा भिन्न अवयवी की सिद्धि करते हैं। वह अनुमान इस प्रकार है–

'अवयव-अवयविनौ अत्यन्तं भिन्नौ भिन्नप्रतिभासत्वात् घटपटवत्।'

अर्थात् अवयव और अवयवी अत्यन्त भिन्न हैं, भिन्न प्रतिभास होने से घट और पट की तरह।

यह तो सभी जानते हैं कि घट और पट अत्यन्त भिन्न हैं, क्योंकि उनका प्रतिभास भिन्न-भिन्न होता है। इसी प्रकार अवयव और अवयवी का प्रतिभास भी भिन्न-भिन्न होने के कारण उनमें अत्यन्त भेद मानना आवश्यक है। अवयव और अवयवी में भिन्नप्रतिभासत्व हेतु असिद्ध नहीं है। पट अवयवी है और तन्तु उसके अवयव हैं। यह सब लोगों को अच्छी तरह से ज्ञात है कि पटरूप अवयवी का प्रतिभास तन्तुरूप अवयवों से अत्यन्त भिन्न होता है। अवयव और अवयवी में विरुद्धधर्माध्यास भी पाया जाता है। इससे भी जल और अग्नि की तरह अवयव और अवयवी में भेद सिद्ध होता है। पट का सम्बन्ध पटत्व जाति से है। पट महत्त्वगुण युक्त है और तन्तु से विलक्षण अर्थक्रिया का कारक है। इसके विपरीत तन्तु का सम्बन्ध तन्तुत्व जाति से है, वह अल्पपरिमाण युक्त है तथा पट से विलक्षण अर्थक्रिया को करता है। इस तरह दोनों में विरुद्धधर्माध्यास पाया जाता है। अवयव और अवयवी के कर्त्ता घट और पट की तरह भिन्न होते हैं, विष और अमृत की तरह दोनों की शक्तियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं, पिता और पुत्र की तरह दोनों पूर्वोत्तरकालभावी होते हैं तथा बदर (बेर) और आमलक की तरह दोनों विभिन्न परिमाण वाले होते हैं। इत्यादि कारणों से भी अवयव और अवयवी में अत्यन्त भेद सिद्ध होता है। यदि अवयव और अवयवी में तादात्म्य माना जाय तो फिर उनमें प्रतिभासभेद, विरुद्धधर्माध्यास आदि का सद्भाव कैसे बन सकता है? इसलिए अवयवी को अवयवों से पृथक् मानना आवश्यक है। यौगों ने यह भी माना है कि अवयव अनेक होते हैं, किन्तु अवयवी एक और निरंश होता है।

उत्तरपक्ष– यौगों का उक्त मत समीचीन नहीं है। अवयव और अवयवी में सर्वथा भेद मानना सर्वथा गलत है। यौगों ने सर्वप्रथम भिन्नप्रतिभासत्व हेतु के द्वारा अवयव और अवयवी में भेद सिद्ध किया है। हम यहाँ यह जानना चाहते हैं कि यौग इस हेतु से अवयव और अवयवी में कथञ्चित् भेद सिद्ध करना चाहते हैं या सर्वथा भेद। प्रथमपक्ष में प्रतिभासत्व हेतु सिद्धसाधन दोषयुक्त है। अर्थात् वह उसी बात को सिद्ध करता है जिसको

हम भी मानते हैं। जैनदर्शन की मान्यता है कि अवयव-अवयवी में कथञ्चित् भेद है। अब यदि यौग उनमें सर्वथा भेद मानना चाहते हैं तो इस पक्ष में प्रत्यक्ष से बाधा आती है। क्योंकि प्रत्यक्ष के द्वारा कथञ्चित् तादात्म्य को प्राप्त अवयव और अवयवी का प्रतिभास होता है। जो वस्तु प्रत्यक्ष में जिस रूप से प्रतिभासित होती है उसको उसी रूप में मानना चाहिए। जैसे नीलरूप से प्रतिभासित नील को नील मानना। इसी प्रकार प्रत्यक्ष के द्वारा कथञ्चित् तादात्म्य को प्राप्त अवयव-अवयवी का प्रतिभास होने के कारण उनको उसी रूप में मानना आवश्यक है।

पूर्वपक्ष में विभिन्न प्रतिभासत्व की तरह विभिन्न धर्माध्यासत्व, विभिन्न कर्तृकत्व, विभिन्न शक्तिमत्त्व, विभिन्न अर्थक्रियाकारित्व, पूर्वोत्तरकाल-भावित्व और विभिन्न परिमाणत्व आदि हेतुओं के द्वारा भी अवयव और अवयवी में भेद सिद्ध किया गया है। ये सब हेतु भी भिन्न प्रतिभासत्व की तरह अनेक दोषों से दूषित होने के कारण अवयव और अवयवी में भेद सिद्ध नहीं कर सकते हैं। विरुद्धधर्माध्यासत्व हेतु धूपदहन आदि के द्वारा अनैकान्तिक हो जाता है। एक ही धूपदहन में शीतस्पर्श और उष्णस्पर्श लक्षण विरुद्धधर्माध्यास होने पर भी उसमें भेद सिद्ध नहीं होता है। इसी प्रकार विभिन्न कर्तृकत्व आदि हेतु भी सदोष हैं और वे अवयव और अवयवी में अत्यन्त भेद सिद्ध नहीं कर सकते हैं। अवयव और अवयवी की अत्यन्त भेदरूप से प्रतीति कभी भी नहीं होती है। अतः तन्तुरूप अवयवों के अवस्थाविशेष का नाम पट अवयवी है, जो शीत को दूर करना आदि अर्थक्रिया करता है। अवयवों से अत्यन्त भिन्न अवयवी की प्रतीति तो स्वप्न में भी नहीं होती है।

यौगों ने अवयवी को एक और निरंश माना है। यदि अवयवी एक और निरंश है तो वह एक साथ अनेक अवयवों में नहीं रह सकता है। जो पदार्थ एक और निरंश होता है वह एक साथ अनेक द्रव्य व्यापी नहीं हो सकता है, जैसे परमाणु। अवयवी के निरंश होने पर कोपीन आदि के द्वारा शरीर के एक देश का आवरण होने पर सकल शरीर का आवरण हो जाना चाहिए। पट आदि एक अवयवी में रक्त और अरक्तरूप विरुद्धधर्माध्यास देखा जाता है। यहाँ प्रश्न यह है कि एक अवयव के रंगे जाने पर पूरा का पूरा अवयवी रंगा जाता है या नहीं? यदि रंगा

जाता है तो पूरे अवयवी में रक्त प्रत्यय होना चाहिए, परन्तु पटरूप अवयवी का जितना अंश रंगा जाता है उतने ही अंश में रक्त प्रत्यय होता है। और शेष अंश अरक्त रहता है। यहाँ यह भी विचारणीय है कि एक अवयवी अपने अवयवों में एक देश से रहता है या पूर्णरूप से। यदि अवयवी अपने अवयवों में पूर्णरूप से रहता है तो जितने अवयव हैं उतने ही अवयवी मानना पड़ेंगे। इसके विपरीत अवयवी की एक देश से अवयवों में वृत्ति मानने पर अवयवी में निरंशता का व्याघात होता है। अवयवी की अवयवों में एक देश से वृत्ति मानने पर अवयवी निरंश न होकर सांश (अंशसहित) सिद्ध होता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि अवयवी एक तथा निरंश नहीं है।

यह भी देखिए कि अवयवी को निरंश मानने पर उसमें नीलपीतादि चित्ररूप की प्रतिपत्ति नहीं हो सकती है। परन्तु एक ही अवयवी में नीलपीतादि नानारूपों की प्रतिपत्ति होती है। अनेक आकार वाले और अनेक प्रतिभास वाले नीलपीतादि को एक नहीं माना जा सकता है। यदि अवयवी एक है तो उसमें चल और अचलरूप विरुद्ध धर्म कैसे रह सकते हैं? शरीर के पाणि आदि एक अवयव के चलने पर उस प्रदेश में शरीररूप अवयवी में चलत्व धर्म और शेष अवयवी में अचलत्व धर्म देखा जाता है। इन सब कारणों से यही सिद्ध होता है कि अवयवों से अत्यन्त भिन्न और निरंश एक अवयवी नहीं है। यथार्थ में तन्तुओं का आतानवितानभूत अवस्था विशेषरूप से परिणत होना ही पटरूप अवयवी द्रव्य है। इसलिए पट तन्तुओं से सर्वथा भिन्न नहीं है, किन्तु कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न है। जो बात पट और तन्तुओं के विषय में बतलायी गई है वही बात अन्य समस्त अवयवी और अवयवों के विषय में समझ लेनी चाहिए।

उपर्युक्त कथन का निष्कर्ष यह है कि प्रमाण के द्वारा वस्तु का स्वरूप जैसा गृहीत होता है उसे वैसा ही स्वीकार करना चाहिए। जहाँ प्रमाण पदार्थों में अत्यन्त भेद का ग्राहक है वहाँ उन पदार्थों में अत्यन्त भेद सिद्ध होता है, जैसे घट और पट में अत्यन्त भेद है। और जहाँ प्रमाण कथञ्चित् भेद का ग्राहक होता है वहाँ कथञ्चित् भेद सिद्ध होता है, जैसे तन्तु और पट में कथञ्चित् भेद है, सर्वथा नहीं। अतः तन्तुओं की अवस्था विशेषरूप, शीतनिवारण आदि अर्थक्रिया करने में समर्थ और अपने अवयवों

से कथञ्चित् अभिन्न पट‌रूप अवयवी प्रत्यक्ष से प्रतीत होता है और इसे ऐसा ही स्वीकार करना चाहिए। यही सिद्धान्त श्रेयस्कर है।

बौद्धाभिमत अवयवी-विचार :

पूर्वपक्ष– बौद्ध मानते हैं कि रूपादि अवयवों से भिन्न कोई अवयवी नहीं है। रूपादि अवयवों से व्यतिरिक्त अवयवी की सिद्धि किसी प्रमाण से न होने के कारण अवयवी की सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती है। प्रत्यक्ष प्रमाण से रूपादिक की ही प्रतीति होती है, अवयवी की नहीं। यदि कोई रूपादि के समूह को ही अवयवी कहना चाहता है तो इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं है। अनुमान से भी अवयवी की सिद्धि नहीं होती है। किसी विषय में अनुमान की प्रवृत्ति तभी होती है जब साध्य के साथ अविनाभावी किसी लिङ्ग का अस्तित्व ज्ञात हो। किन्तु ऐसा कोई लिङ्ग दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है जिसके द्वारा अवयवी का अनुमान किया जा सके। इसलिए अवयवी के ग्राहक किसी प्रमाण के न होने से उसका अभाव मानना ही पड़ता है।

यदि अवयवों से भिन्न कोई अवयवी है तो उसका कोई उत्पादक कारण होना चाहिए, परन्तु अवयवी का उत्पादक कोई कारण भी नहीं है। जिसका उत्पादक कोई कारण न हो उसका सद्भाव कैसे माना जा सकता है। कुछ लोग द्व्यणुक आदि अवयवी की उत्पत्ति में परमाणुसंयोग कारण मानते हैं। यहाँ हम उनसे पूछना चाहते हैं कि परमाणुओं का संयोग सर्वदेश से होता है या एक देश से? यदि परमाणुओं का संयोग सर्वदेश से होता है तो परमाणुओं का पिण्ड अणुमात्र हो जायेगा। ऐसी स्थिति में अवयवी की सत्ता कैसे बनेगी? परमाणुओं का परस्पर में सम्बन्ध एकदेश से भी नहीं हो सकता है, क्योंकि परमाणुओं के देश (प्रदेश) होते ही नहीं हैं। यदि परमाणुओं में प्रदेश माने जावें तो फिर वे परमाणु नहीं कहला सकते हैं, क्योंकि परमाणुओं को निरंश माना गया है। एक परमाणु का अन्य परमाणुओं के साथ एकदेश से सम्बन्ध मानने पर प्रत्येक परमाणु में कम से कम छह अंश मानने पड़ेंगे। क्योंकि वह सम्बन्ध छहों दिशाओं की ओर से होगा। इससे यही सिद्ध होता है कि परमाणु परस्पर में अयःशलाका के समान असम्बद्ध हैं। परन्तु सब परमाणु सन्निकट होते हैं। उनमें कोई अन्तराल नहीं होता है। इस कारण परस्पर में सम्बन्ध

रहित परमाणुओं में भी भ्रान्ति से समुदाय (अवयवों) की प्रतीति होने लगती है।

बौद्धों की मान्यता है कि अवयवों के समूह का नाम ही अवयवी है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई अवयवी नहीं है। रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के समूह का नाम ही पट है। रूपादि को छोड़कर अन्य कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसे पट कहा जावे। चाक्षुष ज्ञान से रूप ही प्रतिभासित होता है। अन्य कोई रूपवान् पटादि अर्थ नहीं। रस आदि के प्रतिभास में भी यही बात समझ लेनी चाहिए कि केवल रस आदि का ही प्रतिभास होता है, रसवान् आदि किसी पदार्थ का नहीं। यहाँ कोई शङ्का कर सकता है कि परस्पर में असम्बद्ध परमाणुओं में स्थूल और एकाकार की प्रतीति कैसे होती है? इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार तैमरिक (तिमिर रोग वाले) व्यक्ति को स्थूल और एकाकाररहित केशों में तदाकार प्रतीति हो जाती है, उसी प्रकार हम लोगों को भी असम्बद्ध परमाणुओं में स्थूलाकार की प्रतीति हो जाती है। अतः ऐसी प्रतीति को स्थाणु में पुरुष की प्रतीति की तरह भ्रान्त ही समझना चाहिए।

यहाँ एक बात यह भी विचारणीय है कि कुछ लोग अवयवी को अनेक अवयवों में व्यापी तथा रूपरसाद्यात्मक मानते हैं। उनकी इस मान्यता पर विचार करना आवश्यक है। यदि अवयवी अनेक अवयव व्यापी हो तो उसका ग्रहण तभी हो सकता है जब उसके सब अवयवों का ग्रहण हो जाय। किन्तु सब अवयवों का एक साथ ग्रहण सम्भव नहीं है। यदि सब अवयवों का एक साथ ग्रहण माना जाय तो प्रश्न होता है कि किस प्रत्यक्ष से ऐसा ग्रहण हो सकता है– अर्वाग्भाग (इस ओर का भाग) अथवा परभाग में स्थित अवयवों को ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष से? अर्वाग्भाग में स्थित अवयवों को ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष से अथवा परभाग में स्थित अवयवों को ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष से सब अवयवों का ग्रहण सम्भव नहीं है। क्योंकि अर्वाग्भाग को जानने वाला प्रत्यक्ष परभाग को नहीं जानता है और परभाग को जानने वाला प्रत्यक्ष अर्वाग्भाग को नहीं जानता है। इसी तरह अवयवी को रूपरसाद्यात्मक मानने पर ऐसा ही दोष आता है। यदि अवयवी रूपरसाद्यात्मक हो तो उसका ग्रहण न तो रूपग्राही प्रत्यक्ष से हो सकता है और न रसग्राही प्रत्यक्ष से। क्योंकि रूपग्राही

चाक्षुष प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति रस में नहीं होती है और रसग्राही रासनप्रत्यक्ष की प्रवृत्ति रूप में नहीं होती है। अतः अवयवी न तो अनेक अवयव व्यापी है और न रूपरसाद्यात्मक है, अपितु असम्बद्ध परमाणुओं के समूह का नाम ही अवयवी है।

उत्तरपक्ष– बौद्धों द्वारा अवयवी की जो कल्पना की गई है वह अत्यन्त विलक्षण है। उनका यह कहना सर्वथा गलत है कि अवयवों के समूह का नाम ही अवयवी है तथा इसके अतिरिक्त अन्य कोई अवयवी नहीं है। उनका यह कथन भी विचारणीय है कि रूपादि अवयवों के अतिरिक्त अवयवी की सिद्धि किसी प्रमाण से नहीं होती है। हम यहाँ यह जानना चाहते हैं कि घट के चाक्षुष प्रत्यक्ष में जो रूपादि का प्रतिभास होता है वह कैसे रूपादि का होता है? घटव्यपदेश के योग्य, एकत्वपरिणति-विशिष्ट, ऊर्ध्वाधोमध्यभागात्मक और विशिष्ट आकार सहित रूपादि का प्रतिभास होता है अथवा परस्पर में विलक्षण और अनंश परमाणुओं के प्रचयात्मक रूपादि का प्रतिभास होता है? प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर अवयवी का निरास न होकर उसका सद्भाव ही सिद्ध होता है। क्योंकि विशिष्टाकार परिणत परमाणुओं की अथवा रूपादि की परिणति का नाम ही अवयवी है। यदि रूपादि से अतिरिक्त अन्य कोई अवयवी नहीं है तो ऐसी स्थिति में रूपादि का अस्तित्व भी कैसे सम्भव होगा? बिल्व, आमलक आदि अवयवी से रहित रूपादिक की उपलब्धि किसी को स्वप्न में भी नहीं होती है। अब यदि ऐसा माना जाय कि परस्पर में विलक्षण और अनंश परमाणुओं के प्रचयात्मक रूपादि का प्रतिभास चाक्षुष प्रत्यक्ष से होता है तो ऐसा कथन सर्वथा असङ्गत है। क्योंकि बौद्धों ने परमाणुओं को अयःशलाका के समान परस्पर में असम्बद्ध और उनमें होने वाली स्थूलाकार की प्रतीति को भ्रान्त माना है, किन्तु ऐसा प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं होता है। हमें तो प्रत्यक्ष से ऐसी प्रतीति होती है कि परमाणु परस्पर में सम्बद्ध होकर स्थूलाकार को धारण कर लेते हैं। तभी तो उनके द्वारा जलधारणादि में समर्थ अर्थक्रियाकारी घट की उत्पत्ति होती है। यदि घट के परमाणु अयःशलाका की तरह परस्पर में असम्बद्ध रहेंगे तो ऐसे परमाणुओं के द्वारा जलधारणादि अर्थक्रिया कैसे सम्भव होगी?

पूर्वपक्ष में कहा गया है कि परमाणुओं का परस्पर में संयोग न

एकदेश से होता है और न सर्वदेश से, इत्यादि। यहाँ हमारी जिज्ञासा यह है कि ऐसा कहकर आप (बौद्ध) परमाणुओं में सर्वथा सम्बन्धाभाव सिद्ध करना चाहते हैं अथवा सर्वदेश और एकदेश की बात को छोड़कर उनमें प्रकारान्तर से सम्बन्ध स्वीकार करना चाहते हैं। यहाँ प्रथमपक्ष स्वीकार करने पर प्रत्यक्ष से विरोध आता है। क्योंकि परमाणुओं में अथवा अवयवों में सम्बन्ध की प्रतीति प्रत्यक्ष से होती है। यदि वस्तु के सब अवयव पृथक्-पृथक् रहें तो रज्जु, वंश आदि के एक देश का आकर्षण करने पर अन्य देश का आकर्षण नहीं होना चाहिए। परन्तु ऐसा होता नहीं है। इसके विपरीत एक देश का आकर्षण होने पर सर्वदेश का आकर्षण देखा जाता है। इस कारण अवयवों में सम्बन्धाभाव मानना युक्तिसङ्गत नहीं है। अब यदि अवयवों में सम्बन्ध सर्वदेश अथवा एकदेश से न मानकर प्रकारान्तर से माना जाय तो ऐसा मानना हमारे अनुकूल ही है। क्योंकि जैनदर्शन ने स्निग्ध और रूक्ष गुण के कारण परमाणुओं में जो सम्बन्ध माना है वह सम्बन्ध विलक्षण ही है। तत्त्वार्थसूत्र में कहा भी है- **'स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः।'**

बौद्धों का यह कथन भी ठीक नहीं है कि जिस प्रकार तैमरिक व्यक्ति को स्थूल और एकाकार रहित केशों में तदाकार प्रतीति हो जाती है, उसी प्रकार हम लोगों को भी परमाणुओं में स्थूलाकार प्रतीति हो जाती है। क्योंकि तैमरिक को जो केशों की उपलब्धि होती है वह परस्पर में असम्बद्ध केशों की नहीं, किन्तु संयोग विशेष के कारण परस्पर में संघात अवस्था को प्राप्त केशों की ही उपलब्धि होती है। यहाँ हम यह जानना चाहते हैं कि यदि अवयवी नहीं है तो घटादि प्रत्यक्ष का कोई विषय होता है या नहीं? घटादि प्रत्यक्ष को विषय रहित नहीं माना जा सकता है। क्योंकि 'मैं घट को जानता हूँ' इत्यादिरूप से इस प्रत्यक्ष के विषयभूत घट का संवेदन होता है। अब यह विचार करना है कि घट का स्वरूप क्या है? केवल परमाणुओं के समूह को घट नहीं माना जा सकता है। क्योंकि परमाणु समूह जब तक परस्पर में सम्बद्ध होकर विशेष आकार को धारण नहीं करेंगे तब तक उनके द्वारा जलधारणादि अर्थक्रिया नहीं हो सकती है। एक बात यह भी है कि यदि परमाणु ही घटादि प्रत्यक्ष के विषय होते हैं तो फिर उनमें 'यह घट बड़ा है', 'यह घट छोटा है', इत्यादि प्रकार का प्रत्यय नहीं हो सकता है। इससे यही

सिद्ध होता है कि घटादि प्रत्यक्ष विषय सहित होता है, विषय रहित नहीं। और उसका विषय घटादि अवयवी द्रव्य होता है। अवयवी अपने अनेक अवयवों में व्याप्त रहता है तथा वह रूपरसाद्यात्मक भी होता है, इस बात की सिद्धि भी प्रत्यक्ष से होती है।

बौद्धों ने परमाणुओं में स्थूलादि की प्रतीति को भ्रान्त बतलाया है। परन्तु स्थूलादि की प्रतीति को भ्रान्त नहीं माना जा सकता है। परमाणुओं में स्थूलाकार प्रतीति तभी भ्रान्त मानी जायेगी जब परमाणुओं में स्थूलाकार परिणत होने की शक्ति न हो। परन्तु हम देखते हैं कि परमाणु परस्पर सम्बद्ध होकर स्थूलाकार धारण कर लेते हैं। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि घटादि अवयवी काल्पनिक नहीं है, अपितु वास्तविक है तथा वह अपने अवयवों से कथञ्चित् अभिन्न और कथञ्चित् भिन्न है। यही जैनदर्शन का सिद्धान्त है।

वैशेषिकाभिमत द्रव्यलक्षण-विचार :

पूर्वपक्ष– वैशेषिकों ने द्रव्यत्व के अभिसम्बन्ध को द्रव्य का लक्षण माना है। अर्थात् जिसमें द्रव्यत्व रहता है, वह द्रव्य है। इसके अतिरिक्त द्रव्य का एक दूसरा भी लक्षण माना है कि– 'जो क्रियावान् हो गुणवान् हो और कार्य की उत्पत्ति में समवायी कारण हो वह द्रव्य कहलाता है।' उन्होंने द्रव्य के लक्षण को अनुमान प्रमाण से सिद्ध किया है। वह अनुमान इस प्रकार है–

"द्रव्यं इतरेभ्यो भिद्यते द्रव्यत्वाऽभिसम्बन्धात्, क्रियावद्गुणवत्समवायिकारणत्वाद्वा। यत् पुनः इतरेभ्यो न भिद्यते न तत्तथा यथा गुणादि, तथा च तत्, तस्मात् इतरेभ्यो भिद्यते।"

अर्थात् द्रव्य गुणादि अन्य पदार्थों से भिन्न है, क्योंकि उसमें द्रव्यत्व का सम्बन्ध पाया जाता है तथा कार्य की उत्पत्ति में वह समवायी कारण होता है। जो गुणादि पदार्थों से भिन्न नहीं होता है उसमें उपर्युक्त लक्षण नहीं पाया जाता है। जैसे गुण, कर्म आदि पदार्थों में द्रव्य का उक्त लक्षण नहीं रहता है। यतः द्रव्य में उक्त लक्षण विद्यमान है अतः वह गुणादि पदार्थों से भिन्न सिद्ध होता है। वैशेषिकों के अनुसार यही द्रव्य का लक्षण है।

उत्तरपक्ष– वैशेषिकों ने पृथिवी आदि द्रव्यों को द्रव्यत्व के अभिसम्बन्ध से द्रव्य माना है। अतः सबसे पहले द्रव्यत्व सामान्य का ज्ञान होना आवश्यक है। द्रव्यत्व का ज्ञान होने पर ही द्रव्य का ज्ञान हो सकता है। वैशेषिकों ने द्रव्यत्वादि सामान्य के द्वारा ही द्रव्यादि,पदार्थों की प्रतिपत्ति मानी है। यहाँ जानने योग्य बात यह है कि द्रव्य का ज्ञान पहले होता है या द्रव्यत्व का ज्ञान पहले होता है। यथार्थ बात यह है कि द्रव्य का ज्ञान हुए बिना द्रव्यत्व का ज्ञान कैसे होगा? द्रव्य का ज्ञान होने पर ही द्रव्यत्व का ज्ञान होगा और द्रव्यत्व का ज्ञान होने पर ही द्रव्य का ज्ञान होगा। इस प्रकार यहाँ अन्योन्याश्रय दोष आता है। क्योंकि द्रव्य का ज्ञान द्रव्यत्व के ज्ञान पर आश्रित है और द्रव्यत्व का ज्ञान द्रव्य के ज्ञान पर आश्रित है। यही उनमें अन्योन्याश्रय दोष है। एक बात यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि गोत्व आदि सामान्य धर्म किसी संस्थान, आकार आदि के द्वारा अभिव्यक्त होता है। जैसे गोत्व सामान्य खुर, ककुद्म आदि संस्थान के द्वारा अभिव्यक्त होता है, किन्तु द्रव्य में द्रव्यत्व का अभिव्यञ्जक कोई भी चिह्न दृष्टिगोचर नहीं होता है।

यहाँ पूर्वपक्ष कह सकता है कि क्रियावत्त्व, गुणवत्त्व और समवायिकारणत्व द्रव्य में द्रव्यत्व के अभिव्यञ्जक होते हैं। यदि ऐसा है तो यह बतलाइये कि ये तीनों पृथक्-पृथक् रहकर द्रव्यत्व के अभिव्यञ्जक होते हैं अथवा सब एक साथ मिलकर द्रव्यत्व के अभिव्यञ्जक होते हैं? इनमें से प्रथम पक्ष मानना ठीक नहीं है। क्योंकि आकाशादि निष्क्रिय द्रव्यों में क्रियावत्त्व नहीं रहता है। तथा सद्यःसमुत्पन्न पटादि द्रव्यों में गुणवत्त्व नहीं रहता है। क्योंकि उत्पत्ति के अनन्तर ही पटादि द्रव्य गुणों की उत्पत्ति में समवायी कारण होता है। अतः क्रियावत्त्व और गुणवत्त्व सब द्रव्यों में द्रव्यत्व के अभिव्यञ्जक नहीं होते हैं। इसी प्रकार समवायिकारणत्व भी द्रव्यत्व का अभिव्यञ्जक नहीं होता है। क्योंकि सब द्रव्य सर्वदा किसी कार्य के समवायी कारण नहीं होते हैं। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि क्रियावत्त्व आदि पृथक्-पृथक् रहकर द्रव्यत्व के अभिव्यञ्जक नहीं होते हैं। अब यदि क्रियावत्त्व आदि तीनों को एक साथ मिलाकर द्रव्यत्व का अभिव्यञ्जक माना जाय तो ऐसा मानने में भी अव्याप्ति दोष आता है। क्योंकि सद्यःसमुत्पन्न घटादि में एक क्षण के लिए तीनों नहीं रहते हैं तथा आकाशादि सर्वव्यापक द्रव्यों में क्रियावत्त्व नहीं रहता है। तब

वे तीनों समुदित होकर द्रव्यत्व के अभिव्यञ्जक कैसे हो सकते हैं? इस तरह वैशेषिकाभिमत द्रव्य के लक्षण का निराकरण हो जाता है।

पृथिवी आदि में पुद्गलात्मकत्व की सिद्धि :

जैनदर्शन की मान्यता है कि पृथिवी, अप्, तेज और वायु- ये चारों द्रव्य पुद्गलात्मक हैं और पुद्गलात्मक होने से उनमें सर्वथा भेद नहीं है, किन्तु कथञ्चित् अभेद भी है। इस कारण से गन्ध को पृथिवी का गुण कहना, रस को जल का गुण कहना इत्यादि कथन युक्तिसङ्गत नहीं है। क्योंकि पृथिवी आदि सब द्रव्यों में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श- ये चारों गुण पाये जाते हैं।

पूर्वपक्ष- यौगों की ऐसी मान्यता है कि पृथिवी, जल, अग्नि और वायु- ये चारों द्रव्य सर्वथा भिन्न हैं, इनके लक्षण तथा गुण भी पृथक्-पृथक् हैं। यदि पृथिवी आदि चारों द्रव्य पुद्गलात्मक हैं तो उनमें प्रतिनियत गन्धादि गुणों की आधारता का नियम नहीं बनेगा? अर्थात् गन्ध पृथिवी का विशेष गुण है, रस जल का विशेष गुण है, रूप तेज का विशेष गुण है और स्पर्श वायु का विशेष गुण है, ऐसा नियम नहीं बन सकता है। यदि पृथिवी आदि चारों द्रव्य पुद्गलात्मक हैं तो चारों द्रव्यों में समानरूप से गन्धादि चारों गुणों की प्रतीति होनी चाहिए, किन्तु ऐसा होता नहीं है। हमें तो पृथिवी आदि चारों द्रव्य प्रतिनियत गन्धादि गुणों के आधार प्रतीत होते हैं। जैसे कि गन्ध पृथिवी में ही पाया जाता है, रस जल में ही पाया जाता है, रूप तेज में ही पाया जाता है और स्पर्श वायु में ही पाया जाता है। एक बात यह भी है कि यदि पृथिवी आदि सभी पुद्गलात्मक हैं तो प्रतिनियत द्रव्य में पृथिवीत्वादि प्रतिनियत जाति का सम्बन्ध भी नहीं बनेगा और चारों द्रव्यों में पृथिवीत्वादि चारों जातियों का सम्बन्ध मानना पड़ेगा, परन्तु ऐसा मानना हमें इष्ट नहीं है। हम तो पृथिवीत्व का सम्बन्ध पृथिवी में और जलत्व का सम्बन्ध जल में, इत्यादि प्रकार से प्रतिनियत जाति का सम्बन्ध प्रतिनियत द्रव्य में मानते हैं। ऐसा नैयायिक-वैशेषिकों का मत है।

उत्तरपक्ष- यौगों का उक्त कथन सर्वथा असङ्गत है। यौगों ने पृथिवी आदि चार द्रव्यों को प्रतिनियत गन्धादि गुणों का आधार माना है। हम

यहाँ यह जानना चाहते हैं कि यदि पृथिवी आदि प्रतिनियत गन्धादि गुणों के आधार हैं तो किस अपेक्षा से– सत्ता की अपेक्षा से अथवा अभिव्यक्ति की अपेक्षा से? इनमें से पहला विकल्प युक्त नहीं है। ऐसा नहीं है कि केवल पृथिवी में ही गन्ध गुण की सत्ता पाई जाती है, अपितु पृथिवी, जल आदि सभी में गन्धादि चारों गुणों की सत्ता रहती है। हम कह सकते हैं कि जलादि भी गन्धादि गुणयुक्त होते हैं, क्योंकि वे स्पर्शवान् होते हैं। जो स्पर्शवाला होता है वह गन्धादि गुणवाला भी होता है, जैसे पृथिवी। और जो गन्धादिगुणयुक्त नहीं होता है वह स्पर्शवान् भी नहीं होता है, जैसे आत्मा। अब यदि अभिव्यक्ति की अपेक्षा से पृथिवी आदि को गन्धादि प्रतिनियत गुणों का आधार माना जाय तो यह कथन भी सर्वथा निर्दोष नहीं है। इस कथन के द्वारा यौग यही तो कहना चाहते हैं कि गन्ध गुण की अभिव्यक्ति पृथिवी में होती है, रसगुण की अभिव्यक्ति जल में होती है, इत्यादि। इसके उत्तर में हम कह सकते हैं कि यदि गन्ध गुण की अभिव्यक्ति पृथिवी में होती है तो इसका मतलब यही है कि रसादि अन्य गुण पृथिवी में अनभिव्यक्तरूप से रहते हैं। इससे अन्य गुणों का निषेध कैसे हो जाता है?

यौगों ने पृथिवी आदि में पृथिवीत्वादि प्रतिनियत जाति का सम्बन्ध मानकर उनमें जो भेद सिद्ध किया है वह भी गलत है। क्योंकि पृथिवीत्वादि अवान्तरजाति सम्बन्ध व्यक्तिभेद तो सिद्ध कर सकता है, तत्त्वभेद नहीं। यदि जातिभेद के कारण पृथिवी आदि में परस्पर में आत्यन्तिक भेद हो तो उनमें उपादान-उपादेयभाव नहीं बन सकता है। परन्तु पृथिवी, जल आदि में पारस्परिक उपादान-उपादेयभाव देखा जाता है। जैसे पृथिवीरूप चन्द्रकान्तमणि से जलकी, जल से पृथिवीरूप मुक्ताफल की, काष्ठ से अग्नि की और पंखा से वायु की उत्पत्ति देखी जाती है। इससे यही सिद्ध होता है कि पृथिवी, जल आदि में पृथिवीत्वादि जातिभेद होने पर भी उनमें अत्यन्त भेद नहीं है। यही कारण है कि उनमें उपादान-उपादेयभाव होता है। उपर्युक्त कथन का निष्कर्ष यह है कि पृथिवी, जल आदि में पर्याय के भेद से परस्पर में भेद है और रूपरसगन्धस्पर्शात्मक पुद्गल द्रव्य की अपेक्षा से अभेद है। इस तरह पृथिवी आदि चारों द्रव्यों में पुद्गलात्मकत्व की सिद्धि हो जाती है। यही जैनदर्शन की मान्यता है।

आकाशद्रव्य-विचार :

पूर्वपक्ष– वैशेषिक आकाश द्रव्य को एक, नित्य, निरंश और व्यापक मानते हैं। तथा शब्द को आकाश का विशेष गुण मानते हैं और उसकी सिद्धि शब्दलिङ्गजन्य अनुमान से करते हैं। आकाश का साधक अनुमान इस प्रकार है–

'शब्दः क्वचिदाश्रितः गुणत्वात् रूपादिवत्।'

अर्थात् शब्द कहीं आश्रित है, गुण होने से, रूपादि की तरह। जो भी गुण होता है उसका कोई आश्रय अवश्य होता है। जैसे रूप एक गुण है तो घटादि उसका आश्रय है। इसी प्रकार शब्द गुण का भी कोई आश्रय अवश्य है और वह आश्रय है– आकाश। इसी बात को हम दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं– जो पदार्थ उत्पत्तिमत्त्व, विनाशित्व आदि धर्मों से युक्त होते हैं वे किसी के आश्रित होते हैं। जैसे घटादि पदार्थ अपने अवयवों के आश्रित होते हैं। शब्दों में भी उत्पत्तिमत्त्व और विनाशित्व धर्म पाये जाते हैं। इसलिए वे भी किसी के आश्रित होते हैं। शब्द गुण है यह बात असिद्ध नहीं है। शब्द में गुणत्व की सिद्धि अनुमान से होती है। शब्द में गुणत्व का साधक अनुमान इस प्रकार है–

'गुणः शब्दः द्रव्यकर्मान्यत्वे सति सत्तासम्बन्धित्वात्'।

अर्थात् शब्द न तो द्रव्य है और न कर्म है, परन्तु इसमें सत्तासामान्य का सम्बन्ध पाया जाता है। जो द्रव्य और कर्म से भिन्न होकर सत् होता है वह गुण होता है, जैसे रूपादि गुण। इस तरह यह सिद्ध होता है कि शब्द गुण है। जब शब्द गुण है तो उसका कोई न कोई आश्रय अवश्य होना चाहिए। क्योंकि गुण निराश्रित नहीं रहते हैं।

अब इस बात पर विचार करना है कि शब्द गुण का आश्रय क्या है? शब्द परमाणुओं का विशेष गुण नहीं हो सकता है। क्योंकि वह हम लोगों को रूपादिगुणों की तरह प्रत्यक्ष होता है। अतीन्द्रिय होने से परमाणुओं का कोई गुण हम लोगों को प्रत्यक्ष नहीं होता है। शब्द पृथिवी आदि कार्यद्रव्यों का भी विशेष गुण नहीं है। वह आत्मा, काल, दिशा और मन का भी विशेष गुण नहीं हो सकता है। अतः पारिशेषन्याय से शब्द आकाश का ही विशेष गुण सिद्ध होता है। इस कथन का तात्पर्य यही

है कि शब्द गुण का जो आश्रय है वही आकाश है। वह आकाश व्यापक है। क्योंकि उसका गुण शब्द सर्वत्र पाया जाता है। आकाश व्यापक होने के साथ ही एक, नित्य और निरंश भी है। इस प्रकार वैशेषिकों ने शब्द को आकाश का विशेष गुण मानकर आकाश द्रव्य की सिद्धि की है। तथा शब्द की उत्पत्ति प्रक्रिया को इस प्रकार बतलाया है। शब्द की उत्पत्ति तीन प्रकार से होती है- संयोग से, विभाग से और शब्द से। संयोग से शब्द की उत्पत्ति में आकाश समवायी कारण होता है, भेरी तथा आकाश का संयोग असमवायी कारण होता है और भेरी तथा दण्ड का संयोग निमित्त कारण होता है। विभाग से शब्द की उत्पत्ति में आकाश समवायी कारण होता है, वंशदल और आकाश का विभाग असमवायी कारण होता है तथा वंशदल का विभाग निमित्त कारण होता है। इसी प्रकार शब्द से शब्द की उत्पत्ति में आकाश समवायी कारण होता है, प्राक्तन शब्द असमवायी कारण होता है और अदृष्टादिक निमित्त कारण होता है। ऐसा वैशेषिकों का मत है।

उत्तरपक्ष– वैशेषिकों ने शब्द को गुण मानकर यह सिद्ध किया है कि शब्द गुण का कोई आश्रय होना चाहिए। यहाँ हम वैशेषिकों से यह पूछना चाहते हैं कि आप शब्दों का कोई सामान्य आश्रय सिद्ध करना चाहते हैं अथवा नित्य, एक, अमूर्त और विभु द्रव्य को शब्दों का आश्रय बतलाना चाहते हैं। प्रथमपक्ष के अनुसार यदि आप शब्दों का कोई सामान्य आश्रय सिद्ध करना चाहते हैं तो यह पक्ष हमारे अनुकूल ही है। क्योंकि हम भी पुद्गल द्रव्य को शब्दों का आश्रय मानते हैं। जैन सिद्धान्त के अनुसार शब्द पुद्गल द्रव्य का कार्य अथवा पर्याय है। अब द्वितीय पक्ष के अनुसार शब्दों को नित्य, एक, अमूर्त और विभु द्रव्य आकाश के आश्रित मानना तो किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है। शब्द को गुण मानना भी सर्वथा असङ्गत है। शब्द गुण नहीं है, किन्तु द्रव्य है। इसमें **'गुणक्रियावत्वं हि द्रव्यलक्षणम्'** यह द्रव्य का लक्षण पूर्णरूप से पाया जाता है। हम कह सकते हैं कि गुणवान् और क्रियावान् होने से शब्द द्रव्य है। जो गुणवान् और क्रियावान् होता है वह द्रव्य होता है, जैसे वाणादि। शब्द में स्पर्श, अल्पत्व, महत्त्व, संख्या आदि गुण पाये जाते हैं। इस कारण शब्द गुणवान् सिद्ध होता है। इसमें सन्देह नहीं है कि शब्द में स्पर्श पाया जाता है। शब्द स्वसम्बद्ध अर्थान्तर के अभिघात

में हेतु होने से स्पर्शवान् सिद्ध होता है। जैसे काँसे के पात्र की ध्वनि से श्रोत्र में अभिघात देखा जाता है। तथा इससे कान में बहिरापन भी आ जाता है। यदि शब्द स्पर्शवान् न होता तो उससे कर्ण का अभिघात नहीं होना चाहिए। इसी प्रकार स्पर्शवान् अर्थ से शब्द का अभिघात देखा जाता है। जैसे प्रतिवात (उल्टी हवा) भित्ति आदि के द्वारा शब्द का अभिघात होता ही है। इससे यही सिद्ध होता है कि शब्द स्पर्शगुण युक्त है। जिस प्रकार शब्द स्पर्शगुण का आश्रय है, उसी प्रकार वह अल्पत्व, महत्त्व, परिमाण, संख्या और संयोग नामक गुणों का आश्रय भी है। यह शब्द अल्प है, यह शब्द महान् है, इस प्रकार की प्रतीति का विषय होने से शब्द में अल्पत्व और महत्त्व परिमाण सिद्ध होता है। एक शब्द, दो शब्द, बहुत शब्द, ऐसी प्रतीति सबको होती है। अतः शब्द में एकत्व, द्वित्व, बहुत्व आदि संख्या भी पायी जाती है। संख्या एक गुण है। इससे यह सिद्ध होता है कि शब्द संख्यागुणवान् है। शब्द में संयोग नामक गुण भी पाया जाता है। हम देखते हैं कि देवदत्त की ओर आने वाले शब्द का प्रतिवात (प्रतिकूल वायु) आदि के साथ संयोग होने पर उसका प्रतिनिवर्तन (वापस लौट जाना) हो जाता है। क्ष, ज्ञ, त्र आदि कुछ शब्द ऐसे है जिन में अक्षरों का संयोग पाया जाता है। इससे यह ज्ञात होता है कि शब्द में संयोग गुण का अस्तित्व है। उपरिलिखित कथन से यह सिद्ध होता है कि शब्द में गुणवत्त्व का सद्भाव है।

गुणवत्त्व की तरह शब्द में क्रियावत्त्व भी पाया जाता है। शब्द उत्पत्ति-देश का त्याग करके देशान्तर में उपलब्ध होता है। यह तो सभी जानते हैं कि शब्द वक्ता के मुख का त्याग करके श्रोता के श्रोत्र प्रदेश में पहुँचकर सुना जाता है। जिस प्रकार बाण स्वदेश को छोड़कर देशान्तर में पहुँच जाने के कारण क्रियावान् है, उसी प्रकार शब्द भी क्रियावान् सिद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि शब्द में गुण पाये जाते हैं और क्रिया भी पायी जाती है। तथा जो गुणवान् और क्रियावान् होता है वह द्रव्य कहलाता है। यतः शब्द गुणवान् तथा क्रियावान् है अतः वह द्रव्य है, गुण नहीं।

शब्द को आकाश का गुण मानने में एक दोष यह भी है कि यदि शब्द आकाश का गुण है तो वह हम लोगों को प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। क्योंकि आकाश अमूर्त होने के कारण हम लोगों को अत्यन्त परोक्ष

है और जो अत्यन्त परोक्ष गुणी का गुण है वह परमाणुरूपादि की तरह हमको प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है? फिर भी यदि वैशेषिक कहते हैं कि हम सबको शब्द का प्रत्यक्ष होता है, तब उसे अत्यन्त परोक्ष आकाश का गुण कैसे कहा जा सकता है। जो भी गुण हम को प्रत्यक्ष होता है उसे अत्यन्त परोक्ष गुणी का गुण नहीं माना जा सकता है, जैसे घट के रूपादि गुण। वैशेषिकों ने शब्दों की उत्पत्ति की जो प्रक्रिया बतलाई है वह भी समीचीन नहीं है। शब्द की उत्पत्ति में आकाश को समवायी कारण बतलाया गया है। हम यहाँ यह कहना चाहते हैं कि जब शब्द आकाश का गुण ही नहीं है तो आकाश शब्द का समवायी कारण कैसे हो सकता है। फिर भी यदि निरवयव आकाश को शब्द का समवायी कारण माना जाता है तो आकाश की तरह शब्द को भी सर्वव्यापी मानना चाहिए। इस प्रकार विचार करने पर यह सिद्ध होता है कि न तो शब्द आकाश का विशेष गुण है और न आकाश शब्द की उत्पत्ति में समवायी कारण होता है। अतः शब्द को आकाश का गुण न मानकर पौद्गलिक मानना ही तर्कसङ्गत है। हम कह सकते हैं कि शब्द पौद्गलिक है, क्योंकि उसमें गुणवत्त्व और क्रियावत्त्व होने के साथ ही वह हम लोगों को बाह्येन्द्रिय श्रोत्र के द्वारा प्रत्यक्ष होता है, जैसे कि घटादि द्रव्य।

यहाँ पूर्वपक्ष यह आशङ्का कर सकता है कि यदि शब्द गुण के द्वारा आकाश की सिद्धि नहीं होती है तो जैनदर्शन में आकाश की सिद्धि कैसे होती है? इसका उत्तर यह है कि युगपत् सम्पूर्ण द्रव्यों को अवगाह (स्थान) देने रूप कार्य से आकाश की सिद्धि होती है। सब द्रव्यों को युगपत् अवगाह देने के लिए एक साधारण कारण की अपेक्षा होती है। आकाश एक ऐसा साधारण कारण है जो एक साथ सब द्रव्यों को ठहरने के लिए स्थान देता है। आकाश सब द्रव्यों का आधार है और सभी द्रव्य इसमें निर्विरोधरूप से स्थित रहते हैं। यहाँ ऐसी शङ्का करना ठीक नहीं है कि यदि सकल द्रव्यों का आकाश में अवगाह है तो आकाश का भी अन्य कोई अवगाह होना चाहिए और यदि आकाश का अवगाह अपने में ही है तो सब पदार्थों का अवगाह भी अपने में ही मान लीजिए। इस शङ्का का समाधान यह है कि सर्वव्यापी होने के कारण आकाश सब द्रव्यों का अवगाहन तो करता ही है, इसके साथ ही वह अपना भी अवगाहन करता है। अर्थात् सब द्रव्यों के रहने का आधार आकाश है, किन्तु आकाश

का अन्य कोई आधार नहीं है। आकाश का आधार स्वयं आकाश ही है, अन्य कोई नहीं। यहाँ एक शङ्का यह भी हो सकती है कि आत्मा आदि अमूर्त द्रव्यों का पात (पतन) तो होता नहीं है, फिर उनके लिए आधार की क्या आवश्यकता है? इसका समाधान यह है कि अमूर्त का भी आधार होता है। ज्ञानादि अमूर्त हैं, फिर भी आत्मा उनका आधार होता ही है। यह कहना भी ठीक नहीं है कि अमूर्त आकाश किसी का आधार नहीं हो सकता है, क्योंकि अमूर्त आत्मा ज्ञानादि गुणों का अधिकरण होता ही है।

इस प्रकार सब द्रव्यों को अवगाह देने के कारण जैनदर्शनाभिमत आकाश द्रव्य की सिद्धि होती है। जैनदर्शन के द्वारा माना गया आकाश द्रव्य एक और व्यापक होने पर भी निरंश नहीं है। उसके अंश या प्रदेश अनन्त हैं। आकाश के दो भेद हैं– लोकाकाश और अलोकाकाश। लोकाकाश में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल– ये छहों द्रव्य रहते हैं। परन्तु अलोकाकाश में केवल आकाश की ही सत्ता है, अन्य और कोई द्रव्य वहाँ नहीं रहता है। आकाश द्रव्य के प्रदेश अनन्त हैं, किन्तु लोकाकाश के प्रदेश असंख्यात हैं। ऐसा जैनदर्शन का सिद्धान्त है।

कालद्रव्य-विचार :

वैशेषिक काल द्रव्य को एक पृथक् द्रव्य के रूप में मानते हैं और उसकी सिद्धि पर, अपर, यौगपद्य, अयौगपद्य, चिर और क्षिप्र प्रत्ययों के द्वारा करते हैं। तथाहि–

दिग्देशकृतपरापरादिप्रत्ययविपरीताः परापरादिविशिष्टप्रत्ययाः विशिष्टकारणपूर्वकाः, विशिष्टप्रत्ययत्वात्, यो विशिष्टप्रत्ययः स विशिष्टकारणपूर्वको दृष्टः यथा दण्डीत्यादिप्रत्ययः। विशिष्टप्रत्ययाश्च एते परापरयौगपद्यायौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्ययाः, तस्मात् विशिष्टकारणपूर्वकाः।

अर्थात् पर, अपर, यौगपद्य, अयौगपद्य, चिर और क्षिप्र ये विशिष्ट प्रत्यय विशिष्टकारणपूर्वक होते हैं। जो भी विशिष्ट प्रत्यय होता है वह विशिष्टकारणपूर्वक होता है, जैसे दण्डी इत्यादि प्रत्यय। और जो इन विशिष्ट प्रत्ययों का कारण है वह काल द्रव्य है। यहाँ इतना विशेष है कि कालकृत परापरादिप्रत्यय दिक्कृत और देशकृत परापरादिप्रत्यय से

भिन्न होते हैं। दिक्कृत और देशकृत परापराप्रत्यय का यहाँ व्यतिकर (विभेद) देखा जाता है। जिस देश और दिक् के भाग में स्थित पिता में परत्व प्रत्यय होता है उसी देश और दिक् के भाग में स्थित पुत्र में अपरत्व प्रत्यय होता है, और जहाँ स्थित पुत्र में अपरत्व प्रत्यय होता है वहीं स्थित पिता में परत्व प्रत्यय होता है। अतः इस पर और अपर प्रत्यय में दिक्-देश से भिन्न कोई अन्य निमित्त होना चाहिए। क्योंकि दिक्-देशकृत परापर प्रत्यय से कालकृत परापर प्रत्यय भिन्न होता है। एक ही देश में स्थित पिता में परत्व (बड़ा होना) और पुत्र में अपरत्व (छोटा होना) पाया जाता है। यह कालकृत पर और अपर प्रत्यय है जो कालद्रव्य के बिना सम्भव नहीं है। देशकृत परापरप्रत्यय में तो दूर और पास का ज्ञान होता है और कालकृत परापर प्रत्यय में छोटे और बड़े का ज्ञान होता है। यही उन दोनों में व्यतिकर है। कालकृत परापर प्रत्यय का कारण काल को छोड़कर अन्य कोई नहीं हो सकता है। आदित्य आदि की क्रिया भी इन प्रत्ययों की निमित्त नहीं होती है, क्योंकि आदित्य आदि के क्रियाजन्य प्रत्यय कालकृत प्रत्ययों से विलक्षण होते हैं। कालकृत परापर प्रत्यय की दृष्टि से पिता में पर और पुत्र में अपर प्रत्यय होता है। इसी प्रकार एक साथ उत्पन्न हुई वस्तुओं में यौगपद्य प्रत्यय और क्रमशः उत्पन्न हुई वस्तुओं में अयौगपद्य प्रत्यय होता है। इसी तरह देर में उत्पन्न हुई वस्तुओं में चिर प्रत्यय और शीघ्र उत्पन्न हुई वस्तुओं में क्षिप्र प्रत्यय होता है। ये सब प्रत्यय कालकृत होते हैं और इन प्रत्ययों से कालद्रव्य की सिद्धि होती है। यह कालद्रव्य आकाश के समान एक, नित्य और विभु द्रव्य है। ऐसा वैशेषिकों का मत है।

उत्तरपक्ष– वैशेषिकों का उक्त मत समीचीन नहीं है। उन्होंने बतलाया है कि काल द्रव्य की सिद्धि परापरादि प्रत्ययों के द्वारा होती है। यहाँ हम उनसे यह पूछना चाहते हैं कि आप परापरादि प्रत्ययों के द्वारा जिस काल द्रव्य की सिद्धि करते हैं वह एक द्रव्यरूप है या अनेक द्रव्यरूप। काल को एक द्रव्यरूप मानना युक्तिसङ्गत नहीं है। क्योंकि जब हम नित्य, निरंश और एक द्रव्यरूप काल का विचार करते हैं तो वह वैसा सिद्ध नहीं होता है। यदि काल नित्य, निरंश और एकरूप है तो उसके द्वारा अत्यन्त विलक्षण परापरप्रत्ययादिरूप कार्यभेद तथा अतीतानागतादिरूप कालभेद भी नहीं बन सकते हैं। जो सर्वथा नित्य, निरंश और एकरूप

है वह अनित्य और अनेक स्वभाव वाले कार्यों का कर्त्ता कैसे हो सकता है? वैशेषिकों ने काल का जैसा स्वरूप बतलाया है उसके अनुसार यौगपद्यादि प्रत्यय भी नहीं बन सकते हैं। जो कार्यसमूह एक काल में किया जाता है उसमें यौगपद्य प्रत्यय होता है। जब काल नित्य और एकरूप है तो उसके द्वारा उत्पन्न होने वाले सब कार्यों की उत्पत्ति एक ही समय में हो जायेगी और ऐसी स्थिति में अयौगपद्य प्रत्यय कहाँ से होगा। अयौगपद्य प्रत्यय तो उन कार्यों में होता है जो क्रमशः उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार नित्य और एकरूप काल के सद्भाव में चिर और क्षिप्र प्रत्यय का व्यवहार भी नहीं बन सकेगा। जो कार्य बहुत काल में किया जाता है उसमें चिर प्रत्यय का व्यवहार होता है और जो कार्य स्वल्प काल में किया जाता है उसमें क्षिप्र प्रत्यय का व्यवहार होता है। किन्तु काल के सर्वथा नित्य और एकरूप होने पर यह सब व्यवहार नहीं बनेगा।

यदि काल द्रव्य सर्वथा नित्य, निरंश और एकरूप है तो उसमें भूत, भविष्य और वर्तमान का भेद कैसे होगा? क्योंकि सर्वथा एकरूप काल में अतीत, अनागत और वर्तमान का भेद सम्भव ही नहीं है। यदि काल में अतीतादि का भेद माना जाय तो उसके सम्बन्ध से पदार्थों में भी अतीतादि का व्यपदेश हो सकता है। किन्तु वैशेषिकों ने तो काल को परमाणु की तरह नित्य, निरंश और एक रूप माना है, तब उसमें अतीतादि का भेद कैसे बनेगा? काल को सर्वथा एक मानने पर लोक-विरोध भी आता है। लौकिक जन पूर्वाह्न, मध्याह्न, अपराह्न स्वभाव वाले तथा शीत-उष्ण-वर्षा स्वभाव वाले काल को एक नहीं मानते हैं। हम यहाँ यह भी कह सकते हैं कि जिस द्रव्य में सूक्ष्म, स्थूल आदि विरुद्ध धर्म पाये जाते हैं वह द्रव्य अनेक होता है, जैसे पृथिवी आदि द्रव्य। जिस प्रकार पृथिवी आदि द्रव्यों में परमाणु, स्कन्धादि के भेद से तथा जीव द्रव्य में कुन्थु, गज आदि के भेद से अनेक द्रव्यत्व पाया जाता है, उसी प्रकार काल में भी समय, मुहूर्त, दिन, रात्रि, पक्ष, मास, वर्ष आदि के भेद से अनेक द्रव्यत्व मानना ही पड़ता है।

यह तो हुई वैशेषिकाभिमत कालद्रव्य के निराकरण की बात। अब यह बतलाना भी आवश्यक है कि कुछ ऐसे भी लोग हैं जो काल द्रव्य के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते हैं। मीमांसक और बौद्ध काल द्रव्य

को वास्तविक नहीं मानते हैं। परन्तु ऐसा मानने वालों के मत में पर, अपर, यौगपद्य, अयौगपद्य, चिर और क्षिप्र प्रत्यय नहीं बन सकेंगे। क्योंकि ये विशिष्ट प्रत्यय हैं। और इनका कोई कारण अवश्य होना चाहिए। ये प्रत्यय कभी-कभी होते हैं और जो पदार्थ कभी-कभी होता है उसका कोई कारण अवश्य होता है। जैसे कभी-कभी होने वाले घटादि पदार्थ मिट्टी, कुम्भकार आदि कारणों से उत्पन्न होते हैं। परापरादि प्रत्यय विशिष्ट प्रत्यय होने के कारण किसी साधारण कारण से भी उत्पन्न नहीं हो सकते हैं। अतः इन प्रत्ययों का असाधारण कारण काल द्रव्य मानना आवश्यक है।

जैनदर्शन के अनुसार काल द्रव्य के दो भेद हैं- मुख्यकाल और व्यवहारकाल। समय, आवलिका, लव, निमेष, घटिका, मुहूर्त, प्रहर, दिन, रात्रि, पक्ष, मास, वर्ष आदि को व्यवहार काल कहते हैं। इस व्यवहार काल का सद्भाव मुख्यकाल के बिना सम्भव नहीं है। और जो मुख्यकाल है वह असंख्यात काल परमाणुरूप है। यहाँ यह स्मरणीय है कि लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश हैं और लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश में एक-एक कालाणु अवस्थित है। इस विषय में द्रव्यसंग्रह में बतलाया गया है-

लोयायासपदेसे इक्केक्के जे ट्ठिया हु इक्केक्का।
रयणाणं रासीमिव ते कालाणू मुणेयव्वा।।

अर्थात् लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर एक-एक कालाणु रत्नों की राशि की तरह अवस्थित है। जिस प्रकार रत्नों की राशि में प्रत्येक रत्न अपना पृथक् अस्तित्व रखता है, उसी प्रकार एक कालाणुका का दूसरे कालाणु से पृथक् अस्तित्व रहता है।

काल द्रव्य धर्म और अधर्म द्रव्य की तरह लोकाकाशव्यापी एक द्रव्य नहीं है। क्योंकि प्रत्येक आकाश प्रदेश पर समयभेद काल को अनेक द्रव्य माने बिना नहीं बन सकता है। लङ्का और कुरुक्षेत्र में दिन, रात्रि आदि का पृथक्-पृथक् व्यवहार उन स्थानों के कालभेद के कारण ही होता है। काल को एक अखण्ड द्रव्य मानने पर भिन्न-भिन्न स्थानों में काल भेद नहीं हो सकता है। इससे यही सिद्ध होता है कि व्यवहार काल का कारण मुख्य काल है और वह अनेक है। मुख्यकाल के अभाव में व्यवहारकाल बन भी नहीं सकता है। मीमांसक तथा सौगत पक्ष, मास,

वर्ष आदि व्यवहार काल का सद्भाव तो मानते ही हैं। क्योंकि व्यवहार काल के माने बिना संसार का व्यवहार नहीं चल सकता है। अतः जब व्यवहारकाल का अस्तित्व है तो वास्तविक या मुख्यकाल का अस्तित्व स्वीकार करना अत्यावश्यक है। क्योंकि मुख्यकाल के अस्तित्व के बिना व्यवहारकाल का अस्तित्व हो ही नहीं सकता है। काल द्रव्य की सिद्धि लोक व्यवहार से भी होती है। प्रतिनियत समय में ही प्रतिनियत वनस्पतियाँ फल देती है। जैसे वसन्तऋतु में ही पाटल आदि वृक्षों में कुसुम उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार अन्य भी ऐसे अनेक कार्य हैं जो अपने निश्चित काल में ही सम्पन्न होते हैं। लोग कहते हैं कि इस कार्य का अभी समय नहीं आया है, जब समय आयेगा तब यह कार्य होगा। इत्यादि उदाहरणों से भी काल द्रव्य की सिद्धि होती है। इस प्रकार यहाँ जैनदर्शन सम्मत काल द्रव्य के स्वरूप को प्रदर्शित किया गया है।

दिग्द्रव्य-विचार :

पूर्वपक्ष– वैशेषिक दर्शन की एक विशेषता यह है कि उसने आकाश की तरह दिशा को भी एक स्वतन्त्र द्रव्य माना है। दिग्द्रव्य की सिद्धि "यह इससे पूर्व में है', 'यह इससे उत्तर में है", इत्यादि दस प्रकार के प्रत्ययों से होती है। मूर्त द्रव्यों में मूर्तद्रव्य की अवधि निर्धारित करके यह इसके पूर्व में है, यह इसके दक्षिण में है, यह पश्चिम में है, यह उत्तर में है, इत्यादि प्रकार से दश प्रकार के प्रत्यय जिसके द्वारा उत्पन्न होते हैं वह दिग्द्रव्य है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, आग्नेय, वायव्य, नैऋत्य, ईशान, ऊर्ध्व और अधः– ये दश दिशायें हैं। इन दश दिशाओं में जो पूर्वादि के रूप में दश प्रत्यय होते हैं उन प्रत्ययों का कारण दिग्द्रव्य है। ये प्रत्यय विशिष्ट प्रत्यय हैं। इसलिए इन प्रत्ययों का कारण कोई विशिष्ट द्रव्य अवश्य होना चाहिए। और जो द्रव्य इन प्रत्ययों का कारण है वही दिग्द्रव्य है। परस्पर की अपेक्षा से दो मूर्त द्रव्यों को पूर्व, पश्चिम आदि प्रत्ययों का कारण नहीं माना जा सकता है। क्योंकि परस्पर में एक दूसरे के आश्रित होने के कारण दो मूर्त द्रव्य पूर्व, पश्चिम आदि प्रत्ययों के कारण नहीं हो सकते हैं। अतः पूर्व, पश्चिम आदि प्रत्ययों का कारण मूर्त द्रव्य के अतिरिक्त अन्य कोई द्रव्य होता है। ये प्रत्यय न तो निर्निमित्तक होते हैं और न सामान्यनिमित्तक होते हैं, अपितु

विशिष्टनिमित्तक होते हैं। और इनका जो विशिष्ट निमित्त है वही दिग्द्रव्य है। यह दिग्द्रव्य एक, व्यापक और नित्य है। एक ही दिग्द्रव्य के जो पूर्व, पश्चिम आदि भेद होते हैं वे सूर्य के द्वारा मेरु की प्रदक्षिणा करने के कारण होते हैं। मेरु की प्रदक्षिणा करने वाले सूर्य का दिशा के जिन-जिन प्रदेशों से संयोग होता हैं उन-उन प्रदेशों में पूर्व, पश्चिम आदि का व्यवहार बन जाता है। ऐसी वैशेषिकों की मान्यता है।

उत्तरपक्ष– वैशेषिकों की उक्त मान्यता समीचीन नहीं है। उन्होंने बतलाया है कि मूर्त द्रव्यों में मूर्त द्रव्य को अवधि मानकर पूर्व, पश्चिम इत्यादि दश प्रत्यय होते हैं और ये प्रत्यय दिग्द्रव्य के अनुमापक होते हैं। इस विषय में हमारा प्रश्न यह है कि ये प्रत्यय कारणमात्र के अनुमापक होते हैं या दिग्द्रव्यरूप कारणविशेष के अनुमापक होते हैं? प्रथमपक्ष में इन प्रत्ययों के द्वारा कारणमात्र की ही सिद्धि होती है, दिग्द्रव्य की नहीं। यह पक्ष तो हमारे अनुकूल ही है। हम भी मानते हैं कि पूर्व, पश्चिम आदि प्रत्ययों का कोई कारण अवश्य है और वह कारण है आकाश। यह इसके पूर्व में है इत्यादि प्रकार से दश प्रकार का प्रत्यय तो आकाश के प्रदेशों की श्रेणियों में सूर्य के उदय आदि के निमित्त से ही हो जाता है। इन पूर्व, पश्चिम आदि प्रत्ययों का कारण आकाश के प्रदेशों की श्रेणियाँ ही हैं। आकाश का ही 'दिक्' ऐसा नामकरण करने पर नाम में ही विवाद रहेगा, अर्थ में नहीं। अब यदि आप पूर्व, पश्चिम इत्यादि प्रत्ययों का कारण दिग्द्रव्य को ही मानना चाहते हैं तो यह विकल्प ठीक नहीं है। क्योंकि जब तक किसी प्रमाण से दिग्द्रव्य की सिद्धि नही हो जाती है तब तक इन प्रत्ययों का कारण दिग्द्रव्य कैसे माना जा सकता है। फिर भी यदि आप एक स्वतन्त्र दिग्द्रव्य को मानना चाहते हैं तो देश नामक एक स्वतन्त्र द्रव्य भी मानिए। क्योंकि यह यहाँ से पूर्व देश है, इत्यादि प्रकार का प्रत्यय देश नामक द्रव्य के बिना नहीं हो सकता है।

यहाँ कोई ऐसी आशङ्का कर सकता है कि यदि मूर्त द्रव्यों में पूर्वादिप्रत्यय का हेतु आकाशप्रदेशश्रेणी है तो आकाशप्रदेशश्रेणी में पूर्वादिप्रत्यय का हेतु क्या होगा? इसका उत्तर यह है कि वहाँ आकाश ही पूर्वादि प्रत्यय का हेतु होता है। अर्थात् आकाशप्रदेश की श्रेणी ही स्व में तथा पर में पूर्वादि प्रत्यय का हेतु होती है। जैसे कि प्रकाश स्वप्रकाशक तथा परप्रकाशक

होता है। यदि ऐसा न माना जाय तो दिक्प्रदेशों में भी यही प्रश्न होगा कि वहाँ पूर्वादि प्रत्यय का हेतु क्या है? यदि वहाँ पूर्वादि प्रत्यय स्वभाव से होता है तो उस प्रत्यय की परावृत्ति नहीं होनी चाहिए। किन्तु उसकी परावृत्ति देखी जाती है। जो दिक्प्रदेश एक प्रदेश की अपेक्षा से पूर्व प्रत्यय का हेतु होता है। वही दिक्प्रदेश दूसरे प्रदेश की अपेक्षा से पश्चिम प्रत्यय का हेतु होता है। जो एकस्थान में पूर्वदिशा है वही दूसरे स्थान में पश्चिम दिशा हो जाती है। कहा भी है–

प्राग्भावो यः सुराष्ट्राणां मालवानां स दक्षिणः।

अर्थात् सुराष्ट्रों का जो पूर्वभाग है वही मालवदेशों का दक्षिण भाग है। इस प्रकार पूर्वादिप्रत्ययों की परावृत्ति (बदल जाना) के कारण यह सिद्ध होता है कि दिक्प्रदेशों में पूर्वादि प्रत्यय स्वभाव से नहीं होते हैं। परन्तु मेरु की प्रदक्षिणा करने वाले सूर्य का आकाश के जिन-जिन प्रदेशों से संयोग होता है उन प्रदेशों में ही पूर्वादि का व्यवहार हो जाता है। अतः आकाश से पृथक् एक स्वतन्त्र दिग्द्रव्य की कल्पना करने से कोई लाभ नहीं है। जब दिग्द्रव्य का कोई स्वरूप ही सिद्ध नहीं होता है तब **'दिग्द्रव्यम् इतरेभ्यो भिद्यते'** अर्थात् दिग्द्रव्य अन्य द्रव्यों से भिन्न है, वैशेषिकों का इत्यादि कथन बन्ध्यासुत-सौभाग्यवर्णन के समान प्रतीत होता है। इस प्रकार वैशेषिकाभिमत दिग्द्रव्य का निराकरण किया गया है।

आत्मद्रव्य-विचार :

पूर्वपक्ष– वैशेषिक मत के अनुसार आत्मा व्यापक, नित्य, निष्क्रिय और प्रत्येक शरीर में पृथक्-पृथक् है। वे आत्मा में व्यापकत्व की सिद्धि निम्नलिखित अनुमान से करते हैं–

आत्मा व्यापकः, अणुपरिमाणानधिकरणत्वे सति नित्यद्रव्यत्वात्, यदेवं तत् तथा यथा आकाशम्, तथा चात्मा, तस्मात्तथा।

अर्थात् आत्मा व्यापक है, अणुपरिमाण का अनधिकरण हो करके नित्य द्रव्य होने से, जो ऐसा होता है वह वैसा होता है, जैसे आकाश। यतः आत्मा अणुपरिमाण का अधिकरण नहीं है, अतः वह व्यापक है। कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा अणुपरिमाण का अधिकरण नहीं है, अपितु महत् परिमाण का अधिकरण है। आत्मा अणुपरिमाण का

अधिकरण नहीं हो सकता है, क्योंकि वह घटादि की तरह हम लोगों के ज्ञानादि विशेष गुणों का अधिकरण होता है। घट के रूपादि गुणों का हम प्रत्यक्ष करते हैं। इस कारण घट अणुपरिमाण का अधिकरण नहीं है। इसी प्रकार आत्मा भी अणुपरिमाण का अधिकरण नहीं है। आकाश की तरह स्पर्शरहित द्रव्य होने के कारण आत्मा नित्य द्रव्य सिद्ध होता है। और घट की तरह गुणवान् होने से आत्मा में द्रव्यत्व सिद्ध होता है।

आत्मा को व्यापक मानना आवश्यक है। यदि आत्मा व्यापक न हो तो देवदत्त की अङ्गना के शरीर का तथा देवदत्त के उपकारक एवं भोग्य द्वीपान्तरवर्ती मणिमुक्ताफल आदि का उत्पाद नहीं हो सकता है। क्योंकि इन वस्तुओं का उत्पाद देवदत्त के गुणपूर्वक (अदृष्टपूर्वक) होता है! तथाहि–

"**देवदत्ताङ्गनाद्यङ्गं देवदत्तगुणपूर्वकं कार्यत्वे सति तदुपकारकत्वात्, ग्रासादिवत्।**" अर्थात् देवदत्त की अङ्गना के शरीर आदि की उत्पत्ति देवदत्त के गुणपूर्वक होती है, क्योंकि वह कार्य होकर ग्रासादि की तरह देवदत्त को उपकारक होती है। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि कारण कार्यदेश में स्थित रहकर ही कार्य की उत्पत्ति में व्यापार करता है। अर्थात् जिस देश में देवदत्त की अङ्गना की उत्पत्ति हुई उस देश में देवदत्त का गुण (अदृष्ट) अवश्य रहता है। तभी वह देवदत्त की अङ्गना की उत्पत्ति में कारण हो सकता है। और जहाँ देवदत्त के गुण का अस्तित्व है वहाँ देवदत्त की आत्मा का भी अस्तित्व अवश्य है। क्योंकि गुणी के बिना गुण नहीं रह सकते हैं।

उपर्युक्त कथन का निष्कर्ष यह है कि देवदत्त के उपभोग योग्य जो-जो वस्तुएँ जहाँ-जहाँ उत्पन्न होती हैं वहाँ-वहाँ देवदत्त की आत्मा का अस्तित्व अवश्य रहता है। मान लीजिए कि देवदत्त वाराणसी में रहता है और देवदत्त की अङ्गना का जन्म लङ्का में होता है तो देवदत्त की आत्मा का सद्भाव लङ्का में भी है। इसी प्रकार यदि अमेरिका में देवदत्त के लिए कोई वस्त्र बनता है तो उस वस्त्र की उत्पत्ति में देवदत्त का अदृष्ट कारण होता है। इससे देवदत्त की आत्मा का सद्भाव अमेरिका में भी मानना पड़ता है। यदि वहाँ देवदत्त की आत्मा का अस्तित्व न हो तो वहाँ देवदत्त के उपभोग योग्य वस्तु की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। इससे यही सिद्ध होता

है कि आत्मा व्यापक है और उसका अस्तित्व सर्वत्र रहता है। देवदत्त आदि के लिए भोग्य सामग्री का जो भी लाभ होता है वह तभी हो सकता है जब देवदत्त आदि का अदृष्ट भोग्य सामग्री की उत्पत्ति के स्थान में रहकर उसकी उत्पत्ति में कारण होता हो।

यदि आत्मा को सर्वगत (व्यापक) न मानकर अव्यापक माना जाय तो विभिन्न दिक् और देशवर्ती परमाणुओं से आत्मा का युगपत् संयोग नहीं हो सकता है। तथा परमाणुओं के साथ आत्मा का युगपत् संयोग न होने से परमाणुओं में आद्य कर्म (प्राथमिक क्रिया) का अभाव हो जायेगा। और ऐसा होने से परमाणुओं में अन्त्य संयोग भी नहीं बनेगा। तब परमाणुओं के संयोग से उत्पन्न होने वाले शरीर का तथा उस शरीर के साथ आत्मा के सम्बन्ध का अभाव हो जाने के कारण सबको सर्वदा अनुपायसिद्ध मोक्ष की प्राप्ति हो जायेगी। और ऐसी स्थिति में मोक्ष की प्राप्ति के लिए किसी उपाय का अवलम्बन नहीं लेना पड़ेगा। मान लिया जाय कि किसी प्रकार शरीर की उत्पत्ति हो जायेगी। तब समस्या यह होगी कि शरीर सावयव होता है और सावयव शरीर के प्रत्येक अवयव में प्रवेश करने वाला आत्मा भी सावयव हो जायेगा और जब आत्मा सावयव है तो पटादि की तरह उसमें अनित्यत्व का प्रसङ्ग दुर्निवार है। यथार्थ बात यह है कि आत्मा न तो सावयव है और न कार्य है। वह तो निरवयव और अकार्य (नित्य) है।

जैनमतानुयायी आत्मा को शरीरपरिमाण मानते हैं। उनके यहाँ आत्मा में मूर्त होने का प्रसङ्ग आता है। यदि आत्मा मूर्त है तो मूर्त आत्मा का मूर्त शरीर में प्रवेश नहीं हो सकता है। क्योंकि मूर्त वस्तु का मूर्त में प्रवेश होना सम्भव नहीं है। कोई भी मूर्त वस्तु मूर्त में प्रवेश नहीं कर सकती है। ऐसी स्थिति में सब शरीरों को निरात्मक ही मानना पड़ेगा यदि आत्मा शरीरपरिमाण है तो उसमें बालशरीरपरिमाण का युवाशरीरपरिमाण कैसे हो जाता है– बालशरीरपरिमाण का परित्याग करके अथवा उसका परित्याग किये बिना ही? यदि आत्मा बालशरीर-परिमाण का परित्याग करके युवाशरीरपरिमाण हो जाता है तो शरीर की तरह आत्मा अनित्य हो जायेगी। तथा यदि आत्मा पूर्वशरीरपरिमाण का त्याग नहीं करती है तो उसमें उत्तरशरीरपरिमाण की उत्पत्ति नहीं

हो सकती है। आत्मा को शरीरपरिमाण मानने में एक दोष यह भी है कि शरीर के किसी अङ्ग का छेद हो जाने पर आत्मा के छेद का भी प्रसङ्ग प्राप्त होता है। इस तरह आत्मा को शरीरपरिमाण मानने में अनेक दोष आते हैं। अतः यह सिद्ध होता है कि आत्मा न तो अणुपरिमाण है और न शरीरपरिमाण है, किन्तु व्यापक है।

उत्तरपक्ष– वैशेषिकों का आत्मविषयक उक्त मत प्रमाणसङ्गत नहीं है। इस मत में सबसे बड़ी बात आत्मा को व्यापक मानना है। सबके अनुभव में यही आता है कि 'मैं सुखी हूँ, मैं ज्ञाता हूँ' इत्यादि प्रत्यक्ष के द्वारा आत्मा का जो ग्रहण होता है वह स्वशरीर में ही होता है, उसका ग्रहण न तो परशरीर में होता है और न अन्तरालवर्ती स्थान में। यदि आत्मा का ग्रहण परशरीर में होने लगे तो सब में भोजनादि के व्यवहार का सङ्कर हो जायेगा। अर्थात् एक के भोजन करने पर सबको भोजन की प्राप्ति हो जायेगी। आत्मा के व्यापक होने से जब सभी के शरीरों में हमारी आत्मा का अस्तित्व है तो हमारे द्वारा भोजन करने पर सब आत्माओं की क्षुधा की निवृत्ति हो जानी चाहिए। इसी प्रकार आत्मा को व्यापक मानने पर सबको सर्वदर्शित्व का प्रसङ्ग भी प्राप्त होता है। जब प्रत्येक आत्मा सर्वत्र विद्यमान है तो उसे किसी भी स्थान की कोई वस्तु अज्ञात नहीं रहेगी और ऐसी स्थिति में हम सभी सर्वदर्शी कहलाने लगेंगे। किन्तु ऐसा कुछ भी अनुभव में नहीं आता है। अतः आत्मा प्रत्यक्ष प्रमाण से व्यापक सिद्ध नहीं होता है।

वैशेषिक '**आत्मा व्यापकः अणुपरिमाणानधिकरणत्वे सति**' इत्यादि अनुमान के द्वारा आत्मा को व्यापक सिद्ध करते हैं। उनका यह अनुमान निर्दोष नहीं है। वे इस अनुमान के द्वारा आत्मा में अणुपरिमाण का प्रतिषेध करते हैं। यहाँ हमारी जिज्ञासा है कि यह प्रतिषेध पर्युदासरूप है या प्रसज्यरूप? पर्युदासरूप प्रतिषेध का अर्थ होता है– किसी भावान्तर का स्वीकार करना। अर्थात् आत्मा में अणुपरिमाण के प्रतिषेध का मतलब होगा– परममहापरिमाण का अधिकरण अथवा अवान्तरपरिमाण का अधिकरण स्वीकार करना। यहाँ ऐसा कहना ठीक नहीं है कि आत्मा व्यापक है, क्योंकि वह परममहापरिमाण का अधिकरण है। व्यापक और परममहापरिमाण का अधिकरण– ये दोनों शब्द समानार्थक होने से एक

के द्वारा दूसरे की सिद्धि नहीं हो सकती है। अब यदि वैशेषिक आत्मा को अवान्तरपरिमाण (शरीरपरिमाण) का अधिकरण मानें तो ऐसा मानना उनको इष्ट नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने से तो उनके मत का निराकरण हो जाता है। इस प्रकार आत्मा में अणुपरिमाण के प्रतिषेध को पर्युदासरूप मानने में अनेक दोष आते हैं। अब यदि अणुपरिमाण के प्रतिषेध को प्रसज्यरूप माना जाय तो ऐसा मानने पर किसी इष्ट तत्त्व की सिद्धि नहीं होती है। बात यह है कि प्रसज्यरूप अभाव तुच्छाभावरूप होता है। यदि वैशेषिक आत्मा में अणुपरिमाण अधिकरण के प्रतिषेध को तुच्छाभावरूप स्वीकार कर लेते हैं तो इससे आत्मा में किसी भी परिमाण की सिद्धि नहीं होती है। इस प्रकार अनुमान प्रमाण से आत्मा में व्यापकत्व की सिद्धि सम्भव नहीं है।

इसके विपरीत आत्मा को अव्यापक सिद्ध करने वाले कई अनुमान हैं। पहला अनुमान इस प्रकार है– आत्मा परममहापरिमाण का अधिकरण (आधार) नहीं है, क्योंकि वह सामान्यवान् होकर अनेक है, जैसे घटादि। दूसरा अनुमान यह है– आत्मा परममहापरिमाण का अधिकरण नहीं है, क्योंकि वह दिशा, काल और आकाश से भिन्न द्रव्य है, जैसे पटादि। तृतीय अनुमान इस तरह है– आत्मा परममहापरिमाण का अधिकरण नहीं है, क्रियावान् होने से, बाणादि की तरह। एक चौथा अनुमान भी है जो आत्मा में अणुपरिमाण और परममहापरिमाण का निषेध करता है। हम कह सकते हैं कि आत्मा न तो अणुपरिमाण का अधिकरण है और न परममहापरिमाण का अधिकरण है, क्योंकि वह चेतन है। जो अणुपरिमाण का अधिकरण होता है वह चेतन नहीं होता है, जैसे परमाणु। और जो परममहापरिमाण का अधिकरण होता है वह भी चेतन नहीं होता है, जैसे आकाश। इस प्रकार अनुमान प्रमाण से भी यही सिद्ध होता है कि आत्मा व्यापक नहीं है।

पूर्वपक्ष में कहा गया है– **'देवदत्ताङ्गनाद्यङ्गं देवदत्तगुणपूर्वकम्'** इत्यादि। वह सब कथन समीचीन नहीं है। वैशेषिक कहते हैं कि देवदत्त की अङ्गना के शरीर आदि की उत्पत्ति देवदत्त के गुणपूर्वक होती है। यहाँ हम यह *जानना चाहते हैं कि आप देवदत्त के उपभोग योग्य कार्य की उत्पत्ति में* जिन गुणों को कारण मानते हैं वे गुण कौन से हैं– देवदत्त के ज्ञानदर्शनादिगुण

अथवा धर्माधर्म? ज्ञानदर्शनादि गुणों को किसी कार्य की उत्पत्ति में कारण मानना तो ठीक नहीं है। क्योंकि ज्ञानदर्शनादि गुणों का देवदत्त की अङ्गना के शरीर आदि की उत्पत्ति में कोई व्यापार नहीं होता है। तथा ये गुण शरीर से बाहर नहीं रहते हैं। अब यदि आप धर्माधर्म को कार्य की उत्पत्ति में कारण मानते हैं तो इसमें हमको कोई आपत्ति नहीं है। धर्माधर्म को अदृष्ट अथवा पुण्य-पाप भी कहते हैं। अदृष्ट का दूसरा नाम कर्म भी है। यहाँ ध्यान देने योग्य एक बात यह भी है कि धर्माधर्म अचेतन होने से आत्मा के गुण नहीं हो सकते हैं। हम कह सकते हैं कि अदृष्ट (कर्म) आत्मा का गुण नहीं है, अचेतन होने से, शब्दादि की तरह। जो भी वस्तु अचेतन है वह चेतन आत्मा का गुण नहीं हो सकता है। कर्म तो पौद्गलिक है, वह आत्मा का गुण कैसे हो सकता है?

थोड़ी देर के लिए हम यह मान भी लें कि धर्माधर्म आत्मगुण हैं तो भी इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि वे कार्योत्पत्ति के स्थान में उपस्थित रहकर ही कार्य की उत्पत्ति में व्यापार करते हैं। क्योंकि ऐसा कोई नियम नहीं है कि सब कारण कार्य के स्थान में विद्यमान रहकर ही कार्योत्पत्ति करते हैं। हम देखते हैं कि अयस्कान्त (चुम्बक) तथा मन्त्र आदि लोहा आदि पदार्थों के स्थान पर उपस्थित नहीं रहते हैं, फिर भी वे लोहा आदि को आकर्षित करने का कार्य करते ही हैं। चुम्बक लोहा से दूर रहकर भी लोहा को खींच लेता है। मन्त्रवादी किसी स्थान विशेष में बैठकर मन्त्रपाठ करता है और किसी दूसरे प्रदेश में उस मन्त्रपाठ से सर्प आदि का विष दूर हो जाता है। इससे यही सिद्ध होता है कि कारण को कार्य के देश में उपस्थित रहना आवश्यक नहीं है।

पूर्वपक्ष का यह कथन समीचीन नहीं है कि आत्मा को असर्वगत मानने पर विभिन्न दिक् और देशवर्ती परमाणुओं के साथ आत्मा का संयोग नहीं हो सकेगा। क्योंकि ऐसा कोई नियम नहीं है कि जिससे जो संयुक्त है उसके प्रति वही उपसर्पण करता है। यद्यपि लोहा अयस्कान्त के प्रति संयुक्त (सम्बद्ध) नहीं है, फिर भी उसका अयस्कान्त के प्रति आकर्षण देखा जाता है। पूर्वपक्ष में बतलाया गया है कि यदि आत्मा शरीरपरिमाण है तो उसमें बालशरीरपरिमाण का युवाशरीरपरिमाण कैसे हो जाता है? इसका उत्तर यह है कि जब बालशरीरपरिमाण का युवाशरीरपरिमाण

में परिवर्तन होता है तब उस समय बालशरीरपरिमाण का परित्याग कर देने पर भी आत्मा का सर्वथा विनाश नहीं होता है। इसका कारण यह है कि पर्याय की अपेक्षा से आत्मा के अनित्य होने पर भी द्रव्य की अपेक्षा से वह नित्य है। वैशेषिकों का कथन है कि आत्मा को शरीरपरिमाण मानने पर आत्मा मूर्त हो जायेगी। यहाँ हम यह जानना चाहते हैं कि मूर्त का मतलब क्या है– क्या असर्वगत परिमाण का नाम मूर्त है अथवा रूपादिमान् का नाम मूर्त है? इनमें से प्रथम विकल्प तो हमारे अनुकूल ही है। हम आत्मा का असर्वगत परिमाण मानते हैं और इसे आप मूर्त कहना चाहते हैं तो इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं है। अब यदि मूर्त का तात्पर्य रूपादिमान् से है तो यह विकल्प युक्तिसङ्गत नहीं है। क्योंकि ऐसी कोई व्याप्ति नहीं है कि जो असर्वगत होता है वह नियम से रूपादिमान् होता है। मन असर्वगत होने पर भी रूपादिमान् नहीं है। अतः शरीरपरिमाण होने के कारण आत्मा में मूर्त होने का कोई प्रसङ्ग नहीं आता है।

जैनदर्शन आत्मा को व्यापक न मानकर शरीरपरिमाण या शरीरव्यापी मानता है। आत्मा को शरीरपरिमाण मानने में वैशेषिक एक दोष देते हैं कि यदि आत्मा शरीरपरिमाण है तो शरीर के किसी अवयव का छेद हो जाने पर आत्मा का भी छेद मानना पड़ेगा। इस विषय में जैनों का उत्तर यह है कि आत्मप्रदेशों का छेद हम मानते ही हैं। अर्थात् आत्मा अपने शरीर में व्याप्त होकर रहता है और जब कभी उसके शरीर का कोई अवयव शस्त्र आदि के द्वारा कटकर उससे पृथक् हो जाता है तब शरीर से पृथक् हुए अवयव में कुछ काल तक आत्मप्रदेश रहते हैं। यदि कटे हुए अवयव में आत्मप्रदेश नहीं होते तो उसमें कम्पन नहीं होता। यहाँ जानने योग्य बात यह है कि कटे हुए अवयव के आत्मप्रदेश अवयव की तरह आत्मा से सर्वथा पृथक् नहीं हो जाते हैं, किन्तु मूल आत्मा से उनका सम्बन्ध बराबर बना रहता है। तथा कुछ क्षण बाद वे आत्मप्रदेश पुनः आत्मा में प्रविष्ट हो जाते हैं। यही कारण है कि बाद में कटे हुए अवयव में कम्पन बन्द हो जाता है।

इत्यादि प्रकार से विचार करने पर आत्मा के सम्बन्ध में वैशेषिकों की जो आपत्ति है वह निरस्त हो जाती है। वास्तविक बात यह है कि आत्मा शरीरपरिमाण, सप्रदेशी, क्रियावान् और कथञ्चित् नित्य है। हम

लोगों को निर्बाध ज्ञान के द्वारा ऐसे ही आत्मा की प्रतीति होती है। निर्बाध ज्ञान में जो वस्तु जैसी प्रतीत हो उसको वैसा ही स्वीकार करना चाहिए। यही सत्य को जानने का सर्वोत्तम उपाय है।

मनःद्रव्य-विचार :

पूर्वपक्ष– वैशेषिक मन को एक पृथक् द्रव्य मानते हैं। उनके अनुसार मन नित्य, अनेक, सक्रिय, अणुरूप और प्रत्येक आत्मा में भिन्न-भिन्न है। मन नित्य है, कार्यरूप नहीं। मन का आरम्भक कोई कारण न होने के कारण मन में नित्यत्व सिद्ध होता है। यदि मन का कोई आरम्भक कारण है तो यहाँ प्रश्न होता है कि वह विजातीय है या सजातीय? विजातीय कारण मन का आरम्भक नहीं हो सकता है। क्योंकि कोई भी विजातीय कारण विजातीय का आरम्भक नहीं होता है, किन्तु सजातीय ही सजातीय का आरम्भक होता है। अब यदि सजातीय कारण को मन का आरम्भक माना जाय तो मन की उत्पत्ति में मन ही सजातीय कारण हो सकता है। और ऐसी स्थिति में एक मन की उत्पत्ति में कारणभूत अनेक मनों का मानना आवश्यक है। क्योंकि एक द्रव्य द्रव्यान्तर की उत्पत्ति में कारण नहीं होता है, अपितु अनेक द्रव्य द्रव्यान्तर की उत्पत्ति करते हैं, जैसे कि अनेक तन्तु पट की उत्पत्ति करते हैं। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि प्रत्येक आत्मा में एक ही मन रहता है। तब एक मन के द्वारा मन की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि मन नित्य है। वैशेषिक मन की सिद्धि करने के लिए एक हेतु देते हैं जो इस प्रकार है– **'युगपज्ज्ञानानुपपत्तिर्मनसो लिङ्गम्'**। अर्थात् चक्षु आदि सब इन्द्रियों के द्वारा एक साथ ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है। इसका कारण यह है कि मन अणुरूप है। इस कारण जिस इन्द्रिय के साथ मन का सम्बन्ध होता है उसी के द्वारा ज्ञान उत्पन्न होता है। मन के अणुरूप होने के कारण एक समय में एक ही इन्द्रिय के साथ मन का सम्बन्ध होता है। यही कारण है कि सब इन्द्रियों के द्वारा एक साथ रूपादि सब विषयों का ज्ञान नहीं होता है। मन अनेक हैं और प्रत्येक आत्मा में एक मन रहता है। मन के विषय में वैशेषिकों की यही मान्यता है।

उत्तरपक्ष– वैशेषिकों का उक्त कथन समीचीन नहीं है। उन्होंने मन *का जैसा स्वरूप बतलाया है, उसका साधक कोई प्रमाण नहीं है। जैनदर्शन*

के अनुसार मन चक्षुरादि इन्द्रियों की तरह पौद्गलिक है। कहा भी है- **'पौद्गलिकं मनः इन्द्रियत्वात् चक्षुरादिवत्'** अर्थात् जिस प्रकार चक्षुरादि इन्द्रियाँ पौद्गलिक हैं उसी प्रकार मन भी पौद्गलिक है। जितनी भी इन्द्रियाँ हैं वे सब पौद्गलिक हैं। चक्षुरादि इन्द्रियों और मन में अन्तर यह है कि चक्षुरादि बाह्येन्द्रियाँ हैं और मन अन्तरङ्ग इन्द्रिय है। किन्तु रूपादिमान् पुद्गल द्रव्य की ये सब पर्यायें हैं। तात्पर्य यह है कि चाहे अन्तरङ्ग इन्द्रिय हो अथवा बहिरिन्द्रिय, किन्तु वे सब पौद्गलिक ही हैं। जैनदर्शन के अनुसार मन के दो भेद हैं- द्रव्यमन और भावमन। इनमें से द्रव्यमन पौद्गलिक है और भावमन चेतन आत्मरूप है। अतः जैनदर्शन में मन कोई पृथक् द्रव्य नहीं है।

वैशेषिकों ने मन को अणुरूप माना है और उसके अस्तित्व की सिद्धि युगपत् ज्ञानानुत्पत्ति से की है। अर्थात् चक्षुरादि सब इन्द्रियों के द्वारा एक साथ ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है। इसका कारण यह है कि मन अणुरूप है। वैशेषिकों का उक्त कथन तर्कसङ्गत नहीं है। क्योंकि परमाणुरूप मन चक्षुरादि इन्द्रियों का अधिष्ठायक नहीं हो सकता है। आपके मत में चक्षु अनेक रश्मिरूप है और घ्राणादि पार्थिवादि के अवयवरूप हैं। यहाँ प्रश्न यह है कि ये इन्द्रियाँ मन के द्वारा युगपत् अधिष्ठित होती हैं या क्रम से? इन्द्रियों को मन के द्वारा युगपत् अधिष्ठित नहीं माना जा सकता है? क्योंकि अणुरूप एक मन युगपत् अनेक इन्द्रियों का अधिष्ठाता कैसे हो सकता है? इन्द्रियों को मन के द्वारा क्रम से अधिष्ठित मानने पर यह दोष आता है कि तब आसन्न और दूरवर्ती अर्थ की प्रतीति चक्षुरादि के द्वारा क्रम से होनी चाहिए, किन्तु ऐसा होता नहीं है। युगपत् ज्ञानानुत्पत्ति की बात भी गलत है। क्योंकि दीर्घ शष्कुली (खाने का एक विशेष पदार्थ) के भक्षण के समय एक साथ रूपादि पाँचों ज्ञानों की उत्पत्ति अनुभव में आती है। इसका तात्पर्य यह है कि शष्कुली के खाने के समय चक्षु से उसके रूप की प्रतीति, स्पर्शन से स्पर्श की प्रतीति, रसना से रस की प्रतीति, घ्राण से गन्ध की प्रतीति और उसके भक्षण के समय चट-चट की आवाज़ होने के कारण कर्ण से शब्द की प्रतीति होती है। अतः उस समय रूपादि विषयक पाँचों ज्ञान एक साथ अनुभव में आते हैं। ऐसी स्थिति में युगपत् ज्ञानानुत्पत्ति की बात सिद्ध नहीं होती है। यहाँ ध्यान देने योग्य एक बात और भी है कि जब मन का चक्षुरिन्द्रिय के साथ

सम्बन्ध होने से रूप का ज्ञान होता है तब उसी समय सुखादि का मानस संवेदन भी होता है। जिस प्रकार मन का इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध होता है, उसी प्रकार आत्मा के साथ भी मन का सम्बन्ध सदा रहता ही है। इसलिए रूप का ज्ञान और सुख का ज्ञान एक साथ होने में कोई बाधा नहीं है। इसका मतलब यह है कि एक साथ एक से अधिक ज्ञान होते हैं।

वैशेषिकों ने पूर्वपक्ष में मन को नित्य सिद्ध करने के लिए कहा है कि 'मन का आरम्भक कोई कारण नहीं है। यदि मन का आरम्भक कोई कारण है तो वह विजातीय है या सजातीय, इत्यादि'। उनका यह सब कथन युक्तिसङ्गत नहीं है। यहाँ जिज्ञासा यह है कि आप किसकी अपेक्षा से कारण में सजातीय और विजातीय की बात कहते हैं- पृथिवी आदि द्रव्य की अपेक्षा से अथवा अवान्तरसामान्य की अपेक्षा से? यदि अवान्तरसामान्य की अपेक्षा की बात है, तो तन्तु और पट में भी कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होगा। क्योंकि तन्तुओं में तन्तुत्व अवान्तरसामान्य रहता है और पट में पटत्व अवान्तरसामान्य पाया जाता है। ऐसी स्थिति में दोनों अवान्तरसामान्यको पृथक्-पृथक् होने के कारण उनमें सजातीयत्व नहीं बनेगा। तन्तुत्व की अपेक्षा से पट में सजातीयत्व नहीं है और पटत्व की अपेक्षा से तन्तुओं में सजातीयत्व नहीं है। इस कारण तन्तु और पट में कार्यकारणभाव सिद्ध नही होगा। अब यदि पुद्गलादि द्रव्य की अपेक्षा से सजातीय और विजातीय की बात है तो जिस प्रकार पुद्गल द्रव्य की अपेक्षा से तन्तु और पट में सजातीयत्व होने से कार्यकारणभाव सिद्ध होता है, उसी प्रकार पुद्गल द्रव्य की अपेक्षा से परमाणु का मन के साथ सजातीयत्व होने के कारण उनमें कार्यकारणभाव सिद्ध होने में कोई बाधा नहीं है।

इस प्रकार वैशेषिकों द्वारा अभिमत नित्य, सक्रिय, अनेक और अणुरूप मन की सिद्धि किसी प्रमाण से नहीं होती है। मन की सिद्धि हो जाने पर भी निरंश आत्मा और मन का संयोग नहीं बन सकता है। यदि उनका संयोग होता है तो एक देश से या सर्वदेश से? एक देश से उनका संयोग स्वीकार करने पर उनको सांश (अंश सहित) मानना पड़ेगा जो वैशेषिकों को इष्ट नहीं है। और सर्वदेश से संयोग मानने पर उन दोनों

में से किसी एक का ही अस्तित्व रहेगा। अतः मन नामक कोई पृथक् द्रव्य नहीं है। मन न तो नित्य है और न अणुरूप है। यथार्थ में वह पौद्गलिक अन्तरङ्ग इन्द्रिय है। इसी का नाम द्रव्यमन है। इसके अतिरिक्त एक भावमन भी होता है जो चेतन है। यही जैनदर्शन का सिद्धान्त है।

गुणपदार्थ-विचार :

पूर्वपक्ष– वैशेषिक दर्शन में द्रव्य की तरह गुण भी एक पदार्थ है। उनके अनुसार गुण का लक्षण इस प्रकार है–

द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्षः। वैशे.सू.1/1/16

अर्थात् गुण द्रव्य के आश्रित, गुणरहित तथा संयोग और विभाग में सापेक्ष कारण होता है। इस लक्षण से शुक्ल पट, मधुर आम्र, सुगन्धित फूल, शीतल जल इत्यादि विशिष्ट प्रत्ययों के द्वारा गुण द्रव्य से अर्थान्तर सिद्ध होते हैं। ऐसे गुण 24 हैं, जो इस प्रकार हैं– रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार। इनमें से गन्ध पृथिवी का विशेष गुण है, रस जल का विशेष गुण है, रूप अग्नि का विशेष गुण है, स्पर्श वायु का विशेष गुण है और शब्द आकाश का विशेष गुण है। बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार– ये नौ आत्मा के विशेष गुण हैं।

रूप गुण केवल चक्षु इन्द्रिय के द्वारा गृहीत होता है तथा यह गुण पृथिवी, जल और अग्नि– इन तीन द्रव्यों में रहता है। रस गुण केवल रसना इन्द्रिय के द्वारा गृहीत होता है तथा पृथिवी और जल– इन दो द्रव्यों में रहता है। गन्ध गुण केवल घ्राण इन्द्रिय के द्वारा गृहीत होता है और केवल पृथिवी में रहता है। स्पर्श गुण केवल स्पर्शन इन्द्रिय के द्वारा गृहीत होता है तथा यह गुण पृथिवी, जल, अग्नि और वायु– इन चार द्रव्यों में रहता है। रूपादि चारों गुण नित्य और अनित्य दोनों प्रकार के होते हैं। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग– ये पाँच गुण सभी नौ द्रव्यों में रहते हैं। परत्व और अपरत्व गुण पृथिवी आदि चार तथा मन– इन पाँच द्रव्यों में रहते हैं। गुरुत्व गुण पृथिवी और जल में रहता है। द्रवत्व गुण पृथिवी, जल और अग्नि में रहता है। स्नेह गुण

केवल जल में रहता है। शब्द गुण केवल आकाश में रहता है। संस्कार गुण के तीन भेद हैं- वेग, भावना और स्थितिस्थापक। वेग पृथिवी आदि चार और मन में रहता है। स्थितिस्थापक चटाई आदि पृथिवी में रहता है। और भावना नामक संस्कार गुण आत्मा में रहता है। बुद्धि, सुख आदि नौ गुण केवल आत्मा में रहते हैं। परिमाण नामक गुण अणु, महत्, दीर्घ और ह्रस्व के भेद से चार प्रकार का होता है। उक्त 24 गुणों में से कुछ गुण मूर्त हैं और कुछ अमूर्त हैं। कुछ गुण इन्द्रिय ग्राह्य हैं और कुछ अतीन्द्रिय हैं। कुछ गुण नित्य हैं और कुछ अनित्य हैं। इस प्रकार वैशेषिकों ने गुण पदार्थ के विषय में अपना अभिमत बतलाया है।

उत्तरपक्ष- वैशेषिकों ने **'द्रव्याश्रय्यगुणवान्'** इत्यादि प्रकार से गुण का जो लक्षण बतलाया है वह ठीक नहीं है। जब हमने वैशेषिकाभिमत द्रव्य का निषेध कर दिया है तब गुण द्रव्याश्रित कैसे हो सकते हैं? थोड़ी देर के लिए मान लिया जाय कि गुण द्रव्याश्रित होते हैं, तथापि गुण 24 ही होते हैं ऐसा अवधारण नहीं हो सकता है। क्योंकि 24 के अतिरिक्त और भी अनेक गुण उपलब्ध होते हैं। वैयाकरण मत में ऐसा प्रसिद्ध है कि द्रव्य विशेष्य है और गुण विशेषण है। वैद्यकशास्त्र में विशद, स्थिर, खर, पिच्छल आदि गुण प्रसिद्ध हैं। सांख्यमत में सत्त्व, रज और तम-ये तीन गुण माने गये हैं। इससे ज्ञात होता है कि 24 के अतिरिक्त और भी अनेक गुण होते हैं। एक बात यह भी है कि वैशेषिक इन रूपादि गुणों को एक घट आदि अवयवी में निरंश और एक स्वभाव वाले मानते हैं। तब कुञ्चिका (कुञ्जी) के छिद्रप्रदेश के द्वारा किसी स्थान में उपलभ्यमान घटादि में समग्रद्रव्यवर्ती रूपादि की उपलब्धि होनी चाहिए, अन्यथा गुणों की निरंशता और एकरूपता का व्याघात हो जायेगा। इसी प्रकार जलसिञ्चन आदि के द्वारा पृथिवी में कहीं पर गन्ध की अभिव्यक्ति होने पर समग्र पृथिवी में गन्ध की अभिव्यक्ति का प्रसङ्ग आता है। अन्यथा अभिव्यक्त और अनभिव्यक्त के भेद से विरुद्धधर्माध्यास के कारण सम्पूर्ण अवयवी में व्याप्त कोई एक गुण सिद्ध नहीं हो सकेगा।

संख्या को गुण मानना ठीक नहीं है। क्योंकि गुणों में भी संख्या पायी जाती है। जैसे एक ज्ञान, दो ज्ञान, चौबीस गुण इत्यादि। किन्तु गुणों में गुण तो रहते नहीं हैं। द्वित्वादि संख्या को अपेक्षाबुद्धिजन्य मानना

गलत है। क्योंकि एकत्व संख्या की तरह पदार्थों में द्वित्वादि संख्या भी स्वभावसिद्ध है। द्वित्वादि संख्या का व्यवहार ही अपेक्षाबुद्धिजन्य है, स्वरूप नहीं। अणु, महत्, ह्रस्व और दीर्घ के भेद से जो चार प्रकार का परिमाण बतलाया गया है वह गलत है। क्योंकि वस्तु के संस्थान विशेष को छोड़कर परिमाण के अणु, महत् आदि भेद सम्भव नहीं हैं। अर्थात् अणु, महत् आदि के रूप में वस्तु में संस्थान विशेष की ही प्रतीति होती है। फिर भी यदि संस्थान विशेष को गुण माना जाय तो वस्तु के वर्तुलत्व, त्र्यस्र, चतुरस्र आदि को भी गुण मानना पड़ेगा। तब गुण 24 ही हैं, इस मत का विघटन हो जाता है। पृथक्त्व गुण के विषय में बतलाया गया है कि वह भेद व्यवहार का कारण होता है। यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि सब पदार्थों में भेद व्यवहार स्वगत असाधारण भेद के द्वारा ही होता है। इसके लिए पृथक्त्व गुण की कल्पना करने से कोई लाभ नहीं है। अन्यथा अभेद व्यवहार का कारण अपृथक्त्व गुण होता है, ऐसी भी कल्पना करनी पड़ेगी। संयोग गुण भी निरन्तर (अन्तराल रहित) अवस्थित पदार्थों को छोड़कर अन्य कोई पृथक् गुण नहीं है। निरन्तररूप से परिणत पदार्थ ही संयुक्त व्यवहार के विषय होते हैं। यदि नैरन्तर्यरूप संयोग को गुण माना जाय तो सामीप्य, दूरत्व आदि को भी गुण मानना पड़ेगा। विभाग भी एक पृथक् गुण न होकर संयोग के अभावरूप ही है। परत्व और अपरत्व गुण का निराकरण भी संख्या गुण की तरह हो जाता है। क्योंकि दोनों में ही अपेक्षाबुद्धिजन्यत्व समानरूप से पाया जाता है। गुरुत्व गुण को पतन के द्वारा अनुमेय मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि करतलस्थित सुवर्णपिण्ड आदि में पतन के बिना भी यह दश तोला है, यह पाँच तोला है, इत्यादिरूप से गुरुत्व की प्रतीति होती है। यदि गुरुत्व गुण है तो लघुत्व को भी गुण मानना चाहिए। लघुत्व को गुरुत्वाभावरूप मानने पर गुरुत्व को लघुत्वाभावरूप मानने में क्या आपत्ति है? स्पन्दनरूप कर्म के कारण को द्रवत्व गुण माना गया है। यह भी शक्तिविशेषरूप ही है, अन्य कुछ नहीं। द्रवत्व को तीन द्रव्यों में रहने वाला कहना गलत है, क्योंकि यह गुण पृथिवी और जल में तो रहता है, किन्तु अग्नि में नहीं रहता है। पृथिवी में भी शुष्क काष्ठादि में द्रवत्व नहीं रहता है।

स्नेह को गुण मानना और उसे जल का विशेषगुण कहना सही नहीं है। क्योंकि स्नेह गुण घृत, तैल आदि पार्थिव वस्तुओं में भी पाया जाता

है। वेग आदि के भेद से संस्कार गुण को तीन प्रकार का मानना सङ्गत नहीं है। क्रिया की शीघ्र उत्पत्ति को छोड़कर अन्य कोई वेग नहीं है। **'वेगेन गच्छति'** यहाँ वेग गुण का सद्भाव मानने पर **'वेगेन शास्त्रं जानाति'** यहाँ भी वेग गुण मानना पड़ेगा। भावनारूप संस्कार भी आत्मा की स्मरण-जननशक्तिरूप ही है, अन्यरूप नहीं। इसी प्रकार स्थितिस्थापक संस्कार भी यथावस्थित वस्तु के स्थापन सामर्थ्य से अन्य कुछ नहीं है। धर्म और अधर्म को आत्मगुण मानना सर्वथा गलत है। धर्माधर्म क्या है, इस विषय में अनेक मत हैं। जैन धर्माधर्म (पुण्य-पाप) को पौद्गलिक मानते हैं। सांख्य मत में वे बुद्धि के धर्म हैं। मीमांसक मत में श्रेयःसाधनत्व-शक्तिविशिष्ट द्रव्यादिक को धर्मशब्दवाच्य कहा गया है। बौद्धमत में ज्ञान का ही वासना नामक शक्तिरूप कर्म धर्माधर्म कहलाता है। शब्द को आकाश का गुण मानना सर्वथा असङ्गत है, क्योंकि इस विषय में भी विवाद है। जैन शब्द को पौद्गलिक मानते हैं। मीमांसक शब्द को नित्य द्रव्यरूप मानते हैं। सौत्रान्तिक उसे परमाणुरूप मानते हैं। वैयाकरण शब्द को स्फोटरूप मानते हैं और सांख्य शब्द को प्रकृति का परिणाम मानते हैं।

वैशेषिकों ने बतलाया है कि रूप गुण पृथिवी, जल और अग्नि- इन तीन द्रव्यों में ही रहता है, किन्तु ऐसा नहीं है। रूप गुण वायु में भी रहता है। उन्होंने यह भी बतलाया है कि रस गुण पृथिवी और जल- इन दो द्रव्यों में ही रहता है और गन्ध गुण केवल पृथिवी में रहता है। उनका ऐसा कथन सर्वथा गलत है। जल और अग्नि में गन्ध तथा रसादि गुण भी पाये जाते हैं। पृथिवी में रस गुण भी पाया जाता है। यथार्थ में पुद्गल द्रव्य में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श- ये चारों गुण पाये जाते हैं और पृथिवी आदि चारों पुद्गल के ही विकार अथवा पर्यायें हैं- तब पृथिवी में ही गन्ध गुण पाया जाता है, इत्यादि प्रकार से रूपादिगुणों का प्रतिनियम कैसे किया जा सकता है? जैनदर्शन के अनुसार पृथिवी आदि चारों में रूपादि चारों गुण नियम से पाये जाते हैं। इस प्रकार वैशेषिकों के द्वारा परिकल्पित गुण पदार्थ का निरास हो जाता है।

कर्मपदार्थ-विचार :

पूर्वपक्ष- वैशेषिक कर्म को एक स्वतन्त्र पदार्थ मानते हैं। यह कर्म अदृष्टरूप नहीं है, किन्तु उससे भिन्न एक पदार्थ है। उन्होंने कर्म का लक्षण

इस प्रकार बतलाया है– **'एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षं कारणं कर्म'।** अर्थात् कर्म का आश्रय एक द्रव्य होता है। कर्म के कोई गुण नहीं होते हैं तथा कर्म स्वयं भी किसी का गुण नहीं होता है। इसके अतिरिक्त कर्म पदार्थों में संयोग और विभाग के करने में अन्य किसी कारण की अपेक्षा नहीं करता है। ऐसा कर्म पाँच प्रकार का है– उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन। किसी वस्तु को ऊपर की ओर फेंकना उत्क्षेपण कहलाता है। इसमें वस्तु का ऊपर के प्रदेशों के साथ संयोग और नीचे के प्रदेशों से विभाग हो जाता है। गुरुत्व के कारण किसी वस्तु का ऊपर से नीचे की ओर आना अपक्षेपण है। इसमें वस्तु का ऊपर के प्रदेशों से विभाग और नीचे के प्रदेशों के साथ संयोग हो जाता है। किसी द्रव्य या अवयव का सिकोड़ना आकुञ्चन कहलाता है। इसमें ऋजु अवयवी कुटिल हो जाता है। जैसे अङ्गुलियों को सिकोड़कर मुट्ठी बना लेना। किसी वस्तु या अवयव को फैलाना प्रसारण कहलाता है। इसमें कुटिल अवयवी ऋजु हो जाता है। जैसे बन्द मुट्ठी को खोलकर अङ्गुलियों को फैला देना। गमन वह क्रिया है जिसके द्वारा कोई वस्तु इधर से उधर जाती है। भ्रमण, स्पन्दन, रेचन आदि का भ्रमण में ही अन्तर्भाव हो जाता है। इस प्रकार कुल पाँच कर्म होते हैं। उक्त पाँच प्रकार का कर्म पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और मन– इन पाँच द्रव्यों में रहता है तथा कर्म नामक पदार्थ सदा अनित्य होता है। इस प्रकार कर्म-पदार्थ के विषय में वैशेषिक दर्शन का ऐसा सिद्धान्त है।

उत्तरपक्ष– वैशेषिकों ने **'एकद्रव्यमगुणम्'** इत्यादि कर्म का जो लक्षण बतलाया है वह तर्कसङ्गत नहीं है। ऐसा एक स्वतन्त्र कर्म-पदार्थ किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है। वैशेषिकों ने द्रव्य को कर्म का आश्रय माना है। यहाँ हम यह जानना चाहते हैं कि जो द्रव्य कर्म का आश्रय होता है वह गन्तृस्वभाव, अगन्तृस्वभाव, उभयरूप तथा अनुभयरूप में से कौन सा है? यदि वह गन्तृस्वभाव (गमन करने के स्वभाव वाला) है तो उसी द्रव्य को कर्म मान लेना चाहिए। उस द्रव्य के अतिरिक्त अन्य *किसी कर्म की कल्पना करना व्यर्थ है।* यहाँ यह भी विचारणीय है कि वह द्रव्य सर्वदा गन्तृस्वभाव है अथवा कदाचित्? प्रथमपक्ष में सर्वदा गन्तृस्वभाव होने से वह द्रव्य सदा चलायमान रहेगा तथा कभी भी ठहरेगा

नहीं। द्वितीय पक्ष– कदाचित् गन्तृस्वभाव स्वीकार करने में यह दोष आता है कि वह पहले अगन्तृस्वभाव था और बाद में गन्तृस्वभाव हो गया। यहाँ भी एक प्रश्न होता है कि वह द्रव्य पहले के अगन्तृस्वभाव का परित्याग करके गन्तृस्वभाव होता है। अथवा पूर्व स्वभाव का परित्याग किये बिना ही गन्तृस्वभाव हो जाता है। यदि पूर्व स्वभाव का परित्याग करने पर वह गन्तृस्वभाव होता है तब अणु आदि द्रव्यों में अनित्यता का प्रसङ्ग आता है। क्योंकि स्वभाव की प्रच्युति हो जाने का नाम ही अनित्यता है। अब यदि माना जाय कि पूर्व स्वभाव का परित्याग किये बिना ही वह गन्तृस्वभाव हो जाता है तो ऐसा होना सम्भव नहीं है। इस तरह गन्तृस्वभाव अणु आदि द्रव्य कर्म का आश्रय नहीं हो सकता है। इसी प्रकार अगन्तृस्वभाव द्रव्य आकाशादि की तरह कर्म का आश्रय नहीं हो सकता है। इसी तरह उभयस्वभाव और अनुभयस्वभाव द्रव्य को कर्म का आश्रय मानने पर अनेक दोष आते हैं।

हम थोड़ी देर के लिए मान लेते हैं कि कर्म कोई है तो उसका निर्दोष लक्षण इस प्रकार है– **'देशाद् देशान्तरप्राप्तिहेतुः परिस्पन्दात्मकः परिणामोऽर्थस्य कर्म।'** अर्थात् किसी पदार्थ का एक देश से दूसरे देश में प्राप्ति का कारण जो परिस्पन्दात्मक परिणाम है वह कर्म कहलाता है। कर्म का ऐसा लक्षण मान लेने पर कर्म एक ही सिद्ध होता है और उसे पाँच प्रकार का बतलाना व्यर्थ है। उत्क्षेपण आदि कर्मों का इसी में अन्तर्भाव हो जाता है। ऐसी स्थिति में उत्क्षेपण आदि को पृथक्-पृथक् कर्म मानना ठीक नहीं है। अन्यथा भ्रमण, स्पन्दन आदि को भी पृथक् कर्म मानना पड़ेगा। और तब कर्म की पाँच संख्या का व्याघात अवश्यम्भावी है। वास्तव में क्रियारूप से परिणत वस्तु को छोड़कर अन्य कोई पृथक् कर्म प्रतीत नहीं होता है जिसे कर्म-पदार्थ कहा जा सके। कर्म तो क्रिया का नाम है। पदार्थों का एक देश से दूसरे देश में प्राप्ति का हेतु जो चलनात्मक परिणाम या क्रिया है उसी का नाम कर्म है। अतः कर्म परिस्पन्दात्मक द्रव्य से पृथक् और स्वतन्त्र कोई पदार्थ नहीं है। चलनात्मक घटपटादि पदार्थों से पृथक् और स्वतन्त्र कर्म-पदार्थ की कल्पना करने से कोई लाभ भी नहीं है। इस प्रकार वैशेषिकों द्वारा परिकल्पित कर्म पदार्थ का निराकरण किया गया है।

सामान्यपदार्थ-विचार :

पूर्वपक्ष– वैशेषिक सामान्य को एक पृथक् पदार्थ मानते हैं। वस्तु में अनुगताकार (सदृश) प्रतीति कराने वाला पदार्थ सामान्य कहलाता है। वैशेषिकों के अनुसार सामान्य पदार्थ एक, व्यापक और नित्य है। सामान्य द्रव्य, गुण और कर्म– इन तीन पदार्थों में रहता है। द्रव्य, गुण और कर्म में जो अनुगताकार प्रतीति होती है उसका कारण सामान्य है। सामान्य के दो भेद हैं– पर सामान्य और अपर सामान्य। सत्ता को पर सामान्य कहते हैं। इसका विषय व्यापक है। यह समस्त द्रव्य, गुण और कर्म में अनुगताकार प्रत्यय का हेतु होने के कारण पर सामान्य कहलाता है। द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व, गोत्व, मनुष्यत्व आदि को अपर सामान्य कहते हैं। अपर सामान्य का दूसरा नाम सामान्य-विशेष भी है। यह अपने आश्रयभूत द्रव्यादि पदार्थों में अनुवृत्तिप्रत्यय कराने के कारण सामान्य कहलाता है और विजातीय पदार्थों से व्यावृत्ति कराने के कारण विशेष कहलाता है। इसका तात्पर्य यह है कि द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व, गोत्व, मनुष्यत्व आदि सामान्य होने के साथ विशेष भी हैं। अपेक्षाभेद से एक ही वस्तु को सामान्य और विशेष मानने में कोई विरोध नहीं है। द्रव्यत्व द्रव्य की अपेक्षा से सामान्य है और गुण आदि की अपेक्षा से विशेष है।

प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण के द्वारा सामान्य की सिद्धि होती है। विभिन्न गौ आदि पदार्थों से व्यतिरिक्त गौ-गौ इत्यादि अनुगताकार प्रत्यय कराने वाले सामान्य का इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष में प्रतिभास होता है। यह अनुगताकार प्रत्यय अनुगत और एकाकार वस्तु के अवलम्बन के बिना नहीं हो सकता है। इसी प्रकार अनुमान भी सामान्य के सद्भाव को सिद्ध करता है। गौ, अश्व, मनुष्य आदि में जो गौ-गौ आदि अभिधान और ज्ञानविशेष होते हैं वे गोपिण्डादि के अतिरिक्त अन्य किसी के निमित्त से होते हैं। अर्थात् वे गोत्व, मनुष्यत्व आदि सामान्य के कारण होते हैं। पृथक्-पृथक् प्रत्यय का विषय होने के कारण गोत्व गोपिण्ड से भिन्न सिद्ध होता है। जिस प्रकार रूपप्रत्यय और रसप्रत्यय भिन्न हैं, उसी प्रकार गोप्रत्यय और गोत्वप्रत्यय भी भिन्न हैं। इत्यादि अनुमान के द्वारा भी यह सिद्ध होता है कि सामान्य द्रव्यादि से भिन्न है। ऐसा सामान्य नित्य, निरंश, निष्क्रिय, एक और व्यापक होता है।

गाय के उत्पन्न होने पर गोत्व सामान्य उत्पन्न नहीं होता है और गाय के मर जाने पर गोत्व सामान्य का नाश नहीं होता है। क्योंकि सामान्य नित्य है। गोत्वादि सामान्य एक है, अनेक नहीं। एक ही गोत्व सामान्य सब गायों में रहता है। सामान्य व्यापक होता है। एक ही गोत्व, मनुष्यत्व आदि सामान्य सर्वत्र पाया जाता है। अर्थात् एक ही गोत्व सामान्य समस्त गायों में विद्यमान रहता है। ऐसा नहीं है कि पृथक्-पृथक् गायों में पृथक्-पृथक् गोत्व सामान्य रहता हो। व्यापक होने के कारण सामान्य निष्क्रिय है। जो व्यापक होता है उसमें क्रिया नहीं होती है। जैसे आकाश में कोई क्रिया नहीं होती है। सामान्य निरंश होता है। जब सामान्य एक और व्यापक है तो उसमें अंशों की कल्पना नहीं की जा सकती है। ऐसा वैशेषिकों का सामान्य के विषय में अभिमत है।

उत्तरपक्ष– वैशेषिकों ने सामान्य का जो लक्षण बतलाया है वह ठीक नहीं है। जब हमने वैशेषिक परिकल्पित द्रव्य, गुण और कर्म का निषेध कर दिया है तब सामान्य को द्रव्यादि के आश्रित मानना और उनमें अनुगताकार प्रत्यय का निमित्त मानना कहाँ तक उचित है। वैशेषिकों ने प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा अनुमान का सद्भाव सिद्ध किया है। यहाँ प्रश्न यह है कि यदि प्रत्यक्ष गोत्वादि सामान्य का परिच्छेदक है तो कौन सा प्रत्यक्ष उसका परिच्छेदक है– निर्विकल्पक अथवा सविकल्पक? निर्विकल्पक प्रत्यक्ष परामर्शशून्य होने के कारण गौ-गौ इत्यादिरूप से अनुगताकार वस्तु का परामर्श नहीं कर सकता है। तथा निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में नित्य, एक और निरंश सामान्य का प्रतिभास भी नहीं होता है। यदि उसमें सामान्य का प्रतिभास होता तो फिर सामान्य के विषय में किसी को विवाद ही नहीं रहता। सविकल्पक प्रत्यक्ष भी सामान्य का परिच्छेदक नहीं होता है। क्योंकि वह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के बाद होता है तथा वह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत अर्थ में ही प्रवृत्त होता है। जब सामान्य निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत नहीं होता है तब वह सविकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा कैसे जाना जा सकता है? इस तरह प्रत्यक्ष सामान्य के सद्भाव को सिद्ध नहीं कर सकता है। इसी प्रकार अनुमान भी सामान्य के सद्भाव को सिद्ध करने में असमर्थ है। यहाँ हम यह जानना चाहते हैं कि आप अनुमान के द्वारा गोपिण्डादि से व्यतिरिक्त निमित्तान्तरमात्र (अन्य कोई निमित्त) सिद्ध करना चाहते हैं अथवा गोत्वादि

सामान्य को सिद्ध करना चाहते हैं। प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर तो सिद्धसाधन दोष होता है। क्योंकि स्याद्वादी हम लोग सदृशपरिणामरूप निमित्तान्तर को मानते ही हैं। द्वितीय पक्ष में भी अनुमान को गोत्वादिरूप सामान्य का साधक नहीं माना जा सकता है। अतः जिस प्रकार प्रत्यक्ष सामान्य का साधक नहीं होता है, उसी प्रकार अनुमान भी सामान्य का साधक नहीं हो सकता है।

सामान्य के विषय में एक जिज्ञासा यह भी होती है कि वह व्यक्तियों से अभिन्न है या भिन्न? यदि वह व्यक्तियों से अभिन्न है तो व्यक्ति की तरह सामान्य में भी उत्पत्ति और विनाश का प्रसङ्ग आता है। अब यदि सामान्य को व्यक्तियों से भिन्न माना जाता है तो यहाँ भी प्रश्न होता है कि व्यक्ति के उत्पन्न होने पर सामान्य उत्पन्न होता है या नहीं? यदि वह व्यक्ति के उत्पन्न होने पर उत्पन्न होता है तो वह व्यक्ति की तरह अनित्य सिद्ध होगा जो वैशेषिक को अनिष्ट है। अब यदि सामान्य उत्पन्न नहीं होता है तो वह व्यक्ति के उत्पत्ति प्रदेश में रहता है या नहीं? यदि रहता है तो व्यक्ति की उत्पत्ति के पहले भी उसका ग्रहण होना चाहिए। अब यदि आप कहना चाहें कि सामान्य व्यक्ति के उत्पत्ति प्रदेश में नहीं रहता है, परन्तु व्यक्ति के उत्पन्न हो जाने पर दूसरे व्यक्ति से उसमें आ जाता है। तो यहाँ भी वैसा ही प्रश्न है कि दूसरे व्यक्ति से आने वाला सामान्य पूर्व व्यक्ति को छोड़कर आता है अथवा उसे बिना छोड़े ही इस व्यक्ति में आ जाता है। यदि अभी उत्पन्न हुए व्यक्ति में आने वाला सामान्य पूर्व व्यक्ति को छोड़कर इसमें आ जाता है, तब पूर्व व्यक्ति सामान्यरहित हो जायेगा। ऐसा भी नहीं हो सकता है कि सामान्य का एक अंश पूर्व व्यक्ति में रहे और एक दूसरा अंश इस व्यक्ति में आ जाय। क्योंकि सामान्य को निरंश माना गया है। वैशेषिकों द्वारा अभिमत नित्य, व्यापक, एक, निष्क्रिय और निरंश सामान्य का बौद्धदार्शनिक धर्मकीर्ति ने जो तार्किक खण्डन किया है उसका उत्तर देना वैशेषिकों के लिए अत्यन्त कठिन है। धर्मकीर्ति ने इसी विषय में **प्रमाणवार्तिक** में कहा है-

> **न याति न च तत्रासीदस्ति पश्चान्न चांशवत्।**
> **जहाति पूर्वमाधारमहो व्यसन-सन्ततिः।।**

इस कारिका का विशेषार्थ इस प्रकार है- गाय के उत्पन्न होने पर

उसमें गोत्व सामान्य कहाँ से आता है? किसी दूसरे स्थान या दूसरे गोपिण्ड से तो गोत्व सामान्य इस गाय में आ नहीं सकता है। क्योंकि वैशेषिकों ने सामान्य को निष्क्रिय माना है। यदि ऐसा माना जाय कि सामान्य वहाँ पहले से ही था तो ऐसा कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि आधार के बिना वहाँ गोत्व सामान्य कैसे रह सकता है? गाय के उत्पन्न हो जाने के बाद गोत्व सामान्य वहाँ उत्पन्न नहीं हो सकता है, क्योंकि सामान्य नित्य है। ऐसा भी नहीं हो सकता है कि दूसरी गाय के गोत्व सामान्य का एक अंश इस गाय में आ जाय, क्योंकि सामान्य को निरंश माना गया है। यह भी सम्भव नहीं है कि पहली गाय को पूर्णरूप से छोड़कर गोत्व सामान्य पूरा का पूरा इस गाय में आ जाय, क्योंकि ऐसा मानने पर पहली गाय गोत्वरहित हो जाने के कारण गाय ही नहीं कहलायेगी।

ऐसा कहना भी ठीक नहीं है कि सर्वगत होने के कारण सामान्य की सर्वत्र युगपत् वृत्ति होती है। यहाँ हम पूछना चाहेंगे कि सामान्य सर्वसर्वगत (व्यापक) है अथवा स्वव्यक्तिसर्वगत (व्यक्तिमात्र व्यापी) है? प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर अन्तरालवर्ती स्थान में तथा अश्वादि व्यक्तियों में भी गोत्व का उपलम्भ होना चाहिए, किन्तु ऐसा होता नहीं है। अब यदि सामान्य को स्वव्यक्तिसर्वगत माना जाता है तो यहाँ भी प्रश्न होता है कि सामान्य प्रतिव्यक्ति में सर्वात्मना रहता है अथवा एकदेश से? प्रतिव्यक्ति में सामान्य के सर्वात्मना रहने पर या तो सर्व व्यक्तियों में एकत्व हो जायेगा अथवा व्यक्तियों की तरह सामान्य में अनेकत्व प्राप्त होगा। अब यदि सामान्द एकदेश से सर्व व्यक्तियों में रहता है तो सामान्य के अनेक देश (अंश) मानना पड़ेंगे और ऐसा मानने से सामान्य सांश सिद्ध होता है, निरंश नहीं। वैशेषिकों ने सामान्य को विशेषों से पृथक् माना है। गोत्व सामान्य पृथक् है और गाय विशेष पृथक् है। तथा गोत्व सामान्य सब गायों में समवाय सम्बन्ध से रहता है। उनका ऐसा मानना सर्वथा असङ्गत है। यथार्थ बात तो यह है कि सामान्य और विशेष परस्पर में पृथक्भूत न होकर अपृथक्भूत हैं। इस प्रकार अनेक दोष आने के कारण वैशेषिक परिकल्पित सामान्य सिद्ध नहीं होता है। अतः ऐसा मानना ही युक्तिसङ्गत है कि सदृशपरिणाम लक्षण सामान्य विशेषपरिणाम लक्षण विशेष की तरह प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न होता है। इस तरह गोत्वादि सामान्य को अनेक, अनित्य और अव्यापक मानना ही श्रेयस्कर है।

बौद्धाभिमत सामान्य-विचार :

पूर्वपक्ष– बौद्धदर्शन में सामान्य के विषय में एक विशिष्ट कल्पना की गई है। बौद्ध मानते हैं कि सामान्य विजातीयव्यावृत्तिरूप होता है। वे गोत्व, मनुष्यत्व आदि को कोई वास्तविक पदार्थ नहीं मानते हैं। जितने मनुष्य हैं वे सब अमनुष्य से व्यावृत्त (पृथक्) हैं तथा सब एक सरीखा कार्य करते हैं। अतः उनमें एक मनुष्यत्व सामान्य की कल्पना कर ली गई है। यही बात गोत्व आदि सामान्य के विषय में भी जान लेनी चाहिए। गोत्व, मनुष्यत्वादि सामान्य अतद्व्यावृत्तिरूप होता है। अर्थात् गोत्वसामान्य अगोव्यावृत्तिरूप है और मनुष्यत्वसामान्य अमनुष्यव्यावृत्तिरूप है। सब गायों में अगोव्यावृत्ति रहती है और इसी अगोव्यावृत्ति को गोत्वसामान्य माना गया है। बौद्धों का कथन है कि विशेष को छोड़कर अन्य कोई वास्तविक तत्त्व नहीं है। यह सामान्य है और यह विशेष है ऐसा बुद्धिभेद कभी नहीं होता है। तथा बुद्धिभेद के बिना पदार्थों में भेद की व्यवस्था नहीं की जा सकती है। अतः खण्डी, मुण्डी आदि गौ व्यक्तियों के अतिरिक्त अन्य किसी सामान्य की प्रतीति न होने से वैशेषिकों के द्वारा माना गया सामान्य का लक्षण अवास्तविक है।

यहाँ कोई कह सकता है कि यदि गोत्वादि सामान्य वास्तविक नहीं है तो अश्वादि का परिहार करके गौव्यक्तियों में ही गोप्रत्यय क्यों होता है? इसका उत्तर यही है कि विजातीयव्यावृत्ति के कारण ही ऐसा होता है। जहाँ अश्वादिव्यावृत्ति रहती है वहीं गौ-गौ ऐसा प्रत्यय होता है, अन्यत्र नहीं। इस प्रकार बौद्धों के अनुसार सामान्य नित्य, निरंश और एकरूप न होकर विजातीयव्यावृत्तिरूप होता है। जहाँ अगोव्यावृत्ति रहती है वहाँ गोव्यवहार होता है और जहाँ अनश्वव्यावृत्ति रहती है वहाँ अश्वव्यावहार होता है। इत्यादि प्रकार से मनुष्य आदि अन्य विशेष पदार्थों के विषय में भी समझ लेना चाहिए। ऐसा सामान्य के विषय में बौद्धों का अभिमत है।

उत्तरपक्ष– बौद्धों ने सामान्य के विषय में जो कुछ कहा है वह तर्कसङ्गत नहीं है। सामान्य को विजातीयव्यावृत्तिरूप मानना सर्वथा गलत है। यदि सामान्य विजातीयव्यावृत्तिरूप है तो गौ-गौ इत्यादिरूप से विधि को प्रधान करके गोशब्द की प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए। किन्तु इसके विपरीत गौ-नहीं, गौ-नहीं इत्यादिरूप से निषेध को प्रधान करके गोशब्द की प्रवृत्ति होनी

चाहिए। यथार्थ बात यह है कि सामान्य सदृशपरिणामरूप है और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से इसका स्वरूप सिद्ध होता है। पदार्थों में समानधर्मरूप सदृशपरिणाम प्रत्यक्ष से प्रतीत होता है। अतः मनुष्यादि पदार्थों में अनुगताकार प्रतिभास होने के कारण ऐसा मानना तर्कसङ्गत है कि प्रत्येक पदार्थ अनुगताकार धर्मों के सहित होता है। बौद्ध असमानाकार (विजातीय) की व्यावृत्ति से समानाकाररूप सजातीयता की कल्पना करते हैं। यहाँ ज्ञातव्य यह है कि जो स्वयं असमानाकार है उसमें अन्य से व्यावृत्त होने पर भी समानाकारता कैसे आ सकती है? अन्यथा महिषी आदि की व्यावृत्ति से गौ और अश्व में भी समानाकारता का प्रसङ्ग प्राप्त होगा। यहाँ यह भी जिज्ञासा है कि गौ, अश्व आदि पदार्थों में सजातीयता किस कारण से होती है- एक अर्थक्रिया करने के कारण अथवा एक ज्ञान के जनक होने के कारण? एक अर्थक्रिया करने के कारण गौ आदि में सजातीयता मानना ठीक नहीं है। क्योंकि वाह (बोझ ढोना) दोह (दुहा जाना) आदि अर्थक्रिया प्रत्येक गौ व्यक्ति में भिन्न-भिन्न होती है। अतः उसके कारण गौव्यक्तियों में एकत्व (सजातीयत्व) सम्भव नहीं है। एक ज्ञान के जनक होने के कारण पदार्थों में सजातीयता की कल्पना करना भी उचित नहीं है। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति एक सरीखे ज्ञान का जनक तो होता है, किन्तु एकरूप से नहीं, अपितु भिन्न-भिन्न रूप से वैसा होता है। खण्डी गाय में जैसा गोप्रत्यय होता है, वैसा प्रत्यय मुण्डी गाय में नहीं होता है।

ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है कि अनुगताकारप्रतीति अहेतुक होती है। क्योंकि यदि अनुगताकारप्रतीति अहेतुक हो तो उसमें देशकालादि का नियम नहीं बन सकता है। परन्तु उसमें देशकालादि का नियम निश्चितरूप से देखा जाता है। इस कारण उसे अहेतुक नहीं माना जा सकता है। अनुगताकारप्रतीति को वासनाहेतुक मानना भी सङ्गत नहीं है। इसे वासनाहेतुक मानने पर इसमें अर्थ की अपेक्षा नहीं होनी चाहिए। परन्तु वासना अनुभूत अर्थविषयक ही होती है। जब बौद्धमत में सामान्य की कोई सत्ता ही नहीं है तब सामान्य का अनुभव कैसे होगा और अनुभूत सामान्य की वासना कैसे होगी? इत्यादि प्रकार से विचार करने पर अनुगताकार प्रत्यय का अन्य कोई निमित्त सम्भव न होने के कारण गौ-गौ इत्यादि अनुगताकार प्रत्यय उनमें सदृशपरिणाम के कारण ही होता है। यहाँ कोई शङ्का कर सकता है कि यदि अनुगताकार प्रत्यय सदृशपरिणाम

के कारण होता है तो **'सदृशोऽयम्'** ऐसा प्रत्यय होना चाहिए और **'स एवायं गौः'** ऐसा प्रत्यय नहीं होना चाहिए। इसका उत्तर यह है कि सदृशपरिणाम-विशेष में गोशब्द का संकेत होने के कारण **'स एवायं गौः'** ऐसा प्रत्यय होता है। गोत्वादि सामान्यों में भी **'सामान्यम्, सामान्यम्'** ऐसा प्रत्यय तथा षट्पदार्थों में **'पदार्थः पदार्थः'** ऐसा प्रत्यय सदृशपरिणाम के कारण ही होता है।

बौद्ध गोत्वादि सामान्य को वास्तविक न मानकर काल्पनिक मानते हैं। किन्तु **'गौः गौः'** इत्यादिरूप से अबाधित प्रत्यय के विषयभूत गोत्वादि सामान्य को काल्पनिक नहीं माना जा सकता है। बुद्धि में जो अनुगताकार प्रतीति होती है वह किसी भी प्रमाण से बाधित नहीं होती है। और वह प्रतीति गौ आदि पदार्थों में सामान्य के व्यवहार का हेतु होती है। बौद्धों का यह कथन भी ठीक नहीं है कि सामान्य और विशेष में बुद्धिभेद न होने के कारण विशेष को छोड़कर अन्य कोई वास्तविक सामान्य नहीं है। सामान्य और विशेष में बुद्धिभेद प्रतीति-सिद्ध है। एक ही आश्रय में रहने वाले रूपरसादि में भी बुद्धिभेद के कारण ही भेद की सिद्धि होती है। यदि चक्षुरिन्द्रिय के विषय होने के कारण गोत्वादि सामान्य और कृष्ण, श्वेत आदि गौरूप विशेष में अभेद माना जाय तो वात और आतप में भी अभेद मानना पड़ेगा। क्योंकि वे भी एक इन्द्रिय (स्पर्शन इन्द्रिय) के विषय होते हैं। अतः प्रतिभास भेद ही भेदव्यवस्था का हेतु होता है। यदि अनुगताकार प्रत्यय सामान्य के बिना हो सकता है तो फिर व्यावृत्ताकार प्रत्यय भी विशेष के बिना हो जाने का प्रसङ्ग प्राप्त होगा। इसलिए अनुगताकार प्रत्यय का आलम्बन वास्तविक सामान्य को मानना आवश्यक है। इस प्रकार यहाँ बौद्धपरिकल्पित विजातीयव्यावृत्तिरूप सामान्य का निराकरण किया गया है।

विशेषपदार्थ-विचार :

पूर्वपक्ष– वैशेषिक विशेष को एक स्वतन्त्र पदार्थ मानते हैं। यथार्थ में विशेष पदार्थ मानने के कारण ही इनका नाम वैशेषिक पड़ा है। विशेष का लक्षण इस प्रकार बतलाया गया है– **'नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषाः'**। अर्थात् विशेष नित्य द्रव्यों में रहते हैं और अन्त्य कहलाते हैं। परमाणु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन– ये नित्य द्रव्य हैं। परमाणु जगत्

के आरम्भ और विनाश के कारणभूत होने के कारण अन्त कहलाते हैं। इसी प्रकार मुक्त आत्माएँ और मुक्त मन भी संसारपर्यन्त रहने के कारण अन्त कहलाते हैं और इन अन्तों में रहने के कारण विशेषों को अन्त्य, कहा गया है। इसी कारण विशेष के लक्षण में **'नित्यद्रव्यवृत्तयः'** और **'अन्त्याः'** ये दो विशेषण दिये गये हैं। सब आत्माओं की जाति, गुण और क्रिया- ये सब तुल्य होते हैं। इन सब में परस्पर में भेद कराने वाला तत्त्व विशेष ही है। प्रत्येक आत्मा में एक विशेष रहता है। इसी विशेष के कारण एक आत्मा से दूसरा आत्मा पृथक् सिद्ध होता है। पृथिवी आदि द्रव्यों के सब परमाणु समान हैं, फिर भी एक परमाणु से दूसरा परमाणु भिन्न है। क्योंकि प्रत्येक परमाणु में एक विशेष रहता है। इसी कारण प्रत्येक परमाणु की दूसरे परमाणु से पृथक् प्रतीति होती है। यही बात मन के विषय में भी है। प्रत्येक मन में एक विशेष पदार्थ रहता है। वह एक मन को दूसरे मन से व्यावृत्त करता है। विशेष अनन्त और नित्य होते हैं। ये विशेष योगियों को प्रत्यक्ष और हम लोगों को अनुमेय होते हैं।

विशेषों के विषय में एक विशेष बात यह है कि ये स्वतः व्यावर्तक होते हैं। अर्थात् एक विशेष से दूसरे विशेष में भेद स्वतः ही होता है। इस काम के लिए किसी दूसरे विशेष की आवश्यकता नहीं है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार एक परमाणु से दूसरे परमाणु में भेद कराने के लिए विशेष पदार्थ माना गया है, उसी प्रकार एक विशेष से दूसरे विशेष में भेद कराने के लिए किसी अन्य पदार्थ की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि एक विशेष दूसरे विशेष से भेद कराने में स्वयं ही सक्षम है। एक विशेष दूसरे विशेष से स्वतः ही व्यावृत्त होता है। ये विशेष अपने आश्रय को अन्य पदार्थों से विशिष्ट बनाते हैं, इसी कारण इनको विशेष कहते हैं। ऐसा वैशेषिकों का सिद्धान्त है।

उत्तरपक्ष- वैशेषिकों का उक्त मत समीचीन नहीं है। वैशेषिकों ने विशेषों का **'नित्यद्रव्यवृत्तयः'** इत्यादि जो लक्षण बतलाया है वह निर्दोष नहीं है। यहाँ जिज्ञासा यह है कि विशेषों के आश्रयभूत जो नित्य *द्रव्य* हैं वे सर्वथा नित्य हैं या कथञ्चित्? प्रथमपक्ष में असम्भव दोष आता है। क्योंकि सर्वथा नित्य कोई द्रव्य नहीं है। और द्वितीयपक्ष के स्वीकार

करने पर अतिव्याप्ति दोष का प्रसङ्ग प्राप्त होता है। क्योंकि समान जाति के आधारभूत मुक्ताफल आदि में भी अत्यन्त व्यावृत्तिबुद्धि होती है, परन्तु उनमें विशेष नहीं रहता है। एक बात यह भी है कि जितने परमाणु आदि नित्य पदार्थ हैं वे सब अपने असंकीर्ण (सर्वथा पृथक्) स्वभाव में अवस्थित हैं और इसी असंकीर्ण स्वभाव के कारण वे दूसरे पदार्थों से व्यावृत्त हो जाते हैं। अतः उनमें परस्पर में व्यावृत्ति कराने के लिए एक पृथक् विशेष पदार्थ मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। वैशेषिकों ने स्वयं माना है कि विशेष पदार्थों में विशेष नहीं रहता है, फिर भी एक विशेष दूसरे विशेष से स्वतः व्यावृत्त हो जाता है। उसी प्रकार परमाणु, आत्मा आदि अन्य समस्त पदार्थ भी अपने-अपने असंकीर्ण स्वभाव के कारण परस्पर में व्यावर्तक हो जाते हैं। ऐसा मानने में कोई विरोध नहीं है। इसलिए परमाणु आदि में परस्पर में भेद कराने के लिए किसी विशेष पदार्थ की कल्पना करना तर्कसङ्गत नहीं है।

वैशेषिकों ने विशेष को नित्य द्रव्यों में रहने वाला बतलाया है। यहाँ जिज्ञासा यह है कि नित्य द्रव्य स्वरूप से व्यावृत्त हैं या अव्यावृत्त? यदि वे स्वरूप से अव्यावृत्त हैं तो विशेष के सम्बन्ध से भी वे व्यावृत्त नहीं हो सकते हैं। और यदि नित्य द्रव्य स्वरूप से व्यावृत्त हैं तो फिर विशेष पदार्थ मानने का क्या प्रयोजन है? विशेष पदार्थ तो इसीलिए माना गया है कि वह नित्य द्रव्यों में पारस्परिक व्यावृत्ति करा सके। यदि स्वरूप से व्यावृत्त नित्य द्रव्यों में विशेष की कल्पना की जाती है तो विशेषों में भी अन्य विशेष की कल्पना करनी पड़ेगी।

यहाँ कोई कह सकता है कि प्रदीप आदि में स्वतः ही भासुररूपता होती है, घटादि के सम्बन्ध से नहीं। किन्तु घटादि में प्रदीप के सम्बन्ध से ही भासुररूपता आती है। इसी प्रकार विशेष स्वतः ही व्यावृत्त प्रत्यय के हेतु होते हैं, परमाणु आदि के सम्बन्ध से नहीं। परन्तु परमाणु आदि विशेषों के सम्बन्ध से व्यावृत्त प्रत्यय के जनक होते हैं। पूर्वपक्ष का उक्त कथन ठीक नहीं है। क्योंकि घटादि पदार्थ प्रदीपादि के सम्बन्ध से प्राक्तन अभासुरस्वभाव को छोड़कर भासुररूप से उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिए उन्हें प्रदीपादि के सम्बन्ध से भासुररूप मानना ठीक है, परन्तु परमाणु आदि में ऐसा सम्भव नहीं है। क्योंकि उनको सर्वथा नित्य माना गया

है। इस कारण उनमें प्राक्तन स्वरूप को छोड़कर नवीन स्वभाव की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। यहाँ एक प्रश्न यह भी है कि परमाणु आदि का स्वरूप परस्पर में असंकीर्ण है या संकीर्ण? यदि उनका स्वरूप परस्पर में असंकीर्ण है तो इससे विशेष की सिद्धि कैसे हो सकती है? और यदि परमाणु आदि का स्वरूप परस्पर में संकीर्ण है तो योगियों को उनमें जो व्यावृत्त प्रत्यय हो रहा है वह भ्रान्त कहलायेगा। इस प्रकार वैशेषिकों के द्वारा अभिमत विशेष पदार्थ का न तो कोई स्वरूप सिद्ध होता है और न उसका साधक कोई प्रमाण है। इत्यादि प्रकार से विचार करने पर वैशेषिक परिकल्पित विशेष-पदार्थ निरस्त हो जाता है।

समवायपदार्थ-विचार :

पूर्वपक्ष– वैशेषिक समवाय को एक स्वतन्त्र पदार्थ मानते हैं। समवाय एक सम्बन्ध है और नित्य है। समवाय का लक्षण इस प्रकार है–

अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानामिहेदं प्रत्ययहेतुर्यः सम्बन्धः स समवायः।'

अर्थात् आधार्य और आधारभूत अयुतसिद्ध पदार्थों में **'इह इदम्'** 'इसमें यह' इस प्रकार के प्रत्यय का हेतु जो सम्बन्ध है वह समवाय कहलाता है। समवाय के विषय में जानने योग्य बात यह है कि यह सम्बन्ध दो अयुतसिद्ध पदार्थों में होता है। अयुतसिद्ध पदार्थ वे कहलाते हैं जिनको परस्पर में एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता है। जैसे तन्तु और पट अयुतसिद्ध हैं। इसी प्रकार गुण और गुणी, क्रिया और क्रियावान्, सामान्य और सामान्यवान्, विशेष और विशेषवान्, ये सब अयुतसिद्ध कहलाते हैं। अयुतसिद्ध होने के साथ ही इनमें से एक पदार्थ आधार और दूसरा पदार्थ आधेय होता है। जैसे तन्तु आधार है और पट आधेय है। क्योंकि तन्तुओं में पट रहता है। **'इह आकाशे शकुनिः'** यहाँ आकाश आधार हो और शकुनि आधेय हो, ऐसा नहीं है। क्योंकि शकुनि के नीचे ही आकाश नहीं है किन्तु उसके ऊपर भी आकाश है। अतः आकाश और शकुनि में आधार-आधेयभाव नहीं है। तथा वे अयुतसिद्ध भी नहीं हैं। **'इह कुण्डे दधि'** इस प्रत्यय में यद्यपि कुण्ड और दधि में आधार-आधेयभाव है। किन्तु वे दोनों अयुतसिद्ध न होकर युतसिद्ध हैं।

इसलिए आकाश और शकुनि तथा दधि और कुण्ड में संयोग सम्बन्ध है। हम कह सकते हैं कि तन्तुपटादि संयुक्त नहीं होते हैं। अपितु नियम से अयुतसिद्ध तथा आधार-आधेयभूत होने के कारण वे समवाय सम्बन्ध से युक्त होते हैं। इसी प्रकार ऐसा भी कहा जा सकता है कि तन्तु पटादि का सम्बन्ध संयोग नहीं होता है, अपितु अयुतसिद्ध होने के कारण उनमें समवाय सम्बन्ध रहता है।

प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण से समवाय सम्बन्ध की सिद्धि होती है। प्रत्यक्ष से तन्तुसम्बद्ध पट प्रतिभासित होता है और पटसम्बद्ध रूपादि प्रतिभासित होते हैं। इसका मतलब यह है कि समवाय सम्बन्ध से पट तन्तुओं में रहता है और पट के गुण रूपादि पट में रहते हैं। इसी प्रकार अनुमान से भी समवाय की प्रतीति होती है। **'इह तन्तुषु पटः'** इत्यादिरूप से जो **'इहेदम्'** प्रत्यय होता है वह किसी सम्बन्ध का कार्य है, **'इह कुण्डे दधि'** इत्यादि प्रत्यय की तरह। अर्थात् **'इह इदम्'** जो प्रत्यय होता है वह किसी न किसी सम्बन्ध के कारण होता है। **'इह तन्तषु पटः'** ऐसा प्रत्यय समवाय सम्बन्ध के कारण होता है और **'इह कुण्डे दधि'** यह प्रत्यय संयोग सम्बन्ध के कारण होता है। समवाय सम्बन्ध एक है, संयोग की तरह नाना नहीं।

समवाय के विषय में कोई शङ्का कर सकता है कि यह सम्बन्ध निष्पन्न पदार्थों में होता है या अनिष्पन्न पदार्थों में? अनिष्पन्न पदार्थों में समवाय की कल्पना करना गलत है, क्योंकि जब सम्बन्धी ही उत्पन्न नहीं हुए हैं तो उनमें सम्बन्ध कैसे सम्भव है? निष्पन्न पदार्थों में समवाय सम्बन्ध मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि निष्पन्न पदार्थों में संयोग ही होता है, समवाय नहीं। इसी प्रकार गुणादि को आधेय नहीं माना जा सकता है, क्योंकि वे निष्क्रिय होते हैं। आधार तो गति का प्रतिबन्धक होता है, जैसे घट जल की गति का प्रतिबन्धक है।

उक्त प्रकार की शङ्का समीचीन नहीं है। समवाय निष्पन्न अथवा अनिष्पन्न पदार्थों में नहीं होता है, अपितु स्वकारणसत्तासम्बन्ध का नाम ही निष्पत्ति है और कार्य का अपने कारणों की सत्ता के साथ सम्बन्ध हो जाना ही समवाय है। ऐसा नहीं है कि निष्पत्ति अन्य हो और समवाय अन्य हो। समवाय अपने सम्बन्ध के लिए अन्य किसी सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं

करता है, क्योंकि वह तो स्वतः सम्बन्ध है। जो स्वतः सम्बन्ध नहीं होते हैं वे सम्बन्धान्तर की अपेक्षा करते हैं, जैसे संयोग। अतः अग्नि में उष्णता की तरह समवाय सम्बन्ध स्वतः ही होता है। यह जो कहा गया है कि निष्क्रिय होने से गुणादि को आधेय नहीं माना जा सकता है, वह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि उनके निष्क्रिय होने पर भी प्रत्यक्ष के द्वारा उनमें आधाराधेयभाव की प्रतीति होती है। ऐसा वैशेषिकों का मत है।

उत्तरपक्ष– वैशेषिकों का उक्त मत समीचीन नहीं है। उन्होंने समवाय का **'अयुतसिद्धानाम्'** इत्यादि जो लक्षण बतलाया है वह सिद्ध नहीं होता है। वैशेषिकों ने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष– इन पाँच पदार्थों को समवायी माना है। अर्थात् इन पाँच पदार्थों में समवाय रहता है। किन्तु हम वैशेषिक परिकल्पिक इन पदार्थों की परीक्षा पहले ही कर चुके हैं। जब उनके द्वारा परिकल्पित द्रव्यादि पदार्थों का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता है तब उनमें समवाय सम्बन्ध की कल्पना करना कहाँ तक उचित है? वैशेषिकों ने माना है कि अयुतसिद्ध पदार्थों में समवाय रहता है। यहाँ हम यह बतलाना चाहते हैं कि अयुतसिद्धत्व दो प्रकार का होता है– शास्त्रीय और लौकिक। इनमें से वैशेषिकों ने तन्तु और पट में शास्त्रीय अयुतसिद्धत्व माना है। उन्होंने शास्त्रीय अयुतसिद्धत्व का लक्षण इस प्रकार किया है– **'अपृथगाश्रयवृत्तित्वमयुतसिद्धत्वम्'**। अर्थात् अयुतसिद्धत्व उनमें होता है जिनका आश्रय अपृथक् हो, ऐसा शास्त्रीय अयुतसिद्धत्व तन्तु और पट में नहीं पाया जाता है। क्योंकि तन्तु अपने अवयव (अंशुओं) में रहते हैं और पट अपने अवयव तन्तुओं में रहता है। इस कारण इन दोनों का आश्रय पृथक्-पृथक् है। इसी प्रकार गुण, कर्म, सामान्य और विशेष पदार्थों में भी अयुतसिद्धत्व का अभाव समझ लेना चाहिए। अतः अवयव और अवयवी, गुण और गुणी, जाति और व्यक्ति, क्रिया और क्रियावान् तथा नित्य द्रव्य और विशेष– इन पाँच युगलों में शास्त्रीय अयुतसिद्धत्व का अभाव पाया जाता है। क्योंकि इन सबमें अपृथगाश्रयवृत्तित्व नहीं है। अब यह जान लेना आवश्यक है कि लौकिक अयुतसिद्धत्व क्या है? लौकिक अयुतसिद्धत्व लोक प्रसिद्ध एकभाजनवृत्तिरूप होता है। जैसे युतसिद्ध दुग्ध और जल में एकभाजनवृत्तिरूप लौकिक अयुतसिद्धत्व पाया जाता है। किन्तु ऐसा अयुतसिद्धत्व समवाय का लक्षण नहीं हो सकता है।

यहाँ पूर्वपक्ष कह सकता है कि तन्तु और पट में ऐसा नहीं है कि वहाँ दो आधार हों और दो आधेय हों। किन्तु अपने अवयवों की अपेक्षा से तन्तु आधेय है और पट की अपेक्षा से तन्तु आधार है। अतः यहाँ '**पृथगाश्रयवृत्तित्वं युतसिद्धिः**' इस लक्षण का अभाव पाये जाने के कारण इनमें अयुतसिद्धत्व मानने में कोई विरोध नहीं है। इसके उत्तर में हम कह सकते हैं कि दिक्, काल, आकाश और आत्मा में भी पृथक् आश्रय और आश्रयित्व के अभाव के कारण युतसिद्धि का भी अभाव मानना पड़ेगा। यहाँ यह जान लेना आवश्यक प्रतीत हो रहा है कि अयुतसिद्धि किसे कहते हैं। क्या अभिन्नदेशाश्रयत्व का नाम अयुतसिद्धि है अथवा अभिन्न कालाश्रयत्व का नाम अयुतसिद्धि है? इनमें से अभिन्नदेशाश्रयत्व को तो अयुतसिद्धि नहीं माना जा सकता है। क्योंकि ऐसा नहीं है कि जो तन्तुओं का देश है वही पट का भी देश है। तन्तुओं का देश उनके अंशु हैं और पट का देश तन्तु हैं। इसी प्रकार अभिन्नकालाश्रयत्व को भी अयुतसिद्धि नहीं माना जा सकता है। ऐसा नहीं है कि तन्तुओं का जो काल है पट का भी वही काल है, किन्तु दोनों का काल भिन्न-भिन्न है। अतः अभिन्न कालाश्रयत्व का नाम भी अयुतसिद्धि नहीं है।

समवाय के विषय में एक बात यह भी है कि जो प्रमाण से अप्रसिद्ध है उसका लक्षण कर देने मात्र से उसकी सिद्धि नहीं हो सकती है। जब लक्ष्य सिद्ध हो तभी उसके लक्षण करने से कोई लाभ हो सकता है। पूर्वपक्ष में प्रत्यक्ष तथा अनुमान से समवाय की जो सिद्धि की गई है वह भी गलत है। जब समवाय का कोई असाधारण स्वरूप ही नहीं है तब उसे प्रत्यक्ष तथा अनुमान से सिद्ध करना तर्कसङ्गत नहीं है। घटादि पदार्थों का असाधारण स्वरूप ज्ञात होने पर ही उसमें प्रत्यक्ष या अनुमान की प्रवृत्ति मानना ठीक है। जब स्वरूप से अग्नि का अस्तित्व है तभी पर्वत में उसे अनुमेय माना जाता है। वैशेषिकों ने समवाय को एक माना है जो ठीक नहीं है। हम कह सकते हैं कि जिस प्रकार संयोग अनेक हैं उसी प्रकार समवाय भी अनेक है। क्योंकि भिन्न देश, भिन्न काल और भिन्न आकार वाले अर्थों में सम्बन्ध बुद्धि का जनक होने से समवाय को अनेक मानना आवश्यक है।

वैशेषिक अयुतसिद्ध पदार्थों में जो समवाय सम्बन्ध की कल्पना करते

हैं वह प्रमाणसङ्गत नहीं है। यथार्थ बात यह है कि अवयव-अवयवी, गुण-गुणी आदि पदार्थों में तादात्म्य सम्बन्ध रहता है, समवाय सम्बन्ध नहीं। आतान-वितानभूत तन्तुओं की अवस्था विशेष का नाम ही पट है। वहाँ ऐसी प्रतीति नहीं होती है कि ये तन्तु हैं और यह पट है। वैशेषिक समवाय को नित्य तथा अनाश्रित मानते हैं। क्योंकि यदि समवाय को किसी के आश्रित मानें तो आश्रय के नष्ट हो जाने पर समवाय भी नष्ट हो जायेगा। किन्तु उनका यह सब कथन युक्तिसङ्गत नहीं है। समवाय न तो नित्य है और न अनाश्रित है। समवाय एक सम्बन्ध है। अतः संयोग की तरह वह भी अनित्य है। जब समवाय दो पदार्थों में रहता है तो वह दो पदार्थों के आश्रित ही रहेगा। वह अनाश्रित कैसे हो सकता है? इत्यादि प्रकार से विचार करने पर वैशेषिक परिकल्पित समवाय नामक पदार्थ निरस्त हो जाता है।

इस प्रकार अभी तक वैशेषिक के द्वारा अभिमत द्रव्यादि छह पदार्थों का विवेचन तथा निराकरण किया गया है। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि उक्त छह प्रकार के पदार्थ भावात्मक (सत्स्वरूप) हैं। इनके अतिरिक्त वैशेषिक दर्शन में एक अभावात्मक (असत्रूप) पदार्थ भी माना गया है जिसका नाम अभाव है। इस अभाव पदार्थ का विवेचन न्यायकुमुदचन्द्र में नहीं किया गया है। सम्भवतः इसका कारण यही हो सकता है कि लेखक का उद्देश्य सत् पदार्थों का विवेचन करना ही रहा हो।

अभावपदार्थ-विचार :

जो पदार्थ भावरूप नहीं होता है वह अभाव पदार्थ कहलाता है। वैशेषिकों के अनुसार अभाव के चार भेद होते हैं– प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव। कार्य की उत्पत्ति के पहले कारण में कार्य के अभाव को प्रागभाव कहते हैं। जैसे घट की उत्पत्ति के पहले मिट्टी में जो घट का अभाव है वह प्रागभाव कहलाता है। प्रागभाव अनादि और सान्त है। कार्य के नष्ट हो जाने पर कार्य के अभाव को प्रध्वंसाभाव कहते हैं। जैसे घट के फूट जाने पर घट का प्रध्वंसाभाव हो जाता है। प्रध्वंसाभाव सादि और अनन्त है। सजातीय पदार्थों में परस्पर में जो भेद पाया जाता है वह अन्योन्याभाव कहलाता है। घट और पट में अन्योन्याभाव रहता है। घट में पट नहीं है तथा पट में घट नहीं है।

यही उनमें अन्योन्याभाव है। विजातीय जिन पदार्थों में कभी कोई सम्बन्ध नहीं रहता है उनमें अत्यन्ताभाव पाया जाता है। जैसे चेतन और अचेतन पदार्थों का पारस्परिक जो त्रैकालिक अभाव है वह अत्यन्ताभाव है। चेतन कभी भी अचेतनरूप नहीं होता है और अचेतन कभी भी चेतनरूप नहीं होता है। यही उन दोनों में अत्यन्ताभाव है। अभाव का यह विवेचन वैशेषिक दर्शन के अनुसार है। जैनदर्शन में तो भाव के अतिरिक्त अभाव कोई पृथक् पदार्थ नहीं है। प्रत्येक पदार्थ न सर्वथा भावरूप है और न सर्वथा अभावरूप। यहाँ अभाव को तो भावान्तररूप माना गया है। जैसे घटाभाव का मतलब होता है घटरहित भूतल।

सम्बन्ध सद्भाववाद :

पूर्वपक्ष– बौद्ध मानते है कि रूप, रस, गन्ध और स्पर्श परमाणु सजातीय और विजातीय परमाणुओं से व्यावृत्त होते हैं तथा उनमें लोहे की शलाकाओं की तरह कोई सम्बन्ध नहीं होता है। यदि पदार्थों में सम्बन्ध माना जाय तो वह किस रूप होता है– पारतन्त्र्यरूप, संश्लेषरूप अथवा परापेक्षारूप? यदि पदार्थों में पारतन्त्र्यरूप सम्बन्ध है तो प्रश्न होता है कि वह सम्बन्ध निष्पन्न पदार्थों में होता है अथवा अनिष्पन्न पदार्थों में? अनिष्पन्न पदार्थों में तो इसे माना नहीं जा सकता है। क्योंकि अनिष्पन्न पदार्थों का तो कोई स्वरूप ही नहीं होता है। अतः जिस प्रकार शशविषाण और बन्ध्यापुत्र में पारतन्त्र्यरूप सम्बन्ध की कल्पना नहीं की जा सकती है, उसी प्रकार अनिष्पन्न पदार्थों में पारतन्त्र्यरूप सम्बन्ध की कल्पना करना सम्भव नहीं है। इसी तरह निष्पन्न पदार्थों में भी पारतन्त्र्यरूप सम्बन्ध की कल्पना करना व्यर्थ है। जैसे निष्पन्न सह्य और विन्ध्य पर्वतों में कोई पारतन्त्र्यरूप सम्बन्ध नहीं है वैसे ही अन्यत्र भी समझ लेना चाहिए। कहा भी है–

> **पारतन्त्र्यं हि सम्बन्धः सिद्धे का परतन्त्रता।**
> **तस्मात् सर्वस्य भावस्य सम्बन्धो नास्ति तत्त्वतः।।**

अर्थात् परतन्त्रता का नाम सम्बन्ध है। परन्तु सिद्ध (निष्पन्न) पदार्थों में क्या परतन्त्रता हो सकती है? अर्थात् उनमें सह्य और विन्ध्य पर्वतों के समान कोई परतन्त्रता नहीं होती है। इससे यही सिद्ध होता है कि

सब पदार्थों में कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार दो पदार्थों में रूपश्लेष (परस्पर में अनुप्रवेश) सम्बन्ध भी नहीं माना जा सकता है। क्योंकि दो पदार्थों का रूपश्लेष हो जाने पर उनमें द्वित्व न रहकर एकत्व ही रहेगा। कहा भी है–

रूपश्लेषो हि सम्बन्धः द्वित्वे स कथं भवेत्।
तस्मात् प्रकृतिभिन्नानां सम्बन्धो नास्ति तत्त्वतः।।

अर्थात् यदि रूपश्लेष का नाम सम्बन्ध है तो द्वित्व में वह कैसे हो सकता है। जब दो पदार्थों का परस्पर में अनुप्रवेश हो जायेगा तब वे दो न रहकर एक ही हो जायेंगे। इस कारण प्रकृति से भिन्न पदार्थों में कोई सम्बन्ध नहीं है। यहाँ यह भी विचारणीय है कि परमाणुओं में रूपश्लेष सम्बन्ध होता है तो वह सर्वदेश से होगा या एकदेश से? सर्वदेश से सम्बन्ध मानने पर अनेक अणुओं का पिण्ड अणुरूप हो जायेगा और एकदेश से सम्बन्ध मानने पर परमाणु के छह अंश मानने पड़ेंगे, क्योंकि चारों दिशाओं से तथा ऊपर नीचे से सम्बन्ध करने के लिए परमाणु में छह अंशों का होना आवश्यक है। परन्तु परमाणु तो निरंश होता है।

अब यदि परापेक्षारूप सम्बन्ध माना जाय तो यहाँ प्रश्न यह है कि सत् पदार्थ पर की अपेक्षा करता है या असत् पदार्थ? यदि सम्बन्ध की अपेक्षा रखने वाला पदार्थ स्वयं सत् है तो वह पर से सम्बन्ध की अपेक्षा क्यों करेगा? वह तो निष्पन्न और सत् होने के कारण सदा निराकांक्ष ही रहेगा। अब यदि वह असत् है तो भी वह पर से सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं कर सकता है। जो स्वयं असत् है वह खरविषाण की तरह किसी की अपेक्षा कैसे कर सकता है? कहा भी है–

परापेक्षा हि सम्बन्धः सोऽसन् कथमपेक्षते।
संश्च सर्वनिराशंसो भावः कथमपेक्षते।।

अर्थात् यदि परापेक्षा का नाम सम्बन्ध है तो असत् पदार्थ किसी की अपेक्षा कैसे कर सकता है तथा सब प्रकार की आकांक्षा से रहित होने के कारण सत् पदार्थ भी किसी की अपेक्षा कैसे कर सकता है? अर्थात् न तो असत् पदार्थ सम्बन्ध की अपेक्षा करता है और न सत्

पदार्थ।

मान लिया जाय कि कोई सम्बन्ध है तो जिज्ञासा होती है कि वह सम्बन्ध सम्बन्धियों से भिन्न है या अभिन्न? यदि वह सम्बन्धियों से अभिन्न है तो या तो सम्बन्धी ही रहेंगे अथवा सम्बन्ध ही रहेगा, दोनों नहीं रह सकते हैं। अब यदि सम्बन्ध को सम्बन्धियों से भिन्न माना जाय तो वे सम्बन्धी भिन्न सम्बन्ध से कैसे सम्बद्ध होंगे? कार्यकारणभाव को भी सम्बन्ध नहीं माना जा सकता है। क्योंकि कार्य और कारण दोनों एक काल में तो रहते नहीं हैं। क्षणिक होने के कारण कारण के काल में कार्य नहीं रहता है और कार्य के काल में कारण नहीं रहता है। अतः भिन्नकालवर्ती दो पदार्थों में कोई सम्बन्ध नहीं बन सकता है। इत्यादि प्रकार से बौद्धों ने परमाणुओं में तथा पदार्थों में किसी भी प्रकार के सम्बन्ध के सद्भाव का निषेध किया है।

उत्तरपक्ष– बौद्धों का उपर्युक्त कथन समीचीन नहीं है। यह कहना सर्वथा गलत है कि सम्बन्ध का कोई स्वरूप ही सिद्ध नहीं होता है। **'पारतन्त्र्यं हि सम्बन्धः सिद्धे का परतन्त्रता'** इत्यादि कथन के द्वारा पारतन्त्र्यरूप सम्बन्ध का जो निराकरण किया गया है वह अविचारित रमणीय है। क्योंकि पदार्थों में एकत्वपरिणतिलक्षण पारतन्त्र्यरूप सम्बन्ध प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध होने के कारण उसका अपह्नव नहीं किया जा सकता है। एकत्वपरिणतिस्वरूप पारतन्त्र्य नामक सम्बन्ध को जैनों ने स्वीकार किया है और ऐसा सम्बन्ध सबको प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा प्रतिभासित होता है। पूर्वपक्ष में जो यह कहा गया है कि पारतन्त्र्यरूप सम्बन्ध न तो निष्पन्न पदार्थों में बनता है और न अनिष्पन्न पदार्थों में, वह कथन भी असमीक्षित है। क्योंकि स्याद्वादियों ने कथञ्चित् निष्पन्न पदार्थों में पारतन्त्र्यरूप सम्बन्ध माना है। बात यह है कि जैनदर्शन की दृष्टि में प्रत्येक वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है। वह द्रव्यरूप से तो निष्पन्न है, किन्तु पर्यायरूप से उसका परिणमन होता है। पहले पर्याय अनिष्पन्न रहती है और बाद में वह द्रव्य में पर्यायरूप से परिणमन करती है। पट तन्तुरूप द्रव्य की अपेक्षा से निष्पन्न है, परन्तु वह अपने स्वरूप की अपेक्षा से अनिष्पन्न है। तन्तु द्रव्य भी अपने स्वरूप की अपेक्षा से निष्पन्न है, किन्तु पटरूप परिणमन की अपेक्षा से अनिष्पन्न है। इसी प्रकार सभी द्रव्य कथञ्चित्

निष्पन्न और कथञ्चित् अनिष्पन्न होकर पारतन्त्र्यरूप सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं। अतः पदार्थों में एकत्वपरिणतिरूप पारतन्त्र्य को मानना आवश्यक है।

पूर्वपक्ष में **'रूपश्लेषो हि सम्बन्धः द्वित्वे स कथं भवेत्'** इत्यादि जो कहा गया है वह भी एकान्तवादियों के मत में ही दूषण है, स्याद्वादियों के मत में नहीं। हमने तो पदार्थों में कथञ्चित् एकत्वपरिणतिरूप रूपश्लेषलक्षण सम्बन्ध को माना है। इसी प्रकरण में पूर्वपक्ष ने यह भी कहा है कि रूपश्लेष सम्बन्ध सर्वात्मना होता है या एकदेश से? उनका यह कथन भी उपेक्षणीय है। क्योंकि स्याद्वादियों ने इस सम्बन्ध को न तो सर्वात्मना माना है और न एकदेश से, अपितु स्निग्ध और रूक्षगुण के कारण परमाणुओं में जो सम्बन्ध होता है वह प्रकारान्तर से होता है। जिनके मत में विभिन्न परमाणु या पदार्थ पूर्व स्वभाव को छोड़े बिना और नवीन स्वभाव के उत्पन्न हुए बिना परस्पर में सम्बद्ध हो जाते हैं उनके मत में उक्त दोष का आना स्वाभाविक है। परन्तु हमारे मत में तो विशिष्टरूपता का परित्याग करके संश्लिष्ट रूप से पदार्थों की जो परिणति होती है उसे सम्बन्ध माना गया है, जैसे सत्तू और जल का सम्बन्ध। इस प्रकार का सम्बन्ध कहीं पदार्थों के सम्पूर्ण प्रदेशों का परस्पर में एक दूसरे के प्रदेशों में अनुप्रवेश करने के कारण होता है, जैसे सक्तुतोयादि में। और कहीं प्रदेशों के संश्लेषमात्र से सम्बन्ध हो जाता है, जैसे अङ्गुली आदि का दूसरे पदार्थ के साथ सम्बन्ध।

पूर्वपक्ष में **'परापेक्षा हि सम्बन्धः सोऽसन् कथमपेक्षते'** इत्यादि जो कहा गया है वह भी तर्कसङ्गत नहीं है। क्योंकि जिनेन्द्रदेव के मतानुयायी हम लोग परापेक्षालक्षण सम्बन्ध को मानते ही नहीं हैं। हमने तो कथञ्चित् एकत्वपरिणतिरूप सम्बन्ध को ही माना है। यहाँ यह भी विचारणीय है कि यदि परापेक्षता है तो वह कहाँ है– सम्बन्ध के आत्मलाभ में या सम्बन्ध के व्यवहार में? सम्बन्ध के आत्मलाभ में तो परापेक्षता होती नहीं है, क्योंकि स्वकारणकलाप से ही एकत्वपरिणतिलक्षण सम्बन्ध की प्रतीति हो जाती है। अब यदि सम्बन्ध के व्यवहार में परापेक्षता मानी जाती है तो इसमें कोई आपत्तिजनक बात नहीं है, क्योंकि सम्बन्ध के व्यवहार में परापेक्षत्व सम्बन्ध में मिथ्यात्व सिद्ध नहीं कर सकता है तथा

परापेक्षत्व परमार्थसत्त्व का प्रतिद्वन्दी भी नहीं है, ऐसा कोई नियम नहीं है कि जहाँ परापेक्षव्यवहार होता है वहाँ अपरमार्थसत्त्व होता है। अन्यथा दूसरों के ज्ञान की अपेक्षा से सुगतज्ञान में विशदतर आदि व्यवहार होने से सुगतज्ञान में अपरमार्थसत्त्व का प्रसङ्ग प्राप्त होगा और इससे लाभ की इच्छा करने वाले बौद्धों का मूलोच्छेद ही हो जायेगा।

बौद्धों ने कार्यकारणभावरूप सम्बन्ध का जो निराकरण किया है वह भी समीचीन नहीं है। क्योंकि हम लोग सहभावित्व अथवा क्रमभावित्व को कार्यकारणभाव का लक्षण नहीं मानते हैं। किन्तु जिसके होने पर नियम से जिसकी उत्पत्ति होती है वह उसका कार्य है और जिसके सद्भाव में कार्य की उत्पत्ति होती है वह उसका कारण है। इनमें कुछ कार्य और कारण सहभावी होते हैं। जैसे मृद्द्रव्य और घट में सहभावी कार्यकारणभाव है। कुछ कार्य और कारण क्रमभावी होते हैं। जैसे अग्नि और धूम में क्रमभावी कार्यकारणभाव है। पदार्थों में कार्यकारणरूप, व्याप्यव्यापकरूप, पारतन्त्र्यरूप, रूपश्लेषरूप आदि अनेक प्रकार का सम्बन्ध पाया जाता है। इस प्रकार यहाँ बौद्धाभिमत असम्बन्धवाद का निराकरण करके सम्बन्ध सद्भाववाद का समर्थन किया गया है।

षोडशपदार्थवाद :

पूर्वपक्ष– नैयायिक सोलह पदार्थों को मानते हैं। उनके मत में सोलह पदार्थों के नाम इस प्रकार हैं– प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान। इन सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस् की प्राप्ति होती है। इन पदार्थों का स्वरूप इस प्रकार है–

प्रमाण– प्रमा के करण को अथवा अर्थपरिच्छित्ति के साधन को प्रमाण कहते हैं। प्रमाण के चार भेद हैं– प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द।

प्रमेय– जो प्रमाण के द्वारा परिच्छेद्य (ज्ञेय) होता है उसे प्रमेय कहते हैं। प्रमेय के बारह भेद हैं– आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग। इन प्रमेयों का ज्ञान मोक्ष के लिए आवश्यक है।

संशय– अनेक अर्थों के विमर्श को संशय कहते हैं। जैसे यह स्थाणु है अथवा पुरुष? यहाँ स्थाणु और पुरुष के ऊर्ध्वता आदि समान धर्मों की उपलब्धि होने से तथा हस्त, पाद आदि विशेष धर्मों की अनुपलब्धि होने से संशय होता है।

प्रयोजन– हित की प्राप्ति और अहित के परिहार तथा इनके साधन को प्रयोजन कहते हैं। इसी बात को इस प्रकार भी कह सकते हैं कि मनुष्य जिस अर्थ के उद्देश्य के लिए किसी कार्य में प्रवृत्ति करता है वह प्रयोजन कहलाता है।

दृष्टान्त– लौकिक और परीक्षक पुरुषों को जिस अर्थ में बुद्धि साम्य होता है उसे दृष्टान्त कहते हैं। जैसे पर्वत में धूम हेतु से अग्नि को सिद्ध करने में महानस दृष्टान्त होता है।

सिद्धान्त– प्रमाण के द्वारा स्वीकार्य सामान्य और विशेषवान् अर्थ को सिद्धान्त कहते हैं। इसके चार भेद हैं– सर्वतन्त्रसिद्धान्त, प्रतितन्त्र-सिद्धान्त, अधिकरणसिद्धान्त और अभ्युपगमसिद्धान्त। **सर्वतन्त्रसिद्धान्त**– सब शास्त्रों में जो बात बिना किसी विरोध के पायी जाती है उसे सर्वतन्त्रसिद्धान्त कहते हैं। जैसे– स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियाँ होती हैं, इस बात को प्रत्येक तन्त्र (शास्त्र) मानता है। **प्रतितन्त्रसिद्धान्त**– जो बात स्वमत में सिद्ध हो तथा परमत में असिद्ध हो उसे प्रतितन्त्रसिद्धान्त कहते हैं। जैसे– शब्दों में नित्यता मीमांसक मत में सिद्ध है, अन्य मत में नही। **अधिकरणसिद्धान्त**– जहाँ किसी अर्थ के सिद्ध होने पर अन्य अर्थ स्वतःसिद्ध हो जाता है वह अधिकरणसिद्धान्त कहलाता है। जैसे आत्मा शरीर और इन्द्रियों से भिन्न है ऐसा सिद्ध हो जाने पर यह स्वतःसिद्ध हो जाता है कि इन्द्रियाँ नाना हैं और प्रत्येक इन्द्रिय का विषय नियत है। **अभ्युपगमसिद्धान्त**– अपरीक्षित अर्थ को मानकर उसकी विशेष परीक्षा करने को अभ्युपगमसिद्धान्त कहते हैं। अर्थात् जो बात सूत्र में नहीं कही गई है उसको मान लेना, जैसे मन को इन्द्रिय मान लेना अभ्युपगम-सिद्धान्त है।

अवयव– परार्थानुमान के एकदेशभूत अङ्गों को अवयव कहते हैं। अवयव के पाँच भेद होते हैं– प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन।

तर्क– अविज्ञात अर्थ में सयुक्तिक कारणों के द्वारा तत्त्वज्ञान के लिए जो विचार-विमर्श किया जाता है वह तर्क कहलाता है।

निर्णय– विचारपूर्वक पक्ष और प्रतिपक्ष के द्वारा अर्थ का अवधारण करना निर्णय कहलाता है।

वाद– प्रमाण और तर्क के द्वारा जहाँ साधन और दूषण बतलाया जाता है, जो सिद्धान्त से अविरुद्ध है और पाँच अवयवों से सहित है, ऐसे पक्ष और प्रतिपक्ष के स्वीकार करने को वाद कहते हैं।

जल्प– जल्प का लक्षण वाद के लक्षण के समान ही है। किन्तु जल्प में इतनी विशेषता है कि यहाँ प्रमाण और तर्क के अतिरिक्त छल, जाति और निग्रहस्थान के द्वारा भी स्वपक्ष की सिद्धि की जाती है और प्रतिपक्ष में दूषण दिया जाता है।

वितण्डा– जल्पविशेष का नाम वितण्डा है। इसमें प्रतिपक्ष की स्थापना नहीं की जाती है। वादी ने जो पक्ष प्रस्तुत किया है केवल उसका निराकरण किया जाता है।

हेत्वाभास– जो हेतु के लक्षण से रहित है, किन्तु हेतु के समान प्रतिभासित होता है वह हेत्वाभास कहलाता है। हेत्वाभास के पाँच भेद हैं– असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, प्रकरणसम और कालात्ययापदिष्ट।

छल– किसी अर्थ में विकल्प उत्पन्न करके किसी के वचनों का विघात करना छल कहलाता है। इसके तीन भेद हैं– वाक् छल, सामान्य छल और उपचार छल। **वाक् छल–** सामान्य रूप से किसी अर्थ के कहने पर वक्ता के अभिप्राय से भिन्न अर्थ की कल्पना करना वाक् छल है। जैसे किसी ने कहा **'नवकम्बलोऽयम्'** ऐसा कहने वाले का तात्पर्य है कि इस व्यक्ति के पास नूतन कम्बल है। परन्तु इस बात को सुनने वाला दूसरा व्यक्ति छल के द्वारा कहता है कि इसके पास नौ कम्बल कैसे हो सकते हैं? यही वाक् छल है। **सामान्य छल–** सम्भव अर्थ में अतिसामान्य के सम्बन्ध से असम्भव अर्थ की कल्पना करना सामान्य छल है। जैसे किसी ने कहा कि यह ब्राह्मण विद्याचरण से सम्पन्न है। यहाँ कहने वाले का तात्पर्य केवल इतना है कि इस ब्राह्मण में विद्याचरण का होना सम्भव

है। परन्तु यहाँ दूसरा व्यक्ति छल के द्वारा कहता है कि यदि इस ब्राह्मण में विद्याचरण का होना सम्भव है तो व्रात्य में भी इसे सम्भव मानना चाहिए। क्योंकि व्रात्य भी ब्राह्मण है। उपनयन आदि संस्कारों से रहित ब्राह्मण को व्रात्य कहते हैं। यहाँ ब्राह्मणत्व अतिसामान्य धर्म है। क्योंकि वह विद्याचरण सम्पन्न ब्राह्मणों में तथा व्रात्यों में समान रूप से पाया जाता है। **उपचार छल**– किसी धर्म के विकल्प द्वारा अर्थ का निर्देश करने पर किसी अन्य विकल्प द्वारा उस अर्थ के सद्भाव का निषेध करना उपचार छल है। जैसे किसी ने कहा कि 'मञ्च शब्द कर रहा है'। ऐसा कहने पर दूसरा व्यक्ति कहता है कि मञ्च शब्द नहीं कर सकता है, परन्तु मञ्च पर उपस्थित पुरुष शब्द करता है। यहाँ 'मञ्च शब्द कर रहा है' यह वाक्य यद्यपि लक्षणाधर्म के विकल्प से कहा गया है, तथापि दूसरा व्यक्ति शक्ति धर्म के विकल्प से उसका निषेध करता है। अतः यह उपचार छल है।

जाति– साधर्म्य द्वारा किसी वस्तु की सिद्धि करने पर उसी साधर्म्य के द्वारा उसका निषेध करना अथवा वैधर्म्य द्वारा किसी वस्तु की सिद्धि करने पर उसी वैधर्म्य के द्वारा उसका निषेध करना जाति कहलाती है। जाति के चौबीस भेद हैं– साधर्म्यसमा, वैधर्म्यसमा, उत्कर्षसमा, अपकर्षसमा, वर्ण्यसमा, अवर्ण्यसमा, विकल्पसमा, साध्यसमा, प्राप्तिसमा, अप्राप्तिसमा, प्रसङ्गसमा, प्रतिदृष्टान्तसमा, अनुत्पत्तिसमा, संशयसमा, प्रकरणसमा, अहेतुसमा, अर्थापत्तिसमा, अविशेषसमा, उपपत्तिसमा, उपलब्धिसमा, अनुपलब्धिसमा, नित्यसमा, अनित्यसमा और कार्यसमा। **साधर्म्यसमा का उदाहरण**– कोई कहता है कि आत्मा क्रियावान् है, क्योंकि उसमें क्रिया का कारणभूत गुण पाया जाता है। जैसे पत्थर में क्रिया का कारणभूत गुण होने से वह क्रियावान् है। ऐसा कहने पर दूसरा व्यक्ति कहता है कि आत्मा निष्क्रिय है, क्योंकि विभु द्रव्य निष्क्रिय देखा जाता है, जैसे आकाश। यहाँ पत्थर के साधर्म्य से आत्मा में क्रियावत्त्व सिद्ध करने पर आकाश के साधर्म्य से आत्मा में निष्क्रियत्व सिद्ध करना साधर्म्यसमा जाति है।

निग्रहस्थान– पराजयप्राप्ति का नाम निग्रहस्थान है। यह दो प्रकार से होता है। कहीं विप्रतिपत्ति से और कहीं प्रतिपत्ति के न होने से। **विप्रतिपत्ति**

का उदाहरण– किसी ने कहा कि शब्द अनित्य है, क्योंकि वह इन्द्रियप्रत्यक्ष का विषय है, जैसे घट। ऐसा कहने पर दूसरा व्यक्ति उसका निग्रह करने के लिए कहता है कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष तो सामान्य भी है, किन्तु वह नित्य है। अतः शब्द भी नित्य प्राप्त होता है। तब वादी दृष्टान्तभूत घट की नित्यता स्वीकार कर लेता है। इस प्रकार दृष्टान्तभूत घट की नित्यता स्वीकार करने पर वादी के पक्ष की हानि होने से उसके लिए यह विप्रतिपत्ति के कारण निग्रहस्थान होता है। **अप्रतिपत्ति का उदाहरण–** वादी द्वारा अनेक बार किसी विषय के कहने पर यदि प्रतिवादी उस विषय को नहीं समझ सकने के कारण चुप रह जाता है तो यह प्रतिवादी के लिए अप्रतिपत्ति के कारण निग्रहस्थान होता है। विप्रतिपत्ति का अर्थ है– विपरीत ज्ञान और अप्रतिपत्ति का अर्थ है– अज्ञान।

निग्रहस्थान के बाईस भेद हैं– प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञाविरोध, प्रतिज्ञासंन्यास, हेत्वन्तर, अर्थान्तर, निरर्थक, अविज्ञातार्थ, अपार्थक, अप्राप्तकाल, न्यून, अधिक, पुनरुक्त, अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षण, निरनुयोज्यानुयोग, अपसिद्धान्त और हेत्वाभास। ऊपर जो विप्रतिपत्ति से निग्रहस्थान का उदाहरण दिया गया है वह प्रतिज्ञाहानि का उदाहरण है। क्योंकि वहाँ वादी की प्रतिज्ञा की हानि हो जाती है।

उत्तरपक्ष– नैयायिकों ने प्रमाण, प्रमेय आदि के भेद से सोलह पदार्थ बतलाये हैं। परन्तु प्रमाण के द्वारा उन पदार्थों का वैसा स्वरूप सिद्ध नहीं होता है जैसा उन्हें अभीष्ट है। इस कारण उन पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है। नैयायिकों ने सकल पदार्थों में गरिष्ठ होने के कारण सर्वप्रथम प्रमाण पदार्थ का प्रतिपादन किया है और उसके चार भेद बतलाये हैं। किन्तु हमने प्रत्यक्ष परिच्छेद में प्रत्यक्ष प्रमाण के स्वरूप का निरूपण करते समय नैयायिक अभिमत प्रत्यक्ष प्रमाण का निराकरण कर दिया है तथा आगे अनुमानादि प्रमाणों के स्वरूप का प्रतिपादन करते समय उनका भी निराकरण किया जायेगा। जब नैयायिक के द्वारा *परिकल्पित प्रमाण पदार्थ सिद्ध नहीं होता है तब उसके द्वारा ज्ञेय बारह* प्रमेय कैसे सिद्ध हो सकते हैं? नैयायिकों ने जो बारह प्रमेय माने हैं उनमें आत्मा प्रथम है। उन्होंने आत्मा को नित्य और व्यापक माना है।

परन्तु षट् पदार्थों की परीक्षा करते समय हम नित्य और व्यापक आत्मा का निराकरण कर चुके हैं। शरीर को स्वारम्भक अवयवों से अर्थान्तर (भिन्न) माना गया है जो ठीक नहीं है। हमने यह पहले सिद्ध कर दिया है कि अवयवी अपने अवयवों से सर्वथा भिन्न नहीं होता है। उन्होंने धर्म और अधर्म को आत्मगुण माना है जो सर्वथा गलत है। यह भी पहले बतलाया जा चुका है कि धर्म और अधर्म आत्मगुण नहीं हो सकते हैं, वे तो पौद्गलिक हैं। नैयायिकों द्वारा मोक्ष का जैसा स्वरूप बतलाया गया है वह भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है। इस प्रकार उनके द्वारा अभिमत बारह प्रकार का प्रमेय युक्तिसङ्गत प्रतीत नहीं होता है।

यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि सकल प्रमेयों का द्वादशविध प्रमेयों में अन्तर्भाव नहीं हो सकता है। क्योंकि आत्मा आदि द्वादश प्रमेयों के अतिरिक्त पृथिवी, दिक्, काल, आकाश आदि अन्य प्रमेय भी पाये जाते हैं। इन प्रमेयों का द्वादश प्रमेयों में अन्तर्भाव किसी प्रकार सम्भव नहीं है। क्योंकि ये प्रमेय उन प्रमेयों से अत्यन्त विलक्षण हैं। जो जिससे अत्यन्त विलक्षण है उसका उसमें अन्तर्भाव नहीं होता है, जैसे जल में अग्नि का अन्तर्भाव नहीं होता है। यदि अत्यन्त विलक्षण आकाशादि का द्वादश प्रमेयों में अन्तर्भाव माना जायेगा तो आत्मा में ही अशेष पदार्थों का अन्तर्भाव मानना पड़ेगा और ऐसा मानने पर षोडश पदार्थ की कल्पना भी समाप्त हो जायेगी।

षोडश पदार्थों की संख्या में संशय की परिगणना की गई है तो विपर्यय और अनध्यवसाय की भी परिगणना करनी चाहिए। यह कहना ठीक नहीं है कि न्याय की प्रवृत्ति का अङ्ग होने से संशय को पदार्थ माना है। यदि ऐसा है तो अनुग्रह की इच्छा, पराभिभव की अभिलाषा, लाभ, पूजा, ख्याति आदि की भी गणना करनी चाहिए। क्योंकि ये भी तो न्याय की प्रवृत्ति के अङ्ग होते हैं। जरन्नैयायिकों ने प्रतिज्ञादि पाँच अवयवों की तरह जिज्ञासा, संशय, शक्यप्राप्ति, प्रयोजन और संशयव्युदास- ये पाँच अवयव और माने हैं। यहाँ यह विचारणीय है कि नैयायिकों ने इनमें से संशय और प्रयोजन का ही ग्रहण क्यों किया है। दृष्टान्त भी उदाहरण से अन्य नहीं है। यदि दृष्टान्त को एक पृथक् पदार्थ माना जाता है तो प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयवों को भी पृथक्-पृथक् पदार्थ मानना चाहिए। इसी प्रकार सिद्धान्त पदार्थ प्रतिज्ञा से भिन्न नहीं

है। अतः इसका पृथक् लक्षण बतलाना व्यर्थ है। सब शास्त्रकारों के द्वारा अपसिद्धान्त का कथन करने वाला निगृहीत किया जाता है। किन्तु उन्होंने प्रतिज्ञानामक पृथक् सिद्धान्त का लक्षण नहीं बतलाया है। प्रतिज्ञा ही सिद्धान्तरूप से सबको मान्य है। पाँच अवयवों का पदार्थों की संख्या में परिगणन करने पर अनुमान का भी पृथक् परिगणन करना चाहिए। यदि कहा जाय कि अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत है, अतः उसका पृथक् परिगणन नहीं किया गया है तो अनुमान के अङ्ग होने से अवयवों का भी पृथक् परिगणन नहीं करना चाहिए। अवयवों को पृथक् पदार्थ मानने पर भी अवयव पाँच ही हैं, अधिक नहीं, उनकी ऐसी संख्या का अवधारण नहीं किया जा सकता है। तर्क को प्रमाण के विषय का परिशोधक बतलाया गया है। यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि क्या वह प्रमाण के विषय के तिरोधायक का अपनयन करता है अथवा संशयादि का व्यवच्छेद करके प्रमाण के विषय का निश्चायक होता है। प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर यह दोष आता है कि घटादि के तिरोधायक अन्धकारादि का तर्क से अपनयन नहीं होने के कारण तर्क को तिरोधायक का अपनयन करने वाला नहीं माना जा सकता है। अब यदि द्वितीय पक्ष के अनुसार तर्क संशयादि का व्यवच्छेद करके प्रमाण के विषय का निश्चायक होता है तो यहाँ भी प्रश्न होता है कि वह अप्रमाणात्मक है या प्रमाणात्मक? यदि वह अप्रमाणभूत है तो उसके द्वारा विषय का निश्चय कैसे हो सकता है? क्योंकि जो भी अप्रमाणरूप होता है वह विषय का निश्चायक नहीं होता है, जैसे मिथ्याज्ञान अथवा घटादि प्रमेय। अब यदि तर्क को प्रमाणभूत माना जाता है तो वह प्रमाण के विषय का निश्चायक तो हो सकता है, किन्तु ऐसा मानने पर चार ही प्रमाण हैं, ऐसी प्रमाण की संख्या के व्याघात का प्रसङ्ग आता है। क्योंकि तब तर्क को पाँचवाँ प्रमाण मानना आवश्यक है।

नैयायिकों ने निर्णय को एक पदार्थ माना है। किन्तु निर्णय तो प्रमाण का फल है। प्रमाण के होने पर उसका फल होता ही है। अतः निर्णय को पृथक् पदार्थ मानने का कोई प्रयोजन दृष्टिगोचर नहीं होता है। अन्यथा हान, उपादान आदि को भी पृथक् पदार्थ मानना चाहिए। नैयायिकों ने वाद को वीतरागकथारूप माना है जो सर्वथा गलत है। वाद वीतराग पुरुषों में नहीं होता है, किन्तु विजिगीषु पुरुषों में होता है। नैयायिकों के अनुसार वाद में जल्प और वितण्डा की तरह निग्रहस्थानों का प्रयोग किया जाता

है। न्यून, अधिक, अपसिद्धान्त और पाँच हेत्वाभास- इन आठ निग्रहस्थानों का वाद में प्रयोग किया जाता है। नैयायिकों ने जल्प और वितण्डा को तत्त्वाध्यवसायसंरक्षण के लिए माना है, वाद को नहीं। उनका ऐसा मानना भी सर्वथा असङ्गत है। यथार्थ में वाद एक कथाविशेष (विजिगीषु कथा) है और उसका फल तत्त्व के अध्यवसाय (निश्चय) का संरक्षण करना है। संरक्षण का मतलब है- न्याय के बल से सम्पूर्ण बाधकों का निराकरण करना। ऐसा नहीं है कि बाधक के उद्भावन करने वाले का येन केन प्रकारेण (जिस किसी भी प्रकार से) मुख बन्द कर दिया जाय। अन्यथा लकुट, चपेटा आदि के प्रहार के द्वारा वादी का मुख बन्द कर देने को भी तत्त्वाध्यवसाय के संरक्षण के लिए मानना पड़ेगा। जल्प और वितण्डा के द्वारा सम्पूर्ण बाधकों का निराकरण शक्य भी नहीं है। वहाँ छलादि का प्रयोग करने से उल्टे संशय और विपर्यय की सम्भावना बनी रहती है।

हेत्वाभासों को हम भी मानते हैं। किन्तु मोक्षशास्त्र में उनको निर्दिष्ट करने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। अन्यथा प्रत्यक्षाभास आदि का भी निर्देश करना पड़ेगा। तथा इससे षोडश पदार्थों की संख्या का व्याघात हो जायेगा। यदि कहा जाय कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों के निर्देश से ही प्रत्यक्षाभास आदि का निर्देश हो जाता है तो हम कह सकते हैं कि अवयवों के निर्देश से ही हेत्वाभासों का भी निर्देश हो जाता है। तब उनका अलग से निर्देश करने की कोई आवश्यकता नहीं है। छल को एक पदार्थ मानना कितना गलत है। छल तो बालक्रीड़ा के समान है। निःश्रेयस् के इच्छुक प्रामाणिक जनों के द्वारा छल का अवलम्बन लेना नितान्त अनुचित है। जाति को एक पृथक् पदार्थ माना गया है। जाति क्या है? दूषणाभास को जाति माना गया है। परन्तु दूषणाभासों का संग्रह हेत्वाभासों के द्वारा ही हो जाता है। अतः जाति को एक पृथक् पदार्थ मानना सर्वथा गलत है। जातियों की संख्या चौबीस बतलायी गयी है जो ठीक नहीं है। स्वयं नैयायिकों ने जातियों की संख्या अनन्त मानी है। इसी प्रकार निग्रहस्थानों की संख्या बाईस मानना भी असङ्गत है। नैयायिकों ने जाति की तरह निग्रहस्थानों को भी अनन्त माना है। इस प्रकार नैयायिकों ने प्रमाणादि षोडश पदार्थों का जैसा स्वरूप, संख्या आदि का वर्णन किया है उसका यहाँ युक्तिपूर्वक निराकरण हो जाता है।

भूतचैतन्यवाद :

पूर्वपक्ष– चार्वाक मत में पृथिवी, अप्, तेज और वायु– इन चार तत्त्वों को भूत कहा गया है। ये चारों तत्त्व शरीर, इन्द्रिय और विषयरूप अर्थक्रिया करने में समर्थ हैं तथा इनका स्वरूप प्रत्यक्ष प्रमाण से अधिगत होता है। तत्त्व चार ही हैं, इनसे अधिक तत्त्वों के सद्भाव में कोई प्रमाण नहीं है। आकाशादि तत्त्वों के सद्भाव में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति नहीं होती है, क्योंकि आकाशादि अरूपी द्रव्य हैं और प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति रूपादिमान् द्रव्यों में ही होती है। अनुमान तो प्रमाण ही नहीं है। अतः अनुमान से भी आकाशादि की सिद्धि नहीं की जा सकती है।

चार्वाकदर्शन में कायाकारपरिणत भूतों से पृथक् कोई आत्मतत्त्व नहीं है। कायाकारपरिणत भूतों से चैतन्य की अभिव्यक्ति अथवा उत्पत्ति होती है। कहा भी है– **'पृथिव्यप्तेजोवायुरूपाणि चत्वार्येव तत्त्वानि तेभ्यश्चैतन्यम्।'** इस वाक्य में कुछ लोग **'अभिव्यज्यते'** ऐसी क्रिया का अध्याहार करते हैं। अन्य लोग **'प्रादुर्भवति'** ऐसी क्रिया का अध्याहार मानते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि चार भूतों से आत्मा की अभिव्यक्ति होती है अथवा उत्पत्ति होती है, परन्तु आत्मा का भूतों से पृथक् कोई अस्तित्व नहीं है। चैतन्य आत्मा का धर्म या गुण न होकर शरीर का धर्म है। जिस प्रकार धातकी, गुड़, महुआ आदि मादक द्रव्यों के सम्मिश्रण से मदशक्ति की अभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार कायाकारपरिणत भूतों से चैतन्य की अभिव्यक्ति या उत्पत्ति होती है। इसी का नाम भूतचैतन्यवाद है। चार्वाकमत में आत्मा, परलोक, मोक्ष आदि कुछ भी नहीं है। मृत्युपर्यन्त वर्तमान जीवन ही सब कुछ है।

यहाँ कोई शङ्का करता है कि विभिन्न पृथिवी आदि के द्वारा अभिन्न चैतन्य का आविर्भाव कैसे होता है? इसका उत्तर यह है कि **'मदशक्तिवद् विज्ञानम्।'** अर्थात् विज्ञान (चैतन्य) मदशक्ति की तरह है। जिस प्रकार मद्य के कारणभूत द्रव्यों के सम्मिश्रण से मदशक्ति का आविर्भाव होता है, उसी प्रकार पृथिवी आदि चार भूतों के सम्मिश्रणरूप शरीर से चैतन्य का प्रादुर्भाव होता है। फिर यहाँ कोई शङ्का करता है कि प्रतिनियत सुखदुःखादि कार्यवैचित्र्य नियामक के बिना नहीं हो सकता है और उसका नियामक पूर्व भव में उपार्जित अदृष्ट (कर्म) होता है। अतः अदृष्ट के

कर्त्ता आत्मा की सिद्धि पूर्व भव में भी होती है। इस प्रकार की शङ्का का उत्तर यह है– **'जलबुद्बुद्वत् जीवाः।'** अर्थात् जिस प्रकार समुद्र में नियामक अदृष्ट के बिना ही पदार्थ की सामर्थ्य के कारण विचित्रता को लिये हुए बुलबुले उत्पन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार अदृष्ट के बिना भी सुखदुःखादि के वैचित्र्य को लिये हुए जीव भी उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसा नहीं है कि कायाकारपरिणत भूतों से पृथक् और नित्यादि-स्वभाव धारण करने वाले जीवों का कोई अस्तित्व हो, क्योंकि ऐसे जीवों के सद्भाव में कोई प्रमाण नहीं है। भूतों से व्यतिरिक्त आत्मा के सद्भाव की सिद्धि प्रत्यक्ष से नहीं हो सकती है, क्योंकि प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति तो इन्द्रियसम्बद्ध प्रतिनियत रूपादि में ही होती है। रूपादिरहित आत्मा में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति सम्भव नहीं है। ऐसा भी नहीं माना जा सकता है कि **'घटमहं वेद्मि'** अर्थात् मैं घट को जानता हूँ, इस अहंप्रत्यय में ज्ञान के कर्त्ता आत्मा का प्रतिभास होता है, क्योंकि उक्त प्रत्यय **'स्थूलोऽहम्, कृशोऽहम्'**, मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ, इत्यादि प्रत्यय की तरह शरीरविषयक ही होता है। अतः शरीर से अतिरिक्त अन्य कोई आत्मा सिद्ध नहीं होता है। अपितु शरीर ही प्रमाण के द्वारा चैतन्य का कर्त्ता सिद्ध होता है। शरीर का चैतन्य के साथ अन्वय-व्यतिरेक भी पाया जाता है। शरीर के होने पर ही चैतन्य होता है, यह अन्वय है और शरीर के अभाव में चैतन्य नहीं होता है, यह व्यतिरेक है। सर्वत्र कार्यकारणसम्बन्ध का ज्ञान अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा ही होता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष के द्वारा आत्मा की सिद्धि नहीं होती है।

अनुमान से भी आत्मा की सिद्धि नहीं हो सकती है। क्योंकि हमारे मत में अनुमान तो प्रमाण ही नहीं है। यदि अनुमान को प्रमाण मान भी लिया जाय तो यहाँ ऐसा कोई लिङ्ग नहीं है जिसका आत्मा के साथ सम्बन्ध हो। सुखादि की उपलब्धि को लिङ्ग नहीं माना जा सकता है, क्योंकि भूतों का कार्य होने से सुखादि की उपलब्धि का अविनाभाव भूतों के साथ ही होगा। जब आत्मा के सद्भाव में कोई प्रमाण ही नहीं है तब उसके नित्यत्व आदि स्वभाव का वर्णन करना तो खपुष्पसौरभ के वर्णन के समान ही है। निष्कर्ष यह है कि गर्भादिमरणपर्यन्त चैतन्य भूतकार्य ही है।

यहाँ कोई यह कह सकता है कि पृथिवी आदि से चैतन्य की अभिव्यक्ति मानने पर शरीर की तरह घट में भी चैतन्य की अभिव्यक्ति का प्रसङ्ग प्राप्त होता है। इसका उत्तर यह है कि पृथिवी आदि का कायाकार परिणत होना ही चैतन्य की अभिव्यक्ति का कारण है। यतः घटादि में यह कारण नहीं रहता है, अतः वहाँ चैतन्य की अभिव्यक्ति नहीं होती है। जैसे मद्य के अङ्ग गुड़, धातकी आदि को पानी में पीसकर मिश्रण कर देने से मदशक्ति की अभिव्यक्ति तो हो जाती है, परन्तु पांशु (धूल) आदि में पिष्ट (पीसना) आदि परिणमन न होने के कारण मदशक्ति की अभिव्यक्ति नहीं होती है। यहाँ ऐसी शङ्का करना भी ठीक नहीं है कि यदि कायाकारपरिणत भूत चैतन्य की उपलब्धि के कारण हैं तो मृत शरीर में भी चैतन्य का उपलम्भ होना चाहिए, परन्तु मृत शरीर में चैतन्य का उपलम्भ क्यों नहीं होता है? इसका उत्तर यह है कि मृत शरीर में चैतन्य के उपलम्भ के कारणों का अभाव हो जाने से वहाँ चैतन्य का उपलम्भ नहीं होता है। इस प्रकार शरीर के आकार-विशेष की तरह चैतन्य शरीर का धर्म सिद्ध होता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि परलोकी कोई नहीं है। परलोकी का अर्थ है- परलोक में जाने वाला। कहने का तात्पर्य यह है कि कायाकारपरिणत भूतों का नाम ही आत्मा है। इसके अतिरिक्त न तो कोई परलोक है और न कोई परलोकी है। यही कारण है कि सुखपूर्वक जीवन बिताना ही चार्वाक के जीवन का लक्ष्य है। कहा भी है-

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।।

अर्थात् जब तक जिओ सुखपूर्वक जिओ। घर में कुछ खाने-पीने को न हो तो ऋण लेकर घी-दूध पिओ। ऋण चुकाने की चिन्ता भी छोड़ो, क्योंकि भस्मीभूत देह का पुनरागमन नहीं होता है, ऐसा चार्वाकों का मत है।

उत्तरपक्ष- चार्वाकों ने जो यह कहा है कि पृथिवी आदि चार ही तत्त्व हैं, वह सर्वथा गलत है। यह कथन तो तब ठीक होता जब चार के अतिरिक्त अन्य तत्त्वों का अभाव सिद्ध होता: किन्तु अन्य तत्त्वों का अभाव किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है। जीव या आत्मतत्त्व की सिद्धि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से होती है तथा गगन आदि की सिद्धि अनुमान और

आगम से होती है। यह कहना ठीक नहीं है कि भूतों का कार्य होने के कारण चेतनालक्षण जीव तत्त्वान्तर नहीं है। भूत और चैतन्य में कभी भी कार्यकारणभाव नहीं बन सकता है। हम कह सकते हैं कि चैतन्य भूतों का कार्य नहीं है, क्योंकि भूतों के रहने पर भी चैतन्य का अभाव पाया जाता है। ऐसा नहीं है कि मृतकाय, घटादि अनेक अवस्थाविशिष्ट भूतों के सदा रहने पर भी सर्वदा चैतन्य की उपलब्धि होती हो। भूतों और चैतन्य में पूर्वापरीभाव न होने से भी उनमें कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता है। ऐसा नहीं है कि भूतों का परिणाम काय पहले चैतन्यरहित हो और बाद में उसमें चैतन्य उत्पन्न होता हो; किन्तु दोनों का उपलम्भ एक साथ होने के कारण उनमें जल और अनल की तरह कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता है।

थोड़ी देर के लिए मान लिया जाय कि भूतों और चैतन्य में कार्यकारणभाव है तो यहाँ प्रश्न यह है कि भूत चैतन्य के उपादान कारण हैं या सहकारी कारण? भूत चैतन्य के उपादान कारण नहीं हो सकते हैं, क्योंकि कायाकारपरिणत भूतों में विकार हो जाने पर भी चैतन्य में विकार नहीं होता है। शस्त्रप्रहार आदि के द्वारा शरीर में विकार हो जाने पर भी आत्मा में विकार नहीं देखा जाता है। इससे यही सिद्ध होता है कि भूत चैतन्य के उपादान कारण नहीं हैं। अब यदि भूतों को चैतन्य का सहकारी कारण माना जाय तो चैतन्य का अन्य कोई उपादान कारण मानना पड़ेगा, क्योंकि उपादान कारण के बिना किसी भी कार्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। यदि चैतन्य का कोई उपादान है तो वह चैतन्य से विजातीय है अथवा सजातीय? विजातीय से विजातीय की उत्पत्ति मानने पर जल आदि से अनल आदि की उत्पत्ति का प्रसङ्ग प्राप्त होगा तथा ऐसी स्थिति में तत्त्वचतुष्टय का भी अभाव हो जायेगा। अतः चैतन्य का उपादान सजातीय मानना अत्यावश्यक है। जो जिसका उपादान होता है वह उसका सजातीय ही होता है। जैसे घट का उपादान मृत्पिण्ड होता है वैसे ही चैतन्य का सजातीय उपादान पृथिवी आदि से भिन्न आत्मतत्त्व ही हो सकता है। अतः भूतों से चैतन्य की उत्पत्ति या अभिव्यक्ति कदापि नहीं हो सकती है।

यहाँ यह जान लेना भी आवश्यक है कि यदि भूत चैतन्य के प्रति

कारणभाव को प्राप्त होते हैं तो कौन से भूत–निर्विशिष्ट भूत अथवा विशिष्ट भूत? यदि निर्विशिष्ट भूत चैतन्य के प्रति कारणभाव को प्राप्त होते हैं तो सर्वत्र और सर्वदा भूतों को चैतन्य का जनक होना चाहिए; किन्तु ऐसा कभी देखा नहीं जाता है। अब यदि कायाकारपरिणत भूतों को चैतन्य का हेतु माना जाता है तो मृत शरीर में भी चैतन्य की उत्पत्ति का प्रसङ्ग प्राप्त होता है। एक बात यह भी है कि प्रत्येक कार्य का कोई न कोई आश्रय अवश्य होता है। यदि चैतन्य कार्य है तो उसका आश्रय क्या है– शरीर, भूत अथवा इन्द्रियाँ? भौतिक होने से, बाह्येन्द्रियप्रत्यक्ष होने से और मूर्त होने से घटादि की तरह शरीर चैतन्य का आश्रय नहीं हो सकता है। इसी कारण पृथिवी आदि भूत भी चैतन्य के आश्रय नहीं हो सकते हैं। इन्द्रियों को चैतन्य का आश्रय मानने पर प्रश्न होता है कि समस्त इन्द्रियाँ चैतन्य का आश्रय होती हैं या व्यस्त इन्द्रियाँ? यदि व्यस्त (पृथक्-पृथक्) इन्द्रियाँ चैतन्य का आश्रय हैं तो ऐसा मानने से एक शरीर में अनेक चैतन्य मानना पड़ेंगे। और समस्त इन्द्रियों को एक साथ चैतन्य का आश्रय मानने पर अन्ध, बधिर आदि व्यक्तियों को किञ्चिन्मात्र भी ज्ञान उत्पन्न नहीं होगा, क्योंकि एक इन्द्रिय के न रहने पर इन्दियों का सामस्त्य विघटित हो जाता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि शरीर से भिन्न आत्मा ही चैतन्य या ज्ञान का आश्रय है। यदि ऐसा न हो तो सद्यः उत्पन्न बालक की स्तनपानादि में प्रवृत्ति का कारण अभिलाषा आदि की सिद्धि कैसे होगी? तदर्हजात (सद्यः जात) बालक की स्तनपानादि में प्रवृत्ति अभिलाषपूर्वक होती है। अभिलाष भी स्मरणपूर्वक होता है और स्मरण अनुभवपूर्वक होता है। इत्यादि कारणों से यह सिद्ध होता है कि तदर्हजात बालक ने पूर्वभव में स्तनपान आदि का अनुभव किया था और जिसमें पूर्वभव के अनुभव की सिद्धि होती है वही आत्मा है।

पूर्वपक्ष में जो यह कहा गया है कि विज्ञान मदशक्ति की तरह होता है, वह कथन युक्तिसङ्गत नहीं है, क्योंकि धतूरा, कोद्रव आदि मद्य के अङ्गों में मदशक्ति की प्रतीति होने से उनके सम्मिश्रणरूप परिणामविशेष में मदशक्ति के प्रादुर्भाव में कोई विरोध नहीं है, परन्तु भूतपरिणामविशेष घटादि में चैतन्यरूप शक्ति की स्वप्न में भी प्रतीति नहीं होती है। अतः

विज्ञान (चैतन्य) को मदशक्ति की तरह नहीं माना जा सकता है। चार्वाक का यह कथन भी युक्तिसङ्गत नहीं है कि जीव जल में उत्पन्न हुए बुलबुलों के समान हैं, क्योंकि दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में सर्वथा साम्य नहीं होता है। जल के बुलबुलों में जल से अत्यन्त वैलक्षण्य न होने के कारण उनके जलहेतुक होने में कोई विरोध नहीं है, परन्तु भूतों और चैतन्य में अत्यन्त वैलक्षण्य होने से उनमें कार्यकारणभाव सम्भव नहीं है। चार्वाक का यह कथन भी सर्वथा गलत है कि आत्मा के सद्भाव में कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष से आत्मा की सिद्धि होती है। 'सुखमहमनुभवामि' अर्थात् मैं सुख का अनुभव करता हूँ। इस प्रत्यय में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का उल्लेख करने वाले प्रत्येक प्राणी में जो स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है उसके द्वारा आत्मतत्त्व की सिद्धि होती है। इस प्रत्यय का आलम्बनभूत अर्थ ज्ञानवान् आत्मा है, शरीर नहीं। भूतों से निर्मित होने के कारण शरीर में घटादि की तरह ज्ञातृत्व नहीं हो सकता है। ज्ञातृत्व तो आत्मा का ही धर्म है। इस प्रकार प्रत्यक्ष के द्वारा आत्मा की सिद्धि होती है। इसी प्रकार अनुमान से भी आत्मा का सद्भाव सिद्ध होता है। आत्मसाधक अनुमान इस प्रकार है-

'रूपादिज्ञानं क्वचिदाश्रितं गुणत्वात् रूपादिवत्। तथा सुखादि उपादानकारणपूर्वकं कार्यत्वात् घटादिवत्।'

अर्थात् रूपादिज्ञान कहीं आश्रित होता है, गुण होने से, रूपादि की तरह। यह एक अनुमान है तथा सुखादि उपादान कारणपूर्वक होते हैं, कार्य होने से, घटादि की तरह। यह दूसरा अनुमान है। हमको जो रूपादि का ज्ञान होता है उसका कोई न कोई आश्रय अवश्य है, क्योंकि ज्ञान एक गुण है और जो गुण होता है वह किसी के आश्रित अवश्य होता है। वह निराश्रित नहीं रह सकता है। इस बात को पहले बतलाया जा चुका है कि ज्ञान गुण का आश्रय शरीर नहीं हो सकता है। अतः ज्ञान गुण का जो आश्रय है वही आत्मा है। इसी प्रकार सुखादि का जो उपादान कारण होता है वह भी आत्मा ही है, शरीर नहीं। सुखादि कार्य है और इस कार्य की उत्पत्ति में आत्मा उपादान कारण होता है। इस प्रकार पृथिवी आदि चार भूतों से सर्वथा भिन्न आत्मतत्त्व की सिद्धि हो जाने से चार्वाकों का भूतचैतन्यवाद का सिद्धान्त निरस्त हो जाता है।

सांख्याभिमत तत्त्वप्रक्रिया-विचार :

सांख्यदर्शन के अनुसार मूल तत्त्व दो हैं- प्रकृति और पुरुष। प्रकृति को प्रधान भी कहते हैं। प्रकृति एक, अचेतन तथा त्रिगुणात्मक है। सत्त्व, रज और तम- ये तीन प्रकृति के गुण हैं। सांख्यों की मान्यता है कि प्रकृति से ही सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति होती है। प्रकृति के द्वारा जगत् की सृष्टि का जो क्रम है, वह इस प्रकार है-

> **प्रकृतेर्महान् ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।**
> **तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि।।**

अर्थात् सबसे पहले प्रकृति से महत् (बुद्धि) तत्त्व की उत्पत्ति होती है। महत् से अहङ्कार की उत्पत्ति होती है। मैं सुभग हूँ, दर्शनीय हूँ, इत्यादि प्रकार से अहङ्कार अभिमानरूप होता है। तदनन्तर अहङ्कार से सोलह तत्त्वों की उत्पत्ति होती है जो इस प्रकार हैं- स्पर्शनादि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ- ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन- ये ग्यारह इन्द्रियाँ तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध- ये पाँच तन्मात्रायें। ये सोलह तत्त्व अहङ्कार से उत्पन्न होते हैं। और अन्त में पाँच तन्मात्राओं द्वारा पाँच भूतों की उत्पत्ति होती है जो इस प्रकार है- शब्द से आकाश की, स्पर्श से वायु की, रूप से अग्नि की, रस से जल की तथा गन्ध से पृथिवी की उत्पत्ति होती है। इस तरह प्रकृति से तेईस तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। इनमें प्रकृति और पुरुष को मिलाकर सांख्यदर्शन में कुल पच्चीस तत्त्व माने गये हैं।

प्रकृति को अव्यक्त कहते हैं और महत् आदि तेईस तत्त्वों को व्यक्त कहते हैं। मूल प्रकृति को विकाररहित माना गया है। अर्थात् प्रकृति अन्य तत्त्वों को तो उत्पन्न करती है, किन्तु वह स्वयं अन्य किसी तत्त्व से उत्पन्न नहीं होती है। महत्, अहङ्कार और पाँच तन्मात्रायें- ये सात तत्त्व प्रकृति और विकृति दोनों कहलाते हैं। ये तत्त्व दूसरे तत्त्वों को उत्पन्न करने के कारण प्रकृति कहलाते हैं और ये तत्त्व स्वयं दूसरे तत्त्वों से उत्पन्न होने के कारण विकृति माने गये हैं; किन्तु ग्यारह इन्द्रियाँ और पाँच भूत- ये सोलह तत्त्व केवल विकृति (विकार) हैं। ये दूसरे तत्त्वों से उत्पन्न तो होते हैं, परन्तु किसी अन्य तत्त्व को उत्पन्न नहीं करते हैं।

प्रकृति की सिद्धि निम्नलिखित पाँच हेतुओं से होती है–

भेदानां परिमाणात् समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेश्च।
कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूपस्य ।।

(1) संसार के समस्त पदार्थों में परिमाण पाया जाता है। (2) उनमें सत्त्व आदि तीन गुणों का समन्वय पाया जाता है। (3) कारण की शक्ति से ही कार्य में प्रवृत्ति होती है। (4) कारण और कार्य का विभाग देखा जाता है। (5) तथा प्रलय काल में कार्य का उसी कारण में विलय देखा जाता है। अतः अपरिमित, व्यापक और स्वतन्त्र मूल कारण प्रकृति को मानना आवश्यक है।

व्यक्त और अव्यक्त में भेद निम्नप्रकार से होता है–

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्।।

अर्थात् महदादि तेईस व्यक्त तत्त्व हेतुमान्, अनित्य, अव्यापक, सक्रिय, अनेक, आश्रित, लिङ्ग (विलय को प्राप्त), अवयवसहित और परतन्त्र होते हैं तथा अव्यक्त तत्त्व (प्रकृति) इससे विपरीत होता है। अव्यक्त तत्त्व हेतुरहित, नित्य, व्यापक, निष्क्रिय, एक, अनाश्रित, अलिङ्ग (विलय को अप्राप्त), निरवयव और स्वतन्त्र होता है।

प्रकृति और प्रकृति से उत्पन्न तत्त्वों में आत्यन्तिक भेद नहीं है; किन्तु उनमें निम्नप्रकार से अभेद भी है–

त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्।।

अर्थात् महदादि व्यक्त तत्त्व तथा प्रधान (अव्यक्त तत्त्व)– दोनों ही सत्त्वादि तीन गुणयुक्त, विवेकरहित, विषयभूत, सामान्यरूप, अचेतन तथा प्रसवधर्म सहित होते हैं और पुरुष तत्त्व व्यक्त और अव्यक्त दोनों तत्त्वों से विपरीत होता है। अर्थात् पुरुष तीन गुण रहित, विवेक सहित, अविषयभूत, विशेषरूप, चेतन तथा प्रसवधर्मरहित होता है।

पुरुष तत्त्व :

प्रकृति तथा महदादि से विलक्षण एक पुरुष तत्त्व है जो न प्रकृति है और न विकृति है। वह न तो किसी से उत्पन्न होता है और न किसी को उत्पन्न करता है। वह चेतन है; किन्तु ज्ञान गुण से रहित है। पुरुष अनेक, व्यापक, अपरिणामी, निष्क्रिय, अकर्ता, भोक्ता और दृष्टामात्र है। सांख्यदर्शन में एक विशेष बात यह है कि ज्ञान प्रकृति का धर्म है पुरुष का नहीं। प्रकृति कर्त्री है और पुरुष भोक्ता है। शुक्लकर्म (पुण्य) और कृष्णकर्म (पाप) प्रकृति के ही परिणाम हैं। बन्ध और मोक्ष प्रकृति के ही होते हैं, पुरुष के नहीं। सर्वज्ञत्व प्रकृति का ही धर्म है, पुरुष का नहीं।

सत्कार्यवाद :

सांख्यदर्शन का एक विशेष सिद्धान्त यह है कि यहाँ घटादि कार्य को सत् माना गया है, असत् नहीं। सांख्य उत्पत्ति को आविर्भाव और विनाश को तिरोभाव कहते हैं। मृत्पिण्ड में घट पहले से विद्यमान रहता है और कुम्भकार द्वारा घट का केवल आविर्भाव किया जाता है, उत्पत्ति नहीं। इसी प्रकार दण्ड के प्रहार द्वारा घट का केवल तिरोभाव किया जाता है, विनाश नहीं। सांख्य ने निम्नलिखित पाँच युक्तियों से सत्कार्यवाद की सिद्धि की है–

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्।।

(1) जो असत् है उसको कोई उत्पन्न नहीं कर सकता है। (2) घट, पट आदि प्रत्येक कार्य के लिए प्रतिनियत उपादान का ग्रहण किया जाता है। जैसे तेल की उत्पत्ति के लिए तिलों का ही ग्रहण किया जाता है, बालुका का नहीं। (3) सब कारणों से सब कार्यों की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। जैसे तृण, बालुका लोष्ठ आदि से रजत, सुवर्ण आदि की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। (4) समर्थ कारण से ही समर्थ कार्य की उत्पत्ति देखी जाती है, असमर्थ से नहीं। जैसे तन्तुओं से ही पट की उत्पत्ति होती है, तृण से नहीं। (5) यह भी देखा जाता है कि कारण जैसा होता है कार्य भी वैसा ही होता है। गेहूँ के बीज से गेहूँ की ही उत्पत्ति होती

है, धान की नहीं। अतः उपर्युक्त हेतुओं से यह सिद्ध होता है कि वस्त्र उत्पन्न होने से पहले तन्तुओं में विद्यमान रहता हैं और घट उत्पन्न होने से पहले मिट्टी में विद्यमान रहता है। यही सत्कार्यवाद है।

सेश्वरसांख्य– सांख्यदर्शन के अन्तर्गत एक और विशेष मत है जिसे सेश्वरसांख्य कहते हैं। इसका दूसरा नाम योगदर्शन है। इस दर्शन की विशेषता यह है कि सांख्य अभिमत पच्चीस तत्त्वों के अतिरिक्त इसमें एक ईश्वर भी माना गया है। इस कारण इसको सेश्वरसांख्य भी कहते हैं। इसकी मान्यता है कि अचेतन होने के कारण प्रधान चेतन अधिष्ठाता के बिना महत् आदि कार्यों की उत्पत्ति नहीं कर सकता है। इसलिए ईश्वर ही प्रधान की सहायता से सृष्टि के कार्यों को करता है। वह ईश्वर अनादिमुक्त है।

उत्तरपक्ष– सांख्य ने प्रकृति के द्वारा जो सृष्टिक्रम बतलाया है वह युक्तिसङ्गत नहीं है। उन्होंने प्रकृति का जैसा स्वरूप बतलाया है उसकी सिद्धि किसी प्रमाण से नहीं होती है। प्रकृति को सिद्ध करने के लिए जो पाँच हेतु दिये गये हैं उनमें अनेक दोष आने के कारण वे प्रकृति को सिद्ध नहीं कर सकते हैं। प्रकृति के द्वारा तेईस तत्त्वों की उत्पत्ति मानी गई है। इस विषय में हमारी जिज्ञासा यह है कि तत्त्वसृष्टि करने वाली प्रकृति स्वभाव से तत्त्वसृष्टि में प्रवृत्त होती है अथवा किसी निमित्त का आश्रय लेकर सृष्टि में प्रवृत्ति करती है? प्रथमपक्ष में स्वभाव से प्रकृति की प्रवृत्ति मानने पर उसकी प्रवृत्ति निरन्तर होनी चाहिए और उसमें कभी विराम नहीं होना चाहिए। चैतन्यशून्य प्रकृति में 'इतनी ही तत्त्वसृष्टि है' इत्यादि प्रकार का विकल्प नहीं हो सकता है। अब यदि ऐसा माना जाय कि प्रकृति किसी निमित्त का आश्रय लेकर तत्त्वसृष्टि करती है तो वह निमित्त क्या है– पुरुष की प्रेरणा अथवा पुरुषार्थकर्तव्यता? पुरुष की प्रेरणा को निमित्त नहीं माना जा सकता है, क्योंकि पुरुष अभिलाषरहित और निष्क्रिय माना गया है। पुरुषार्थकर्तव्यता (पुरुष के लिए किसी अर्थ का करना) भी तत्त्वसृष्टि में निमित्त नहीं होती है, क्योंकि निरभिलाष होने के कारण पुरुष के लिए किसी अर्थ को उत्पन्न करना बन ही नहीं सकता है तथा जड़ होने के कारण प्रकृति भी पुरुष के किसी प्रयोजन का सम्पादन नहीं कर सकती है। अभिलाषरहित पुरुष का कोई अर्थ

या प्रयोजन सम्भव ही नहीं है। इस प्रकार प्रकृति से महत् आदि तत्त्वों की उत्पत्ति बतलाना तर्कसङ्गत नहीं है।

यहाँ यह भी विचारणीय है कि प्रकृति से महत् आदि तत्त्वों का जो प्रपञ्च उत्पन्न होता है वह प्रकृति से भिन्न है या अभिन्न? उनमें अभेद मानने पर दोनों या तो कार्य होंगे या कारण। ऐसी स्थिति में प्रकृति को कारण ही मानना, बुद्धि, अहङ्कार और पाँच तन्मात्राओं को कार्य और कारण दोनों मानना तथा ग्यारह इन्द्रियों और पाँच भूतों को केवल कार्य ही मानना, यह सब कैसे बनेगा? उस स्थिति में निम्न कथन भी गलत सिद्ध होगा। तथाहि–

मूलप्रकृतिरविकृतिः महदाद्यः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिः न विकृतिः पुरुषः।।

अर्थात् मूल प्रकृति विकाररहित है और महत् आदि सात तत्त्व प्रकृति और विकृति दोनों रूप होते है। शेष सोलह तत्त्व केवल विकाररूप हैं। पुरुष एक ऐसा तत्त्व है जो न प्रकृति है और न विकृति है। इस प्रकार किसी को प्रकृति मानना, किसी को विकृति मानना और कुछ तत्त्वों को प्रकृति और विकृति दोनों मानना, सांख्यों का यह सब कथन निरस्त हो जाता है।

सांख्य प्रकृति और महदादि तत्त्वों में कार्यकारणभाव मानते हैं, परन्तु विचार करने पर उनमें कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि दो पदार्थों में कार्यकारणभाव का ज्ञान अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा ही होता है; किन्तु प्रकृति से महत् आदि की उत्पत्ति का निश्चायक अन्वय-व्यतिरेक का ज्ञान किसी प्रमाण से न होने के कारण प्रकृति और महदादि में कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता है। जो पदार्थ सर्वथा नित्य है उसमें किसी के प्रति कारणभाव हो ही नहीं सकता है, क्योंकि सर्वथा नित्य प्रकृति न तो क्रम से कार्य कर सकती है और न युगपत्। दोनों ही पक्षों में अनेक दोष आने के कारण सर्वथा नित्य वस्तु क्रम से या युगपत् कार्य नहीं कर सकती है। इस दोष को दूर करने के लिए यदि सांख्य प्रकृति में परिणमन स्वीकार करते हैं तो प्रकृति में सर्वथा नित्यत्व के व्याघात का प्रसङ्ग आता है, जो सांख्यों को अनिष्ट है।

सांख्यों का यह कथन भी ठीक नहीं है कि कारण कार्य की उत्पत्ति न करके उसकी अभिव्यक्ति करते हैं, क्योंकि यहाँ भी यह प्रश्न होता है कि अभिव्यक्ति सत् है या असत्? यदि अभिव्यक्ति सत् है तो वह कैसे की जा सकती है, वह तो पहले से ही है। अभिव्यक्ति को असत् मानने पर भी वही दोष आता है कि आकाशकुसुम की तरह असत् की अभिव्यक्ति की ही नहीं जा सकती है। इस प्रकार अभिव्यक्ति का पक्ष दूषित हो जाता है। सत्कार्यवाद मानने के कारण सांख्य उत्पत्ति को आविर्भाव और विनाश को तिरोभाव मानते हैं, परन्तु ये दोनों बातें भी असङ्गत हैं। जब तक वस्तु में पूर्व पर्याय का त्याग और उत्तर पर्याय की उत्पत्ति नहीं होगी तब तक आविर्भाव और तिरोभाव भी नहीं बन सकता है। पूर्व पर्याय का त्याग और उत्तर पर्याय की उत्पत्ति स्वीकार करने पर सांख्यों को जैनमत का प्रसङ्ग प्राप्त होना अनिवार्य है। सांख्यों ने '**भेदानां परिमाणात्**' इत्यादि हेतुओं से सब पदार्थों का एकमात्र कारण जो प्रकृति को सिद्ध किया है वह भी तर्कसङ्गत नहीं है। क्योंकि उक्त हेतुओं का अविनाभाव एक कारण के साथ सिद्ध नहीं होता है। घट-पटादि कार्यों को अनेक कारण पूर्वक होने में कोई विरोध भी नहीं आता है। इस तरह प्रकृति में सकल जगत् का कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता है।

सांख्यों ने सत्कार्यवाद को सिद्ध करने के लिए '**असदकरणात्**' इत्यादि जो पाँच हेतु दिये हैं वे असत्कार्यवाद को सिद्ध करने के लिए भी दिये जा सकते हैं। हम कह सकते हैं–

न सदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्।।

यहाँ 'न' शब्द का अन्वय 'सत्कार्यम्' के साथ करना है। अर्थात् कार्य सत् नहीं है, किन्तु असत् है। क्योंकि जो सत् है उसको करना तो व्यर्थ ही है, वह तो पहले से ही विद्यमान है। इत्यादि प्रकार से सत्कार्यवाद को सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त उक्त पाँच हेतुओं के द्वारा हम असत्कार्यवाद को भी सिद्ध कर सकते हैं। सांख्याभिमत सत्कार्यवाद में प्रश्न किया जा सकता है कि कार्य सर्वथा सत् है या कथञ्चित्? प्रथम विकल्प ठीक नहीं है। यदि क्षीर में दधि सर्वथा सत् है तो फिर दधि के उत्पादक कारणों द्वारा क्षीर से किस वस्तु की उत्पत्ति की जाती है। उसमें दधि

तो पहले से ही विद्यमान है। अतः जो सर्वथा सत् होता है वह किसी से जन्य नहीं होता है, जैसे प्रकृति। अब यदि कार्य को कथञ्चित् सत् माना जाय तो जैनमत का प्रसङ्ग प्राप्त होता है। कार्य द्रव्यरूप से सत् है और पर्यायरूप से असत् है। इसलिए सत् मिट्टी से असत् घटादि पर्यायों की उत्पत्ति होती है, ऐसा जैनमत है।

सांख्यदर्शन में अचेतन प्रकृति में ज्ञान, बन्ध, मोक्ष आदि मानना तथा चेतन पुरुष में ज्ञान, बन्ध, मोक्ष आदि नहीं मानना कितना हास्यास्पद है। प्रकृति को कर्त्री और पुरुष को केवल भोक्ता मानना तथा पुरुष को चेतन मानकर भी ज्ञान गुण से रहित मानना सर्वथा गलत है। यथार्थ में पुरुष कर्त्ता और भोक्ता दोनों है। पुरुष ही कर्मबन्ध का कर्त्ता है और पुरुष ही कर्मबन्ध को नष्ट करके मोक्ष प्राप्त करता है। ऐसा जैनदर्शन का अकाट्य सिद्धान्त है।

सेश्वरसांख्यमत में ईश्वर प्रधान की अपेक्षा से सृष्टि के समस्त कार्यों का कर्त्ता माना गया है। अकेला प्रधान और अकेला ईश्वर कार्य करने में समर्थ नहीं है, परन्तु दोनों परस्पर सापेक्ष होकर कार्य करते हैं। सेश्वरसांख्य का उक्त कथन तर्कसङ्गत नहीं है। जब प्रधान और ईश्वर में पृथक्-पृथक् कर्तृत्व नहीं बनता है तब दोनों मिलकर भी कर्त्ता नहीं हो सकते हैं। दोनों एक साथ मिलकर तभी कार्य कर सकते हैं जब वे एक दूसरे में कोई अतिशय उत्पन्न करें, परन्तु दोनों के नित्य होने के कारण उनमें कोई अतिशय उत्पन्न नहीं हो सकता है। यहाँ एक प्रश्न यह भी होता है कि यदि वे दोनों एक साथ मिलकर कार्य करते हैं तो सब कार्यों को एक ही समय में क्यों नहीं उत्पन्न कर देते हैं?

इस दोष को दूर करने के लिए सेश्वरसांख्य का कथन है कि प्रधान में पाये जाने वाले सत्त्व आदि तीन गुण कार्य की उत्पत्ति में सहकारी कारण होते हैं और ये गुण क्रमवर्ती हैं। अतः कार्य भी क्रम से ही उत्पन्न होते हैं। जब ईश्वर को रजोगुण की सहायता मिलती है तब वह सृष्टि करता है, जब उसको सत्त्वगुण की सहायता मिलती है तब वह सृष्टि की स्थिति करता है और जब ईश्वर को तमोगुण की सहायता मिलती है तब वह सर्वजगत् का प्रलय करता है।

सेश्वरसांख्य के उक्त कथन में भी अनेक दोष पाये जाते हैं। यहाँ हम उनसे पूछेंगे कि जब प्रधान और ईश्वर सर्ग, स्थिति और प्रलय-इन तीनों में से किसी एक कार्य को करते हैं तब उनमें शेष दो कार्यों के करने की शक्ति रहती है या नहीं? यदि शक्ति रहती है तो सृष्टिकाल में भी स्थिति और प्रलय का प्रसङ्ग प्राप्त होता है। इसी प्रकार स्थितिकाल में उत्पाद और विनाश का तथा विनाशकाल में स्थिति और उत्पाद का प्रसङ्ग बना ही रहता है। यदि एक कार्य के करने के समय शेष दो कार्यों के करने की शक्ति नहीं है तो हम यह भी कह सकते हैं कि उनमें उसी एक कार्य को करने की ही शक्ति सदा होनी चाहिए और शेष दो कार्यों को करने की शक्ति कभी नहीं होनी चाहिए, क्योंकि उनके उत्पादन में उनकी शक्ति ही नहीं है। इस प्रकार सेश्वरसांख्यमत निरस्त हो जाता है।

द्रव्य और पर्याय में भेदाभेद-विचार :

पूर्वपक्ष– यौग मानते हैं कि द्रव्य और पर्याय का भिन्न-भिन्न प्रतिभास होने के कारण वे परस्पर में अत्यन्त भिन्न हैं। इस कारण अर्थ द्रव्यपर्यायरूप नहीं हो सकता है। द्रव्य और पर्याय में भिन्नता की सिद्धि अनुमान से होती है। वह अनुमान इस प्रकार है–

"द्रव्यपर्यायौ अत्यन्तं भिन्नौ भिन्नप्रतिभासत्वात् घटपटादिवत्।" अर्थात् द्रव्य और पर्याय अत्यन्त भिन्न हैं, भिन्न प्रतिभास होने के कारण, घटपटादि की तरह। घट और पट में अत्यन्त भेद होने के कारण ही उनमें भिन्न प्रतिभास पाया जाता है। इसी प्रकार द्रव्य और पर्याय में भी पाया जाने वाला भिन्न प्रतिभास उनमें अत्यन्त भेद क्यों नहीं सिद्ध करेगा? तन्तु आदि द्रव्य का प्रतिभास पटादि पर्याय के प्रतिभास से भिन्न होता है, ऐसा अनुभव सबको होता है। विरुद्धधर्माध्यास के कारण भी जल और अग्नि की तरह द्रव्य और पर्याय में भेद सिद्ध होता है। यह सब जानते हैं कि पट विलक्षण अर्थक्रिया को करने वाला तथा महत्परिमाणयुक्त होता है। इसके विपरीत तन्तुओं में अल्प परिमाण आदि धर्म पाये जाते हैं। जो लोग द्रव्य और पर्याय में तादात्म्य मानते हैं उनके यहाँ भिन्न प्रतिभास और विरुद्धधर्माध्यास नहीं बन सकते हैं। तादात्म्य का अर्थ है– एकत्व। और जहाँ एकत्व है वहाँ भिन्न प्रतिभास और विरुद्धधर्माध्यास नहीं हो सकते हैं। तन्तु और पट में तादात्म्य होने पर **'पटः तन्तवः'**

ऐसा संज्ञाभेद और वचनभेद सम्भव नहीं है। पट और तन्तुओं में तादात्म्य मानने पर विग्रह कैसा होगा- **'स पटः आत्मा येषां तन्तूनां तेषां भावः तादात्म्यम्'** ऐसा अथवा **'ते तन्तवः आत्मा यस्य पटस्य'** ऐसा? प्रथम पक्ष में पट के एक होने से तन्तुओं में एकत्व का प्रसङ्ग प्राप्त होता है और द्वितीय पक्ष में तन्तुओं के अनेक होने से पट में भी अनेकत्व का प्रसङ्ग आता है। इत्यादि प्रकार से द्रव्य और पर्याय में तादात्म्य सिद्ध नहीं होता है।

इसी प्रकार गुण और गुणी में, क्रिया और क्रियावान् में, सामान्य और विशेष में तथा भाव और अभाव में भी तादात्म्य नहीं बन सकता है, क्योंकि तादात्म्य के बाधक भिन्नप्रतिभास और विरुद्धधर्माध्यास इनमें भी पाये जाते हैं। द्रव्य और पर्याय में तादात्म्य मानने पर पदार्थों में संशयादि आठ दोष भी आते हैं। तथाहि

(1) **संशय-** तन्तु और पट में किस रूप से भेद है और किस रूप से अभेद है, ऐसा संशय होता है।

(2) **विरोध-** जहाँ अभेद है वहाँ भेद का विरोध है और जहाँ भेद है वहाँ अभेद का विरोध है, ऐसा विरोध दोष आता है।

(3) **वैयधिकरण्य-** एक स्वभाव वाले अभेद का अधिकरण अन्य है और अनेक स्वभाव वाले भेद का अधिकरण अन्य है। यह वैयधिकरण्य दोष है।

(4) **उभय दोष-** एकान्त से वस्तु के एकात्मक होने पर अनेक स्वभाव के अभावरूप जो दोष होता है और उसी के अनेकात्मक होने पर एक स्वभाव के अभावरूप जो दोष होता है, वह दोष तादात्म्य मानने में भी आता है। यह उभय दोष है।

(5) **सङ्कर-** जिस स्वभाव से वस्तु में एक स्वभावता होती है उससे अनेक-स्वभावता का भी प्रसङ्ग आता है तथा जिस स्वभाव से अनेकस्वभावता होती है उससे एकस्वभावता का भी प्रसङ्ग प्राप्त होता है। यह सङ्करदोष है। **सर्वेषां युगपत् प्राप्तिः सङ्करः।**

(6) **व्यतिकर-** जिस स्वभाव से अर्थ में अनेकत्व है उससे एकत्व

प्राप्त होता है और जिस स्वभाव से एकत्व है उससे अनेकत्व भी प्राप्त होता है। यह व्यतिकर दोष है। **परस्परविषयगमनं व्यतिकरः।**

(7) अनवस्था– जिस स्वरूप से भेद है उससे कथञ्चित् भेद होगा और जिस स्वरूप से अभेद है उससे कथञ्चित् अभेद होगा। पुनः उसमें भी भेद और अभेद की कल्पना करने पर कहीं विराम न होने के कारण अनवस्थादोष आता है।

(8) अभाव दोष– उक्त दोषों के कारण अनेकान्तवादियों के मत में ठीक तरह से तत्त्व की प्रतिपत्ति न होने से उसका अभाव हो जायेगा। यही अभाव दोष है। अनेकान्तवाद में मुक्त भी अमुक्त ही होगा। अथवा अमुक्त भी मुक्त ही होगा। ऐसा न मानने पर अनेकान्तवाद की हानि का प्रसङ्ग प्राप्त होता है। अतः द्रव्य और पर्याय में तादात्म्य न मानकर भेद मानना ही श्रेयस्कर है। ऐसा यौगों (नैयायिक-वैशेषिकों) का मत है।

उत्तरपक्ष– यौगों का उक्त मत समीचीन नहीं है। द्रव्य और पर्याय में सर्वथा भेद किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है। द्रव्य और पर्याय में न सर्वथा भेद है और न सर्वथा अभेद है; किन्तु कथञ्चित् भेद है और कथञ्चित् अभेद। यौगों ने द्रव्य और पर्याय में अत्यन्त भेद सिद्ध करने के लिए '**द्रव्यपर्यायौ अत्यन्तं भिन्नौ भिन्नप्रतिभासत्वात्**' इत्यादि अनुमान प्रमाण दिया है। यहाँ हम यह जानना चाहते हैं कि भिन्नप्रतिभासत्व का अर्थ क्या है– भिन्नप्रमाणग्राह्यत्व अथवा भिन्नाकारावभासित्व? प्रथम पक्ष में हेतु आत्मा आदि के द्वारा अनैकान्तिक हो जाता है, क्योंकि प्रत्यक्षादि विभिन्न प्रमाणों के द्वारा ग्राह्य होने पर भी इसमें भेद सिद्ध नहीं होता है। अब यदि भिन्नप्रतिभासत्व का अर्थ भिन्नाकारावभासित्व माना जाय तो यहाँ भी दो विकल्प होते हैं– उनमें कथञ्चित् भिन्नाकारावभासित्व है अथवा सर्वथा भिन्नाकारावभासित्व? यदि उनमें कथञ्चित् भिन्नाकारावभासित्व है तो इससे कथञ्चित् भेद ही सिद्ध होगा, सर्वथाभेद नहीं। अब यदि यौग द्रव्य और पर्याय में सर्वथा भिन्नाकारावभासित्व सिद्ध करना चाहते हैं तो ऐसा करने में प्रमाण से बाधा आती है, क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा द्रव्य और पर्याय अत्यन्त भेदरूप से प्रतीत नहीं होते हैं, अपितु कथञ्चित् तादात्म्य को प्राप्त द्रव्य और पर्याय का प्रत्यक्षादि

प्रमाणों के द्वारा अवभास होता है।

इसी प्रकार यौगों ने विरुद्धधर्माध्यास के द्वारा द्रव्य और पर्याय में जो अत्यन्त भेद सिद्ध किया है, वह भी गलत है। हम देखते हैं कि धूपदहन (धूप खेने का पात्र) में शीत और उष्णरूप विरुद्धधर्माध्यास होने पर भी उसमें भेद प्रतीत नहीं होता है। धूपदहन का कुछ भाग उष्ण होता है और कुछ भाग शीत। फिर भी धूपदहन तो एक ही रहता है, दो नहीं। यहाँ जानने योग्य बात यह है कि प्रमाण के द्वारा वस्तु का जैसा स्वरूप प्रकाशित होता है उसे वैसा ही मानना चाहिए। जहाँ प्रमाण वस्तु में अत्यन्त भेद को प्रकाशित करता है वहाँ अत्यन्त भेद मानना चाहिए। जैसे घट-पट आदि में अत्यन्त भेद है। और जहाँ प्रमाण कथञ्चित् भेद को प्रकाशित करता है वहाँ कथञ्चित् भेद मानना चाहिए। जैसे रस्सी और उसकी गाँठों में कथञ्चित् भेद है। इस प्रकार अनेक दोषों से दूषित होने के कारण भिन्नप्रतिभासत्व और विरुद्धधर्माध्यासत्व हेतुओं के द्वारा द्रव्य और पर्याय में अत्यन्त भेद की सिद्धि नहीं होती है। द्रव्य और पर्याय में अत्यन्त भेद सिद्ध करने के लिए घट-पटादि का जो दृष्टान्त दिया गया है वह भी सही नहीं है। घट और पट में भी सर्वथा भेद नहीं है; किन्तु कथञ्चित् ही भेद है। पुद्गलत्व, सत्त्व आदि के द्वारा उनमें भी अभेद सिद्ध होता है। **'तन्तवः पटः'** इत्यादि में जो संज्ञाभेद और वचनभेद बतलाया गया है वह भी केवल कथनमात्र है। संज्ञाभेद या वचनभेद के द्वारा अवस्थाभेद ही सिद्ध होता है, अत्यन्त भेद नहीं। तन्तु एक अवस्था है और पट दूसरी अवस्था है। दोनों में यही अवस्थाभेद है। **'गगनम् आकाशम्'** यहाँ भी संज्ञाभेद है, किन्तु यहाँ अत्यन्त भेद नहीं है।

पूर्वपक्ष में कहा गया है कि तादात्म्य शब्द का विग्रह कैसे होता है- "**स पटः आत्मा येषां तन्तूनां तेषां भावः तादात्म्यम्** अथवा **ते तन्तवः आत्मा यस्य पटस्य**" इत्यादि। यहाँ जैनदर्शन के अनुसार तादात्म्य शब्द का विग्रह इस प्रकार होता है- "**तस्य वस्तुनः आत्मानौ द्रव्यपर्यायौ तदात्मानौ तयोर्भावः तादात्म्यं भेदाभेदात्मकम्।**" तादात्म्य शब्द में **'तत्'** शब्द के द्वारा वस्तु का ग्रहण किया जाता है। वस्तु का भेद पर्यायरूपता है और अभेद द्रव्यरूपता है। उनमें भेद और अभेद द्रव्यपर्यायरूप है। वस्तु न तो द्रव्यमात्र है और न पर्यायमात्र है; किन्तु दोनों के समुदाय का

नाम वस्तु है। द्रव्य और पर्याय में पृथक्-पृथक् रूप से न वस्तुत्व है और न अवस्तुत्व है, किन्तु वस्तु की एकदेशता है। जैसे समुद्र का अंश न समुद्र है और न असमुद्र है, अपितु समुद्र का एकदेश है। इस विषय में तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में कहा गया है-

नायं वस्तु न चावस्तु वस्त्वंशः कथ्यते बुधैः।
नासमुद्रः समुद्रो वा समुद्रांशो यथैव हि।।

अर्थात् पृथक् द्रव्य और पृथक् पर्याय न वस्तु है और न अवस्तु है। बुद्धिमान् उसे वस्तु का अंश कहते हैं। जैसे समुद्र का एक अंश न असमुद्र है और न समुद्र है; किन्तु उसे समुद्र का अंश कहा जाता है।

'स पटः आत्मा येषां तन्तूनाम्' ऐसा विग्रह करने में भी कोई दोष नहीं है; क्योंकि अवस्थाविशेष की अपेक्षा से तन्तुओं में एकत्व अभीष्ट है। इसी प्रकार **'ते तन्तवः आत्मा यस्य पटस्य'** इस विग्रह में भी किसी दोष की सम्भावना नहीं है, क्योंकि आतानवितानभूत अनेक तन्तुओं के समुदायरूप ही पट होता है। अतः आतानवितानभूत अनेक तन्तुओं को पट की आत्मा मानने में कोई दोष नहीं है। इस प्रकार द्रव्यपर्याय, गुण-गुणी आदि में तादात्म्य सम्बन्ध सिद्ध होता है और ऐसा होने से उनमें यौगों द्वारा माना गया सर्वथा भेदभाव निरस्त हो जाता है।

संशयादि दोषों का परिहार :

यौगों ने द्रव्य-पर्याय, गुण-गुणी आदि में तादात्म्य मानने पर जो संशयादि दोष बतलाये हैं वे सब कल्पनामात्र हैं। इन दोषों की कल्पना वे ही कर सकते हैं जिनको वस्तुतत्त्व का समीचीन ज्ञान नहीं है। सत्-असत् आदि अनेक विरुद्धधर्मयुक्त वस्तु की प्रतीति होने पर उसमें संशय नहीं हो सकता है। क्योंकि वस्तु न सर्वथा सत् है और न सर्वथा असत्। किन्तु वह कथञ्चित् सत् और कथञ्चित् असत् है। जो जिस रूप से प्रतीत होता है उसके उसी रूप से प्रतीत होने में संशय की कोई सम्भावना नहीं रहती है। चलित प्रतीति को संशय कहते हैं। जैसे यह स्थाणु है अथवा पुरुष। परन्तु वस्तु में सदसदात्मकरूप की जो प्रतीति होती है वह चलित नहीं है। वस्तु स्वद्रव्यक्षेत्रकालभाव की अपेक्षा से सत् है और परद्रव्यक्षेत्रकालभाव की अपेक्षा से असत् है। ऐसी निश्चित प्रतीति को

कोई भी प्रेक्षावान् चलित प्रतीति नहीं कह सकता है। इस प्रकार द्रव्यपर्यायात्मक अथवा सदसदात्मक वस्तु में संशय की कल्पना करना युक्तिसङ्गत नहीं है।

वस्तु के सदसदात्मक होने में कोई विरोध भी नहीं है, क्योंकि वस्तु में जो सत्त्व और असत्त्व है उसके निमित्त भिन्न-भिन्न हैं। जिन धर्मों के निमित्त भिन्न होते हैं उनके एक धर्मी में रहने में कोई विरोध नहीं होता है। एक ही वस्तु में सत्त्व के रहने का निमित्त स्वद्रव्यादि चतुष्टय है और असत्त्व के रहने का निमित्त परद्रव्यादि चतुष्टय है। अतः एक ही वस्तु में दोनों के रहने में कोई विरोध नहीं है। एक बात यह भी है कि विरोध सर्वत्र अनुपलम्भ साध्य होता है, परन्तु स्वरूप आदि के द्वारा वस्तु के उपलब्ध होने पर पररूप आदि के द्वारा उसका अनुपलम्भ नहीं हो जाता है, जिससे सत्त्व और असत्त्व में विरोध माना जा सके। जब दोनों धर्मों का वस्तु में उपलम्भ हो रहा है तो उनमें विरोध कैसा? यदि एक स्थान में विधि और प्रतिषेध का विरोध माना जाय तो एक ही व्यक्ति को नर और सिंह तथा उमा और ईश्वर कहना कैसे बनेगा? जो नर है वह सिंह नहीं हो सकता है और जो सिंह है वह नर नहीं हो सकता है। फिर उसे नरसिंहरूप कैसे माना जा सकता है? दो पदार्थों में विरोध का ज्ञान तब होता है जब एक अर्थ अपने सम्पूर्ण कारणों के द्वारा हो रहा हो और दूसरे के आ जाने से उसका अभाव हो जाय। जैसे शीत और उष्ण में जो विरोध है वह इसी प्रकार का है; किन्तु सत्त्व के रहने पर असत्त्व का अथवा असत्त्व के रहने पर सत्त्व का अभाव कभी नहीं होता है।

यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि यदि सत्त्व और असत्त्व में कोई विरोध है तो वह सहानवस्थानस्वरूप है या परस्परपरिहारस्थितिस्वरूप है अथवा बध्यघातकस्वरूप है? सहानवस्थानलक्षण विरोध वहाँ होता है जहाँ दो पदार्थ एक साथ नहीं रह सकते हैं। जैसे शीत और उष्ण में सहानवस्थानलक्षण विरोध है, परन्तु सत्त्व और असत्त्व में ऐसी बात नहीं है। एक ही आधार में रूप और रस की तरह सत्त्व और असत्त्व की प्रतीति निर्बाधरूप से होती है। तब उनमें सहानवस्थानलक्षणरूप विरोध कैसे हो सकता है? परस्परपरिहारलक्षणरूप विरोध वहाँ होता है जहाँ

दो गुण या दो धर्म एक दूसरे का परिहार करके रहते हैं। जैसे एक आम्रफल में रूप और रस दोनों रहते हैं, परन्तु रूप रस नहीं हो जाता है और रस रूप नहीं हो जाता है। तथा बध्यघातकलक्षण विरोध उनमें होता है। जिनमें एक बलवान् हो और दूसरा निर्बल हो। जैसे अहि और नकुल में जो विरोध है वह इसी प्रकार का है; किन्तु यह विरोध सत्त्व और असत्त्व में नहीं हो सकता है, क्योंकि दोनों तुल्यबल हैं।

सत्त्व और असत्त्व में वैयधिकरण्य बतलाना हास्यास्पद है, क्योंकि निर्बाध ज्ञान द्वारा एक ही आधार में सत्त्व और असत्त्व दोनों का ही प्रतिभास होता है। ऐसी स्थिति में वहाँ वैयधिकरण्य होने का प्रश्न ही कहाँ है? इसी प्रकार उभयरूप दोष बतलाना सर्वथा अप्रामाणिक है, क्योंकि सत्त्वासत्त्वात्मक वस्तु जात्यन्तररूप होती है। स्याद्वादियों ने अन्योन्यनिरपेक्ष सत्त्वासत्त्व में अथवा भेदाभेद में एकत्व नहीं माना है जिससे इस मत में कोई दोष दिया जा सके। इसके विपरीत परस्परसापेक्ष सत्त्वासत्त्व में ही एकत्व माना गया है। इस कारण वहाँ उभय दोष का प्रसङ्ग नहीं आता है।

इसी तरह सङ्कर और व्यतिकर दोषों की सम्भावना भी निरस्त हो जाती है। स्वस्वरूप और परस्वरूप की अपेक्षा से वस्तु का जैसा स्वरूप प्रतिभासित होता है उसमें वही व्यक्ति सङ्कर और व्यतिकर की कल्पना कर सकता है जिसे वस्तुतत्त्व का ठीक तरह से ज्ञान न हो। स्याद्वाद में अनवस्था दोष बतलाना तो अपनी अनभिज्ञता प्रकट करना ही है, क्योंकि एक धर्म में दूसरा धर्म नहीं रहता है। धर्मी में तो अनन्त धर्म रहते हैं, परन्तु किसी एक धर्म में दूसरे धर्म नहीं रहते हैं। प्रत्यक्षादिप्रमाणों के द्वारा सदसदादि अनेकान्तरूप अर्थ की निर्बाध प्रतीति होने से उक्त संशय-विरोध आदि आठ दोषों का निराकरण स्वतः हो जाता है। इसके लिए विशेष प्रयत्न करने की कोई अपेक्षा नहीं है। इस प्रकार अनेकान्तवाद में पूर्वपक्ष द्वारा प्रदर्शित दोषों का युक्तिपूर्वक निराकरण किया गया है।

पूर्वपक्ष में एक बात और कही गई है– '**मुक्तोऽपि अमुक्त एव स्यात्, अमुक्तोऽपि च मुक्त एव वा।**' यह कथन अज्ञान का ही द्योतक है, क्योंकि अनेकान्त दो प्रकार का है– अक्रमानेकान्त और क्रमानेकान्त। इनमें से ज्ञान-सुखादि अनेक अक्रमिक धर्मों की अपेक्षा से एक आत्मा में अक्रमानेकान्त होता है। ज्ञानसुखादि अनेक धर्म एक साथ एक आत्मा

में पाये जाते हैं। इसके विपरीत एक ही आत्मा में अमुक्त और मुक्त आदि अनेक क्रमिक धर्मों की अपेक्षा से क्रमानेकान्त होता है, क्योंकि मुक्त, अमुक्त आदि धर्म क्रम से ही हो सकते हैं, युगपत् नहीं। जो आत्मा पहले अमुक्त था वही उत्तरकाल में मुक्त हो जाता है। ऐसा मानने में न तो कोई विरोध है और न अनेकान्त की कोई क्षति है। यदि आत्मा सर्वदा एक रूप हो तो उसमें बन्ध और मोक्ष का अभाव मानना पड़ेगा, क्योंकि जो बद्ध है उसी का मोक्ष होता है। जो सर्वथा एक रूप है उसमें दो अवस्थाओं का योग सम्भव नहीं है। अतः एकान्तवाद के दुराग्रह को छोड़कर वस्तु को अनेकान्तात्मक स्वीकार करना ही श्रेयस्कर है।

अब यहाँ यह बतलाया जा रहा है कि नित्यैकान्त और अनित्यैकान्त में अर्थक्रिया नहीं बन सकती है–

नित्यैकान्त और अनित्यैकान्त में अर्थक्रिया का अभाव :

अर्थक्रिया न युज्येत नित्यक्षणिकपक्षयोः।
क्रमाक्रमाभ्यां भावानां सा लक्षणतया मता ।।8।।

नित्यपक्ष में और क्षणिकपक्ष में पदार्थों में क्रम और अक्रम से अर्थक्रिया नहीं बनती है; किन्तु उस अर्थक्रिया को परमार्थभूत पदार्थों का लक्षण माना गया है।

अर्थक्रिया का अर्थ है– कुछ काम करना। प्रत्येक अर्थ की अपनी अर्थक्रिया होती है। जैसे जलधारणादि घट की अर्थक्रिया है और शीतनिवारणादि पट की अर्थक्रिया है। जो पदार्थ अर्थक्रिया करने में समर्थ होता है वही परमार्थसत् कहलाता है और जो अर्थ अर्थक्रिया नहीं करता है उसे संवृतिसत् कहते हैं। कोई भी पदार्थ अर्थक्रिया दो प्रकार से कर सकता है– क्रम से अथवा अक्रम से। पहले एक कार्य किया, तदनन्तर दूसरा कार्य किया, इसका नाम क्रम है और सब कार्यों को एक साथ कर देना अक्रम है। अक्रम का अर्थ है– युगपत्। अब यहाँ इस बात पर विचार करना है कि नित्य पदार्थ तथा क्षणिक पदार्थ क्रम से या युगपत् अर्थक्रिया कर सकता है या नहीं? इस विषय में आचार्य अकलङ्कदेव का कथन है कि सर्वथा नित्य पदार्थ या सर्वथा क्षणिक पदार्थ न तो क्रम से अर्थक्रिया कर सकता है और न युगपत्।

नित्य पक्ष में अर्थक्रिया का अभाव :

अर्थक्रिया की व्याप्ति क्रम और यौगपद्य के साथ होती है। यदि कोई पदार्थ अर्थक्रिया करता है तो वह या तो अर्थक्रिया क्रम से करेगा अथवा युगपत्; किन्तु सर्वथा नित्य पदार्थ में क्रम और यौगपद्य नहीं बनते हैं। पहले एक कार्य को करके पश्चात् अन्य कार्य को करना क्रम कहलाता है। यहाँ विचारणीय बात यह है कि नित्य अर्थ जिस स्वभाव से पहले कार्य को करता है यदि उसी स्वभाव से वह उसके बाद होने वाले दूसरे कार्य को भी करता है तो दूसरे कार्य को भी पूर्व काल में ही हो जाना चाहिए। इससे दोनों ही कार्यों में एककालता माननी पड़ेगी। इसी बात को इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि वह जिस स्वभाव से उत्तर कार्य को करता है यदि उसी स्वभाव से पूर्व कार्य को भी करता है तो पूर्व कार्य को बाद के काल में ही होना चाहिए, क्योंकि दोनों कार्यों को करने का स्वभाव एक ही है।

यहाँ पूर्वपक्ष कह सकता है कि नित्य पदार्थ में कार्यों को उत्पन्न करने का स्वभाव एक ही है, किन्तु सहकारी कारणों के क्रम के कारण कार्यों में क्रम बन जाता है, यह कथन ठीक नहीं है। यदि सहकारी कारणों के कारण कार्यों में क्रम माना जाता है तो फिर सब कार्यों को सहकारी कारणों के द्वारा किया गया ही मान लेना चाहिए। उन्हें नित्य पदार्थकृत मानने की क्या आवश्यकता है? नित्य पदार्थ के सन्निधानमात्र से कार्य में उसका कर्तृत्व मानना ठीक नहीं है। अन्यथा घटोत्पत्ति में रासभ का भी सन्निधान होने से उसमें भी घटकर्तृत्व का प्रसङ्ग प्राप्त होगा। यहाँ एक बाधा यह भी आयेगी कि यदि नित्य पदार्थ किसी कार्य को पूर्व काल में करना चाहता है और सहकारी कारण उसको उत्तर काल में करना चाहता है तो ऐसी स्थिति में उन दोनों के विवाद का समाधान क्या होगा? ऐसा मानना भी ठीक नहीं है कि नित्य पदार्थ पूर्व कार्य को अन्य स्वभाव से करता है और पाश्चात्य कार्य को अन्य स्वभाव से। यदि ऐसा है तो उसके दो स्वभाव मानने पड़ेंगे। और ऐसा मानने पर प्रश्न होता है कि उसके वे दो स्वभाव सदा रहते हैं या क्रम से होते हैं। एक प्रश्न यह भी हो सकता है कि वे दो स्वभाव नित्य वस्तु से भिन्न हैं या अभिन्न? परन्तु नित्यैकान्तवादी इन प्रश्नों का युक्तिसङ्गत समाधान

नहीं कर सकता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि नित्यैकान्त पक्ष में पदार्थों में क्रम से अर्थक्रिया सम्भव नहीं है।

अब युगपत् अर्थक्रिया का विचार किया जाता है। यदि नित्य पदार्थ युगपत् अर्थक्रिया करता है तो उसके द्वारा एक ही क्षण में सब कार्यों की उत्पत्ति हो जाने से उत्तर काल में वह अनर्थक्रियाकारी हो जायेगा। तब आकाशपुष्प की तरह उसमें असत्त्व का प्रसङ्ग प्राप्त होगा, क्योंकि जो अर्थक्रियाकारी होता है वह सत् कहलाता है तथा जो कुछ भी अर्थक्रिया नहीं करता है उसे असत् कहते हैं। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि सर्वथा नित्य पदार्थ में क्रम और अक्रम से अर्थक्रिया सम्भव न होने के कारण उसे असत् ही समझना चाहिए। आत्मा परमाणु आदि सर्वथा नित्य पदार्थ न तो क्रम से अर्थक्रिया करने में समर्थ हैं और न युगपत्। इसलिए उन्हें अवस्तु ही समझना चाहिए।

यहाँ एक बात यह भी विचारणीय है कि नित्य वस्तु में सर्वदा कार्य करने का स्वभाव होता है या कदाचित्? प्रथम पक्ष में उसके द्वारा सर्वदा ही सकल कार्यों की उत्पत्ति होनी चाहिए। क्योंकि उनकी उत्पत्ति के जो कारण हैं वे सर्वदा विद्यमान रहते हैं। अब यदि ऐसा माना जाय कि नित्य वस्तु में कार्य करने का स्वभाव कदाचित् होता है तो इसका मतलब यही हुआ कि उसमें पहले कार्य को उत्पन्न करने का स्वभाव नहीं था और उसमें वह स्वभाव बाद में आ गया। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न होता है कि कार्योत्पत्ति के समय वह नित्य पदार्थ अपने असमर्थ स्वभाव को छोड़ता है या नहीं। यदि नहीं छोड़ता है तो फिर वह कभी भी कार्य की उत्पत्ति नहीं कर सकेगा, क्योंकि उसमें असमर्थ स्वभाव सदा बना रहेगा। अब यदि वह प्राक्तन असमर्थ स्वभाव को छोड़कर नूतन कार्योत्पत्ति जनक स्वभाव को धारण कर लेता है तो वह सर्वथा नित्य नहीं रहेगा। सर्वथा नित्य वस्तु में पूर्व स्वभाव का परित्याग और नूतन स्वभाव का उपादान सम्भव नहीं है। जिस वस्तु में पूर्व स्वभाव का परित्याग और नवीन स्वभाव का उपादान होता है वह वस्तु परिणामी नित्य कहलाती है। अतः यह सिद्ध होता है कि सर्वथा नित्य वस्तु में न तो क्रम से और न युगपत् अर्थक्रियाकारित्व बनता है; किन्तु जो वस्तु कथञ्चित् नित्य और अनेक धर्मात्मक है उसमें क्रम से और युगपत् अर्थक्रियाकारित्व

होने में कोई विरोध या बाधा नहीं है।

जिस प्रकार सर्वथा नित्य पदार्थ में क्रम और अक्रम से अर्थक्रियाकारित्व नहीं बनता है उसी प्रकार सर्वथा क्षणिक पदार्थ में भी अर्थक्रियाकारित्व सम्भव नहीं है, क्योंकि सर्वथा क्षणिक पदार्थ भी पूर्व स्वभाव के त्याग और उत्तर स्वभाव के उपादान से विकल होते हैं तथा अनेक शक्तियों से रहित होते हैं। इस कारण वे अर्थक्रिया करने में सर्वथा असमर्थ रहते हैं। एक बात यह भी है कि सर्वथा क्षणिक पदार्थ का साधक कोई प्रमाण भी नहीं है।

क्षणभङ्गवाद :

पूर्वपक्ष– क्षणभङ्गवाद बौद्धदर्शन का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। इसके अनुसार संसार के समस्त पदार्थ क्षणिक हैं और वे प्रतिक्षण नष्ट होते रहते हैं। वैसे तो प्रत्येक दर्शन भङ्ग (नाश) को मानता है; किन्तु बौद्धदर्शन की विशेषता यह है कि कोई भी वस्तु एक क्षण ही ठहरती है और दूसरे क्षण में वह वह नहीं रहती है, अपितु दूसरी हो जाती है अर्थात् वस्तु का प्रत्येक क्षण में स्वाभाविक नाश होता रहता है। बौद्ध सब पदार्थों में क्षणिकत्व की सिद्धि अनुमान प्रमाण से करते हैं। क्षणिकत्व साधक अनुमान इस प्रकार है–

"यत् सत् तत् सर्वं क्षणिकम्, यथा घटः, सन्तश्च भावाः।"

अर्थात जो सत् होता है वह सब क्षणिक होता है, जैसे घट। सब पदार्थ सत् हैं, इसलिए वे सब क्षणिक हैं।

सत्त्व का अर्थ है– अर्थक्रियाकारित्व। जो पदार्थ अर्थक्रिया करता है वह सत् कहलाता है। अर्थक्रिया क्रम और यौगपद्य के द्वारा व्याप्त है। जो भी पदार्थ अर्थक्रिया करता है वह या तो क्रम से करता है अथवा युगपत्। परन्तु नित्य पदार्थ में क्रम और यौगपद्य सम्भव न होने के कारण अर्थक्रिया सम्भव नहीं है, क्योंकि सर्वदा एकरूप रहने के कारण नित्य पदार्थ में क्रम और यौगपद्य नहीं बनता है। यदि नित्य पदार्थ अर्थक्रिया करता है तो या तो उसे सर्वदा अर्थक्रिया करनी चाहिए अथवा कभी नहीं करनी चाहिए। इन दोनों ही पक्षों में अनेक दोष आते हैं और इससे

यही सिद्ध होता है कि नित्य पदार्थ न तो क्रम से अर्थक्रिया कर सकता है और न युगपत्। तथा अर्थक्रिया के अभाव में नित्य पदार्थ आकाशकुसुम की तरह असत् सिद्ध होता है।

पदार्थों में क्षणिकत्व साधक दूसरा अनुमान इस प्रकार है–

"यत् कृतकं तत् क्षणिकम्, यथा विद्युत्प्रदीपादि, कृतकाश्च विवादापन्नाः पदार्थाः" इति।

अर्थात् जो कृतक होता है वह क्षणिक होता है; जैसे विद्युत्-प्रदीपादि। यतः विवादापन्न सब पदार्थ कृतक हैं, अतः वे सब क्षणिक हैं।

कृतकत्व का अर्थ है– हेतु से उत्पन्न होना। घटादि पदार्थ हेतु से उत्पन्न होते हैं। जो भी पदार्थ हेतु से उत्पन्न होता है वह विनश्वर स्वभाव को लिये हुए ही उत्पन्न होता है। इस तरह कृतकत्व और क्षणिकत्व में तादात्म्य की सिद्धि होती है। इसका अभिप्राय यह भी है कि सब पदार्थ प्रतिक्षण विनाशशील हैं।

यहाँ कोई कह सकता है कि यह ठीक है कि पदार्थों का विनश्वर स्वभाव है, किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि वे प्रतिक्षण विनाशशील हैं। अपितु जब विनाश के हेतुओं का समागम होता है तभी उनका विनाश होता है। उक्त कथन युक्तिसङ्गत नहीं है। यदि विनश्वर पदार्थ का प्रतिक्षण विनाश नहीं माना जायेगा तो कालान्तर में भी उसका विनाश नहीं होना चाहिए। परन्तु अन्त में पदार्थों का विनाश देखा जाता है। इस कारण अन्त में उनको विनश्वर मानना ही पड़ता है। तब आदि में भी उनको विनाशशील मान लेने में क्या आपत्ति है? विनाश के हेतुओं का समागम होने पर पदार्थ का विनाश मानने में प्रश्न होता है कि विनाश का हेतु विनश्वर पदार्थ का विनाश करता है अथवा अविनश्वर का? विनाश के हेतु का समागम होने पर भी अविनश्वर पदार्थ का नाश सम्भव नहीं है, क्योंकि पदार्थों का जो स्वभाव है उसे अन्यथा नहीं किया जा सकता है। अब यदि हेतुओं से विनश्वर पदार्थ का विनाश माना जाय तो इसके लिए विनाश के हेतुओं का समागम व्यर्थ है। वह तो अपने कारणों से ही प्रतिक्षण विनाशशील उत्पन्न होता है। अतः उसके विनाश के लिए अन्य कारणों की कोई आवश्यकता नहीं है।

यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि यदि विनाश का हेतु पदार्थ का विनाश करता है तो वह विनाश पदार्थ से भिन्न होता है या अभिन्न? यदि विनाश पदार्थ से अभिन्न होता है तो इसका मतलब यही हुआ कि नाश के हेतुओं ने पदार्थ को ही उत्पन्न किया जो कि पहले से ही अपने कारणों से उत्पन्न हुआ था। अब यदि ऐसा माना जाय कि नाश पदार्थ से भिन्न होता है तो वह नाश पदार्थ के समकालभावी ही होगा और ऐसी स्थिति में भाव और अभाव का युगपत् उपलम्भ होना चाहिए, किन्तु ऐसा होता नहीं है। यहाँ यह भी विचारणीय है कि कुछ लोग पदार्थों को अनेक क्षणस्थायी मानते हैं। उन लोगों से हमारा प्रश्न है कि प्रथम क्षण में उत्पन्न पदार्थ द्वितीयादि क्षणों में वैसा ही रहता है या नहीं? यदि वैसा ही रहता है तो अन्त्य क्षण में भी वह वैसा ही रहेगा। तब उसका नाश कभी नहीं होना चाहिए। और यदि द्वितीयादि क्षणों में उसका स्वभाव बदल जाता है तो प्रतिक्षण स्वभावभेद होने के कारण उसमें स्वतः क्षणिकत्व सिद्ध हो जाता है।

उपर्युक्त कथन का निष्कर्ष यह है कि पदार्थ स्वभाव से ही प्रतिक्षण विनष्ट होते रहते हैं। ऐसा जो कहा जाता है कि मुद्गर के द्वारा घट का विनाश होता है, वह कथन सही नहीं है। यथार्थ में मुद्गर घट का विनाश नहीं करता है; किन्तु कपालों की उत्पत्ति करता है। जो पदार्थ जिस स्वभाव के लिए अन्य किसी की अपेक्षा नहीं करता है उसका वह स्वभाव नियम से होता है। जैसे अन्त्य कारणसामग्री स्वकार्य की उत्पत्ति के लिए अन्य किसी की अपेक्षा नहीं करती है, वैसे ही सब पदार्थ विनाश के प्रति अन्य किसी कारण की अपेक्षा नहीं करते हैं। अतः सब पदार्थों में स्वभाव से ही क्षणिकत्व मानना आवश्यक है।

उत्तरपक्ष– बौद्धों का उक्त कथन प्रमाणसङ्गत नहीं है। प्रत्यक्ष के द्वारा ऐसी प्रतीति नहीं होती है कि प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण विनाशशील है। प्रत्यक्ष में तो स्थिर, स्थूल आदि स्वरूप वाले पदार्थ ही प्रतिभासित होते हैं। कोई भी पदार्थ सर्वथा क्षणिक नहीं है। प्रत्येक पदार्थ कथञ्चित् क्षणिक और कथञ्चित् अक्षणिक है। द्रव्य की अपेक्षा से प्रत्येक पदार्थ अक्षणिक है और पर्याय की अपेक्षा से क्षणिक है। बौद्धों ने **'यत् सत् तत् सर्वं क्षणिकम्'** इत्यादि अनुमान के द्वारा पदार्थों में क्षणिकत्व सिद्ध

करने का प्रयत्न किया है और यह बतलाया है कि अर्थक्रियाकारित्व क्षणिक पदार्थों में ही बन सकता है, अक्षणिकों में नहीं। इस विषय में हम यह बतलाना चाहते हैं कि अक्षणिक अर्थों में ही क्रम और यौगपद्य के द्वारा अर्थक्रियाकारित्व घटित होता है, क्षणिकों में नहीं, क्योंकि क्षणिक अर्थ क्रम से अर्थक्रिया करने में समर्थ नहीं होता है। उसमें देशकृत, कालकृत और स्वभावकृत क्रम नहीं बन सकते हैं। यदि एक ही पदार्थ किसी एक कार्य को करके पुनः दूसरे देश में और दूसरे काल में भिन्न स्वभाव से किसी अन्य कार्य को करे तो उसमें देशादिकृत क्रम का सद्भाव माना जा सकता है। परन्तु जो पदार्थ सर्वथा क्षणिक है वह उसी देश में और उसी काल में नष्ट हो जाता है। वह न तो दूसरे देश में जाता है और न दूसरे काल में। तब उसमें देशादिकृत क्रम कैसे बन सकता है? क्षणिक पदार्थ अनेक शक्त्यात्मक और अनेक स्वभावात्मक न होने के कारण युगपत् अनेक कार्यों को भी नहीं कर सकता है। इस प्रकार अर्थक्रिया के व्यापक क्रम और यौगपद्य का क्षणिक अर्थ में विरोध सिद्ध होता है। अर्थात् क्षणिक पदार्थ न तो क्रम से अर्थक्रिया कर सकता है और न युगपत्। तब उसमें अर्थक्रियाकारित्वरूप सत्त्व का अभाव स्वतःसिद्ध हो जाता है तथा इस बात से यह भी सिद्ध हो जाता है कि जो क्रम से और युगपत् अर्थक्रिया करता है वह अक्षणिक है। इस प्रकार '**यत् सत् तत् सर्वं क्षणिकम्**' इत्यादि अनुमान द्वारा सब पदार्थों में क्षणिकत्व सिद्ध नहीं होता है।

प्रत्यभिज्ञान के द्वारा भी क्षणिक पक्ष में बाधा आती है। '**स एवायम्**', यह वही है, इत्याकारक जो प्रत्यभिज्ञान होता है वह दो पदार्थों का संकलन करता है। प्रत्यभिज्ञान के द्वारा अतीत पर्याय और वर्तमान पर्याय का संकलनात्मक ज्ञान होता है। प्रत्यभिज्ञान के द्वारा हमें जो ज्ञान होता है वह इस रूप में होता है कि यह वही देवदत्त है जिसको मैंने एक वर्ष पहले देखा था। यदि पदार्थ सर्वथा क्षणिक है तो उसमें उक्त प्रकार का ज्ञान कैसे हो सकता है? अतः प्रत्यभिज्ञान के द्वारा पदार्थों में अक्षणिकत्व की सिद्धि होती है।

यदि अर्थक्रिया के द्वारा पदार्थों का सत्त्व सिद्ध होता है तो यहाँ यह विचारणीय है कि अर्थक्रिया का सत्त्व कैसे सिद्ध होता है– दूसरी

अर्थक्रिया से या स्वतः? दूसरी अर्थक्रिया से अर्थक्रिया का सत्त्व मानने पर अनवस्था दोष आता है और यदि अर्थक्रिया का सत्त्व स्वतः सिद्ध हो जाता है तो पदार्थों का सत्त्व भी स्वतः मान लीजिए। उसके लिए अर्थक्रिया की कल्पना करने से क्या लाभ है? क्षणभङ्गवादियों ने पदार्थों में क्षणिकत्व की सिद्धि करने के लिए घटादि का जो दृष्टान्त दिया है वह भी गलत है। ऐसा तो किसी के अनुभव में नहीं आता है कि घटादि क्षणस्थायी हैं। यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि क्षण, लव, मुहूर्त आदि कालविशेष हैं, परन्तु बौद्ध काल को मानते नहीं हैं। तब **'क्षणेऽस्यास्तीति क्षणिकम्'** इस प्रकार की क्षणिक शब्द की व्युत्पत्ति कैसे बनेगी? परिकल्पित क्षण से क्षणिकत्व मानने पर क्षणिकत्व वास्तविक नहीं होगा और क्षणिकत्व के अवास्तविक होने पर अक्षणिकत्व ही वास्तविक सिद्ध होगा।

बौद्धों ने पदार्थों में क्षणिकत्व को सिद्ध करने के लिए **'यत् कृतकं तत् क्षणिकम्'** इत्यादि दूसरा अनुमान भी बतलाया है। इस अनुमान में कृतकत्व हेतु के द्वारा सब पदार्थों में क्षणिकत्व सिद्ध किया गया है। परन्तु विचार करने पर कृतकत्व के द्वारा भी क्षणिकत्व की सिद्धि नहीं होती है। कृतकत्व का अर्थ है- कार्यत्व। किन्तु क्षणिकैकान्त में कार्यकारणभाव बनता ही नहीं है। ऐसी स्थिति में कृतकत्व के द्वारा क्षणिकत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है। मान लिया जाय कि कृतकत्व के द्वारा क्षणिकत्व की सिद्धि सम्भव है तो यहाँ ऐसी जिज्ञासा होती है कि क्या एक कारण से एक कार्य उत्पन्न होता है अथवा अनेक कारणों से एक कार्य होता है? इनमें से पहला पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि एक प्रदीपादि कारण से वर्तिकादाह, तैलशोष, अन्धकार अपनयन आदि अनेक कार्य होते हुए देखे जाते हैं। द्वितीय पक्ष भी असङ्गत है, क्योंकि बौद्धमत में अनेक अवयवों के समूहरूप एक अवयवी स्वरूप कार्य माना ही नहीं गया है जिसे अनेक कारणों से उत्पन्न माना जाय।

इस प्रकार क्षणिकैकान्त में कार्यकारणभाव न बनने से कृतकत्व हेतु के द्वारा क्षणिकैकान्त सिद्ध नहीं होता है। ऐसा भी कोई नियम नहीं है कि जो कृतक है उसे एक क्षण के अनन्तर ही नष्ट हो जाना चाहिए। यह भी सम्भव है कि कृतक होने पर भी कालान्तर में उसका नाश हो। कृतकत्व और अनित्यत्व में तादात्म्य होने पर भी यह आवश्यक नहीं

है कि वह अनित्यत्व उत्पत्ति के अनन्तरभावी हो और कालान्तरभावी न हो। वह अनित्यत्व कालान्तरभावी भी हो सकता है।

पूर्वपक्ष में कहा गया है कि "अन्त में विनाश देखा जाता है, इसलिए उसे प्रारम्भ में ही मान लेना चाहिए।" यह कथन सही नहीं है। यदि अन्त में देखा गया धर्म प्रारम्भ में ही मान लिया जाय तो अविद्या और तृष्णा का क्षय अन्त में देखे जाने से आदि में ही उसके क्षय का प्रसङ्ग प्राप्त होगा। इस प्रकार तो सुगत के द्वारा अविद्या और तृष्णा के क्षय के लिए किया गया प्रयास व्यर्थ हो जायेगा। यदि स्वहेतु से उत्पन्न पदार्थ विनाशशील होता है और घटादि के विनाश के लिए मुद्गरादि के प्रहार की कोई अपेक्षा नहीं होती है तो घटादि का प्रध्वंस मुद्गरादिप्रहारनिरपेक्ष प्रतीत होना चाहिए। परन्तु मुद्गरादिप्रहार के अभाव में स्वप्न में भी घटादि का प्रध्वंस प्रतीत नहीं होता है। यह कहना भी ठीक नहीं है कि मुद्गर का व्यापार कपालों की उत्पत्ति के लिए होता है, घट के विनाश के लिए नहीं, क्योंकि घट के नष्ट हुए बिना कपालसन्तति भी उत्पन्न नहीं होती है। कपालसन्तति तो घट के विनाश के अनन्तर ही उत्पन्न होती है। बौद्ध मानते हैं कि विनाश निर्हेतुक होता है और उत्पाद सहेतुक होता है। इस विषय में हम उनसे कह सकते हैं कि विनाश की तरह उत्पाद को भी निर्हेतुक मान लीजिए। अथवा उत्पाद की तरह विनाश को भी सहेतुक मान लीजिए।

क्षणिकैकान्त पक्ष में कृतनाश और अकृताभ्यागम का भी दोष आता है। जब सब पदार्थ क्षणिक हैं तो ऐसा मानने पर सब पुरुष भी क्षणिक सिद्ध होते हैं। अब यहाँ प्रश्न यह है कि जो व्यक्ति अच्छा या बुरा जैसा कर्म करता है उसको वैसा फल मिलता है या नहीं? शास्त्र और अनुभव तो यही कहता है कि अपने कर्म के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अच्छा या बुरा फल मिलता है, परन्तु क्षणिकैकान्त पक्ष स्वीकार करने पर तो जिस व्यक्ति ने अच्छा या बुरा जो कर्म किया है उसको उसका फल नहीं मिलेगा। क्योंकि वह तो कर्म करने के बाद ही नष्ट हो जाता है। यही कृतनाश है। अब यह देखिए कि जिस पुरुष ने कुछ भी कर्म नहीं किया है उसको पूर्ववर्ती पुरुष के द्वारा कृत कर्म का फल मिल जायेगा। यही अकृताभ्यागम है। स्वर्ग जाने योग्य कर्म जिसने किया था वह तो स्वर्ग

नहीं गया और जिसने कुछ भी कर्म नहीं किया था वह स्वर्ग चला गया। यह कितनी विचित्र बात है। अतः क्षणिकैकान्तवाद के आग्रह को छोड़कर पदार्थ को कथञ्चित् नित्यानित्यात्मक स्वीकार करना चाहिए। यही सिद्धान्त श्रेयस्कर है। इत्यादि प्रकार से विचार करने पर बौद्धों का क्षणभङ्गवाद निरस्त हो जाता है।

प्रतीत्यसमुत्पादवाद :

पूर्वपक्ष– वैभाषिक नामक बौद्धदार्शनिक प्रतीत्समुत्पादवाद को अङ्गीकार करके विश्व के वैचित्र्य का वर्णन करते हैं। उनका कहना है कि यह विश्ववैचित्र्य प्रधान, ईश्वर आदि की अपेक्षा के बिना ही प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वारा उत्पन्न होता है।

प्रतीत्यसमुत्पाद बौद्धदर्शन का एक विशिष्ट सिद्धान्त है। प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ है– सापेक्षकारणतावाद। अर्थात् किसी वस्तु के सद्भाव में अन्य वस्तु की उत्पत्ति। इसी बात को इस प्रकार बतलाया गया है– "**अस्मिन् सति इदं भवति, अस्योत्पादादयमुत्पद्यते, इतीदं प्रत्ययार्थः प्रतीत्यसमुत्पादार्थः।**" इसका अर्थ यह है कि इसके होने पर यह होता है। इसके उत्पन्न होने पर यह उत्पन्न होता है। इस प्रकार का प्रतीत्यसमुत्पाद कारण और कार्य के नियम को बतलाता है। यह कारण और कार्य का नियम सर्वत्र देखा जाता है। कारण के बिना कोई भी वस्तु उत्पन्न नहीं होती है। जो भी उत्पाद होता है वह हेतु और प्रत्यय सापेक्ष होता है। घट की उत्पत्ति मिट्टी, कुम्भकार, दण्ड, चक्र आदि से होती है। मिट्टी घट का हेतु है तथा कुम्भकार, दण्ड, चक्र आदि उसके प्रत्यय हैं। अतः हेतु और प्रत्यय की अपेक्षा से होने वाले पदार्थ के उत्पाद को प्रतीत्यसमुत्पाद कहते हैं। प्रतीत्यसमुत्पाद के बारह अङ्ग होते हैं जो इस प्रकार हैं– (1) अविद्या, (2) संस्कार, (3) विज्ञान, (4) नामरूप, (5) षडायतन, (6) स्पर्श, (7) वेदना, (8) तृष्णा, (9) उपादान, (10) भव, (11) जाति और (12) जरामरण। इन अङ्गों को निदान भी कहते हैं। इसी का नाम भवचक्र है। इन बारह अङ्गों में से पूर्व के दो अङ्गों का सम्बन्ध अतीत जन्म से है और अन्तिम दो अङ्गों का सम्बन्ध भविष्य जन्म से है तथा शेष आठ अङ्गों का सम्बन्ध वर्तमान जीवन से है। इस विषय में आचार्य वसुबन्धु ने '**अभिधर्मकोश**' में कहा है–

स प्रतीत्यसमुत्पादः द्वादशाङ्गः त्रिकाण्डकः।
पूर्वापरान्तयोः द्वे द्वे मध्येऽष्टौ परिपूरणाः।।

प्रतीत्यसमुत्पाद के बारह अङ्गों में पूर्व-पूर्व का अङ्ग कारण है और उत्तर-उत्तर का अङ्ग कार्य है। जैसे पूर्ववर्ती अविद्या कारण है और उत्तरवर्ती संस्कार उसका कार्य है। पुनः पूर्ववर्ती संस्कार कारण है और उत्तरवर्ती विज्ञान उसका कार्य है। इत्यादि प्रकार से उन सब अङ्गों में कार्यकारणभाव समझ लेना चाहिए। संसार का प्रधान कारण अविद्या है। अविद्या से संस्कार की उत्पत्ति होती है। संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नामरूप, नामरूप से षडायतन, षडायतन से स्पर्श, स्पर्श से वेदना, वेदना से तृष्णा, तृष्णा से उपादान, उपादान से भव, भव से जाति और जाति से जरामरण की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार संसार का चक्र चलता रहता है।

क्षणिक, निरात्मक, अशुचि और दुःखरूप पदार्थों में इनसे विपरीत ज्ञान को अविद्या कहते हैं। जैसे क्षणिक को अक्षणिक, अशुचि को शुचि, निरात्मक को सात्मक मानना अविद्या है। सूक्ष्म मानसिक प्रवृत्ति को संस्कार कहते है। रागादि क्लेश, मदमानादि उपक्लेश और धर्म-अधर्म (पुण्य-पाप)- ये सब संस्कार के अन्तर्गत आते हैं। मुख्यरूप से संस्कार के द्वारा राग और द्वेष का ग्रहण किया जाता है। वस्तु के ज्ञान को विज्ञान कहते हैं। यह छह प्रकार का होता है- पाँच इन्द्रिय विज्ञान और एक मनोविज्ञान। नामरूप शब्द से दो चीजों का बोध होता है- नाम और रूप। नाम के द्वारा मानसिक वृत्तियों का बोध होता है और रूप का तात्पर्य शारीरिक वृत्तियों से है। नाम चार प्रकार का है- वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान। रूप ग्यारह प्रकार का है- पाँच इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के पाँच अर्थ और अविज्ञप्ति। नामरूप के आश्रयभूत छह इन्द्रियों को षडायतन कहते हैं। विषय, इन्द्रिय और विज्ञान- इन तीनों के समूह को स्पर्श कहते हैं। स्पर्श के होने पर जो अनुभव होता है, वह वेदना है। लोभ को तृष्णा कहते हैं। तृष्णा के वैपुल्य को उपादान कहते हैं। पुनर्भव के जनक कर्म को भव कहते हैं। अपूर्व स्कन्ध के प्रादुर्भाव को जाति (जन्म) कहते हैं। जाति स्कन्ध के परिपाक को जरा और उसके विनाश को मरण कहते हैं। इस प्रकार यहाँ प्रतीत्यसमुत्पाद के बारह अङ्गों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है। इसमें अधिकांश शब्द लाक्षणिक हैं।

उत्तरपक्ष– वैभाषिकों के द्वारा प्रतिपादित प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त समीचीन नहीं है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि प्रतीत्यसमुत्पाद के जो अविद्या आदि बारह अङ्ग बतलाये गये हैं, वे मुमुक्षुओं के लिए उपयोगी होने से बतलाये गये हैं अथवा इसलिए बतलाये गये हैं कि वे इतने ही हैं। यह कहना अत्यन्त कठिन है कि कुल बारह ही अङ्ग हैं तथा इनके अतिरिक्त अन्य कोई अङ्ग नहीं है। ऐसा भी नहीं है कि मुमुक्षुओं के लिए इतने ही अङ्ग उपयोगी हैं। मिथ्याज्ञानरूप अविद्या की तरह मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्र भी संसार के हेतु होने से हेय हैं। इसके विपरीत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्ष के हेतु होने से मुमुक्षुओं के लिए उपादेय हैं। अविद्या से अत्यन्त विलक्षण होने के कारण मिथ्यादर्शनादि का अविद्या में अन्तर्भाव नहीं हो सकता है। फिर भी यदि अविद्या में ही मिथ्यादर्शनादि का अन्तर्भाव माना जाय तो चार आर्यसत्यों में ही सब अङ्गों का अन्तर्भाव मान लीजिए। ऐसी स्थिति में महात्मा बुद्ध के द्वारा प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वादश अङ्गों का उपदेश देना निरर्थक है और मुमुक्षुओं के लिए उपयोगी होने से केवल चार आर्यसत्यों का उपदेश देना ही सार्थक है।

क्षणिक, निरात्मक आदि पदार्थों में अक्षणिक, सात्मक आदि के विपरीत ज्ञान को जो अविद्या कहा है वह भी गलत है। यथार्थ में पदार्थों में क्षणिक आदि का ज्ञान ही अविद्यारूप है। अतत्त्व में तत्त्वज्ञान को अविद्या कहते हैं। सर्वथा क्षणिकत्व और नैरात्म्य अतत्त्व हैं। इसके विपरीत अक्षणिकत्व और सात्मकत्व तत्त्व हैं और इनका ज्ञान विद्या है। रागादि को संस्कार कहना भी गलत है। क्योंकि **'संस्क्रियन्ते इति संस्काराः'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार रागादि की तरह सम्पूर्ण पदार्थ भी संस्कार शब्द के वाच्य हो जायेंगे। रागादि को पुण्यादिरूप बतलाना भी ठीक नहीं है। रागादि में पुण्यादि का व्यपदेश लोक और शास्त्र में कहीं भी नहीं किया गया है। सुखादि के साधन धर्मादि को ही पुण्यरूप माना गया है। इसी प्रकार संस्कार से विज्ञान की उत्पत्ति बतलाना अज्ञान का सूचक है। रागादि तो विज्ञान के प्रतिपक्षभूत हैं। उनके द्वारा विज्ञान की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? नामरूप को विज्ञान से उत्पन्न मानना आश्चर्यजनक है। विज्ञान से नाम और रूप की उत्पत्ति सम्भव नहीं है, परन्तु नामरूप से ही विज्ञान की उत्पत्ति होती है। इसी तरह नामरूप से षडायतन की उत्पत्ति मानना भी सङ्गत नहीं है। एक बात यह भी है कि रूपस्कन्ध में ही षडायतन का अन्तर्भाव हो जाने से इसका पृथक्

कथन करना निरर्थक है। इत्यादि प्रकार से विचार करने पर वैभाषिक प्रतिपादित द्वादशाङ्गरूप प्रतीत्यसमुत्पाद निरस्त हो जाता है।

सौत्रान्तिकमत अनेकान्त का अविनाभावी :

सौत्रान्तिक बौद्ध मानते हैं कि ज्ञान विषय से उत्पन्न होता है और विषयाकार को धारण कर लेता है। उन्होंने कहा है–

"संवित्तेरभेदेऽपि विषयाकारस्यैव विषयसाधनत्वं नाकारान्तरस्य।"

अर्थात् ज्ञान के निरंश होने पर भी विषयाकार (नीलाद्याकार) ही नीलादि विषय का व्यवस्थापक होता है, अन्य कोई आकार नहीं। इसका उत्तर देने के लिए आचार्य कहते हैं–

नाभेदेऽपि विरुद्ध्येत विक्रिया विक्रियैव वा।

अर्थात् ज्ञान में अभेद होने पर भी विक्रिया के होने में कोई विरोध नहीं आता है। यहाँ नवमी कारिका के पूर्वार्ध में विक्रिया शब्द दो बार आया है। पहली विक्रिया का अर्थ है– विकार और दूसरी विक्रिया का अर्थ है– नाना कार्यों को करना। विकार का अर्थ है– पूर्वाकार का परित्याग और उत्तराकार का परिग्रहण। कारिका में '**वा**' शब्द का प्रयोग '**इव**' के अर्थ में किया गया है तथा '**एव**' शब्द का सम्बन्ध '**न**' शब्द के साथ '**नैव विरुद्ध्येत**' इस प्रकार से किया गया है।

इसका विशेष अर्थ यह है कि यद्यपि परमार्थ से अनेक (नीलपीतादिरूप) अर्थक्रियाकारी ज्ञान एक है; किन्तु मिथ्या व्यवहार के भेद से वह अनेक भी है। बौद्धमत में ज्ञान को अनेक अर्थक्रियाकारी माना गया है। इसका मतलब यह है कि ज्ञान नीलपीतादि अनेक अर्थों की क्रिया (परिच्छित्ति) को करता है। इस दृष्टि से वह अनेक अर्थक्रियाकारी होकर भी एक है। परन्तु मिथ्या व्यवहार के भेद से वह अनेक भी है। मिथ्या व्यवहार का अर्थ है– कल्पनाकल्पितव्यवहार। जैसे अनीलाद्याकार की व्यावृत्ति से नीलाद्याकार की कल्पना करना। इसका तात्पर्य यह है कि जो ज्ञान अनील की व्यावृत्ति से नीलाकार का परिच्छेदक होता है वही अपीत की व्यावृत्ति से पीत का परिच्छेदक होता है। इस प्रकार ज्ञान के नील-पीतादि आकार तत्त्व को भेदाभेदात्मक सिद्ध करते हैं।

कहीं 'विक्रिया विक्रियैव वा' के स्थान में 'विक्रियाऽविक्रियैव वा' ऐसा भी पाठ है। इसका अर्थ है कि अभेद में भी विक्रिया और अविक्रिया के होने में कोई विरोध नहीं है। पूर्व आकार को छोड़कर उत्तर आकार को धारण करने का नाम विक्रिया या विकार है। तथा पूर्व और उत्तर आकारों में अनुस्यूत रहने का नाम अविक्रिया या अविकार है। द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से वस्तु के धर्मों में कोई भेद नहीं है, परन्तु पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से उनमें भेद पाया जाता है। इस प्रकार विचार करने पर वस्तु कथञ्चित् भेदाभेदात्मक, कथञ्चित् नित्यानित्यात्मक और कथञ्चित् सदसदात्मक सिद्ध होती है।

इस तरह बौद्धदर्शनान्तर्गत सौत्रान्तिक मत को अनेकान्त का अविनाभावी सिद्ध करके अब योगाचार मत को अनेकान्त का अविनाभावी सिद्ध करते हैं-

योगाचारमत अनेकान्त का अविनाभावी :

मिथ्येतरात्मकं दृश्यादृश्यभेदेतरात्मकम्।।9।।
चित्तं सदसदात्मैकं तत्त्वं साधयति स्वतः।

मिथ्या और सत्यरूप, दृश्य और अदृश्यरूप तथा भेद और अभेदरूप चित्त (ज्ञान) स्वयं सदसदात्मक एक तत्त्व को सिद्ध करता है।

योगाचार विज्ञानाद्वैतवादी हैं। वे मानते हैं कि चित्त मिथ्या और अमिथ्या- दोनों रूप होता है। वह बाह्याकार की अपेक्षा से मिथ्या होता है और स्वरूप की अपेक्षा से अमिथ्या (सत्य) होता है। वही चित्त स्वरूप की अपेक्षा से अदृश्य और ग्राह्य आकार की अपेक्षा से दृश्य होता है। इसी प्रकार वह ग्राह्य-ग्राहक आकार की अपेक्षा से भेदरूप और ज्ञान की अपेक्षा से अभेदरूप होता है। इस तरह मिथ्या-अमिथ्यारूप दृश्य-अदृश्यरूप और भेदाभेदरूप चित्त (ज्ञान) स्वयं ही जीव, अजीव आदि तत्त्वों को सदसदात्मक सिद्ध करता है। अर्थात् कोई भी तत्त्व एकान्तात्मक नहीं है, अपितु सभी तत्त्व अनेकान्तात्मक हैं। योगाचार अभिमत चित्त भी तत्त्व को अनेकान्तात्मक सिद्ध करता है। एकान्तात्मक तत्त्व की उपलब्धि तो स्वप्न में भी नहीं होती है। अतः तत्त्व को अनेकान्तात्मक मानना आवश्यक है। प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ऐसे ही तत्त्व की सिद्धि होती है।

द्रव्य में उत्पादादित्रयात्मकत्त्व का समर्थन :

यौग मानते हैं कि सत्ता के समवाय से द्रव्यादि में सत्त्व पाया जाता है। द्रव्य, गुण और कर्म में सत्ता का समवाय रहता है। इसी कारण द्रव्य, गुण और कर्म में सत् का व्यवहार होता है। इसके विपरीत जैनदार्शनिक सत्ता के समवाय से द्रव्य को सत् न मानकर द्रव्य का लक्षण सत् मानते हैं। जैसा कि **तत्त्वार्थसूत्र** में कहा गया है – **'सद् द्रव्यलक्षणम्'**। (5/29) अर्थात् द्रव्य का लक्षण सत् है तथा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त द्रव्य को सत् कहा गया है। तथाहि– **'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।'** (5/30) इसका तात्पर्य यह है कि जिसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पाया जाता है उसे सत् कहते हैं। जब हम कहते हैं कि द्रव्य का लक्षण सत् है तो इसका मतलब यह है कि द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त होने से सत् है, सत्ता के समवाय से नहीं।

यहाँ कोई शङ्का कर सकता है कि यदि उत्पादव्ययध्रौव्य युक्त होने से जीवादि द्रव्य सत् हैं तो उत्पाद आदि में भी अन्य उत्पाद आदि के योग से सत्त्व होगा और ऐसा मानने पर अनवस्था दोष का प्रसङ्ग आता है। यदि इस दोष का निराकरण करने के लिए उत्पाद आदि को स्वयं सत् माना जाता है तो वस्तु को भी स्वयं सत् मान लीजिए। उत्पादादि के योग से उसमें सत्त्व की कल्पना करने से क्या लाभ है?

उक्त प्रकार की शङ्का समीचीन नहीं है। जो लोग सत्ता के सम्बन्ध से वस्तु को सत् मानते हैं उनका मत युक्तिसङ्गत नहीं है। यौग द्रव्य, गुण और कर्म को सत्ता के सम्बन्ध से सत् मानते हैं, परन्तु सामान्य, विशेष और समवाय में सत्ता के सम्बन्ध के बिना भी सत् व्यवहार होता है। इसका कारण क्या है? अर्थात् जिस प्रकार सामान्य, विशेष और समवाय में सत्तासम्बन्ध के बिना भी सत् व्यवहार होता है, उसी प्रकार द्रव्यादि में भी सत्तासम्बन्ध के बिना ही सत् व्यवहार मान लेना चाहिए। वहाँ सत्तासम्बन्ध मानने की क्या आवश्यकता है?

यहाँ एक प्रश्न यह भी है कि सत्ता स्वयं सत् है या असत्? यदि सत्ता स्वयं असत् है तो वह अपने सम्बन्ध से द्रव्यादि के सत्त्व में हेतु नहीं हो सकती है। जिस प्रकार असत् खरविषाण अन्य किसी के सत्त्व

में हेतु नहीं होता है, उसी प्रकार असत् सत्ता द्रव्यादि के सत्त्व में हेतु नहीं हो सकती है। अब यदि ऐसा माना जाय कि सत्ता सत् है तो यहाँ भी वही प्रश्न होता है कि सत्ता स्वयं सत् है या अन्य किसी सत्ता के सम्बन्ध से सत् है? यदि सत्ता स्वयं सत् है तो द्रव्य, गुण और कर्म को भी स्वयं सत् मान लीजिए, सत्ता के सम्बन्ध से द्रव्यादि में सत्त्व की कल्पना करने से क्या लाभ है? सत्ता को स्वयं सत् न मानकर दूसरी सत्ता के सम्बन्ध से सत् मानने पर अनवस्था दोष अनिवार्य है।

इसी प्रकार द्रव्य में अर्थक्रिया के द्वारा भी सत्त्व की सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि अर्थक्रिया अर्थ से भिन्न होती है। जो जिससे भिन्न होता है उससे उसका सत्त्व सिद्ध नहीं होता है। जैसे घट से पट का सत्त्व भिन्न है तो घट के द्वारा पट का सत्त्व सिद्ध नहीं हो सकता है। अर्थक्रिया भी अर्थ से भिन्न होती है, तब अर्थक्रिया के द्वारा अर्थ का सत्त्व कैसे सिद्ध होगा? यहाँ कोई पूछ सकता है कि अर्थक्रिया अर्थ से भिन्न क्यों है? इसका उत्तर यह है कि पदार्थ पूर्वकालभावी है और अर्थक्रिया उत्तरकालभावी। पूर्व में उत्पन्न पदार्थ ही बाद में अर्थक्रिया करता है। इस विवेचन से यही सिद्ध होता है कि अन्य किसी कारण से वस्तु में सत्त्व सिद्ध नहीं हो सकने के कारण उत्पादव्ययध्रौव्य युक्त होने से ही इसमें सत्त्व मानना चाहिए।

आचार्य समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा में दो दृष्टान्तों द्वारा वस्तु को अच्छी तरह से उत्पादव्ययध्रौव्य युक्त सिद्ध किया है।

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्।।

- आप्तमीमांसा, का. 59

इसका अर्थ यह है कि स्वर्ण का एक घट था। उसे तोड़कर एक मुकुट बनाया गया। जो पुरुष स्वर्णघट का इच्छुक था उसे स्वर्णघट के नाश से शोक हुआ; किन्तु जो पुरुष स्वर्णमुकुट का इच्छुक था उसे स्वर्णमुकुट के उत्पाद से हर्ष हुआ। एक तीसरा व्यक्ति ऐसा भी था जो केवल स्वर्ण का इच्छुक था। वह दोनों ही अवस्थाओं में मध्यस्थ रहता है। उसे स्वर्णघट के नाश से न तो शोक होता है और न स्वर्णमुकुट के उत्पाद से हर्ष होता है। ये तीनों ही बातें सहेतुक हैं। स्वर्णघट के इच्छुक मनुष्य के

शोक का कारण है स्वर्णघट का नाश। स्वर्णमकुट के इच्छुक मनुष्य के हर्ष का कारण है स्वर्णमुकुट का उत्पाद। और केवल स्वर्ण के चाहने वाले पुरुष के माध्यस्थ्यभाव का कारण है दोनों ही अवस्थाओं में स्वर्ण का ध्रौव्यत्व। इस लौकिक दृष्टान्त से यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप होती है। एक पर्याय का नाश होने पर दूसरी पर्याय की उत्पत्ति होती है, किन्तु दोनों ही पर्यायों में वस्तु ध्रौव्यरूप से बराबर बनी रहती है, उसका कभी नाश नहीं होता है। प्रत्येक वस्तु में उत्पादव्ययध्रौव्य की प्रतीति निर्बाध रूप से होती है और यह प्रतीति वस्तु को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप सिद्ध करती है।

अब इसी विषय में दूसरा दृष्टान्त देखिए-

पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात् तत्त्वं त्रयात्मकम्।।

- आप्तमीमांसा, का. 60

इसका अर्थ यह है कि जिसके दूध खाने का व्रत है वह दधि नहीं खाता है, जिसके दधि खाने का व्रत है वह दूध नहीं खाता है और जिसके गोरस नहीं खाने का व्रत है वह दोनों (दूध और दधि) नहीं खाता है। इस शास्त्रीय दृष्टान्त से यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक तत्त्व तीन रूप (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप) है।

इसका तात्पर्य यह है कि दुग्ध पर्याय का नाश होने पर दधि पर्याय की उत्पत्ति होती है, किन्तु गोरस का अन्वय दोनों पर्यायों में बराबर बना रहता है। यद्यपि दुग्ध और दधि- ये दोनों पर्यायें भिन्न हैं, किन्तु दोनों ही पर्यायों में गोरस का ध्रौव्यत्व बना रहता है। अतः प्रत्येक तत्त्व उत्पाद आदि तीन रूप है। वस्तु के त्रयात्मक होने पर भी उसके नित्यानित्यात्मक होने में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि ध्रौव्यत्व की अपेक्षा से वस्तु नित्य है तथा उत्पाद और विनाश की अपेक्षा से वह अनित्य है। उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त होने से ही वस्तु सत् कहलाती है और सत् ही द्रव्य का लक्षण है। इस प्रकार जैनदार्शनिकों ने द्रव्य में उत्पादादित्रयात्मकत्व का युक्तिपूर्वक समर्थन किया है।

।।प्रथम प्रमाणप्रवेश के अन्तर्गत द्वितीय विषयपरिच्छेद समाप्त।।

अब परोक्ष प्रमाण के भेद तथा स्वरूप बतलाने के लिए कहते हैं-

परोक्ष का स्वरूप और भेद :

ज्ञानमाद्यं मतिः संज्ञा चिन्ता चाभिनिबोधिकम्।।10।।

प्राङ्नामयोजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात्।

मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध- ये पाँच ज्ञान नामयोजना से पहले आद्य अर्थात् सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष हैं और शब्दयोजना के होने पर वे ज्ञान श्रुत अर्थात् परोक्ष कहलाते हैं।

इस कारिका के द्वारा '**मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ता चाभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्**' (तत्त्वार्थसूत्र 1/13) इस सूत्र का समन्वय किया गया है। **तत्त्वार्थसूत्र** में आगम के परिप्रेक्ष्य में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को परोक्ष कहा गया है। तथा मति, स्मृति, संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्क) और अभिनिबोध (अनुमान)- इन ज्ञानों को पर्यायवाची माना गया है। आगमिक परम्परा के अनुसार ये सभी ज्ञान परोक्ष हैं। आगम में बतलाया गया है कि पर की सहायता से पदार्थ का जो ज्ञान होता है वह परोक्ष है और केवल आत्मा के द्वारा पदार्थ का जो ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष है। जैन-आगमिक परम्परा में प्रत्यक्ष और परोक्ष का यह लक्षण **कुन्दकुन्द**, **उमास्वामी**, **पूज्यपाद** आदि सभी आचार्यों को मान्य है; किन्तु अन्य सभी दर्शनों ने इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष माना है। इस कारण प्रत्यक्ष शब्द के अर्थ के विषय में जैनदर्शन का अन्य किसी दर्शन से मेल नहीं बैठता था।

अकलङ्कदेव ने अन्य दर्शनों के साथ प्रत्यक्ष का समन्वय करने के लिए इन्द्रियजन्य ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष नाम देकर इस समस्या को सदा के लिए सुलझा दिया। इससे आगमिक-परम्परा में भी कोई बाधा नहीं आई। क्योंकि आगमिक-परम्परा में जिसे मतिज्ञान कहा है उसे ही दार्शनिक परम्परा में सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा गया है। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के दो भेद हैं- इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष। अवग्रह आदि चारों मति ज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष के भेद हैं और स्मृति आदि चारों ज्ञान अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष के भेद हैं। इन्द्रिय प्रत्यक्ष की उत्पत्ति में इन्द्रियों की

प्रधानता रहती है और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष की उत्पत्ति में मन की प्रधानता रहती है। परन्तु यहाँ जानने योग्य विशेष बात यह है कि **अकलङ्कदेव** ने मति आदि ज्ञानों को शब्द योजना से पहले सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है और उन्हीं ज्ञानों में शब्दयोजना होने पर श्रुतज्ञान होने के कारण उन्हें परोक्ष बतलाया है।

शब्दयोजनासहित ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं। इसका मतलब क्या है? संस्कृत भाषा की 'श्रु' धातु से श्रुत शब्द बना है। उसका अर्थ होता है– सुनना। इसलिए जो सुना जाता है वह श्रुत है। **'श्रूयते इति श्रुतम्'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार श्रुत का अर्थ शब्द होता है। इसी कारण द्वादशाङ्गवाणी को श्रुत कहते हैं, क्योंकि तीर्थङ्कर के मुख से उसे गणधर ने सुना था। इससे यह स्पष्ट होता है कि श्रुतज्ञान में शब्द की प्रधानता रहती है। यही कारण है कि **अकलङ्कदेव** ने शब्दयोजना सहित मति, स्मृति आदि ज्ञानों को श्रुतज्ञान और शब्द योजना से पूर्व उन ज्ञानों को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है। उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह है कि जो मति, स्मृति आदि ज्ञान शब्द प्रयोग के बिना उत्पन्न होते हैं वे परोक्ष न होकर सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष हैं और शब्द प्रयोग करने पर जो मति, स्मृति आदि ज्ञान उत्पन्न होते हैं उन्हें परोक्ष समझना चाहिए। यहाँ इतना और ज्ञातव्य है कि इन ज्ञानों में पूर्व-पूर्व ज्ञान कारण है और उत्तर-उत्तर ज्ञान उसका कार्य या फल है। धारणारूप मतिज्ञान स्मृति का कारण है, स्मृति प्रत्यभिज्ञान का कारण है, प्रत्यभिज्ञान तर्क का कारण है और तर्क अनुमान का कारण है।

स्मृतिप्रामाण्यवाद :

पूर्वपक्ष– स्मृति प्रमाण है या नहीं? बौद्ध आदि कुछ दार्शनिक कहते हैं कि स्मृति प्रमाण नहीं है। उनका कहना है कि स्मृति शब्द का वाच्यार्थ क्या है– ज्ञाता अथवा ज्ञान? इनमें से प्रथम विकल्प तो ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्वोत्तर ज्ञान के व्यतिरिक्त कोई ज्ञाता सम्भव ही नहीं है। अब यदि ज्ञान को स्मृति शब्द का वाच्य माना जाय तो इस पक्ष में भी दो विकल्प होते हैं। कैसा ज्ञान स्मृति शब्द का वाच्य होता है– ज्ञानमात्र अथवा अनुभूतविषयक ज्ञान? ज्ञानमात्र को स्मृति शब्द का वाच्य मानने पर तो प्रत्यक्षादि को भी स्मृति शब्द का वाच्य मानना पड़ेगा। अब यदि अनुभूतविषयक ज्ञान को स्मृति शब्द का वाच्य माना जाय तो देवदत्त

के द्वारा अनुभूत अर्थ में यज्ञदत्त को होने वाला ज्ञान भी स्मृति कहलायेगा। इस दोष को दूर करने के लिए यदि ऐसा कहा जाय कि जिस व्यक्ति ने जिस वस्तु का अनुभव किया है उसी को उस वस्तु में होने वाले ज्ञान को स्मृति कहेंगे तो ऐसा कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर धारावाहिक प्रत्यक्ष को भी स्मृति मानना पड़ेगा, क्योंकि पूर्व में अनुभूत वस्तु का अनुभव धारावाहिक प्रत्यक्ष में होता ही है। इस प्रकार स्मृति का कोई स्वरूपसिद्ध नहीं होता है।

अब स्मृति के विषय पर विचार करना है। क्या स्मृति का विषय अर्थमात्र है अथवा अनुभूतताविशिष्ट अर्थ उसका विषय है? प्रथम पक्ष में अर्थमात्र को स्मृति का विषय मानने पर प्रत्यक्षादि सब प्रमाणों को स्मृति मानना पड़ेगा। अब यदि अनुभूतताविशिष्ट अर्थ को स्मृति का विषय माना जाता है तो ऐसा मानने पर दोष यह है कि देवदत्त के द्वारा अनुभूत अर्थ में यज्ञदत्त को होने वाले ज्ञान का विषय तथा धारावाहिक ज्ञान का विषय भी स्मृति का विषय कहलायेगा।

एक बात यह भी है कि स्मृति को अनुभूतार्थविषयक मानने पर उसका विषय अविद्यमान होने के कारण स्मृति में प्रामाण्य नहीं बनेगा, क्योंकि जिसका विषय अविद्यमान होता है उस ज्ञान में प्रामाण्य नहीं होता है। जैसे आकाश में केशपाश का ज्ञान। स्मृति का विषय भी विद्यमान नहीं है। अतः उसमें प्रामाण्य सम्भव नहीं है। अर्थक्रियासमर्थ अर्थ के प्रापक को प्रमाण माना गया है। इसलिए अविद्यमान अर्थ को विषय करने के कारण भी स्मृति को प्रमाण नहीं माना जा सकता है। ऐसा पूर्वपक्ष का कथन है।

उत्तरपक्ष– पूर्वपक्ष का यह कथन सर्वथा गलत है कि स्मृति प्रमाण नहीं है। उनका यह कथन भी समीचीन नहीं है कि स्मृति का वाच्य क्या है– ज्ञाता अथवा ज्ञान? हम ज्ञान को ही स्मृति का वाच्य मानते हैं, किन्तु ज्ञानमात्र को स्मृति नहीं मानते। यदि ज्ञानमात्र को स्मृति मानते होते तब सब ज्ञानों में स्मृति होने का प्रसङ्ग आता, परन्तु धारणा नामक संस्कार से उत्पन्न होने वाले, 'वह' इस प्रकार के आकार वाले तथा अनुभूत अर्थ को विषय करने वाले ज्ञानविशेष को स्मृति मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। कारण, स्वरूप और विषय के भेद से स्मृति प्रत्यक्षादि ज्ञानों

से भिन्न है। स्मृति का हेतु धारणा नामक संस्कार है और प्रत्यक्षादि के हेतु चक्षुरादि होते हैं। यह कारणभेद है। प्रत्यक्षादि का उल्लेख **'इदम्'** (यह) इत्यादि रूप से होता है और स्मृति का उल्लेख 'तत्' (वह) इस रूप से होता है। यह स्वरूपभेद है। प्रत्यक्षादि का विषय वर्तमान आदि अर्थ होता है और स्मृति का विषय अनुभूत अर्थ होता है, यह विषयभेद है।

इस प्रकार कारण, स्वरूप और विषय के भेद से स्मृति को प्रत्यक्षादि से भिन्न होने पर भी यदि कोई व्यक्ति स्मृति को अप्रमाण कहता है तो उसे स्मृति के अप्रामाण्य का कारण बतलाना चाहिए। वह कारण क्या हो सकता है– गृहीतग्राहित्व, परिच्छित्तिविशेष का अभाव, असत् (अतीत) अर्थ में प्रवर्तमानत्व, अर्थ से अनुत्पद्यमानत्व, विसंवादकत्व, समारोप का अव्यवच्छेदकत्व और प्रयोजन का असाधकत्व? अब क्रमशः इन पर विचार किया जा रहा है। इनमें से गृहीतग्राही होने मात्र से स्मृति को अप्रमाण कहना ठीक नहीं है। अन्यथा अनुमान से गृहीत अग्नि में होने वाले प्रत्यक्ष को भी अप्रमाण मानना पड़ेगा। ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है कि स्मृति में परिच्छित्तिविशेष का अभाव रहता है। किसी स्थान विशेष में निहित, मन्त्रित, अधीत आदि के विषय में परिच्छित्तिविशेष पाया ही जाता है। यह कहना भी ठीक नहीं है कि असत् (अतीत) अर्थ में प्रवृत्ति करने के कारण स्मृति अप्रमाण है, क्योंकि अतीत अर्थ का स्वकाल में तो अस्तित्व रहता ही है। स्मृतिकाल में उसका असत्त्व स्मृति के अप्रामाण्य का कारण नहीं माना जा सकता है। अन्यथा प्रत्यक्ष को अप्रमाण मानना पड़ेगा, क्योंकि बौद्धों ने ऐसा माना है कि प्रत्यक्षग्राह्य अर्थ प्रत्यक्षकाल में विद्यमान नहीं रहता है। इसका कारण यह है कि बौद्धों के यहाँ ज्ञान और अर्थ का काल भिन्न माना गया है। अर्थ से उत्पन्न न होने के कारण स्मृति को अप्रमाण मानना गलत है। यथार्थ बात तो यह है कि कोई भी ज्ञान अर्थ से उत्पन्न नहीं होता है। ज्ञान और अर्थ में कार्यकारणभाव का सर्वथा अभाव है। किसी भी स्थिति में ज्ञान अर्थ का कार्य सिद्ध नहीं होता है। स्मृति स्वप्रतिपन्न अर्थ में विसंवादक न होकर अविसंवादक ही होती है। कदाचित् विसंवादक होने से स्मृति को अप्रमाण माना जाय तो प्रत्यक्ष में भी कभी विसंवाद देखा जाता है। इसलिए प्रत्यक्ष को भी विसंवादक होने से अप्रमाण मानना पड़ेगा। यदि स्मृति में कहीं विसंवाद पाया जाता

है तो वह स्मृति न होकर स्मृत्याभास कहलाता है। इसी प्रकार प्रत्यक्ष ग्राह्य अर्थ में विसंवाद होने पर वह प्रत्यक्षाभास कहलायेगा। स्मृति को समारोप (संशयादि) का व्यवच्छेदक नहीं मानना सङ्गत नहीं है। स्मृति निश्चितरूप से अपने विषय में समारोप का व्यवच्छेद करती है। इसी प्रकार स्मृति स्वप्रयोजन का असाधक न होकर साधक होती है। स्मृति अनुमान की प्रवृत्ति का अङ्ग होती है। जब तक धूम और वह्नि के अविनाभाव सम्बन्ध का स्मरण न हो तब तक अनुमान उत्पन्न नहीं हो सकता है। अतः ऐसा कोई कारण नहीं है जो स्मृति को अप्रमाण सिद्ध कर सके। लोकव्यवहार में स्मृति के आधार पर अनेक कार्य सम्पन्न होते हैं। किसी ने पृथिवी के अन्दर स्वर्णादि का निक्षेप कर दिया और कालान्तर में स्मृति के द्वारा उसकी प्राप्ति हो जाती है। इत्यादि अनेक कारणों से स्मृति में प्रामाण्य सिद्ध होता है।

प्रत्यभिज्ञानप्रामाण्यवाद :

पूर्वपक्ष– बौद्ध, मीमांसक आदि कुछ दार्शनिक प्रत्यभिज्ञान को प्रमाण नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि विरुद्धधर्माध्यास होने से, कारणाभाव होने से और विषयाभाव होने से प्रत्यभिज्ञान प्रमाण नहीं है। प्रत्यभिज्ञान क्या है? पूर्व में ज्ञात अर्थ का कालान्तर में 'स एवायम्' 'यह वही है' ऐसे ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। विरुद्धधर्माध्यास होने के कारण इस ज्ञान को एक नहीं माना जा सकता है। जहाँ विरुद्धधर्माध्यास होता है वहाँ एकत्व नहीं हो सकता है। जैसे जल और अनल में एकत्व नहीं है। प्रत्यभिज्ञान में विरुद्धधर्माध्यास होने का कारण यह है कि इसके दो रूप होते हैं– एक अस्पष्टरूप और दूसरा स्पष्टरूप। उसका 'वह' ऐसा आकार स्मरणरूप होने से अस्पष्ट है और 'यह' ऐसा आकार प्रत्यक्षरूप होने से स्पष्ट है। यहाँ यही विरुद्धधर्माध्यास है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्यभिज्ञान एक ज्ञान न होकर दो ज्ञान हैं और इनको एक नहीं माना जा सकता है। अन्यथा प्रत्यक्ष और अनुमान को भी एक मानना पड़ेगा।

इसी प्रकार कारणाभाव होने से भी प्रत्यभिज्ञान प्रमाण नहीं है। यदि प्रत्यभिज्ञान का कोई कारण है तो वह क्या है– इन्द्रिय, पूर्व अनुभव जनित संस्कार अथवा दोनों? वर्तमान अर्थ के ज्ञान का जनक होने के

कारण इन्द्रिय प्रत्यभिज्ञान का कारण नहीं हो सकती है। स्मरण का कारण होने से संस्कार भी प्रत्यभिज्ञान का कारण नहीं है। इन्द्रिय और संस्कार दोनों को प्रत्यभिज्ञान का कारण मानने पर अभी दोनों को कारण मानने में जो दोष बतलाये गये हैं वे इस पक्ष में भी आते हैं। प्रत्यभिज्ञान का अन्य कोई कारण दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है। अतः कारणाभाव होने से प्रत्यभिज्ञान प्रमाण नहीं है। प्रत्यभिज्ञान का कोई विषय भी नहीं है। यदि प्रत्यभिज्ञान का कोई विषय है तो वह क्या है- पूर्वज्ञान में प्रतिभात वस्तु अथवा तदतिरिक्त अन्य कोई वस्तु? प्रथम पक्ष मानने पर गृहीतग्राही होने से धारावाहिक की तरह वह प्रमाण नहीं हो सकता है।

द्वितीय पक्ष में दो विकल्प होते हैं- प्रत्यभिज्ञान के विषय का जो अतिरेक है वह स्वरूपभेदकृत है अथवा कालद्वयसम्बन्धकृत है? यदि उसे स्वरूपभेदकृत माना जाय तो ज्ञान की तरह ज्ञेय में भी प्रतिक्षण स्वरूपभेद पाये जाने के कारण सौगत मत का प्रसङ्ग आता है। अब यदि उसे कालद्वयसम्बन्धकृत माना जाय तो कालद्वयसम्बन्ध अर्थभेद में भी पाया जाता है। लूनपुनर्जात नखकेशादि के अर्थभेद में भी कालद्वयसम्बन्ध पाया ही जाता है। अतः विषयाभाव होने से भी प्रत्यभिज्ञान में प्रामाण्य सिद्ध नहीं होता है। इस प्रकार विरुद्धधर्माध्यास होने से, कारणाभाव होने से और विषयाभाव होने से प्रत्यभिज्ञान को प्रमाण नहीं माना जा सकता है।

यहाँ प्रत्यभिज्ञान के विषय में एक बात और जानने योग्य है कि मीमांसक प्रत्यभिज्ञान को प्रत्यक्षस्वरूप मानते हैं। उनका कहना है कि प्रत्यभिज्ञान में इन्द्रियों का अन्वय-व्यतिरेक पाया जाता है। इस कारण इसको प्रत्यक्ष मानने में कोई विरोध नहीं है। स्मरणपूर्वक होने के कारण इसमें प्रत्यक्षत्व का अभाव नहीं माना जा सकता है, क्योंकि स्मरण के पश्चात् होने पर भी जब सत् पदार्थ के साथ इन्द्रियों का सन्निकर्ष होता है तभी प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न होता है। अतः प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्ष ही है, परोक्ष नहीं। इस विषय में बौद्धों का मत है कि प्रत्यभिज्ञान एक ज्ञान नहीं है, किन्तु दो ज्ञान हैं। यहाँ 'सः' (वह) ऐसा उल्लेख स्मरणरूप है और 'अयम्' (यह) ऐसा उल्लेख प्रत्यक्षरूप है। इन दोनों ज्ञानों में ऐक्य नहीं माना जा सकता है। अतः प्रत्यभिज्ञान एक ज्ञान न होकर दो ज्ञान हैं।

उत्तरपक्ष– प्रत्यभिज्ञान को अप्रमाण मानना सर्वथा गलत है। पूर्वपक्ष ने प्रत्यभिज्ञान में विरुद्धधर्माध्यास आदि दोष बतलाकर उसे अप्रमाण माना है। यहाँ हम यह बतलायेंगे कि प्रत्यभिज्ञान में न तो विरुद्धधर्माध्यास है, न कारणाभाव है और न विषयाभाव है। विरुद्धधर्माध्यास के विषय में हम जानना चाहते हैं कि धर्मों का धर्मी के साथ विरोध है अथवा उनका परस्पर में विरोध है? यह निश्चित है कि धर्मों का धर्मी के साथ विरोध नहीं होता है, क्योंकि धर्मी में धर्मों की प्रतीति होती ही है। जिसकी जहाँ प्रतीति होती है उसका वहाँ विरोध नहीं होता है। जैसे चित्रज्ञान में नीलादि आकारों की प्रतीति होने से उनका वहाँ विरोध नहीं है। प्रत्यभिज्ञान में भी 'यह वही है' इन दोनों (सः और अयम्) आकारों की प्रतीति होती ही है। तब उनमें विरोध को अवकाश कहाँ है? जिसका जहाँ विरोध होता है वह वहाँ कभी भी उपलब्ध नहीं होता है। जैसे अश्व में शृङ्ग का विरोध होने से वहाँ शृङ्ग कभी उपलब्ध नहीं होता है। यतः प्रत्यभिज्ञान में उक्त दोनों आकार पाये ही जाते हैं, अतः धर्मी में धर्मों का विरोध सिद्ध नहीं होता है। अब यदि धर्मों में परस्पर विरोध है तो इससे धर्मी की कुछ भी हानि नहीं होती है, जिससे विरुद्धधर्माध्यास के कारण धर्मी (प्रत्यभिज्ञान) में भेद माना जाय।

प्रत्यभिज्ञान में कारणाभाव भी सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि दर्शन और स्मरणरूप प्रत्यभिज्ञान का कारण विद्यमान रहता है। प्रत्यभिज्ञान के साथ दर्शनस्मरणरूप कारण का अन्वय-व्यतिरेक उपलब्ध होता ही है। जिसका जिसके साथ अन्वय-व्यतिरेक रहता है वह उसका कारण होता है। जैसे बीज का अङ्कुर के साथ अन्वय-व्यतिरेक होने से बीज अङ्कुर का कारण है। प्रत्यभिज्ञान के साथ भी दर्शनस्मरणरूप अन्वय-व्यतिरेक पाये जाने से दर्शनस्मरण प्रत्यभिज्ञान का कारण सिद्ध होता है। अतः प्रत्यभिज्ञान में कारणाभाव नहीं है। प्रत्यभिज्ञान एक कार्य है और जो भी कार्य होता है वह कारणपूर्वक ही होता है। इस दृष्टि से भी प्रत्यभिज्ञान का कारण मानना आवश्यक है। इसी प्रकार प्रत्यभिज्ञान में विषयाभाव भी नहीं है, क्योंकि पूर्वोत्तरपर्यायव्यापी एक द्रव्य प्रत्यभिज्ञान का विषय होता है। प्रत्यभिज्ञान में प्रत्यक्षादि से स्वरूपवैलक्षण्य पाया जाता है। इस कारण उसमें विषयवैलक्षण्य मानना भी आवश्यक है। जिस प्रकार प्रत्यक्ष और स्मरण में स्वरूपवैलक्षण्य होने से विषयवैलक्षण्य है

उसी प्रकार प्रत्यभिज्ञान और प्रत्यक्षादि में भी विषयवैलक्षण्य है।

यहाँ कोई ऐसा कहना चाहे कि गृहीतग्राही होने से प्रत्यभिज्ञान अप्रमाण है तो उसका ऐसा कथन सही नहीं है। प्रत्यभिज्ञान गृहीतग्राही नहीं है, क्योंकि पूर्वोत्तरपर्यायव्यापी एक द्रव्य को प्रत्यक्षादि अन्य कोई भी प्रमाण ग्रहण नहीं कर सकता है। प्रत्यक्ष केवल वर्तमान पर्याय को ग्रहण करता है और स्मरण केवल अतीत पर्याय को ग्रहण करता है। अतः पूर्वोत्तरपर्यायव्यापी द्रव्य को केवल प्रत्यभिज्ञान ही ग्रहण करता है, अन्य कोई प्रमाण नहीं। इससे यही सिद्ध होता है कि प्रत्यभिज्ञान गृहीतग्राही नहीं है। कोई प्रमाण प्रत्यभिज्ञान का बाधक भी नहीं है। प्रत्यक्ष प्रत्यभिज्ञान का बाधक नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान के विषय में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति नहीं होती है। जिसकी जिस विषय में प्रवृत्ति नहीं होती है वह उसका बाधक नहीं होता है, जैसे रूपज्ञान रसज्ञान का बाधक नहीं है। प्रत्यक्ष भी प्रत्यभिज्ञान के विषय में प्रवृत्ति नहीं करता है, तब वह उसका बाधक कैसे हो सकता है? इसी प्रकार अनुमान भी प्रत्यभिज्ञान के विषय में प्रवृत्ति न करने के कारण उसका बाधक नहीं होता है।

यहाँ कोई शङ्का कर सकता है कि लूनपुनर्जात नखकेशादि में प्रत्यभिज्ञान बाधित देखा ही जाता है। नखकेशादि के काट देने पर पुनः उत्पन्न नखकेशादि में 'ये वही नख तथा केश हैं' ऐसा ज्ञान होता है जो बाधित है। यह स्पष्ट है कि ये नखकेशादि वही न होकर दूसरे हैं। उपर्युक्त शङ्का ठीक नहीं है। यदि लूनपुनर्जात नखकेशादि में प्रत्यभिज्ञान बाधित हो जाता है तो इससे सर्वत्र प्रत्यभिज्ञान को बाधित नहीं माना जा सकता है। अन्यथा शुक्तिका में 'यह रजत है' ऐसा जो प्रत्यय होता है उसके बाधित होने पर सत्य रजत में होने वाले प्रत्यय को भी बाधित मानना पड़ेगा। अतः 'यह वही देवदत्त है' इस एकत्वप्रत्यभिज्ञान का अपह्नव नहीं किया जा सकता है। इसी तरह सादृश्यप्रत्यभिज्ञान का निराकरण भी नहीं किया जा सकता है, क्योंकि सादृश्यप्रत्यभिज्ञान के अभाव में अनुमान की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। जिसने पूर्वकाल में धूमसहित अग्नि देखी है उसी को उत्तरकाल में पूर्व धूमसदृश धूम के दर्शन से अग्नि का अनुमान होता है, अन्य को नहीं। सादृश्यप्रत्यभिज्ञान के बिना **'तेन इदं सदृशम्'** 'यह उसके सदृश है' ऐसी प्रतीति सम्भव नहीं है। अतः एकत्व की प्रतीति

करने वाला तथा सादृश्य की प्रतीति करने वाला प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है। प्रत्यभिज्ञान के वैलक्षण्य, प्रतियोगी आदि और भी कई भेद होते हैं।

मीमांसकों का प्रत्यभिज्ञान को प्रत्यक्षस्वरूप मानना सर्वथा गलत है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान में इन्द्रियों का अन्वय-व्यतिरेक नहीं पाया जाता है। यदि प्रत्यभिज्ञान इन्द्रियों के अन्वय-व्यतिरेक से उत्पन्न होता है तो प्रथम बार में देवदत्त का दर्शन होने पर उसे उत्पन्न हो जाना चाहिए; किन्तु ऐसा होता नहीं है। ऐसा मानना भी गलत है कि स्मृति की सहायता से इन्द्रियाँ प्रत्यभिज्ञान को उत्पन्न कर देती हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष स्मृतिनिरपेक्ष होता है। यहाँ यह भी विचारणीय है कि वर्तमान अर्थ ही इन्द्रियों से सम्बद्ध होता है। प्रत्यभिज्ञान का विषय वर्तमान अर्थ नहीं होता है; किन्तु पूर्वोत्तर पर्यायवर्ती एकत्वादि इसका विषय होता है। इसलिए प्रत्यभिज्ञान को प्रत्यक्षरूप नहीं माना जा सकता है। अविशद होने के कारण प्रत्यभिज्ञान को परोक्ष मानना ही युक्तिसङ्गत है। इसी प्रकार बौद्धों का यह कथन भी सही नहीं है कि प्रत्यभिज्ञान एक ज्ञान न होकर दो ज्ञान हैं, क्योंकि स्मरण और प्रत्यक्ष से उत्पन्न होने वाला तथा पूर्वोत्तर-पर्यायवर्ती एक द्रव्य को विषय करने वाला जो संकलनात्मक एक ज्ञान होता है वही प्रत्यभिज्ञान है तथा वह स्मरण और प्रत्यक्ष– दोनों से भिन्न है। स्मरण अतीत और वर्तमान-पर्यायवर्ती द्रव्य का संकलन नहीं कर सकता है, वह तो मात्र अतीत-पर्याय को विषय करता है। इसी प्रकार प्रत्यक्ष भी केवल वर्तमान पर्याय को विषय करता है, वह अतीत-पर्याय को विषय नहीं कर सकता है। तब दोनों पर्यायों में रहने वाले एक द्रव्य को विषय करने वाला कोई पृथक् ज्ञान अवश्य होना चाहिए और ऐसा जो ज्ञान है वही प्रत्यभिज्ञान है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि प्रत्यभिज्ञान एक प्रमाण है और वह प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सर्वथा भिन्न है।

तर्कप्रामाण्यवाद :

व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं और साध्य-साधन में रहने वाले अविनाभावसम्बन्ध का नाम व्याप्ति है तथा व्याप्ति का ग्राहक जो ज्ञान है वह तर्क कहलाता है।

पूर्वपक्ष– यहाँ चार्वाक कहता है कि व्याप्ति के ज्ञान को तर्क माना

गया है, किन्तु व्याप्ति का कोई स्वरूप सम्भव न होने के कारण तर्क प्रमाण कैसे हो सकता है? साध्य और साधन के सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। साध्य और साधन का सम्बन्ध देश की अपेक्षा से अथवा काल की अपेक्षा से हो सकता है। देश की अपेक्षा से तो वह सम्बन्ध बनता नहीं है, क्योंकि धूम आकाश में है और अग्नि भूमि पर है। ऊपर के देश में वृष्टि होती है और नीचे के देश में नदीपूर (बाढ़) देखा जाता है। यहाँ दोनों का देश भिन्न-भिन्न है। काल की अपेक्षा से भी दोनों का सम्बन्ध नहीं बनता है। वृष्टि का काल दूसरा है और नदीपूर का काल दूसरा है। अतः एक देश और एक काल की अपेक्षा से साध्य-साधन में व्याप्ति सिद्ध नहीं होती है। यहाँ एक बात यह भी विचारणीय है कि अविनाभावसम्बन्धरूप व्याप्ति का ग्रहण सम्बन्धियों के ग्रहणपूर्वक ही हो सकता है। यहाँ महानसीय धूम और अग्नि ये दो विशेष सम्बन्धी हैं। इसलिए तर्क के द्वारा इन दो विशेषों का ही सम्बन्ध गृहीत होगा, सकल साध्य और साधनों का नहीं। तब 'जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है', इस प्रकार सर्व साध्य और साधन व्यक्तियों का उपसंहार करके उनमें अन्वयव्याप्ति कैसे बनेगी?

अन्वयव्याप्ति की तरह व्यतिरेकव्याप्ति भी नहीं बन सकेगी। 'जहाँ अग्नि नहीं है वहाँ धूम भी नहीं होता है', यह व्यतिरेक व्याप्ति है। यहाँ जिज्ञासा यह है कि एक अग्नि के अभाव में धूम नहीं होता है या सब अग्नियों के अभाव में। एक अग्नि के अभाव में धूम का अभाव मानना तो ठीक नहीं है, क्योंकि एक अग्नि का अभाव होने पर भी दूसरी अग्नि के सद्भाव में धूम देखा ही जाता है। दूसरा पक्ष तो सर्वथा असम्भव है। कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति यह नहीं कह सकता है कि सर्वत्र सर्व अग्नियों का अभाव है और इस कारण यहाँ धूम का सद्भाव नहीं है। इत्यादि प्रकार से विचार करने पर व्याप्ति का कोई स्वरूप सिद्ध नहीं होता है। अतः व्याप्तिग्राहक तर्क में प्रामाण्य कैसे हो सकता है? मान लिया जाय कि कोई व्याप्ति है, फिर भी यहाँ एक प्रश्न यह होता है कि धूम और वह्नि में अविनाभाव होने पर भी धूम से वह्नि का ही अनुमान क्यों होता है? वह्नि की पैङ्गल्य आदि विशेषताओं का अनुमान क्यों नहीं होता है? यह वह्नि तृणजन्य है या काष्ठजन्य है, इत्यादि प्रकार का अनुमान क्यों नहीं होता है? इसी प्रकार से धूम ही वह्नि का गमक क्यों

होता है? धूमगत श्यामत्वादि धर्म गमक क्यों नहीं होते हैं? इत्यादि कारणों से यह सिद्ध होता है कि व्याप्तिग्राहक तर्क प्रमाण नहीं है।

उत्तरपक्ष– तर्क को प्रमाण नहीं मानने वालों का उक्त कथन समीचीन नहीं है। उनका यह कथन भी असङ्गत है कि व्याप्ति का कोई स्वरूप ही नहीं है। साध्य और साधन में जो अव्यभिचार है वही तो व्याप्ति का स्वरूप है। साध्य के होने पर ही साधन होता है और साध्य के अभाव में साधन कभी भी नहीं होता है, यही तो साध्य और साधन में अव्यभिचार है। व्याप्ति का ही दूसरा नाम अविनाभाव है। पूर्वपक्ष का यह कथन भी ठीक नहीं है कि देश की अपेक्षा से और काल की अपेक्षा से अविनाभाव सम्भव नहीं है, क्योंकि अविनाभाव सामान्यरूप से होता है, किसी देशविशेष की अपेक्षा से अथवा किसी कालविशेष की अपेक्षा से नहीं। व्याप्ति सामान्यरूप से सर्वदेशावच्छेदेन और सर्वकालावच्छेदेन होती है। ऐसा नहीं है कि किसी विशेष धूम और किसी विशेष वह्नि की व्याप्ति होती हो। वह्नि और धूम में जो अविनाभावसम्बन्ध है वह निर्बाध बोध में प्रतिभासित होता है। जिसका जिसके साथ अव्यभिचार होता है, उसका उसके साथ अविनाभाव या व्याप्ति होती है। धूम का वह्नि के साथ अव्यभिचार होने से धूम की वह्नि के साथ व्याप्ति होती है। जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ वह्नि होती है, इस अन्वयव्याप्ति में कभी भी कोई व्यभिचार नहीं देखा जाता है। इसी प्रकार जहाँ वह्नि नहीं है वहाँ धूम भी नहीं होता है, इस व्यतिरेकव्याप्ति में भी कभी व्यभिचार नहीं पाया जाता है।

पूर्वपक्ष में पूछा गया है कि एक अग्नि के अभाव में धूम नहीं होता है अथवा सर्व अग्नियों के अभाव में? उनका यह कथन समीचीन नहीं है, क्योंकि व्याप्ति का ग्रहण– जो भी धूम है वह सब अग्नियों के अभाव में नहीं होता है, इस प्रकार का कथन सबकी अपेक्षा से होता है तथा किसी एक धर्मी का उल्लेख करके नहीं होता है। कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं कहता है कि पर्वत में, घर में अथवा अरण्य में धूम अग्नि के अभाव में नहीं होता है। यदि इस प्रकार से कोई व्याप्ति की प्रतिपत्ति करने लगे तो धर्मियों के अनन्त होने से अनन्त काल में भी व्याप्ति की प्रतिपत्ति नहीं होगी। अतः व्याप्ति का ग्रहण सामान्य की अपेक्षा से होता है, विशेष

की अपेक्षा से नहीं। धूम का सद्भाव अग्नि के होने पर ही होता है और अग्नि के अभाव में नियम से धूम की निवृत्ति होती है।

यहाँ कोई कह सकता है कि गोपालघटिका आदि में अग्नि के अभाव में भी धूम के सद्भाव की प्रतीति होती है। ऐसा कथन ठीक नहीं है। यदि गोपालघटिका में धूम का सद्भाव है तो वह अग्नि के होने पर ही हो सकता है। धूम का आत्मलाभ अग्नि के होने पर ही होता है। अग्नि के अभाव में तो धूम के सद्भाव की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। यहाँ यह कहना भी ठीक नहीं है कि तब तो पर्वतादि की तरह गोपालघटिका में भी धूम को अग्नि का ज्ञान कराना चाहिए। इसका कारण यह है कि गोपालघटिका का धूम पर्वतादि के धूम से विलक्षण होता है। यथार्थ में गोपालघटिका का धूम धूम नहीं है; किन्तु धूमाभास है। अतएव वह वहाँ अग्नि का अनुमान नहीं करा सकता है।

पूर्वपक्ष में यह भी कहा गया है कि अग्नि और धूम में अविनाभाव होने पर भी धूम से अग्नि के पैङ्गल्य (पीतरूप) का अनुमान क्यों नहीं होता है? इसका उत्तर यह है कि व्याप्ति के अनुसार अनुमान किया जाता है और व्याप्ति का निश्चय अग्नित्व और धूमत्व के द्वारा ही होता है, पैङ्गल्य आदि धर्मों के द्वारा नहीं। पैङ्गल्य आदि धर्म तो अनेक हैं और उनमें व्यभिचार भी देखा जाता है। अग्नि के जो पैङ्गल्य, भासुरत्वादि धर्म या गुण हैं वे तो दूसरे द्रव्यों में भी पाये जाते हैं। इसी प्रकार धूमगत श्यामत्व, कटुकत्व आदि गुण भी अन्य द्रव्यों में पाये जाते हैं। इस कारण अग्नित्व और धूमत्व- इन दो सामान्य धर्मों की अपेक्षा से ही व्याप्ति का ग्रहण होता है, पैङ्गल्य, कृष्णत्व आदि विशेष धर्मों की अपेक्षा से नहीं। यहाँ कोई कहता है कि यदि अग्नि और धूम में व्याप्ति है तो प्रथम दर्शनकाल में ही व्याप्ति का ज्ञान क्यों नहीं हो जाता है? इसका उत्तर यह है कि अग्नि और धूम के प्रथम दर्शनकाल में व्याप्तिग्राहक ज्ञान के न होने से व्याप्ति का ज्ञान नहीं होता है। प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ व्याप्तिज्ञान के कारण हैं और प्रथम दर्शनकाल में इनके न होने से वहाँ व्याप्तिग्राहक ज्ञान तर्क भी नहीं रहता है। ऐसी स्थिति में प्रथम दर्शनकाल में व्याप्ति का ग्रहण नहीं होता है।

यहाँ कोई कह सकता है कि गृहीतग्राही होने से तर्क प्रमाण नहीं है।

उनका ऐसा कहना सही नहीं है। यदि किसी अन्य प्रमाण से व्याप्ति का ग्रहण होता हो तो व्याप्तिग्राहक तर्क को गृहीतग्राही माना जा सकता है; किन्तु व्याप्ति का ग्रहण न तो प्रत्यक्ष से होता है और न अनुमान से। साध्य-साधन में व्याप्ति का ज्ञान सार्वदेशिक और सार्वकालिक होता है। प्रत्यक्ष सम्बद्ध और वर्तमान वस्तु को ही विषय करता है। तब उसके द्वारा सार्वदेशिक और सार्वकालिक व्याप्ति का ज्ञान कैसे सम्भव है? अनुमान से भी व्याप्ति का ग्रहण सम्भव नहीं है, क्योंकि अनुमान व्याप्तिग्रहणपूर्वक होता है। तब जिस अनुमान से व्याप्ति का ग्रहण करेंगे उस अनुमान में भी व्याप्तिग्रहण अन्य अनुमान से होगा। इस प्रकार अनवस्था दोष का प्रसङ्ग प्राप्त होता है। अतः तर्क गृहीतग्राही नहीं है। तर्क के विषय में कोई विसंवाद भी नहीं होता है। साध्य-साधन में जो अविनाभाव सम्बन्ध है वह तर्क का विषय है। तर्क के इस विषय में कभी कोई विसंवाद नहीं होता है। यदि तर्क अविसंवादी न हो तो अनुमान भी अविसंवादी नहीं हो सकता है, क्योंकि अनुमान तर्कपूर्वक होता है। प्रमाणों का अनुग्राहक होने के कारण भी तर्क में प्रामाण्य मानना आवश्यक है। समारोप का व्यवच्छेदक होने के कारण भी तर्क में प्रामाण्य सिद्ध होता है। इत्यादि प्रकार से विचार करने पर यह सिद्ध होता है कि तर्क पूर्णरूप से प्रमाण है।

यहाँ बौद्ध कहना चाहते हैं कि व्याप्ति को ग्रहण करने के लिए तर्क प्रमाण मानने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि व्याप्ति का ग्रहण प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से हो जाता है। इसका उत्तर देने के लिए आचार्य कहते हैं–

व्याप्ति का ग्रहण प्रत्यक्ष और अनुमान से नहीं :

अविकल्पधिया लिङ्गं न किञ्चित् सम्प्रतीयते।।11।।
नानुमानादसिद्धत्वात् प्रमाणान्तरमाञ्जसम्।

अविकल्पक (निर्विकल्पक) ज्ञान के द्वारा साध्य-साधन में अविनाभाव की कुछ भी प्रतिपत्ति नहीं होती है और अनुमान से भी अविनाभाव की प्रतिपत्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि अविनाभाव के अभाव में अनुमान असिद्ध रहता है। अनुमान की उत्पत्ति तो व्याप्ति-ग्रहणपूर्वक ही होती है। अतः व्याप्ति का ग्राहक तर्क नामक प्रमाणान्तर मानना आवश्यक है।

इस कारिका में आगत लिङ्ग शब्द का अर्थ अविनाभाव है। साध्य और साधन में जो अविनाभाव सम्बन्ध होता है उसका ग्रहण निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से नहीं हो सकता है। जितना भी धूम है वह कालान्तर में और देशान्तर में पावक का ही कार्य है तथा वह अन्य अर्थ का कार्य नहीं है, इतने बड़े व्यापार को निर्विकल्पक प्रत्यक्ष नहीं कर सकता है, क्योंकि इसका एक कारण तो यह है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष सन्निहित विषय के बल से उत्पन्न होता है और दूसरा कारण यह है कि वह अविचारक होता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष सन्निहित देशकालवर्ती जो अग्निधूमादि हैं उन्हीं की सामर्थ्य से उत्पन्न होता है और उन्हीं को विषय करता है। सकलदेशवर्ती और सकलकालवर्ती अग्निधूमादि उसके विषय नहीं हो सकते हैं। एक बात यह भी है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष अविचारक (विचाररहित, निश्चयरहित) होता है और अविचारक होने से वह इतना बड़ा विचार नहीं कर सकता है कि जितना भी धूम है वह सब अग्नि का ही कार्य है, अन्य किसी का नहीं। जब निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा अविनाभाव का ज्ञान सम्भव नहीं है तो निर्विकल्पक के पश्चात् होने वाले सविकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा भी अविनाभाव का ज्ञान नहीं हो सकता है, क्योंकि बौद्ध सविकल्पक प्रत्यक्ष को प्रमाण नहीं मानते हैं तथा सविकल्पक प्रत्यक्ष निर्विकल्पकप्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत वस्तु में ही प्रवृत्ति करता है।

इसी प्रकार अनुमान से भी व्याप्तिग्रहण की बात नहीं कही जा सकती है, क्योंकि जब तक व्याप्ति का ग्रहण नहीं होगा तब तक अनुमान की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। व्याप्ति के ग्रहण के लिए लिङ्ग (साधन) का लिङ्गी (साध्य) के साथ सर्वदेशावच्छेदेन और सर्वकालावच्छेदेन अविनाभाव सम्बन्ध का ज्ञान होना आवश्यक है। ऐसा होने पर ही अनुमान की उत्पत्ति होती है। यदि किसी को व्याप्ति का ज्ञान नहीं है तो उसे अनुमानरूप ज्ञान भी नहीं हो सकता है। अनुमान तो व्याप्तिग्रहणपूर्वक ही होता है। इस प्रकार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष और अनुमान– दोनों ही व्याप्ति के ग्रहण करने में असमर्थ रहते हैं। इसलिए व्याप्ति का ग्रहण करने के लिए तर्क नामक एक पृथक् प्रमाण मानना अत्यन्त आवश्यक है और यह तर्क अनुमान का कारण होता है।

व्याप्ति का ग्रहण प्रत्यक्ष से भी नहीं :

यहाँ यौग कहना चाहते हैं कि साध्य और साधन में अविनाभाव

की प्रतीति प्रत्यक्ष से ही हो जाती है। साध्य और साधन का प्रथम प्रत्यक्ष होने पर अग्नि से अविनाभावी धूम का प्रतिभास होता है। इसलिए साध्य-साधनगत अविनाभाव नियम भी प्रतिभासित होता ही है। वहाँ ऐसा संशय नहीं होता है कि यह धूम क्या अग्नि से उत्पन्न हुआ है अथवा अन्य किसी कारण से? तथा ऐसा विपर्यय भी नहीं होता है कि यह धूम अग्नि को छोड़कर किसी अन्य कारण से ही उत्पन्न हुआ है। वहाँ तो धूम के विषय में ऐसा निश्चय होता है कि यह अग्नि से ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार प्रथम प्रत्यक्ष के द्वारा व्याप्ति की प्रतिपत्ति होने पर पुनः-पुनः उपलभ्यमान अन्वय-व्यतिरेक उसी निश्चय की दृढ़ता को पुष्ट करते हैं। इसलिए व्याप्ति का ग्रहण प्रत्यक्ष से ही हो जाता है, ऐसा यौगों का मत है।

यौगों का उक्त मत समीचीन नहीं है। व्याप्ति का ग्रहण प्रत्यक्ष प्रमाण से सम्भव नहीं है। यदि प्रत्यक्ष से ही अविनाभाव की प्रतीति होती है तो यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि किस प्रत्यक्ष से अविनाभाव की प्रतीति होती है– इन्द्रिय प्रत्यक्ष से अथवा मानस प्रत्यक्ष से? इन्द्रिय प्रत्यक्ष से तो अविनाभाव की प्रतीति सम्भव नहीं है, क्योंकि इन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रतिनियत देशकाल आदि से सम्बन्धित वर्तमान अर्थ को जानता है, व्याप्ति को नहीं। व्याप्ति का सम्बन्ध तो सकलदेशकालवर्ती साध्य और साधन से होता है तथा व्याप्ति का ग्रहण अतीत, अनागत और वर्तमान सब पदार्थों का उपसंहार करके होता है। इतने व्यापक विषय के साथ न तो इन्द्रिय का कोई सम्बन्ध रहता है और न उस विषय में उसकी प्रवृत्ति सम्भव है। इस कारण इन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा व्याप्ति की प्रतिपत्ति नहीं हो सकती है।

इसी प्रकार मानस प्रत्यक्ष के द्वारा भी व्याप्ति का ग्रहण सम्भव नहीं है। क्योंकि बाह्य इन्द्रिय से निरपेक्ष मन की बाह्य अर्थ में प्रवृत्ति नहीं होती है। व्याप्ति बाह्य अर्थ का धर्म होने के कारण बाह्य अर्थ है, जैसे कि रूपादि बाह्य अर्थ का धर्म होने के कारण बाह्य अर्थ माना जाता है। यौगों द्वारा परिकल्पित मन का हम षट्पदार्थपरीक्षा में खण्डन कर चुके हैं। इसलिए उसका सत्त्व ही सिद्ध नहीं होता है। थोड़ी देर के लिए हम मान लेते हैं कि अणुपरिमाण मन का सद्भाव है तो यहाँ प्रश्न यह

है कि अणुपरिमाण मन का अशेष अर्थों के साथ युगपत् सम्बन्ध कैसे होगा? जो भी वस्तु अणुपरिमाण है उसका अशेष अर्थों के साथ युगपत् साक्षात् सम्बन्ध नहीं हो सकता है। जैसे कि परमाणु का सब अर्थों के साथ युगपत् साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता है। यहाँ पूर्वपक्ष कह सकता है कि अणुपरिमाण मन का अशेष अर्थों के साथ साक्षात् सम्बन्ध न होने पर भी परम्परा से सम्बन्ध बन जाता है, क्योंकि मन का आत्मा के साथ साक्षात् सम्बन्ध है तथा अग्नि आदि और धूम आदि सर्वसाध्यसाधनविशेष आत्मा से संयुक्त हैं। इस तरह सर्वसाध्य-साधन का मन से परम्परासम्बन्ध सिद्ध हो जाता है। पूर्वपक्ष का उक्त कथन समीचीन नहीं है। क्योंकि इस प्रकार मन का सब अर्थों के साथ परम्परासम्बन्ध मानने पर सब व्यक्ति सर्वज्ञ हो जायेंगे। जिस प्रकार सब साध्य-साधन व्यक्तियों के साथ मन का परम्परा-सम्बन्ध है उसी प्रकार संसार के सब पदार्थों के साथ भी मन का परम्परा-सम्बन्ध हो जायेगा और सब लोग सब पदार्थों के ज्ञाता हो जायेंगे। एक बात यह भी है कि यदि साध्यसाधनरूप अर्थों के साथ मन का सम्बन्ध होता है तो वह सत् (विद्यमान) अर्थों के साथ ही होगा, असत् (अतीत और अनागत) अर्थों के साथ नहीं। तब उन अर्थों में व्याप्ति की प्रतिपत्ति कैसे होगी? इस प्रकार मानसप्रत्यक्ष से भी व्याप्ति की प्रतिपत्ति सम्भव नहीं है।

उपर्युक्त कथन का निष्कर्ष यह है कि व्याप्ति का ग्रहण न तो प्रत्यक्ष से सम्भव है और न अनुमान से; किन्तु प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त तर्क ही एक ऐसा प्रमाण है जो व्याप्ति के ग्रहण करने में समर्थ है। यही तर्क प्रमाण अनुमान की उत्पत्ति का कारण है। तर्क के द्वारा साध्य और साधन में अविनाभाव का ग्रहण हो जाने पर ही अनुमान उत्पन्न होता है।

अनुमान का लक्षण :

लिङ्गात् साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणात्।।12।।
लिङ्गिधीरनुमानं तत्फलं हानादिबुद्धयः।

साध्य के साथ जिसके अविनाभाव का सब प्रकार से निश्चय है ऐसे एक (अन्यथानुपपत्तिरूप) लक्षण वाले साधन से साध्य का जो ज्ञान

होता है वह अनुमान कहलाता है और हानादि बुद्धियाँ उसके फल हैं।

लिङ्ग, हेतु और साधन– ये तीनों शब्द पर्यायवाची हैं। साध्य और लिङ्गी भी पर्यायवाची हैं। अनुमान की उत्पत्ति के लिए साध्य और साधन में अविनाभाव का निश्चय होना आवश्यक है। साधन का लक्षण है– अन्यथानुपपत्ति। अर्थात् साध्य के होने पर ही साधन का होना और साध्य के अभाव में साधन का कभी नहीं होना। ऐसे साधन से किसी स्थान विशेष में जो साध्य का ज्ञान होता है उसे अनुमान कहते हैं। किसी व्यक्ति को प्रथम धूमदर्शन से जो अग्नि का ज्ञान होता है वह अनुमान नहीं कहला सकता, क्योंकि वहाँ साध्य और साधन में अविनाभाव के निश्चय का अभाव रहता है। अविनाभाव का निश्चय तो साध्य और साधन के बार-बार उपलम्भ और अनुपलम्भ के द्वारा होता है। एक व्यक्ति बार-बार ऐसा देखता है कि अग्नि के होने पर ही धूम का उपलम्भ होता है और अग्नि के अभाव में धूम का सदा अनुपलम्भ रहता है। तब उसे साध्य और साधन में अविनाभाव का निश्चय हो जाता है। तदनन्तर अविनाभावी साधन से साध्यविशिष्टधर्मी (पक्ष) में होने वाले साध्य के ज्ञान को अनुमान प्रमाण कहते हैं। हान, उपादान और उपेक्षा अनुमान के फल हैं। पदार्थ तीन प्रकार के होते हैं– हेय, उपादेय और उपेक्षणीय। हेय पदार्थ का त्याग कर देना हान कहलाता है, उपादेय पदार्थ का ग्रहण कर लेना उपादान कहलाता है तथा उपेक्षणीय पदार्थ की उपेक्षा कर देना उपेक्षा है। हानबुद्धि, उपादानबुद्धि और उपेक्षाबुद्धि– ये तीनों अनुमान के तथा अन्य प्रमाणों के भी परम्परा-फल हैं; किन्तु अज्ञाननिवृत्ति सब प्रमाणों का साक्षात् फल है।

पक्ष प्रयोग का समर्थन :

पूर्वपक्ष– साध्य के आधार को पक्ष कहते हैं। पर्वत में अग्नि को सिद्ध करते समय पर्वत पक्ष होता है। इसको प्रतिज्ञा भी कहते हैं। यहाँ बौद्धों का कथन है कि अनुमान करते समय पक्ष प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं है। पक्ष तो स्वतः गम्यमान होता है। जब हम कहते हैं– **'यत्र धूमस्तत्र वह्निः धूमश्चात्र'**। अर्थात् जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है तथा यहाँ धूम है। इस कथन से ही यह सिद्ध हो जाता है कि वहाँ अग्नि है। इस प्रकार पक्ष स्वतः गम्यमान होता है तथा उसके प्रयोग करने का कोई

प्रयोजन भी नहीं है। ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है कि पक्षप्रयोग का प्रयोजन साध्यरूप अर्थ का प्रतिपादन करना है, क्योंकि पक्ष का प्रयोग करने से साध्यरूप अर्थ का प्रतिपादन सम्भव नहीं है। यदि पक्षप्रयोग साध्यरूप अर्थ का प्रतिपादन करता है तो यहाँ प्रश्न यह है कि केवल पक्षप्रयोग अथवा हेतु के उपन्यास सहित पक्षप्रयोग साध्य का प्रतिपादन करता है? यदि केवल पक्षप्रयोग साध्य का प्रतिपादन करता है तो फिर वहाँ हेतु का उपन्यास करना व्यर्थ है। पक्ष के प्रयोगमात्र से साध्य की प्रतिपत्ति हो जायेगी। अब यदि कहा जाय कि हेतु के उपन्यास सहित पक्षप्रयोग साध्य का प्रतिपादन करता है तो इससे यही सिद्ध होता है कि साध्य की प्रतिपत्ति में हेतु समर्थ है और वहाँ पक्षप्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार बौद्ध अनुमान में पक्ष का प्रयोग अनावश्यक मानते हैं।

उत्तरपक्ष (जैन)- बौद्धों का उक्त कथन तर्कसङ्गत नहीं है। अनुमान में साधन के द्वारा साध्य को सिद्ध किया जाता है। जैसे धूम के द्वारा अग्नि को सिद्ध करते समय यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि अग्नि का आधार क्या है? अग्नि कहाँ पर स्थित है? किसी को ऐसा सन्देह हो सकता है कि अग्नि पर्वत में है या किसी भवन के ऊपर है अथवा और कहीं। इस सन्देह को दूर करने के लिए पक्षप्रयोग की महती आवश्यकता है। ऐसा नहीं है कि पक्ष-प्रयोग का कोई प्रयोजन न हो। प्रतिपाद्य को प्रतिपत्तिविशेष कराना पक्षप्रयोग का प्रयोजन है। कोई प्रतिपाद्य मन्दमति होता है और कोई प्रतिपाद्य तीव्रमति होता है। जो मन्दमति है उसके लिए पक्षप्रयोग के बिना प्रकृत अर्थ की प्रतिपत्ति नहीं हो सकती है। अब यदि ऐसा कहा जाय कि तीव्रमति को पक्षप्रयोग के बिना भी हेतुप्रयोगमात्र से प्रकृत अर्थ (साध्य) की प्रतीति हो जाने के कारण पक्षप्रयोग व्यर्थ है, तो फिर हम यह भी कह सकते हैं कि प्रतिज्ञा के प्रयोगमात्र से साध्य की प्रतिपत्ति हो जायेगी और ऐसी स्थिति में हेतु का प्रयोग भी व्यर्थ है। हम देखते हैं कि किसी आप्तपुरुष के 'अग्निरत्र' इत्यादि प्रतिज्ञाप्रयोगरूप वचनमात्र से ही किसी को प्रकृत अर्थ की प्रतिपत्ति हो जाती है।

यहाँ एक बात यह भी विचारणीय है कि यदि केवल हेतु के प्रयोगमात्र से ही साध्य की सिद्धि हो जाती है तो बौद्ध हेतु का समर्थन क्यों करते

हैं? इस विषय में बौद्धों का कहना है कि हेतु में असिद्ध आदि दोषों का परिहार करने के लिए हेतु का समर्थन करना आवश्यक है। यहाँ हम (जैन) बौद्धों से कहेंगे कि तब तो समर्थन को ही हेतु का स्वरूप मान लीजिए। उसी से साध्य की सिद्धि हो जायेगी तथा हेतु के प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। यहाँ यदि बौद्ध यह कहना चाहें कि हेतु के प्रयोग के अभाव में किसका समर्थन करेंगे, तो हम भी कह सकते हैं कि पक्षप्रयोग के अभाव में हम किसी को कैसे बतलायेंगे कि साध्य का आधार क्या है अथवा साध्य किस स्थान में है? यदि पक्ष या प्रतिज्ञा का प्रयोग अनावश्यक है तो न केवल 'वाद' में अपितु शास्त्र में भी इसका प्रयोग नहीं होना चाहिए, परन्तु शास्त्र में प्रतिज्ञा का प्रयोग देखा जाता है। शास्त्र में **'अग्निरत्र धूमात्, वृक्षोऽयं शिंशपात्वात्'** इत्यादि प्रयोग देखे जाते हैं, जो यह सिद्ध करते हैं कि शास्त्र में प्रतिज्ञा का प्रयोग आवश्यक है। उसी प्रकार 'वाद' में भी प्रतिज्ञा या पक्ष का प्रयोग करना आवश्यक है।

त्रैरूप्यनिरास :

पूर्वपक्ष– बौद्ध त्रैरूप्य को हेतु का लक्षण मानते हैं। उनका कहना है कि पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्त्व– ये हेतु के तीन रूप होते हैं। इनमें से किसी एक रूप के अभाव में हेतु निर्दोष नहीं होता है। हेतु में असिद्ध दोष के परिहार के लिए पक्षधर्मत्व, विरुद्धदोष के परिहार के लिए सपक्षसत्त्व और अनैकान्तिक दोष के परिहार के लिए विपक्षासत्त्व– इन तीन रूपों या लक्षणों का होना आवश्यक है। हेतु पक्ष का धर्म होता है, अर्थात् पक्ष में रहता है। जैसे धूम का पर्वत में रहना पक्षधर्मत्व है। इससे यह सिद्ध होता है कि हेतु असिद्ध नहीं है। हेतु का पक्ष की तरह सपक्ष में भी सत्त्व आवश्यक है। जैसे धूम का महानस में सत्त्व पाया जाता है। इसका नाम सपक्षसत्त्व है। इससे यह सिद्ध होता है कि हेतु विरुद्ध नहीं है। हेतु का विपक्ष में असत्त्व भी आवश्यक होता है। जैसे– धूम का तालाब आदि में असत्त्व विद्यमान रहता है। इसे विपक्षासत्त्व कहते हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि हेतु अनैकान्तिक नहीं है। बौद्धों ने हेतु के तीन दोष (हेत्वाभास) माने हैं और इन तीन दोषों के परिहार के लिए हेतु में तीन रूपों का होना अनिवार्य है। इसी विषय में आचार्य **धर्मकीर्ति**

ने **प्रमाणवार्तिक** (3/13) में कहा है–

> **हेतोस्त्रिष्वपिरूपेषु निर्णयस्तेन वर्णितः।**
> **असिद्धविपरीतार्थव्यभिचारिविपक्षतः ।।**

इस प्रकार यहाँ यह बतलाया गया है कि हेतु का लक्षण त्रैरूप्य क्यों माना गया है। उक्त तीनों रूपों के समाहार को त्रैरूप्य कहते हैं।

उत्तरपक्ष– बौद्धों का उक्त मत समीचीन नहीं है। पक्षधर्मत्व आदि त्रैरूप्य हेतु का लक्षण नहीं हो सकता है, क्योंकि त्रैरूप्य तो विपक्ष (हेत्वाभास) में भी पाया जाता है। जो हेतु विपक्ष में भी रहता है वह निर्दोष हेतु नहीं हो सकता है। जैसे सत्त्व अग्नि का लक्षण नहीं होता है। कोई कहता है कि यह अग्नि है, क्योंकि यह सत् है। यहाँ सत्त्व जैसे अग्नि में रहता है वैसे अनग्नि (जलादि) में भी रहता है। अतः विपक्ष में रहने के कारण सत्त्व अग्नि का लक्षण नहीं हो सकता है। इसी प्रकार पक्षधर्मत्वादि त्रैरूप्य हेत्वाभास में भी पाया जाता है। जैसे किसी ने कहा– "**गर्भस्थः मैत्रतनयः श्यामः तत्पुत्रत्वात् इतरपुत्रवत्।**" अर्थात् गर्भस्थ मैत्र का पुत्र श्याम है, मैत्र का पुत्र होने से, जैसे कि उसके दूसरे पुत्र। तथा जो मैत्र का पुत्र नहीं है वह श्याम नहीं है, जैसे कि चैत्र के पुत्र। यहाँ तत्पुत्रत्व हेतु में हेतु के तीनों रूप पाये जाते हैं। फिर भी यह हेतु गर्भस्थ मैत्रतनय में श्यामत्व की सिद्धि नहीं कर सकता है। क्योंकि श्यामत्व और मैत्रतनयत्व में कोई अविनाभाव नहीं है। मैत्रतनय होकर के भी गर्भस्थ पुत्र अश्याम हो सकता है। अतः उक्त अनुमान में मैत्रतनयत्व हेतु नहीं है, अपितु हेत्वाभास है। फिर भी इसमें त्रैरूप्य पाया जाता है। इसलिए हेत्वाभास में रहने के कारण त्रैरूप्य हेतु का लक्षण कैसे हो सकता है?

अब यदि ऐसा माना जाय कि त्रैरूप्यमात्र हेतु का लक्षण नहीं है किन्तु अन्यथानुपपत्ति सहित त्रैरूप्य हेतु का लक्षण होता है। यदि ऐसा है तो त्रैरूप्य की कल्पना व्यर्थ ही सिद्ध होती है, क्योंकि अन्यथानुपपत्तिरूप नियम के द्वारा ही हेतु साध्य का गमक हो जाता है। यहाँ एक बात यह भी द्रष्टव्य है कि पक्षधर्मत्व और सपक्षसत्त्व के अभाव में भी हेतु साध्य का गमक देखा जाता है। जैसे '**उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयात्।**' *अर्थात् एक मुहूर्त बाद शकट नक्षत्र का उदय होगा, क्योंकि इस समय*

कृत्तिका का उदय है। यहाँ कृत्तिकोदय हेतु से शकट के उदय का अनुमान किया जाता है: किन्तु इस हेतु में पक्षधर्मत्व नहीं होने पर भी यह हेतु शकटोदयरूप साध्य का गमक होता है। इसी प्रकार **'अनित्यः शब्दः श्रावणत्वात्'** तथा **'सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्'** इत्यादि अनुमान में श्रावणत्व तथा सत्त्व हेतु सपक्ष में नहीं रहता है। फिर भी वह अपने साध्य का गमक होता है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि त्रैरूप्य हेतु का लक्षण नहीं है। अतः विपक्ष में हेतु के असत्त्व को हेतु का लक्षण मानना ही हेतु का यथार्थ लक्षण है। इसको अन्यथानुपपत्ति अथवा साध्याविनाभाव-निश्चय कहते हैं।

यहाँ पूर्वपक्ष कह सकता है कि हेतु में पक्षधर्मत्वादि तीन रूपों का सद्भाव न मानने पर हेतु के असिद्धादि दोषों का परिहार कैसे होगा? इसका उत्तर यह है कि अन्यथानुपपत्तिरूप हेतुलक्षण के निश्चय से ही असिद्धादि तीनों हेत्वाभासों का परिहार हो जाता है और इसके लिए तीन रूपों को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। जो हेतु असिद्ध, विरुद्ध तथा अनैकान्तिक है उसमें अन्यथानुपपत्ति हो ही नहीं सकती है। फिर भी यदि असिद्धत्वादि दोषों के निराकरण के लिए पक्षधर्मत्वादि धर्मों की कल्पना की जाती है, तो फिर अनिश्चितत्व के परिहार के लिए निश्चितत्व-रूप की और बाधितविषयत्व के परिहार के लिए अबाधितविषयत्वरूप की भी कल्पना करनी चाहिए। इत्यादि प्रकार से विचार करने पर बौद्धपरिकल्पित त्रैरूप्य हेतु का लक्षण सिद्ध नहीं होता है।

पाञ्चरूप्यनिरास :

पूर्वपक्ष– यौग पाञ्चरूप्य को हेतु का लक्षण मानते हैं। वे कहते हैं कि हेतु के पाँच रूप होते हैं, जो इस प्रकार हैं– पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षासत्त्व, अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व। इनमें से प्रथम तीन रूप तो वही हैं जो बौद्धों ने माने हैं। यहाँ दो रूप नये हैं। अबाधितविषयत्व का मतलब यह है कि हेतु का जो विषय (साध्य) है उसे किसी प्रमाण से बाधित नहीं होना चाहिए। कोई कहता है कि अग्नि अनुष्ण है, द्रव्य होने से जल की तरह। यहाँ द्रव्यत्व हेतु अग्नि में अनुष्णत्व सिद्ध नहीं कर सकता है, क्योंकि स्पार्शन प्रत्यक्ष से अग्नि में अनुष्णत्व बाधित हो जाता है। अतः यह आवश्यक है कि हेतु का विषय अबाधित हो,

तभी वह हेतु साध्य की सिद्धि कर सकता है। असत्प्रतिपक्षत्व का तात्पर्य यह है कि इस हेतु का जो साध्य है उसके प्रतिपक्षभूत (विरोधी) साध्य को सिद्ध करने वाला कोई दूसरा हेतु नहीं होना चाहिए। जैसे- एक व्यक्ति ने कहा- **'अनित्यः शब्दः नित्यधर्मानुपलब्धेः घटवत्।'** शब्द अनित्य है, नित्यधर्म की अनुपलब्धि होने से, घट की तरह। ऐसा सुनकर दूसरा व्यक्ति कहता है- **'नित्यः शब्दः अनित्यधर्मानुपलब्धेः आत्मवत्।'** शब्द नित्य है अनित्यधर्म की अनुपलब्धि होने से, आत्मा की तरह। यहाँ नित्यधर्मानुपलब्धिरूप हेतु शब्द में अनित्यत्व सिद्ध नहीं कर सकता है, क्योंकि इसका प्रतिपक्षभूत अनित्यधर्मानुपलब्धिरूप हेतु विद्यमान है। अतः यह आवश्यक है कि एक हेतु का प्रतिपक्षभूत कोई दूसरा हेतु न हो, तभी वह हेतु साध्य की सिद्धि कर सकता है। हेतु के पाँच रूप होते हैं और इन रूपों के अभाव में क्रमशः असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, कालात्ययापदिष्ट और प्रकरणसम- ये पाँच हेत्वाभास होते हैं। इसलिए जिस हेतु में उक्त पाँच रूप पाये जाते हैं वही अपने साध्य का साधक होता है, ऐसा यौगमत है।

उत्तरपक्ष- यौगों का उक्त मत तर्कसङ्गत नहीं है। बौद्धों के त्रैरूप्य की तरह यौगों द्वारा परिकल्पित पाञ्चरूप्य भी हेतु का लक्षण नहीं हो सकता है। हम अभी त्रैरूप्य का निराकरण कर ही चुके हैं। जब त्रैरूप्य हेतु का लक्षण नहीं है तब पाञ्चरूप्य उसका लक्षण कैसे हो सकता है? जैसे जिस व्यक्ति के पास दस रुपया नहीं हैं तो उसके पास सौ रुपया कैसे हो सकते हैं? यथार्थ बात यह है कि साध्य के साथ अविनाभाव को छोड़कर हेतु का अबाधितविषयत्वादि अन्य कोई रूप हो ही नहीं सकता है। अतः अविनाभाव या अन्यथानुपपत्ति को ही हेतु का प्रधान लक्षण मानना चाहिए। पाञ्चरूप्य की कल्पना करने से क्या लाभ? बाधितविषयत्व और अविनाभाव में विरोध है। जिस हेतु का विषय किसी प्रमाण से बाधित है उसमें हेतु का साध्य के साथ अविनाभाव नहीं हो सकता है। **'अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वात् जलवत्।'** यह बाधितविषयत्व का उदाहरण है। वास्तव में अग्नि अनुष्ण नहीं है; किन्तु उष्ण है। अग्नि को अनुष्ण कहना प्रत्यक्षबाधित है। यहाँ द्रव्यत्व हेतु का विषय प्रत्यक्षबाधित है। इस हेतु और साध्य (अनुष्णत्व) में अविनाभाव न होने के कारण ही यह हेत्वाभास है, न कि अबाधितविषयत्व के अभाव से।

यदि अबाधितविषयत्व को हेतु का लक्षण माना जाता है तो प्रश्न होता है कि कौनसा अबाधितविषयत्व हेतु का लक्षण होता है- अनिश्चित अबाधितविषयत्व अथवा निश्चित अबाधितविषयत्व? अनिश्चित अबाधित-विषयत्व को हेतु का लक्षण मानने पर अतिप्रसङ्ग दोष आता है, क्योंकि उस स्थिति में तो कोई भी अनिश्चित या अज्ञात अर्थ हेतु हो जायेगा। निश्चित अबाधितविषयत्व को हेतु का लक्षण मानने पर भी अनेक दोष आते हैं। प्रश्न होता है कि अबाधितविषयत्व का निश्चायक क्या है? अनुपलम्भ, संवाद आदि को अबाधितविषयत्व का निश्चायक मानने पर असिद्ध आदि दोषों का प्रसङ्ग प्राप्त होता है। अतः अविनाभाव के ज्ञान से अबाधितविषयत्व का निश्चय मानना ही श्रेयस्कर है तथा अविनाभाव ही हेतु का लक्षण है, अबाधितविषयत्व नहीं।

इसी प्रकार असत्प्रतिपक्षत्व भी हेतु का लक्षण सिद्ध नही होता है। असत्प्रतिपक्षत्व का मतलब यही है कि हमने साध्य की सिद्धि के लिए जिस हेतु का प्रयोग किया है उसका कोई प्रतिपक्षी (विरोधी) हेतु नहीं है। जहाँ किसी हेतु का प्रतिपक्षी हेतु पाया जाता है तो उस हेतु का साध्य के साथ अविनाभाव बनेगा ही नहीं। अतः अविनाभाव के अभाव के कारण वह हेतु नहीं हो सकता है, न कि प्रतिपक्षी हेतु के सद्भाव से। यदि किसी हेतु का कोई प्रतिपक्ष है तो वह कैसा है- तुल्यबल या अतुल्यबल? यदि उसका प्रतिपक्ष तुल्यबल है तो उन दोनों में बाध्यबाधकभाव नहीं हो सकता है। यदि पक्ष और प्रतिपक्ष तुल्यबल रहेंगे तो वे एक दूसरे का विरोध नहीं कर सकेंगे। अब यदि प्रतिपक्ष को अतुल्यबल माना जाय तो प्रश्न होगा कि पक्ष और प्रतिपक्ष में अतुल्यबल का निश्चय कौन करेगा? इत्यादि प्रकार से विचार करने पर असत्प्रतिपक्षत्व भी हेतु का लक्षण सिद्ध नहीं होता है। इस प्रकार पक्षधर्मत्वादि तीनों रूपों के अतिरिक्त हेतु के जो अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व- ये दो रूप और बतलाये गये हैं वे भी हेतु के लक्षण नहीं हैं। केवल अविनाभाव ही हेतु का एक रूप या लक्षण है। इत्यादि प्रकार से विचार करने पर यौगपरिकल्पित पाञ्चरूप्य हेतु का लक्षण सिद्ध नहीं होता है।

अविनाभाव-विचार :

पूर्वपक्ष- बौद्धों का कथन है कि साध्य के साथ अविनाभाव को

हेतु का जो लक्षण बतलाया गया है वह ठीक है, क्योंकि अविनाभाव के बल से ही सर्वत्र हेतु साध्य का गमक होता है; किन्तु वह अविनाभाव तादात्म्य और तदुत्पत्ति के द्वारा नियत होने के कारण कार्यहेतु और स्वभावहेतु में ही रहता है। तादात्म्य के द्वारा स्वभावहेतु का अविनाभाव और तदुत्पत्ति के द्वारा कार्यहेतु का अविनाभाव निश्चित किया जाता है। कार्यहेतु और स्वभावहेतु के अतिरिक्त अन्य कोई हेतु नहीं है। यहाँ कोई कह सकता है कि अनुपलब्धि भी एक हेतु है, परन्तु अनुपलब्धि का स्वभावहेतु में अन्तर्भाव हो जाने से उसे पृथक् हेतु मानना ठीक नहीं है। भूतल में घटादि का जो अभाव है वह घटरहित भूतलादिस्वभावरूप है और भूतल में घटादि की जो अनुपलब्धि है वह घटरहितभूतलादि के स्वभाव की उपलब्धि है। अतः अनुपलब्धि पृथक् हेतु नहीं है।

जैनों का यह कहना ठीक नहीं है कि अविनाभाव की प्रतिपत्ति तर्क प्रमाण से होती है, क्योंकि साध्य के साथ कार्यहेतु के अविनाभाव की प्रतिपत्ति प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ के द्वारा ही हो जाती है। धूम अग्नि का कार्य है और जो जिसका कार्य होता है वह उसके साथ नियत होता है। यदि वह उसके साथ नियत न हो तो निरपेक्ष होने से उसका सदा सत्त्व या सदा असत्त्व होना चाहिए; किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता है। अतः जो एक बार जिससे उत्पन्न होता है वह सर्वदा ही उससे उत्पन्न होता है। किसी कार्य की उत्पत्ति एक निश्चित कारण से ही होती है। किसी भी कार्य की उत्पत्ति अहेतु से नहीं होती है। अहेतु से उत्पत्ति मानने पर तो सबसे सबकी उत्पत्ति का प्रसङ्ग प्राप्त होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि अग्नि के होने पर ही धूम की उपलब्धि होती है और अग्नि के अभाव में कभी भी धूम की उपलब्धि नहीं होती है। इस प्रकार महानस में अग्नि और धूम का प्रत्यक्ष तथा सरोवर में अग्नि और धूम का अनुपलम्भ देखकर अग्नि और धूम में अविनाभाव की प्रतिपत्ति हो जाती है।

इसी प्रकार साध्य के साथ स्वभावहेतु का अविनाभाव विपक्ष में बाधक प्रमाण के बल से ही सिद्ध हो जाता है। जैसे सत्त्व हेतु का क्षणिकत्व साध्य के साथ अविनाभाव विपक्ष में बाधक प्रमाण के द्वारा सिद्ध हो जाता है। जब हम कहते हैं – **'सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्'** तो यहाँ सत्त्व का अर्थ है– अर्थक्रियाकारित्व। और अर्थक्रिया क्रम तथा यौगपद्य के द्वारा

व्याप्त होती है तथा अक्षणिक अर्थ में अर्थक्रियाकारित्व न तो क्रम से बनता है और न युगपत्। तब अक्षणिक अर्थ से निवर्तमान क्रम और यौगपद्य अपने व्याप्य अर्थक्रिया को लेकर ही निवृत्त होते हैं। इसलिए अक्षणिक अर्थ से निवर्तमान सत्त्व क्षणिक पदार्थ में ही रह सकता है, अन्यत्र नहीं। इस प्रकार विपक्ष (अक्षणिक) में सत्त्व के रहने में बाधक प्रमाण के उपस्थित होने से यह निश्चित हो जाता है कि स्वभावहेतु सत्त्व का क्षणिकत्व के साथ अविनाभाव है। अनुपलब्धि का स्वभावानुपलब्धि में अन्तर्भाव हो जाने के कारण स्वभावानुपलब्धि स्वभावहेतुरूप है। अतः अनुपलब्धि हेतु का साध्य के साथ अविनाभाव तादात्म्य के द्वारा निश्चित हो जाता है। इसलिए अविनाभाव की प्रतिपत्ति के लिए तर्क प्रमाण मानने की कोई आवश्यकता नहीं है, ऐसा बौद्धों का पूर्वपक्ष है।

उत्तरपक्ष– बौद्धों का उक्त कथन समीचीन नहीं है, क्योंकि साध्य के साथ हेतु के अविनाभाव की प्रतिपत्ति तादात्म्य और तदुत्पत्ति के द्वारा नहीं हो सकती है। तादात्म्य अविनाभाव का नियामक नहीं हो सकता है। जहाँ तादात्म्य होता है वहाँ हेतु और साध्य में भेदाभाव (अभेद) रहता है और जहाँ भेदाभाव है वहाँ सम्बन्धाभाव भी है। तब वहाँ अविनाभाव कैसे सम्भव है? सम्बन्ध का अधिष्ठान तो भेद होता है। तादात्म्य का अर्थ है– साधन का साध्य के साथ ऐक्य और ऐक्य में भेद सम्भव नहीं है। शिंशपा और वृक्ष में तादात्म्य माना गया है। अतः तादात्म्य के द्वारा शिंशपा वृक्ष का गमक कैसे हो सकता है? यदि तादात्म्य के द्वारा शिंशपा को वृक्ष का गमक माना जाता है तो हेतु के ग्रहण के समय ही उससे अभिन्न होने के कारण साध्य की भी प्रतिपत्ति हो जायेगी। यदि हेतु की प्रतीति होने पर भी साध्य की प्रतिपत्ति न हो तो उनमें तादात्म्य कैसे बनेगा? और यदि हेतु की प्रतीति के समय ही साध्य की प्रतिपत्ति हो जाती है तो फिर वहाँ अनुमान की क्या सार्थकता है? एक बात यह भी है कि साध्य और साधन में अभेद होने पर जिस प्रकार शिंशपात्व के द्वारा वृक्षत्व का अनुमान किया जाता है, उसी प्रकार वृक्षत्व के द्वारा शिंशपात्व का भी अनुमान किया जाना चाहिए, क्योंकि तादात्म्य तो दोनों में समानरूप से विद्यमान रहता है। यदि ऐसा माना जाय कि शिंशपात्व ही वृक्षत्व के साथ प्रतिबद्ध है और वृक्षत्व शिंशपात्व के साथ प्रतिबद्ध नहीं है, तो इससे यही सिद्ध होता है कि हेतु तादात्म्य के कारण साध्य

का गमक नहीं होता है, अपितु अविनाभाव के कारण ही वह साध्य का गमक होता है। अतः तादात्म्य के द्वारा हेतु में साध्य के साथ अविनाभाव का नियम सिद्ध नहीं होता है।

इसी प्रकार तदुत्पत्ति के द्वारा भी हेतु का साध्य के साथ अविनाभाव का नियम सिद्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि धूम के श्यामत्वादि धर्म अग्नि के द्वारा उत्पन्न होने पर भी उनके साथ साध्य का अविनाभाव नहीं पाया जाता है। सामान्य पदार्थों में कार्यकारणभाव नहीं होता है; किन्तु विशेष पदार्थों में होता है। महानसादि में जिन धूम और अग्नि का कार्यकारणभाव अवगत है उनमें गम्यगमकभाव नहीं होता है और जिन पर्वतीय धूम और अग्नि में गम्यगमकभाव होता है उनमें कार्यकारणभाव अवगत नहीं होता है। तथा कार्यकारणभाव के अनवगत होने पर पर्वतस्थ धूम और अग्नि में अविनाभाव का ग्रहण नहीं किया जा सकता है और अगृहीत अविनाभाव अनुमान का अङ्ग नहीं हो सकता है। यदि अनुमान प्रयोग काल में ही कार्य और कारण में अविनाभाव का नियम मान लिया जाय तो हेतु की प्रतिपत्ति के समय ही साध्य की प्रतिपत्ति हो जायेगी। फिर वहाँ अनुमान करने से क्या लाभ है? इस प्रकार तदुत्पत्ति के द्वारा हेतु का साध्य के साथ अविनाभाव का नियम सिद्ध नहीं होता है। यहाँ एक बात यह भी विचारणीय है कि तादात्म्य और तदुत्पत्ति के द्वारा अविनाभाव का नियम मानने पर कृत्तिकोदय और शकटोदय में तथा चन्द्रोदय और समुद्रवृद्धि में गम्यगमकभाव कैसे बनेगा? क्योंकि उनमें न तो तादात्म्य है और न तदुत्पत्ति है।

बौद्धों का यह कथन भी ठीक नहीं है कि प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ के द्वारा ही अविनाभाव का निश्चय हो जाता है, क्योंकि प्रत्यक्ष को निर्विकल्पक (अनिश्चयात्मक) होने के कारण और अनुपलम्भ को अर्थान्तरोपलम्भस्वभावरूप होने के कारण व्याप्ति के ग्रहण करने में उनकी सामर्थ्य नहीं है। जो निर्विकल्पक है वह 'यह इसके होने पर ही होता है और इसके अभाव में नहीं होता है', इस प्रकार का व्यापार नहीं कर सकता है। निर्विकल्पकजन्य सविकल्पक प्रत्यक्ष भी व्याप्ति का ग्राहक नहीं हो सकता है, क्योंकि बौद्धों ने उसे प्रमाण ही नहीं माना है। उनका यह कथन भी समीचीन नहीं है कि स्वभावहेतु की साध्य के साथ व्याप्ति

विपक्ष में बाधक प्रमाण के बल से ही गृहीत हो जाती है। यहाँ विपक्ष में बाधक प्रमाण क्या है? **'नित्यमर्थक्रियाशून्यं क्रमयौगपद्यानुपलम्भात्'**– नित्य पदार्थ अर्थक्रिया से शून्य होता है, क्रम और यौगपद्य का अनुपलम्भ होने से। इस प्रकार का अनुमान ही तो विपक्ष में बाधक प्रमाण होता है और वही अनुमान अपने साध्य की सिद्धि के लिए समर्थ होता है जिसके हेतु की व्याप्ति का ग्रहण साध्य के साथ हो चुका हो। यहाँ प्रश्न यह है कि इस अनुमान में व्याप्ति का ग्रहण अनुमानान्तर से होता है या प्रथम अनुमान से? अनुमानान्तर से व्याप्ति का ग्रहण मानने पर अनवस्थादोष आता है और प्रथम अनुमान से व्याप्ति का ग्रहण मानने में अन्योन्याश्रय दोष प्राप्त होता है।

उपर्युक्त कथन का निष्कर्ष यह है कि प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा व्याप्ति का ग्रहण सम्भव न होने के कारण व्याप्तिग्राहक तर्क को प्रमाण मानना आवश्यक है। तादात्म्य और तदुत्पत्ति के अभाव में भी अविनाभाव के बल से ही हेतु साध्य का गमक होता है। वृक्षादि हेतु से छाया आदि साध्य का अनुमान किया जाता है; किन्तु देश आदि का भेद होने से वृक्ष आदि छाया आदि का स्वभाव नहीं है और एक साथ होने के कारण वृक्ष आदि छायादि का कार्य भी नहीं है। यहाँ वृक्ष छाया का कारण है और कारण से कार्य का अनुमान किया जाता है। बौद्ध आस्वाद्यमान रस से रस की उत्पादक सामग्री का अनुमान करते हैं और उस सामग्री से रूप का अनुमान करते हैं; किन्तु व्यवहार में ऐसा देखा नहीं जाता है। व्यवहारी पुरुष आस्वाद्यमान रस से रस की उत्पादक सामग्री का अनुमान न करके सीधे वर्तमान रूप का ही अनुमान करता है। वह तो ऐसा अनुमान करता है कि इस आम्रफल का ऐसा रूप (पीतरूप) है, ऐसा रस (मीठा रस) होने से। रस की उत्पादक सामग्री के द्वारा रूप का अनुमान मानने पर कारण से कार्य के अनुमान का प्रसङ्ग आता है और इस स्थिति में बौद्धों के द्वारा अभिमत लिङ्ग की तीन संख्या का व्याघात हो जाता है, क्योंकि तब कार्य, स्वभाव और अनुपलब्धि हेतु के अतिरिक्त कारणहेतु भी मानना पड़ता है। वृक्ष से छाया का जो अनुमान किया जाता है उसमें कोई विसंवाद या व्यभिचार भी नहीं पाया जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि वृक्ष से जो छाया का अनुमान किया जाता है वह कारण से कार्य का अनुमान है। अब इसी विषय में दूसरा

दृष्टान्त देते हैं-

चन्द्रादेः जलचन्द्रादिप्रतिपत्तिस्तथानुमा।।13।।

चन्द्र, सूर्य आदि से जलचन्द्र आदि की जो प्रतिपत्ति होती है वह भी कारण से कार्य का अनुमान है। अर्थात् कारणभूत चन्द्र आदि से स्वच्छ जल में चन्द्र आदि के प्रतिबिम्ब की प्रतिपत्ति को कारण से कार्य का अनुमान मानना चाहिए, क्योंकि चन्द्रादि जलचन्द्र आदि का न तो स्वभाव है और न कार्य है: किन्तु वह जलचन्द्र आदि का कारण अवश्य है। अतः यहाँ कारण से कार्य का अनुमान मानना ही पड़ता है।

प्रतिबिम्बवाद :

पूर्वपक्ष- कुमारिल का कथन है कि जल में चन्द्र आदि का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता है, अपितु स्वदेश में स्थित चन्द्र ही जल में प्रतिभासित होता है। कुमारिल प्रतिबिम्बाभाववादी हैं। उसका कहना है कि जल में प्रतिबिम्ब नामक कोई दूसरी वस्तु सम्भव नहीं है। यदि ऐसा सम्भव हो तो बिम्ब के सन्निधान के पहले जल में प्रतिबिम्ब का उपलम्भ होना चाहिए। यदि ऐसा माना जाय कि बिम्ब का सन्निधान होने पर ही प्रतिबिम्ब की उत्पत्ति होती है, पहले नहीं, तो यहाँ प्रश्न होता है कि बिम्ब के सन्निधान में गुणरूप प्रतिबिम्ब उत्पन्न होता है अथवा द्रव्यरूप? द्रव्यरूप से प्रतिभासमान होने के कारण उसे गुणरूप तो कह नहीं सकते। अब यदि उसे द्रव्यरूप मानते हैं तो वह निरवयवद्रव्यरूप है या सावयवद्रव्यरूप? उसमें अवयवों का प्रतिभास होने के कारण उसे निरवयव द्रव्य नहीं मान सकते हैं। उसे सावयव द्रव्य भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि जलादि के स्पर्श से पृथक् प्रतिबिम्ब का कोई स्पर्श उपलब्ध नहीं होता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि प्रतिबिम्ब कोई वस्त्वन्तर नहीं है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि यदि प्रतिबिम्ब वस्त्वन्तर नहीं है तो जलादि में चन्द्रादि के प्रतिबिम्ब का प्रतिभास कैसे होता है? इसका उत्तर यही है कि जलादि में चन्द्रादि का प्रतिबिम्ब सम्भव न होने के कारण स्वदेश में स्थित चन्द्र का ही जल में प्रतिभास होता है। यदि बिम्ब से उत्पन्न प्रतिबिम्ब अर्थान्तर है तो ऐसा क्यों होता है कि बिम्ब के चलायमान होने पर प्रतिबिम्ब भी नियम से चले और बिम्ब के स्थित होने पर प्रतिबिम्ब भी नियम से

स्थित हो जाय। ऐसा कभी नहीं होता है कि दण्ड के चलने पर उससे अर्थान्तरभूत घट नियम से चले और दण्ड के स्थित हो जाने पर घट भी स्थित हो जावे। इसके विपरीत बिम्ब के चल और अचल होने पर नियम से प्रतिबिम्ब में चलत्व और अचलत्व देखा जाता है। इस कारण प्रतिबिम्ब बिम्ब से अर्थान्तर नहीं है।

यदि प्रतिबिम्ब बिम्ब से अर्थान्तर हो तो दर्पणादि में बिम्ब का अपाय हो जाने पर प्रतिबिम्ब क्यों उपलब्ध नहीं होता है? बिम्ब तो प्रतिबिम्ब का निमित्त कारण है और निमित्त कारण के अपाय में कार्य का अपाय नहीं होता है। दण्डादि निमित्त कारण के अपाय में घटादि कार्य का विनाश स्वप्न में भी प्रतीत नहीं होता है। मान लिया जाय कि बिम्ब के अपाय में प्रतिबिम्ब का अपाय (विनाश) हो जाता है तो भी प्रतिबिम्ब का विनाश हो जाने पर प्रतिबिम्ब के अवयवों का उपलम्भ होना चाहिए। जैसे घट का विनाश हो जाने पर उसके अवयव कपालों का उपलम्भ होता है; किन्तु प्रतिबिम्ब का विनाश हो जाने पर उसके अवयवों का उपलम्भ नहीं होता है। इसलिए जलादि में बिम्ब से अर्थान्तरभूत प्रतिबिम्ब सिद्ध नहीं होता है, परन्तु जल, दर्पण आदि के द्वारा प्रतिहत चक्षुकिरणें ही लौटकर मुख, चन्द्र आदि को दर्पण, जलादि में प्रदर्शित करती हैं। ऐसा प्रतिबिम्बाभाववादी **कुमारिलभट्ट** का मत है।

उत्तरपक्ष– प्रतिबिम्बाभाववादी कुमारिल का उक्त मत तर्कसङ्गत नहीं है। उनका यह कथन सर्वथा अविचारित रमणीय है कि जलादि में बिम्ब को छोड़कर प्रतिबिम्ब नामक कोई अर्थान्तर सम्भव नहीं है। यहाँ हम यह जानना चाहते हैं कि जलादि में प्रतिबिम्ब का असम्भव ग्राहक-प्रमाण के अभाव के कारण है अथवा उसका उत्पादक कोई कारण ही नहीं है। प्रतिबिम्ब के ग्राहक-प्रमाण का अभाव बतलाना सर्वथा असङ्गत है, क्योंकि सकल प्रमाणों में ज्येष्ठ प्रत्यक्ष प्रमाण ही प्रतिबिम्ब के सद्भाव को सिद्ध करता है। "मैं निर्मल जल में चन्द्रादि के प्रतिबिम्ब को देखता हूँ", ऐसी प्रतीति प्रत्येक मानव को होती है। यह प्रतीति न तो इस रूप में होती है कि मैं चन्द्र को देखता हूँ और न इस रूप में होती है कि मैं जल को देखता हूँ, अपितु इस रूप में होती है कि मैं जल में चन्द्रादि के प्रतिबिम्ब को देखता हूँ। इस प्रतीति को भ्रान्त भी नहीं कह सकते हैं,

क्योंकि ऐसी प्रतीति सबको सर्वत्र और सर्वदा होती है। जैसे घटादि की प्रतीति सबको सर्वत्र और सर्वदा एकरूप होने के कारण भ्रान्त नहीं है, उसी प्रकार प्रतिबिम्ब की प्रतीति भी भ्रान्त नहीं है। जो प्रतीति भ्रान्त होती है वह सबको सर्वत्र और सर्वदा एक सरीखी नहीं होती है, जैसे शुक्तिका में रजत प्रतीति। भ्रान्ति के विषय में एक बात यह भी है कि किसी ज्ञान के उत्पन्न हो जाने के बाद यदि उसमें कोई बाधक प्रत्यय आ जावे अथवा उसके कारण में कोई दोष ज्ञात हो जाय तो वह ज्ञान भ्रान्त कहलाता है; किन्तु प्रतिबिम्ब के विषय में न तो कोई बाधक प्रत्यय दिखलायी देता है और न उसके उत्पादक कारण में किसी दोष को देखा जाता है। इसलिए बिम्ब से प्रतिबिम्ब को अर्थान्तर सिद्ध करने वाला प्रत्यक्ष अभ्रान्त है और वह प्रतिबिम्ब का साधक होता है।

ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है कि प्रतिबिम्ब का कोई उत्पादक कारण ही नहीं है, क्योंकि प्रतिबिम्ब का उपादानरूप और निमित्तरूप उत्पादक कारण पाया ही जाता है। प्रतिबिम्ब की उत्पत्ति में जलादिक उपादान कारण होता है और चन्द्रादिक निमित्त कारण होता है। गगनतल में स्थित चन्द्रादि का निमित्त पाकर जलादि का प्रतिबिम्ब के आकाररूप से परिणमन हो जाता है। पूर्वपक्ष में कहा गया है कि बिम्ब के सन्निधान में कैसा प्रतिबिम्ब उत्पन्न होता है– गुणरूप या द्रव्यरूप? इसका उत्तर यह है कि बिम्ब के सन्निधान में द्रव्यरूप ही प्रतिबिम्ब उत्पन्न होता है, गुणरूप नहीं। तथा वह निरवयव द्रव्यरूप न होकर सावयव द्रव्यरूप ही उत्पन्न होता है, क्योंकि हम लोगों की इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य द्रव्य निरवयव नहीं होता है। पूर्वपक्ष में यह भी कहा गया है कि 'प्रतिबिम्ब सावयव द्रव्य नहीं हो सकता है। यदि प्रतिबिम्ब सावयव द्रव्य हो तो जलादि के स्पर्श से उसके पृथक् स्पर्श का उपलम्भ होना चाहिए; किन्तु ऐसा होता नहीं है। अतः प्रतिबिम्ब सावयव द्रव्य नहीं है। इसका उत्तर यह है कि जलादि के स्पर्श से प्रतिबिम्ब का पृथक् स्पर्शोपलम्भ तब हो सकता है जब प्रतिबिम्ब जलादि से अर्थान्तरभूत द्रव्य हो, परन्तु जब जलादि ही प्रतिबिम्बरूप से परिणत हो जाता है तब प्रतिबिम्ब को जलादिरूप होने के कारण उसका जलादि से पृथक् उपलम्भ होने का कोई प्रश्न ही नहीं है।

पूर्वपक्ष में यह भी कहा गया है कि 'यदि प्रतिबिम्ब बिम्ब से अर्थान्तर है तो बिम्ब के चलने पर प्रतिबिम्ब नियम से क्यों चलता है और बिम्ब

के स्थित होने पर नियम से क्यों स्थित हो जाता है, इत्यादि।' इसका उत्तर यह है कि प्रतिबिम्ब के अर्थान्तर होने पर भी वह नियम से निमित्त कारण की क्रिया का अनुकरण करता है, प्रदीपप्रकाश की तरह अथवा छत्र की छाया की तरह। जिस प्रकार प्रदीप और छत्र के चलने पर प्रकाश और छाया नियम से चलते हैं और उनके स्थिर हो जाने पर प्रकाश और छाया नियम से स्थिर हो जाते हैं। उसी प्रकार बिम्ब के चलने पर प्रतिबिम्ब भी चलता है और बिम्ब के स्थिर हो जाने पर प्रतिबिम्ब भी स्थिर हो जाता है।

पूर्वपक्ष द्वारा पहले यह भी कहा गया है कि निमित्त कारण दण्ड आदि के अपाय में घटादि कार्य का नाश नहीं देखा जाता है, ऐसा कथन वक्ता के अज्ञान का सूचक है। हम देखते हैं कि निमित्त कारण प्रदीप, छत्रादि के अपाय में प्रकाश और छाया का अपाय हो जाता है। पूर्वपक्ष में यह भी कहा गया है कि यदि बिम्ब के अपाय में प्रतिबिम्ब का विनाश मान लिया जाय तो प्रतिबिम्ब के अवयवों का उपलम्भ होना चाहिए। जैसे घट का विनाश हो जाने पर कपालों का उपलम्भ होता है। पूर्वपक्ष का यह कथन भी यही बतलाता है कि वक्ता को वास्तविक वस्तुस्थिति का ज्ञान नहीं है। प्रदीप, विद्युत् आदि द्रव्यों का विनाश हो जाने पर कहीं कभी किसी को भी प्रदीपादि के अवयव की उपलब्धि नहीं देखी गयी है। इत्यादि प्रकार से विचार करने पर प्रतिबिम्बाभाववादी कुमारिल भट्ट के मत के निराकरणपूर्वक प्रतिबिम्ब का सद्भाव सिद्ध किया गया है।

यहाँ बौद्ध कहना चाहते हैं कि हेतु के द्वारा अतीतकालवर्ती पदार्थों का अनुमान तो किया जा सकता है, परन्तु अनागत पदार्थों का अनुमान करने में व्यभिचार आने के कारण ऐसा करना ठीक नहीं है। आचार्य इस कथन का निराकरण करने के लिए कहते हैं–

हेतु के द्वारा अनागतकालवर्ती पदार्थों का अनुमान :

भविष्यत् प्रतिपद्येत शकटं कृत्तिकोदयात्।
श्व आदित्य उदेतेति ग्रहणं वा भविष्यति।।14।।

एक मुहूर्त के बाद शकट (रोहिणी) नक्षत्र का उदय होगा, क्योंकि इस समय कृत्तिका नक्षत्र का उदय है। कल सूर्य का उदय होगा तथा

इतने काल बाद सूर्यग्रहण या चन्द्रग्रहण होगा, ऐसा भी अनुमान के द्वारा जान लिया जाता है। अर्थात् हेतु के द्वारा अनागतकालवर्ती पदार्थों का अनुमान किया जाता है और इस अनुमान में किसी प्रकार का कोई दोष नहीं आता है।

इस कारिका में यह बतलाया गया है कि कार्य और स्वभाव हेतु के अतिरिक्त पूर्वचर, उत्तरचर आदि और भी कई हेतु होते हैं। कृत्तिका के उदय से भविष्य में उदित होने वाले शकट नक्षत्र का अनुमान किया जाता है। यह पूर्वचर हेतु से उत्तरचर साध्य का अनुमान है। यहाँ कृत्तिका का उदय शकटोदय का पूर्वचर है; किन्तु कृत्तिकोदय न तो शकटोदय का कार्य है और न स्वभाव है। फिर भी वह अविनाभाव के बल से अपने उत्तरचर साध्य शकटोदय का ज्ञान कराता ही है। तथा कल प्रातः सूर्य का उदय होगा, क्योंकि आज सूर्य का उदय हो चुका है। यहाँ भी आज का सूर्योदय कल होने वाले सूर्योदय का अनुमान कराता है। इसी प्रकार भविष्य में किसी अमावस्या अथवा पूर्णिमा को सूर्यग्रहण या चन्द्रग्रहण होगा, क्योंकि गणित ज्योतिष के द्वारा ऐसा ज्ञान हो जाता है।

यहाँ अनुमान से जिन पदार्थों का ज्ञान किया गया है वे सब भविष्यकालवर्ती हैं तथा उनका जो ज्ञान होता है वह अविसंवादी ज्ञान है। ऐसे अविसंवादी ज्ञान से बौद्धों की प्रतिबन्ध संख्या का और प्रमाण संख्या का व्याघात हो जाता है। अर्थात् बौद्धों ने बतलाया था कि तादात्म्य और तदुत्पत्ति के द्वारा व्याप्ति का ज्ञान हो जाता है; किन्तु हम देखते हैं कि कृत्तिकोदय और शकटोदय में न तो तादात्म्य है और न तदुत्पत्ति है। तब यहाँ साध्य और साधन में व्याप्ति का ग्रहण कैसे होगा? कहने का मतलब यही है कि यहाँ व्याप्ति का ग्रहण तर्कप्रमाण के द्वारा ही होता है। यह प्रतिबन्ध संख्या का व्याघात है। बौद्ध यह भी मानते हैं कि अनुमान तीन प्रकार का होता है- कार्यहेतुजन्य, स्वभावहेतुजन्य और अनुपलब्धिहेतुजन्य। परन्तु हम देखते हैं कि उक्त प्रकार के अनुमान के अतिरिक्त पूर्वचर हेतुजन्य, उत्तरचर हेतुजन्य आदि अन्य अनुमान भी होते हैं। यही अनुमान के विषय में बौद्धों की प्रमाण संख्या का व्याघात है। ऊपर दिये गये उदाहरणों में कृत्तिका नक्षत्र शकट का पूर्वचर है। इसी प्रकार कृत्तिका नक्षत्र भरणि नक्षत्र का उत्तरचर है, क्योंकि भरणि नक्षत्र

के बाद ही कृत्तिका का उदय होता है। अतः जब हम कहते हैं कि भरणि नक्षत्र का उदय हो चुका है, क्योंकि इस समय कृत्तिका का उदय है। यहाँ कृत्तिकोदय उत्तरचर हेतु का उदाहरण है।

यौगाभिमत अनुमान भेद-विचार :

पूर्वपक्ष– यौगों का कथन है कि कारण, कार्य, संयोगी, समवायी और विरोधी– ये पाँच हेतु अनुमान के अङ्ग हैं। इन हेतुओं का अपने साध्य के साध्य अविनाभाव रहने के कारण अनुमान भी पाँच प्रकार का है। कारण से कार्य के अनुमान का उदाहरण- जैसे जलते हुए ईंधन को देखकर यह अनुमान करना कि यहाँ भस्म होगी। कार्य से कारण का अनुमान– जैसे नदीपूर को देखकर वृष्टि का अनुमान करना। संयोगी हेतु से संयोगी साध्य का अनुमान– जैसे धूम को देखकर वह्नि का अनुमान। समवायी हेतु से समवायी साध्य का अनुमान– जैसे शब्द से आकाश का अनुमान और विरोधी हेतु से उसके विरोधी साध्य का अनुमान– जैसे विस्फूर्जित (उत्तेजित) नकुल के देखने से सन्निहित सर्प का अनुमान। इस प्रकार यौगों ने पाँच प्रकार का अनुमान बतलाया है।

उत्तरपक्ष– यौगों का उक्त कथन समीचीन नहीं है, क्योंकि पूर्व में बतलाये गये पूर्वचर, उत्तरचर आदि हेतुओं से जन्य अनुमानों का अन्तर्भाव यौगपरिकल्पित पाँच प्रकार के अनुमानों में नहीं होने के कारण पाँच के अतिरिक्त अन्य अनुमान भी सिद्ध होते हैं। इस कारण यौगों के अनुमान की पाँच संख्या का व्याघात निश्चित रूप से हो जाता है। यथार्थ बात यह है कि अविनाभाव के बल से ही हेतु अनुमान का अङ्ग होता है, कारण आदि होने मात्र से नहीं। कृत्तिकोदय आदि हेतुओं में कारणादिरूपता नहीं होने पर भी वे हेतु साध्य के गमक होते हैं। कारणादिरूपता सब हेतुओं में न पाये जाने के कारण अव्यापक है, परन्तु अविनाभाव ही हेतु का एक ऐसा लक्षण है जो सब हेतुओं में विद्यमान रहता है और जो हेत्वाभासों से व्यावृत्त रहता है। अतः अविनाभाव के बल से हेतु साध्य का गमक होता है, कारण आदि होने मात्र से नहीं। इस प्रकार यौग परिकल्पित अनुमान की पाँच संख्या का निरास हो जाता है।

बौद्ध कहते हैं कि दृश्यानुपलब्धि ही साध्य की गमक होती है, अदृश्यानुपलब्धि नहीं। अदृश्यानुपलब्धि तो संशय की हेतु होती है। इस

मत का निराकरण करने के लिए आचार्य कहते हैं-

अदृश्यानुपलब्धि संशय का हेतु नहीं :

अदृश्यपरचित्तादेरभावं लौकिका विदुः।
तदाकारविकारादेरन्यथाऽनुपपत्तितः ।।15।।

परचित्त (आत्मा) आदि अदृश्य हैं, फिर भी लौकिक जन उसके अभाव को जान लेते हैं, क्योंकि शरीर में जीव के अस्तित्व का और उष्णता आदि का अविनाभाव सम्बन्ध है। यदि मृत शरीर में जीव का अभाव न हो तो उसके बिना शरीर में जो विकार आदि (शरीरगत उष्ण स्पर्श का अभाव आदि) देखा जाता है वह नहीं बन सकता है, क्योंकि शरीर में उष्णता आदि धर्म तभी तक पाये जाते हैं, जब तक उसमें जीव रहता है। शरीर में उष्णता आदि धर्म जीव के सहभावी धर्म हैं और जीव के अभाव में उनका भी अभाव हो जाता है।

दृश्य (दिखने योग्य) वस्तु की अनुपलब्धि दृश्यानुपलब्धि कहलाती है और अदृश्य (न दिखने योग्य) वस्तु की अनुपलब्धि को अदृश्यानुपलब्धि कहते हैं। भूतल में घट की जो अनुपलब्धि है वह दृश्यानुपलब्धि है और परमाणु, पिशाच आदि की जो अनुपलब्धि है वह अदृश्यानुपलब्धि है। बौद्धों का कथन है कि भूतल में दृश्य घट की अनुपलब्धि से घटाभाव का निश्चय हो जाता है, किन्तु अदृश्य परमाणु या पिशाच की अनुपलब्धि से निश्चितरूप से यह नहीं कहा जा सकता है कि यहाँ पिशाच नहीं है। पिशाच के होने या न होने में सन्देह रहता है। यहाँ पिशाच हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है, ऐसा बौद्धों का कथन है।

बौद्धों का उक्त कथन समीचीन नहीं है। इस विषय में **अकलङ्कदेव** ने बतलाया है कि जिस प्रकार दृश्यानुपलब्धि निश्चय का हेतु होती है उसी प्रकार अदृश्यानुपलब्धि भी निश्चय का हेतु होती है। बौद्धों का यह कथन ठीक नहीं है कि अदृश्यानुपलब्धि संशय का हेतु होती है। यहाँ हम बौद्धों से पूछना चाहते है कि परचित्त (दूसरे प्राणी के शरीर में स्थित आत्मा) अदृश्य हैं और उसका अभाव (शरीर से निवृत्ति) हो जाने पर परचित्त के अभाव का ज्ञान होता है या नहीं? उसके अभाव का ज्ञान अवश्य होता है। पहले आत्मा के रहने पर शरीर में उष्ण स्पर्श

आदि का ज्ञान होता था: किन्तु शरीर से आत्मा के निकल जाने पर अब उष्ण स्पर्श आदि का ज्ञान नहीं होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि शरीर से अदृश्य परचित्त निकल गया है। यहाँ अदृश्य परचित्त की अनुपलब्धि के द्वारा निश्चित रूप से अदृश्य परचित्त के अभाव का ज्ञान होता है। अतः अदृश्यानुपलब्धि संशय का हेतु न होकर निश्चय का हेतु होती है। आबालवृद्ध सभी यह जानते हैं कि यह शरीर अब निष्प्राण या चैतन्य विहीन हो गया है और किसी को भी ऐसी शङ्का नहीं होती है कि इस शरीर में अब चैतन्य है या नहीं?

यथार्थ बात यह है कि सर्वत्र अविनाभाव या अन्यथानुपपत्ति के द्वारा ही साध्य-साधन में गम्यगमकभाव देखा जाता है और वह अविनाभाव अदृश्यानुपलब्धि में भी रहता है। अतः अदृश्यानुपलब्धिरूप हेतु से भी अदृश्य वस्तु के अभाव का अनुमान किया जाता है। इसमें किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं है। यदि बौद्ध अदृश्यानुपलब्धि को संशय का हेतु मानते हैं तो इससे बौद्ध केवल परचित्त के अभाव की ही सिद्धि नहीं कर सकते हैं, अपितु स्वचित्त के सद्भाव की भी सिद्धि नहीं कर सकते हैं। क्योंकि बौद्धदर्शन में सजातीय और विजातीय से व्यावृत्त स्वचित्तरूप जो क्षण है वह अदृश्य है। तब प्रश्न यह है कि उस अनंश तथा अदृश्य तत्त्व की सिद्धि किस प्रमाण से होगी? अर्थात् उसका साधक कोई प्रमाण नहीं है। ऐसी स्थिति में अदृश्यानुपलब्धि के द्वारा उसके सद्भाव में सन्देह ही रहेगा और स्वचित्त के सद्भाव में सन्देह के रहने पर परमार्थ से क्षणभङ्ग की सिद्धि भी नहीं हो सकेगी।

अभावप्रमाण-विचार :

पूर्वपक्ष– मीमांसक मानते हैं कि अभाव एक पृथक् प्रमाण है और किसी पदार्थ के अभाव को जानने के लिए अभाव प्रमाण का व्यापार होता है। परचित्त के अभाव का ज्ञान भी अभाव प्रमाण से होता है। अभाव प्रमाण प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भिन्न है, क्योंकि अभाव प्रमाण की उत्पादक सामग्री प्रत्यक्षादि की सामग्री से भिन्न होती है। अभाव प्रमाण का विषय भी प्रत्यक्षादि प्रमाणों के विषय से भिन्न है तथा उसका फल भी भिन्न है। इन्हीं कारणों से एक प्रमाण से दूसरा प्रमाण भिन्न होता है। जैसे प्रत्यक्ष से अनुमान भिन्न है।

अब यहाँ यह बतलाना आवश्यक है कि अभाव प्रमाण की उत्पादक सामग्री प्रत्यक्षादि की सामग्री से भिन्न क्यों है? प्रत्यक्ष की उत्पादक सामग्री इन्द्रियार्थसन्निकर्षरूप है और इस सामग्री से अभाव प्रमाण की उत्पत्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि इन्द्रियों के साथ अभाव का सन्निकर्ष नहीं होता है। अभाव को अद्रव्य होने के कारण उसमें संयोगलक्षणरूप सन्निकर्ष नहीं हो सकता है। अभाव प्रमाण द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष से भिन्न है, अतः उसमें समवायलक्षणरूप सन्निकर्ष भी सम्भव नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्यक्ष और अभाव प्रमाण की उत्पादक सामग्री भिन्न-भिन्न है।

अभाव प्रमाण की उत्पादक सामग्री है– उपलब्धिलक्षणप्राप्त प्रतिषेध्य अर्थ की अनुपलब्धि, भूतलादि आश्रय की उपलब्धि और प्रतिषेध्य घटादि का स्मरण। घट उपलब्धिलक्षणप्राप्त (दृश्य) है, उसकी भूतल में अनुपलब्धि हो रही है और घट के आश्रयभूत भूतल की उपलब्धि हो रही है, इसके साथ ही प्रतिषेध्य घट का स्मरण हो रहा है। इस प्रकार की सामग्री से अभाव प्रमाण की उत्पत्ति होती है तथा उसके द्वारा भूतल में घटाभाव का ज्ञान होता है। इसी विषय में **मीमांसाश्लोकवार्तिक** में कहा गया है–

गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम्।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया।।

अर्थात् जिस स्थान में किसी वस्तु का निषेध करना है पहले उस स्थान का ग्रहण (ज्ञान) होना चाहिए। फिर प्रतियोगी (निषेध्य वस्तु) का स्मरण होना चाहिए। तब बाह्येन्द्रियों की अपेक्षा के बिना ही नास्तिता (घटाभाव) का जो ज्ञान होता है वह अभाव प्रमाण है। इसे मानस ज्ञान भी कहा गया है। भूतल में घट का निषेध करने के लिए पहले भूतल का ग्रहण होना चाहिए। तदनन्तर घट का स्मरण होना चाहिए। तभी 'इस भूतल में घट नहीं है' ऐसा घटाभाव का ज्ञान होता है। और भी देखिये–

प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते।
वस्तु सत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता।।

अर्थात् जिस वस्तुरूप में (भूतलविशेष) में वस्तु (घट) की सत्ता के

ज्ञान के लिए प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणों की प्रवृत्ति नहीं होती है वहाँ उस वस्तु के अभाव को जानने के लिए अभाव प्रमाण की प्रवृत्ति होती है।

अनुमान प्रमाण से भी अभाव का ज्ञान नहीं हो सकता है, क्योंकि अनुमान की उत्पादक सामग्री लिङ्गादिस्वरूप है तथा अभाव के साथ अविनाभावी कोई लिङ्ग नहीं है। तब अनुमान से अभाव का ग्रहण कैसे हो सकता है? इसी प्रकार आगम, उपमान और अर्थापत्ति नामक प्रमाणों से भी अभाव का ग्रहण सम्भव नहीं है, क्योंकि इन प्रमाणों की उत्पादक सामग्री अभाव प्रमाण की उत्पादक सामग्री से भिन्न है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि प्रत्यक्षादि की उत्पादक सामग्री से अभाव प्रमाण की उत्पादक सामग्री भिन्न है, अतः प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा अभाव का ज्ञान नहीं हो सकता है।

प्रत्यक्षादि प्रमाणों का तथा अभाव प्रमाण का विषय भी भिन्न-भिन्न है। इस भूतल में घट नहीं है, ऐसा जो ज्ञान होता है उसका विषय भाव न होकर अभाव होता है। अभाव प्रमाण का विषय न तो भूतल है और न घट है, किन्तु घटाभाव है। इसके विपरीत प्रत्यक्षादि का विषय भावरूप होता है। दोनों के विषय में महान् अन्तर है, जो सिद्ध करता है कि विषयभेद के कारण प्रत्यक्षादि तथा अभाव प्रमाण भिन्न-भिन्न हैं। प्रत्यक्षादि प्रमाणों तथा अभाव प्रमाण का फल भी पृथक्-पृथक् है। अभाव प्रमाण के द्वारा अभाव की परिच्छित्ति होती है और प्रत्यक्षादि के द्वारा भाव की परिच्छित्ति होती है। इस तरह यह निश्चित है कि अभाव का ज्ञान प्रत्यक्षादि अन्य किसी प्रमाण से नहीं होता है। अतः अभाव के ज्ञान के लिए एक अभाव नामक पृथक् प्रमाण मानना आवश्यक है।

यह कहना भी ठीक नहीं है कि अवस्तु को विषय करने के कारण अभाव प्रमाण नहीं हो सकता है। यतः अभाव प्रमाण के द्वारा परिच्छेद्य होता है अतः वह अवस्तु नहीं है। जो वस्तु प्रमाण के द्वारा परिच्छेद्य होती है उसे अवस्तु नहीं कहा जा सकता है, जैसे घटादि वस्तु। घटाभाव भी अभाव प्रमाण के द्वारा परिच्छेद्य होता है। अतः वह अवस्तु न होकर वस्तु ही है। यदि अभाव अवस्तु है तो उसमें भेदों की कल्पना नहीं की जा सकती है; किन्तु अभाव के प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव– ये चार भेद किये गये हैं। अतः अभाव भी एक वस्तु है

और उसका ग्रहण अभाव प्रमाण से होता है। ऐसा मीमांसकों का मत है।

उत्तरपक्ष– मीमांसक का उक्त कथन युक्तिसङ्गत नहीं है। यह कहना ठीक नहीं है कि अभाव प्रमाण प्रत्यक्षादि से भिन्न है। अभाव प्रमाण का जो विषय है वह प्रत्यक्षादि के द्वारा गृहीत होने के कारण अभाव प्रमाण में प्रत्यक्षादि से भिन्नता सिद्ध नहीं होती है। अभाव दो प्रकार का होता है– विप्रकृष्ट अर्थ सम्बन्धी अभाव और अविप्रकृष्ट अर्थ सम्बन्धी अभाव। विप्रकृष्ट पदार्थ तीन प्रकार का होता है– देशविप्रकृष्ट, जैसे मेरु आदि, कालविप्रकृष्ट, जैसे रामरावणादि और स्वभावविप्रकृष्ट, जैसे परमाणु आदि। इनसे विपरीत पदार्थों को देशादि से अविप्रकृष्ट कहते हैं। अर्थात् जिनका देश कालादि निकट हो उसे अविप्रकृष्ट पदार्थ समझना चाहिए। इनमें से देशादि से अविप्रकृष्ट अर्थसम्बन्धी जो अभाव है वह प्रत्यक्षादि से जाना ही जाता है। यह भूतल घटरहित है, ऐसा ज्ञान चक्षुरिन्द्रिय के व्यापार के अनन्तर होता ही है। जो ज्ञान चक्षु के होने पर हो और चक्षु के अभाव में न हो वह प्रत्यक्ष कहलाता है, जैसे घटपटादि का ज्ञान। घटादि के अभाव का ज्ञान भी इसी प्रकार का है। अतः वह प्रत्यक्ष ही है। इससे यह सिद्ध होता है कि देशादि से अविप्रकृष्ट अर्थसम्बन्धी अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा ही होता है।

देशादि से विप्रकृष्ट अर्थसम्बन्धी जो अभाव है उसका ज्ञान अनुमानादि के द्वारा होता है। देशविप्रकृष्ट कमलाकरकमलादिसम्बन्धी विकासादि का अभाव दिनकर के उदयादि के अभाव से जाना जाता है। कालविप्रकृष्ट शकटादि नक्षत्र के एक मुहूर्त के अन्त में उदयाभाव का ज्ञान अश्विनीनक्षत्र के उदय से जाना जाता है। इस समय अश्विनी नक्षत्र का उदय है। इससे ज्ञात होता है कि एक मुहूर्त बाद शकट (रोहणी) नक्षत्र का उदय नहीं होगा, क्योंकि अश्विनी नक्षत्र शकट का पूर्वचर नहीं है। और स्वभाव-विप्रकृष्ट चैतन्य का मृतशरीर में सत्त्वाभाव का जो ज्ञान होता है, वह व्यापार और आकारविशेष के अभाव से जाना जाता है। मृत-शरीर में हस्त, पैर आदि का व्यापार नहीं होता है, वचनों का व्याहार (उच्चारण) नहीं होता है और आकारविशेष (उष्णस्पर्श) आदि का अभाव देखा जाता है। इन बातों से यह ज्ञात हो जाता है कि मृत शरीर में चैतन्य का अभाव

है। अतः देशादि से विप्रकृष्ट अर्थ सम्बन्धी जो अभाव है उसका ज्ञान अनुमान प्रमाण से हो जाता है।

पूर्वपक्ष ने अभाव प्रमाण की उत्पत्ति में भूतलादि आश्रय के ग्रहणरूप जो सामग्री बतलायी है वह तो प्रत्यक्ष में भी समानरूप से पायी जाती है, क्योंकि इस भूतल में घट है, ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान भूतलरूप आश्रय के ग्रहण के बिना नहीं होता है। तथा आश्रय के ग्रहणपूर्वक ही अभाव का ज्ञान होता है, ऐसा कोई नियम भी नहीं हैं। अन्धकार में प्रदीपाभाव की जो प्रतिपत्ति होती है वह आश्रय के ग्रहण के बिना ही हो जाती है। यहाँ शब्द नहीं है, ऐसी शब्द के अभाव की जो प्रतिपत्ति होती है वह आश्रय के ग्रहण के बिना श्रोत्र व्यापार से ही हो जाती है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि आश्रय का ग्रहण अभाव प्रमाण की सामग्री के अन्तर्गत नहीं है। पूर्वपक्ष में यह भी कहा गया है कि अभाव अवस्तु नहीं है, किन्तु वस्तु है। यह बात उसी अभाव के विषय में ठीक है जो अभाव वस्तु का धर्म है, परन्तु एक अभाव ऐसा भी है जिसे सर्वथा तुच्छाभाव कहते हैं। सर्वथा तुच्छाभावरूप जो अभाव है वह अवस्तु ही है, वस्तु नहीं, जैसे गगनकुसुम। मीमांसकाभ्युपगत अभाव भी तुच्छाभावरूप होने के कारण अवस्तु ही है। अभाव प्रमाण के विषय को तथा फल को प्रत्यक्षादि से भिन्न बतलाना भी ठीक नहीं है। जिस घटाभाव को अभावप्रमाण का विषय बतलाया गया है वह प्रत्यक्ष का ही विषय है और प्रत्यक्ष के द्वारा ही उसका ग्रहण होता है। इसी प्रकार अभाव की अधिगति को अभाव प्रमाण का जो फल बतलाया गया है वह भी प्रत्यक्षादि का ही फल है।

यहाँ एक बात यह भी विचारणीय है कि यदि अभाव प्रमाण का कोई स्वरूप सिद्ध हो तो उसके कारण, विषय और फल की व्यवस्था की जा सकती है, अन्यथा नहीं। अभाव प्रमाण में प्रामाण्य सिद्ध करना भी सरल नहीं है। प्रमेय का जो परिच्छेदक होता है उसमें प्रामाण्य माना जाता है; किन्तु जो स्वरूप से ही असिद्ध है वह न तो किसी का परिच्छेदक होता है और न उसमें प्रामाण्य होता है। परिच्छेदकत्व तो ज्ञान का धर्म है, वह अश्वविषाण के समान अभाव का धर्म कैसे हो सकता है? अतः मीमांसकों ने अभाव प्रमाण का जो स्वरूप, सामग्री, विषय और फल माना है वह सब सिद्ध नहीं होता है। इस कारण घटादि का अभाव वस्तु

का ही धर्म है और वह भाव की तरह प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ही जाना जाता है। किसी पदार्थ के अभाव की प्रतिपत्ति के लिए प्रतियोगी पदार्थ का स्मरण भी आवश्यक नहीं है, क्योंकि घटरहित भूतल का प्रत्यक्ष होने पर प्रतियोगी के स्मरण के बिना भी प्रत्यक्ष से ही भावांश (भूतल) की तरह अभावांश (घटाभाव) का भी ज्ञान हो जाता है। जिस पदार्थ का अभाव बतलाया जाता है उसे प्रतियोगी कहते हैं। जब हम भूतल में घट का अभाव बतलाते हैं तब वहाँ घट प्रतियोगी कहलाता है। इत्यादि प्रकार से विचार करने पर मीमांसकाभिमत अभाव प्रमाण निरस्त हो जाता है।

बौद्धाभिमत अभावस्वरूप-विचार :

पूर्वपक्ष– बौद्धों की मान्यता है कि भावस्वरूप से व्यतिरिक्त ऐसा कोई अभाव नहीं है जो प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा ग्राह्य होता हो। प्रत्यक्ष का विषय तो वह अर्थ होता है जो प्रत्यक्ष का जनक होकर उसके लिए अपने आकार का समर्पक होता है; किन्तु अभाव में जनकत्व और आकारसमर्पकत्व सम्भव नहीं है। जो अभावरूप है वह न तो किसी का जनक होता है और न स्वाकारसमर्पक होता है, जैसे- आकाशकुसुम। यदि अभाव को ज्ञानजनक और स्वाकारसमर्पक माना जाय तो इसे भावरूप ही मानना पड़ेगा। जो पदार्थ ज्ञानजनक और स्वाकारसमर्पक होता है वह भावरूप ही होता है, जैसे घटादि। 'इस भूतल में घट नहीं है', इस प्रकार के प्रत्यक्ष को अभाव के सद्भाव में प्रमाण नहीं माना जा सकता है, क्योंकि शब्दसंसर्गजन्य होने के कारण उक्त प्रत्यक्ष विकल्परूप होने से यथार्थ में प्रत्यक्ष ही नहीं है। अतः प्रत्यक्ष के द्वारा अभाव की सिद्धि नहीं होती है।

अनुमान से भी अभाव की सिद्धि नहीं हो सकती है। अनुमान की उत्पत्ति तभी होती है जब साध्य के साथ अविनाभावी किसी लिङ्ग का सद्भाव हो। साध्य और साधन में अविनाभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से होता है। यहाँ प्रत्यक्ष के द्वारा साध्य-साधन में अविनाभाव का ज्ञान नहीं हो सकता है, क्योंकि अभाव प्रत्यक्ष का गोचर नहीं है अतः प्रत्यक्ष के द्वारा अभाव की किसी लिङ्ग के साथ अविनाभावरूप प्रतिपत्ति सम्भव नहीं है। अनुमान से साध्य-साधन में अविनाभाव की प्रतिपत्ति

मानने पर अनवस्थादोष का प्रसङ्ग आता है। इस प्रकार अभाव के साथ किसी लिङ्ग का अविनाभाव सिद्ध नहीं होता है और जिस लिङ्ग का साध्य के साथ अविनाभाव सिद्ध न हो वह अपने साध्य की सिद्धि करने में समर्थ नहीं होता है। अतः अभाव की प्रतिपत्ति न प्रत्यक्ष से होती है और न अनुमान से। उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह है कि अभाव भावरूप पदार्थ से पृथक् नहीं है, अपितु भावरूप ही है।

उत्तरपक्ष– बौद्धों का उक्त कथन असमीचीन है। उनका यह कथन ठीक नहीं है कि अभाव भावरूप ही है तथा भावस्वरूप से व्यतिरिक्त अन्य कोई अभाव नहीं है। यथार्थ में अभाव भावस्वरूप से व्यतिरिक्त है। प्रतीतिभेद से, स्वरूपभेद से, सामग्रीभेद से और अर्थक्रियाभेद से भाव तथा अभाव में भेद की सिद्धि होती है। जिस पदार्थ का जिस पदार्थ से प्रतीति आदि के द्वारा भेद प्रतीत होता है उसका उससे भेद सिद्ध होता है, जैसे घट का पट से भेद। भाव से अभाव में प्रतीति आदि का भेद सर्वजनप्रसिद्ध है। 'यह यहाँ है और यह यहाँ नही है', ऐसा भाव और अभाव में प्रतीतिभेद सबके अनुभव में आता है। स्वरूपभेद के कारण भी भाव और अभाव में भेद सिद्ध होता है। भाव का स्वरूप है– अपने स्वरूप को प्रदर्शित करना और अभाव का स्वरूप है– भाव का प्रतिषेध करना। यदि स्वरूपभेद होने पर भी भाव और अभाव में अभेद माना जाय तो फिर सर्वत्र भेदवार्ता के उच्छेद का प्रसङ्ग प्राप्त होगा। घट-पटादि में जो भेद देखा जाता है वह स्वरूपभेद के कारण ही होता है।

सामग्री के भेद से भी भाव और अभाव में भेद सुप्रसिद्ध है। जो व्यक्ति घट को उत्पन्न करना चाहता है वह घट के उत्पादन के अनुकूल मृत्पिण्डादि सामग्री का उपादान करता है और जो घट का अभाव (विनाश) करना चाहता है वह मुद्गरादि सामग्री का अवलम्बन लेता है। इससे यही सिद्ध होता है कि घट के सद्भाव की सामग्री और घट के अभाव की सामग्री भिन्न-भिन्न है। इसी प्रकार भाव और अभाव में प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप अर्थक्रियाभेद भी पाया जाता है और इस भेद के कारण भाव और अभाव भिन्न-भिन्न सिद्ध होते हैं। घट के इच्छुक जन को घट का सद्भाव प्रवृत्ति का हेतु होता है और घट का अभाव निवृत्ति का हेतु होता है। प्रमोद आदि अर्थक्रिया करने के कारण भी भाव और अभाव

में भेद सिद्ध होता है। शत्रु का विनाश कर दिया गया है, ऐसा सुनकर व्यक्ति प्रमोद को प्राप्त होता है और शत्रु के सद्भाव को जानकर विषाद को प्राप्त होता है।

अभाव को अवस्तु कहना भी ठीक नहीं है। निम्नलिखित हेतुओं द्वारा अभाव को वस्तु सिद्ध किया जा सकता है। अभाव वस्तु है, क्योंकि वह प्रमाण से प्रतीयमान होता है। जो भी प्रमाण से प्रतीयमान है वह वस्तु है, जैसे भाव। अभाव भी प्रमाण से प्रतीयमान होता है, अतः वह वस्तु है। तथा जो कारण से उत्पन्न होता है वह वस्तु है, जैसे- घटादि। अभाव भी कारण से उत्पन्न होने के कारण वस्तु है। जो अर्थक्रियाकारी होता है वह वस्तु है, जैसे प्रदीप। अभाव भी अर्थक्रियाकारी होता है। अतः वह वस्तु है तथा जिसमें अवान्तरभेद के कारण भेद होता है वह वस्तु है, जैसे रूपरसादि। अभाव में भी प्रागभाव आदि के भेद से भेद पाया जाता है, इस कारण भी अभाव वस्तु है।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि भाव की तरह अभाव भी वास्तविक वस्तुधर्म और प्रमेय है। तथा अभाव का परिच्छेदक प्रत्यक्षादि से पृथक् कोई अभाव प्रमाण नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षादि के द्वारा ही अभाव का परिच्छेद हो जाता है। इस तरह भावरूप पदार्थ से भिन्न एक अभावरूप पदार्थ सिद्ध होता है और वह प्रत्यक्षादि प्रमाणों का ज्ञेय होता है।

बौद्धाभिमत अनुपलब्धिहेतु-निरास :

कारिका संख्या 15 की विवृति में बतलाया गया है-

अदृश्यानुपलब्धेः संशयैकान्तो न केवलं परचित्ताभावो न सिद्ध्यति अपितु स्वचित्ताभावश्च, तदनंशतत्त्वस्य अदृश्यात्मकत्वात्। तथा च कुतः परमार्थसतः क्षणभङ्गसिद्धिः? तद्विपरीतस्य अभेदलक्षणस्यैव स्यात्।

इस विवृति का व्याख्यान उक्त कारिका की व्याख्या में हो चुका है। फिर भी इस विवृति के विषय में कुछ जानने योग्य विशेष इस प्रकार है। बौद्धदर्शन में स्वचित्त के सद्भाव की सिद्धि न होने पर किसी भी प्रमाण से पदार्थ में क्षणिकत्व की सिद्धि भी नहीं की जा सकती है, क्योंकि क्षणभङ्ग की सिद्धि **'सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्'** इस अनुमान से होती है और

जब स्वचित्त का सद्भाव ही असिद्ध है तब अनुमान के आवश्यक अङ्ग धर्मी, हेतु, दृष्टान्त आदि भी असिद्ध ही रहेंगे तथा धर्मी आदि के असिद्ध रहने पर क्षणभङ्ग की सिद्धि कैसे होगी? इसलिए अनंश तत्त्व से विपरीत जो सांश तत्त्व है उसी में क्षणभङ्ग की सिद्धि होती है, बौद्धाभिमत निरंशतत्त्व में नहीं।

यहाँ बौद्धों की आशङ्का है कि अभेदरूप तत्त्व की प्रतिपत्ति तो सविकल्पक प्रत्यक्ष से ही हो जाती है, उसके लिए क्षणभङ्ग आदि के अनुमान की क्या आवश्यकता है? इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं-

वीक्ष्याणुपारिमाण्डल्यक्षणभङ्गाद्यवीक्षणम्।
स्वसंविद्विषयाकारविवेकानुपलम्भवत् ॥16॥

उपलब्धिलक्षणप्राप्त (दृश्य) स्थूल पदार्थ के अणुओं का पारिमाण्डल्य (वर्तुलत्व) तथा क्षणभङ्ग, कार्यकारणसामर्थ्य आदि का सविकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा अवीक्षण (अग्रहण) होता है। अर्थात् ग्रहण नहीं होता है। बौद्धपरिकल्पित निरंश बुद्धि में विषयाकार (स्थूलाद्याकार) के विवेक (निवृत्ति) के अनुपलम्भ की तरह।

इसका तात्पर्य यह है कि उपलब्धिलक्षणप्राप्त स्थूल पदार्थ के जो परमाणु हैं वे अतिसूक्ष्म होते हैं तथा उनमें जो पारिमाण्डल्य (वर्तुलाकारता) है उसका तथा पदार्थ का जो क्षण-क्षण में भङ्ग होता है उसका सविकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा ग्रहण नहीं होता है। इसी विषय में दृष्टान्त देते हुए कहा गया है कि बौद्धों के यहाँ बुद्धि को निरंश माना गया है तथा उसमें विषय के स्थूलाद्याकार का विवेक रहता है, परन्तु उसका उपलम्भ नहीं होता है। अर्थात् बुद्धि के प्रतिभासित होने पर भी उसमें विषयाकार का विवेक प्रतिभासित नहीं होता है। यदि उसमें विषयाकार भी प्रतिभासित हो तो बुद्धि में स्थूलाद्याकार की जो भ्रान्ति मानी गई है उसके अभाव का प्रसङ्ग प्राप्त होगा, क्योंकि जहाँ जिस समय जो वास्तविक आकार प्रतीत होता है वहाँ उस समय उसके विपरीत आकार की प्रतीति नहीं होती है। जैसे नील के प्रतीयमान होने पर पीत की प्रतीति नहीं होती है, परन्तु बौद्ध परिकल्पित संवित्ति में विषयाकार का विवेक प्रतीत होता है। अतः जो स्थूल, अनेक विवर्तव्यापी और उपलब्धिलक्षणप्राप्त है उसी

में अनित्यत्व सिद्ध होता है, अन्य में नहीं। हम कह सकते हैं कि जो अर्थ अनेक स्वभाववान् है वह परमार्थसत् है, जैसे बौद्धाभिमत वेद्यवेदकादि अनेक स्वभाव वाली संवित्। इसी प्रकार जैनाभ्युपगत वस्तु भी अनेक पर्यायव्यापी और अनेक स्वभाववाली है, इसलिए वह परमार्थसत् है। अब यदि कोई बहिरङ्ग या अन्तरङ्ग तत्त्व का कथञ्चित् सत्, चेतन आदि रूप से प्रतिभास मानता है तो इससे अनेकान्त की ही सिद्धि होती है। इस प्रकार अनुपलब्धि हेतु का निराकरण करके अब स्वभाव आदि हेतुओं का निराकरण करते हैं-

बौद्धाभिमत स्वभाव आदि हेतुओं का निरास :

> **अनंशं बहिरन्तश्चाप्रत्यक्षं तदभासनात्।**
> **कस्तत्स्वभावो हेतुः स्यात् किं तत्कार्यं यतोऽनुमा।।17।।**

परपरिकल्पित जो अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग अनंश तत्त्व है वह प्रत्यक्षग्राह्य नहीं होता है, क्योंकि प्रत्यक्ष द्वारा उसकी प्रतीति नहीं होती है। ऐसी अनंश और अप्रतिपन्न वस्तु का स्वभाव क्या है और कार्य क्या है? अर्थात् उस अनंश वस्तु का न तो कोई स्वभाव है और न कोई कार्य है। तब बौद्धमत में उस अनंश वस्तु के विषय में स्वभावहेतुजन्य अथवा कार्यहेतुजन्य अनुमान कैसे होगा?

साक्षात् अपने स्वभाव को प्रदर्शित न करने वाले निरंश तत्त्व की अनुमिति में स्वभाव हेतु की सम्भावना नहीं की जा सकती है, क्योंकि उसका स्वभाव परमाणु की तरह विप्रकृष्ट है। न तो अनंश तत्त्व प्रत्यक्षग्राह्य है और न उसका स्वभाव प्रत्यक्षग्राह्य है। ऐसी स्थिति में स्वभावहेतु के द्वारा उसका अनुमान कैसे किया जा सकता है? उस तत्त्व के अदृश्य होने के कारण ही उसके कार्य की भी प्रतिपत्ति नहीं हो सकती है। दो पदार्थों में कार्यकारणभाव सिद्ध होने पर ही कार्य हेतु की प्रतिपत्ति का ज्ञान होता है। जैसे वह्नि और धूम में कार्यकारणभाव ज्ञात हो जाने पर धूम वह्नि का कार्य है, ऐसा कार्य हेतु का ज्ञान हो जाता है, परन्तु परपरिकल्पित अनंश तत्त्व में सर्वत्र कार्यकारणभाव अज्ञात रहता है। कार्य और कारण दोनों को ही अनंश और अदृश्य होने के कारण उनमें यह कार्य है और यह कारण है, ऐसा निश्चय करना अत्यन्त कठिन है।

यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि कार्यकारणभाव आदि की प्रतिपत्ति में प्रत्यक्ष और अनुमान की सामर्थ्य नहीं है। स्वभाव, कार्य आदि हेतुओं का निर्धारण तो तर्क प्रमाण के द्वारा ही होता है। इस प्रकार यह निश्चित होता है कि बौद्धदर्शन में अनुपलब्धि की तरह स्वभाव और कार्य हेतु का सद्भाव भी सिद्ध नहीं होता है।

यहाँ बौद्ध कह सकते हैं कि यह सब कार्यकारणभाव अथवा अनुमान-अनुमेयव्यवहार विकल्पबुद्धिपरिकल्पित है, पारमार्थिक नहीं। बौद्धों का उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि विकल्पबुद्धि के सिद्ध होने पर यह सब व्यवहार विकल्पबुद्धिपरिकल्पित माना जा सकता है, परन्तु विकल्पबुद्धि की सिद्धि न तो स्वतः होती है और न परतः। इसी बात को आगे की कारिका में कहा गया है-

धीर्विकल्पाऽविकल्पात्मा बहिरन्तश्च किं पुनः।
निश्चयात्मा स्वतः सिद्ध्येत् परतोऽप्यनवस्थितेः।।18।।

बाह्य में विकल्परूप और अन्तरङ्ग में निर्विकल्परूप जो विकल्पबुद्धि है वह निर्विकल्पक संवेदन से स्वतः सिद्ध नहीं होती है और अनवस्थादोष के कारण परतः (दूसरे विकल्प) से भी सिद्ध नहीं होती है।

यदि कार्यकारणभाव को तथा अनुमान-अनुमेय व्यवहार को विकल्पबुद्धिपरिकल्पित माना जाय तो पहले विकल्पबुद्धि की सिद्धि होना आवश्यक है; किन्तु उसकी सिद्धि न तो स्वतः होती है और न परतः। उक्त कारिका में आगत '**निश्चयात्मा**' शब्द का अर्थ है- विकल्पबुद्धि। विकल्प का अर्थ है- व्यवसाय और अविकल्प का अर्थ है- निर्विकल्पक। अर्थात् बहिरङ्ग में विकल्परूप और अन्तरङ्ग में निर्विकल्परूप जो-जो विकल्पबुद्धि है वह स्वतः अर्थात् निर्विकल्पकरूप स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं होती है, क्योंकि जो निर्विकल्पक संवेदन से गृहीत होता है वह स्वतःसिद्ध नहीं कहलाता है, जैसे नीलादि में क्षणक्षय और अहिंसा में स्वर्गप्रापण सामर्थ्य। विकल्प का स्वरूप भी निर्विकल्पक से गृहीत होता है। अतः निर्विकल्पक के द्वारा गृहीत होने के कारण उसे स्वतःसिद्ध नहीं कह सकते हैं।

यदि विकल्पबुद्धि स्वतःसिद्ध नहीं होती है तो विकल्पान्तर (दूसरे विकल्प) से वह सिद्ध हो जायेगी, ऐसा कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने में अनवस्थादोष आता है। एक विकल्पबुद्धि की सिद्धि के लिए अन्य विकल्प को मानना पड़ता है और अन्य विकल्प की सिद्धि के लिए विकल्पान्तर की कल्पना करने से अनवस्थादोष अवश्यम्भावी है। इस प्रकार विकल्पबुद्धि की सिद्धि न तो स्वतः होती है और न परतः होती है और जब विकल्पबुद्धि ही असिद्ध है तो कार्यकारणभाव को तथा अनुमान-अनुमेयव्यवहार को विकल्पबुद्धिपरिकल्पित कैसे माना जा सकता है?

उक्त कथन का निष्कर्ष यह है कि कार्यकारणभाव आदि विकल्पबुद्धिपरिकल्पित न होकर वास्तविक हैं तथा उनका ग्रहण तर्क प्रमाण के द्वारा होता है। इस कारण प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त तर्क प्रमाण को मानना आवश्यक है। जो दार्शनिक तर्क नामक प्रमाण को नहीं मानते हैं उनके मत में अविनाभाव अथवा व्याप्ति का ग्रहण अन्य किसी प्रमाण से सम्भव न होने के कारण अनुमान की उत्पत्ति भी नहीं हो सकेगी। यतः चार्वाक को छोड़कर अन्य सब दार्शनिक अनुमान को प्रमाण मानते हैं, अतः उन्हें तर्क को भी प्रमाण मानना आवश्यक है।

तर्क को प्रमाणान्तर सिद्ध करके अब उपमान में प्रमाणान्तरत्व का निषेध करने के लिए कहते है–

उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसाधनम्।
तद्वैधर्म्यात् प्रमाणं किं स्यात् संज्ञिप्रतिपादनम्।।19।।

यदि प्रसिद्ध अर्थ गौ के सादृश्य से गवय का जो ज्ञान होता है वह उपमान प्रमाण है तो गौ के वैसादृश्य से महिषी आदि संज्ञी का जो ज्ञान होता है वह कौनसा प्रमाण कहलायेगा। अर्थात् वैसादृश्य आदि ज्ञान को पृथक् प्रमाण मानना पड़ेगा।

उपमानप्रमाण-विचार :

मीमांसक और नैयायिक उपमान को एक पृथक् प्रमाण मानते हैं, परन्तु इन दोनों के उपमान के स्वरूप में थोड़ा अन्तर है,जिसे आगे बतलाया

जायेगा। यहाँ इस बात पर विचार किया गया है कि यदि गौ के सादृश्य से गवय का जो ज्ञान होता है उसे उपमान प्रमाण माना जाय तो गौ के वैसादृश्य से भैंस का जो ज्ञान होता है उसे कौनसा प्रमाण कहेंगे? नैयायिक प्रत्यक्षादि चार प्रमाण मानते हैं और मीमांसक प्रत्यक्षादि छह प्रमाण मानते हैं। सादृश्यज्ञान को उपमान प्रमाण मान लेने पर वैसादृश्य आदि ज्ञानों को पृथक् प्रमाण मानना पड़ेगा और ऐसी स्थिति में उनकी प्रमाण संख्या का व्याघात हो जाता है। जैनदर्शन की विशेषता यह है कि यहाँ परोक्ष प्रमाण के अन्तर्गत प्रत्यभिज्ञान को एक प्रमाण माना गया है और इसमें सादृश्य, वैसादृश्य आदि सभी संकलनात्मक ज्ञानों का अन्तर्भाव हो जाता है।

सर्वप्रथम यहाँ मीमांसक मतानुसार उपमान का विचार किया जा रहा है।

मीमांसकाभिमत उपमानप्रमाण-विचार :

पूर्वपक्ष– मीमांसकमतानुसार वन में गवयदर्शन के अनन्तर **'अनेन सदृशो गौः'**– गौ इसके सदृश है, इस प्रकार का परोक्ष गौ में जो सादृश्य ज्ञान होता है वह उपमान कहलाता है। उपमान प्रमाण के न मानने पर गवय के दर्शन से दूरवर्ती गौ में जो सादृश्यज्ञान होता है, वह कैसे होगा? जिस प्रतिपत्ता ने गाय को देखा है गवय को नहीं, तथा उसने **'गौरिव गवयः'** गवय गौ के सदृश होता है, इस अतिदेश वाक्य को भी नहीं सुना है, वन में घूमते हुए उस प्रतिपत्ता को गवय के दर्शन के बाद **'अनेन सदृशो गौः'**– गौ इसके सदृश है, ऐसा परोक्ष गौ में जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह उपमान प्रमाण कहलाता है। अतिदेश वाक्य का अर्थ है– **'एकत्र श्रुतस्य अन्यत्र सम्बन्धः'** अर्थात् एक स्थान पर सुनी हुई बात का दूसरे स्थान पर सम्बन्ध स्थापित करना। यहाँ विप्रकृष्ट (दूरवर्ती) गौ में जो सादृश्य प्रतीति होती है उसका कारण है गवयनिष्ठ सादृश्य। गवयनिष्ठ सादृश्य को देखकर प्रतिपत्ता को ऐसा ज्ञान हो जाता है कि गौ इसके सदृश है। इसी का नाम उपमान है। अनधिगत अर्थ को जानने के कारण उपमान में प्रामाण्य सिद्ध होता है। यद्यपि प्रतिपत्ता ने गौ को पहले ही जान लिया था और इस समय गवय में गोसादृश्य प्रत्यक्ष से ज्ञात हो जाता है तथापि 'गवयसदृशो गौः' ऐसी प्रतीति पहले नहीं हुई थी। अतः

उपमान में अनधिगतार्थगन्तृत्व है।

यहाँ कोई कह सकता है कि उपमान प्रमाण प्रत्यक्षादि से भिन्न नहीं है, अपितु वह प्रत्यक्षादिस्वरूप ही है। उसका ऐसा कथन ठीक नहीं है। उपमान प्रमाण प्रत्यक्षरूप नहीं हो सकता है, क्योंकि इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष के अभाव में भी यह प्रत्यय हो जाता है। इसको स्मरण भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि प्रत्यक्षप्रतिपन्न अर्थ में ही स्मरण होता है, परन्तु गौ की प्रतिपत्ति के समय गवय की प्रतिपत्ति न होने से गवय के सादृश्य का स्मरण सम्भव नहीं है। उपमान को अनुमानरूप भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि अनुमान की उत्पत्ति किसी अविनाभावी लिङ्ग से होती है, परन्तु उपमान की उत्पत्ति लिङ्ग के बिना ही हो जाती है। उपमान की उत्पत्ति का लिङ्ग न तो सादृश्य हो सकता है और न गवय। उपमान को शाब्द प्रमाण भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि जिस प्रतिपत्ता ने अतिदेश वाक्य को नहीं सुना है उसको भी उपमान प्रमाण हो जाता है। उपमान अर्थापत्तिरूप भी नहीं है। क्योंकि अर्थापत्ति वहाँ होती है जहाँ अन्यथा अनुपपद्यमान कोई दृष्ट या श्रुत अर्थ हो: किन्तु यहाँ ऐसा कोई अर्थ नहीं पाया जाता है। उपमान को अभावप्रमाणरूप भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि अभाव तो वहाँ प्रमाण होता है जहाँ प्रत्यक्षादि प्रमाणों की तथा प्रतियोगी घटादि की निवृत्ति देखी जाती है। परन्तु यहाँ न तो किसी प्रमाण की निवृत्ति है और न प्रमेय की निवृत्ति है। अतः उपमान का अन्य किसी प्रमाण में अन्तर्भाव न होने के कारण इसे एक पृथक् प्रमाण मानना आवश्यक है, ऐसा मीमांसकों का मत है।

उत्तरपक्ष– मीमांसक का उक्त कथन युक्तिसङ्गत नहीं है। मीमांसक ने उपमान प्रमाण के द्वारा जिस प्रकार की प्रतीति बतलायी है वैसी प्रतीति होती नहीं है। जिस नागरिक (नगर निवासी) ने '**गौरिव** गवयः' इस अतिदेश वाक्य को नहीं सुना है वह वन में घूमता हुआ पहले नहीं देखे गये गोसदृश पशु को देखकर कहता है– "यह गाय के सदृश कोई पशु है।" वह ऐसा नहीं कहता है– '**अनेन सदृशो गौः।**' यदि वह ऐसा कहता भी है तो ऐसी सादृश्यप्रतीति प्रत्यभिज्ञानरूप होने के कारण उपमान प्रमाण प्रत्यभिज्ञान से पृथक् सिद्ध नहीं होता है। जिसे हम सादृश्य प्रत्यभिज्ञान कहते हैं उसे मीमांसक उपमान कहते हैं। यहाँ केवल नाम में विवाद है,

अर्थ में नहीं। एकत्वप्रतीति, सादृश्यप्रतीति, वैलक्षण्यप्रतीति- ये सब प्रत्यभिज्ञान के ही भेद हैं। प्रत्यभिज्ञान पूर्वपर्याय और उत्तरपर्याय का संकलनात्मक ज्ञान होता है। जो भी संकलनात्मक प्रत्यय होता है वह सब प्रत्यभिज्ञान ही है। जैसे **'स एवायम्'**,- 'यह वही है', ऐसा एकत्व प्रत्यय एकत्वप्रत्यभिज्ञान है। इसी तरह **'अनेन सदृशो गौः'** ऐसा सादृश्य प्रत्यय भी संकलनात्मक होने से सादृश्य प्रत्यभिज्ञान है। हम कह सकते हैं- **'अनेन सदृशो गौः'** यह प्रत्यय प्रत्यभिज्ञानरूप है, संकलनात्मक होने से। संकलन का अर्थ है- पूर्व और उत्तर पर्यायों में वर्तमान वस्तुस्वरूप का एकत्व, सादृश्य आदि धर्म के योग से विचार करना। **'स एवायं देवदत्तः'** यहाँ एकत्वधर्मयोगी प्रत्यभिज्ञान है और **'अनेन सदृशो गौः'** यहाँ सादृश्य धर्मयोगी प्रत्यभिज्ञान है। चाहे एकत्वधर्मयोगी प्रत्यभिज्ञान हो और चाहे सादृश्य धर्मयोगी प्रत्यभिज्ञान हो, परन्तु वह सब प्रत्यभिज्ञान ही है।

यहाँ मीमांसक कह सकते हैं कि उपमान को प्रत्यभिज्ञान मानने पर उपमान को प्रत्यक्ष और स्मृति से उत्पन्न मानना पड़ेगा, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान की उत्पादक सामग्री यही है। परन्तु उपमान की उत्पादक सामग्री इससे भिन्न है। उसकी उत्पत्ति तो गवयप्रत्यक्षादि सामग्रीमात्र से होती है। प्रत्यभिज्ञान की उत्पादक सामग्री अन्य है और उपमान की उत्पादक सामग्री अन्य है। इसलिए विलक्षण सामग्री से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान मानना ठीक नहीं है। अन्यथा अतिप्रसङ्ग दोष का आना अनिवार्य है।

मीमांसकों का उक्त कथन निर्दोष नहीं है। उपमान भी स्मृति और प्रत्यक्ष दोनों के सहयोग से ही उत्पन्न होता है। यह कहना तो ठीक है कि वन में गवय का प्रत्यक्ष होने पर **'अनेन सदृशो गौः'** ऐसा ज्ञान हो जाता है; किन्तु यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि गौ के स्मरण सहित गवयप्रत्यक्ष ही उपमान को उत्पन्न करता है, स्मरण निरपेक्ष नहीं। यदि गौ के स्मरण के बिना गवय का प्रत्यक्ष उपमान का जनक माना जाय तो जिस व्यक्ति ने गौ को कभी नहीं देखा है उसे भी गवय को देखकर **'अनेन सदृशो गौः'** ऐसा ज्ञान होना चाहिए; किन्तु ऐसा ज्ञान होता नहीं है। इससे यही सिद्ध होता है कि उपमान की उत्पत्ति स्मृति और प्रत्यक्ष दोनों से ही होती है। अतः हम (जैन) कह सकते हैं कि उपमान प्रत्यभिज्ञान से भिन्न नहीं है, क्योंकि दोनों की उत्पादक सामग्री

एक ही है। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञानस्वरूप होने के कारण उपमान को प्रमाणान्तर मानना गलत है।

मीमांसक की तरह नैयायिक भी उपमान को एक पृथक् प्रमाण मानते हैं, परन्तु दोनों के द्वारा अभिमत उपमान के स्वरूप में थोड़ा अन्तर है। मीमांसक के अनुसार वन में गवय को देखकर **'अनेन सदृशो गौः'**,- गौ इसके सदृश है, इस प्रकार का गाय में जो सादृश्य ज्ञान होता है वह उपमान कहलाता है, परन्तु नैयायिकों के अनुसार **'गोसदृशो गवयः'** ऐसा अतिदेश वाक्य सुनकर वन में गया हुआ प्रतिपत्ता गोसदृश प्राणी को देखकर जान लेता है कि यह गवय है। **'अयं गवयशब्दवाच्यः पशुः'**। उस व्यक्ति को संज्ञा (गवय शब्द) और संज्ञी (गवय अर्थ) में वाच्यवाचकभाव का ज्ञान हो जाता है, यही नैयायिकों का उपमान प्रमाण है।

नैयायिकाभिमत उपमानप्रमाण-विचार :

पूर्वपक्ष- नैयायिक कहते हैं कि मीमांसकों के द्वारा अभ्युपगत उपमान प्रमाणान्तर न होने पर भी नैयायिकों के द्वारा अभ्युपगत उपमान प्रमाणान्तर अवश्य है। उपमान का स्वरूप इस प्रकार है-

प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्। - न्यायसूत्र 1/1/6

अर्थात् प्रसिद्ध अर्थ गाय के साधर्म्य से 'यह गवय है' इस प्रकार का ज्ञान करना उपमान है। गाय आबालवृद्ध सभी को प्रसिद्ध है और जंगली प्राणी गवय में गाय का सादृश्य पाया जाता है। जिस पुरुष ने **'गोसदृशो गवयः'** ऐसा अतिदेश वाक्य सुना है वह वन में जाने पर गोसदृश प्राणी को देखकर यह जान लेता है कि यह प्राणी गवय शब्द का वाच्य है। इस प्रकार उसे संज्ञा (गवय शब्द) और संज्ञी (गवय अर्थ) में वाच्यवाचक सम्बन्ध का ज्ञान हो जाता है। यही नैयायिकों का उपमान प्रमाण है। सूत्र में आगत **'साध्यसाधनम्'** का अर्थ है- संज्ञा और संज्ञी के सम्बन्ध का ज्ञान। ऐसा संज्ञा और संज्ञी के सम्बन्ध का ज्ञान प्रत्यक्षादि अन्य किसी प्रमाण से उत्पन्न नहीं हो सकता है, यह तो उपमान प्रमाण का ही फल है।

इस विषय में वृद्ध नैयायिकों का मत यह है कि प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध में सारूप्य प्रतिपादक अतिदेश वाक्य ही उपमान प्रमाण है। गवय को

नहीं जानने वाला नागरिक वन में जाने पर गवय को जानने वाले आरण्यक से पूछता है– **'कीदृशो गवयः।'** गवय कैसा होता है? वह उत्तर देता है– **'यादृशो गौः तादृशो गवयः'**। जैसी गाय होती है वैसा ही गवय होता है। उसका यह वचन अप्रसिद्ध गवय का प्रसिद्ध गाय के साथ सादृश्य बतला देता है और इसके द्वारा यह ज्ञात हो जाता है कि यह अप्रसिद्ध पशु गवय संज्ञा का अभिधेय है। इसी का नाम उपमान प्रमाण है।

उत्तरपक्ष– अभिनव नैयायिकों ने उपमान के विषय में जो कुछ कहा है वह तर्कसङ्गत नहीं है। उनका जिस व्यक्ति ने **'गो सदृशो गवयः'** ऐसा अतिदेशवाक्य सुना है, इत्यादि कथन विचारणीय है। यहाँ हम जानना चाहते हैं कि संज्ञा-संज्ञी की प्रतिपत्ति का जो साक्षात् अङ्ग है वह उपमान है अथवा संज्ञा-संज्ञी की प्रतिपत्ति का जो परम्परया अङ्ग है वह उपमान है। प्रथम पक्ष में मीमांसक अभिमत उपमान से नैयायिकों के उपमान में कोई अन्तर मालूम नहीं पड़ता है तथा मीमांसक पक्ष में दिये गये दोष नैयायिक के पक्ष में भी आते हैं। नैयायिक अभिमत अप्रसिद्ध गवयपिण्ड में इन्द्रियप्रभव गोपिण्ड के सारूप्य का ज्ञान संज्ञा-संज्ञी की प्रतिपत्ति का साक्षात् अङ्ग नहीं है, किन्तु जिस व्यक्ति ने उक्त अतिदेशवाक्य सुना है उसी को उक्त वाक्य की स्मृति की सहायता से गवयपिण्ड में संज्ञा-संज्ञी की प्रतिपत्ति का ज्ञान होता है। इसी प्रकार परम्परा से संज्ञा-संज्ञी की प्रतिपत्ति के अङ्ग को भी उपमान नहीं माना जा सकता है, परन्तु साक्षात् संज्ञा-संज्ञी की प्रतिपत्ति के अङ्गभूत प्रत्यभिज्ञान का जनक होने से प्रसिद्ध गौ के सादृश्य ज्ञान को उपचार से उपमान मानने में हमको कोई आपत्ति नहीं है। इसका तात्पर्य यही है कि इन्द्रिय अगोचर संज्ञा-संज्ञी के सम्बन्ध की प्रतिपत्ति प्रत्यभिज्ञान के द्वारा ही होने के कारण प्रत्यभिज्ञान में प्रमाणान्तरत्व सिद्ध होता है।

यहाँ एक बात और विचारणीय है कि नैयायिकों ने प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान– ये चार प्रमाण माने हैं और प्रसिद्ध अर्थ के साधर्म्य से अन्य सदृश अर्थ के ज्ञान को उपमान कहा है; किन्तु उपमान का ऐसा स्वरूप मानने पर प्रमाणों की चार संख्या का व्याघात हो जाता है। यहाँ प्रश्न यह है कि जो सिंहासनारूढ़ है वह राजा है, जो दूध और जल में भेद करता है वह हंस है, जिसके छह पैर हैं वह भ्रमर है, जिसके

एक शृङ्ग होता है वह गण्डक है, जिसके आठ पैर होते हैं वह शरभ है, इत्यादि वाक्यों के द्वारा जो संज्ञा-संज्ञी के सम्बन्ध की प्रतिपत्ति होती है वह कौन-सा प्रमाण होगा? उसे उपमान तो कह नहीं सकते हैं, क्योंकि यहाँ किसी प्रसिद्ध अर्थ के साथ सादृश्य की अपेक्षा नहीं है। यदि यहाँ ऐसा माना जाय कि उक्त प्रकार की प्रतीति का अन्तर्भाव आगम में हो जायेगा तो फिर 'गो सदृशो गवयः' ऐसे संज्ञा-संज्ञी की प्रतिपत्तिरूप उपमान का भी आगम में अन्तर्भाव मान लीजिए।

वृद्धनैयायिकों ने उपमान का जो स्वरूप बतलाया है वह भी समीचीन नहीं है। उनका यह कथन ठीक नहीं है कि प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध अर्थ में सारूप्य प्रतिपादक अतिदेशवाक्य ही उपमान प्रमाण है। अतिदेशवाक्यरूप होने के कारण यह तो आगम ही कहलायेगा, उपमान नहीं। इसलिए गौ और गवय में जो सारूप्य-परामर्शात्मक ज्ञान होता है वही प्रत्यभिज्ञानरूप मुख्य प्रमाण है। यदि उसको कोई उपमान कहना चाहता है तो वह उपचार से उसे वैसा कह सकता है। इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं है।

उपर्युक्त कथन का निष्कर्ष यह है कि यदि नैयायिक प्रसिद्ध अर्थ के सादृश्य को संज्ञा और संज्ञी में जो वाच्यवाचकभावरूप सम्बन्ध है उसकी प्रतिपत्ति का कारण मानते हैं और गोसदृश होने के कारण 'यह गवय है' इस प्रकार के ज्ञान को उपमान नामक पृथक् प्रमाण मानते हैं, तो वृक्षदर्शी पुरुष को 'यह वृक्ष है' ऐसा जो ज्ञान होता है वह कौन-सा प्रमाण होगा? उसको उपमान तो कह नहीं सकते हैं, क्योंकि यहाँ वृक्ष की जो प्रतिपत्ति हुई है वह किसी प्रसिद्ध अर्थ के साधर्म्य से नहीं हुई है। अतः इस ज्ञान को अन्य कोई प्रमाण मानना पड़ेगा। इस प्रकार अनेक दोष आने के कारण उपमान को प्रत्यभिज्ञान से पृथक् प्रमाण मानना तर्कसङ्गत नहीं है।

उपमान को प्रमाणान्तर मानने वाले मीमांसक और नैयायिक को अन्य अनिष्टापत्ति बतलाते हुए कहते हैं–

प्रत्यक्षार्थान्तरापेक्षा सम्बन्धप्रतिपद्यतः।
तत्प्रमाणं न चेत्सर्वमुपमानं कुतस्तथा।।20।।

जिसमें प्रत्यक्षरूप अर्थान्तर की अपेक्षा रहती है ऐसे वाच्यवाचकसम्बन्ध की जिससे प्रतिपत्ति होती है वह यदि प्रमाण न हो तो मीमांसक और नैयायिक अभिमत उपमान भी प्रमाण कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता है।

मीमांसक सादृश्यज्ञान को उपमान मानते हैं और नैयायिक संज्ञा-संज्ञी सम्बन्ध के ज्ञान को उपमान कहते हैं। मीमांसकों का उपमान शाब्दबोधरूप नहीं होता है: किन्तु नैयायिकों का उपमान शाब्दबोधरूप होता है। ऊपर की कारिका में यह बतलाया गया है कि शब्दरूप अर्थ से जो अन्य अर्थ है वह अर्थान्तर कहलाता है और उसके प्रत्यक्ष होने पर उसे प्रत्यक्षार्थान्तर कहा जाता है, जैसे वृक्षादि अर्थ। अब यहाँ प्रश्न यह है कि प्रत्यक्षार्थान्तर वृक्षादि की अपेक्षा से जो वाच्यवाचकसम्बन्ध का ज्ञान होता है, जैसे यह दृश्यमान पदार्थ वृक्ष शब्द का वाच्य है तो वह ज्ञान प्रमाण है या नहीं? यदि वह ज्ञान प्रमाण है, तो नैयायिकों की प्रमाणसंख्या का व्याघात हो जाता है, क्योंकि वाच्यवाचकसम्बन्ध के ज्ञान को उपमान से पृथक् प्रमाण मानना पड़ेगा और यदि उस ज्ञान को प्रमाण नहीं मानते हैं तो उपमान को भी प्रमाण मत मानिए, क्योंकि दोनों में कोई विशेषता नहीं है।

इसी कारिका की विवृति में इसी बात को इस प्रकार बतलाया गया है। आगम के द्वारा जिस व्यक्ति में आगम के अर्थ का संस्कार आ गया है उस आगमार्थदर्शी पुरुष को आगम के अर्थ के अभिधान की जो प्रतिपत्ति होती है उसे उपमान से अन्य प्रमाण मानना पड़ेगा। जैसे किसी ने किसी से कहा कि इस नगर से पूर्व में, पश्चिम में, उत्तर में अथवा दक्षिण में ग्रामधानक नामका कोई ग्रामविशेष है। ऐसा सुनकर वह व्यक्ति उस दिशा में जाकर जब उस ग्राम में पहुँचता है तो उस व्यक्ति के कथन के आधार पर उस ग्रामविशेष का नाम ज्ञात कर लेता है। इस प्रकार का ज्ञान उपमान से भिन्न है। अतः इस ज्ञान को प्रमाणान्तर मानना चाहिए। जब नैयायिक संज्ञा-संज्ञी के सम्बन्धजन्य ज्ञान को उपमान नामक पृथक् प्रमाण स्वीकार करते हैं तो ये दो हैं, ये तीन हैं, इत्यादि संख्या का बोध कराने वाले ज्ञान को भी पृथक् प्रमाण मानना चाहिए, क्योंकि ये सब ज्ञान भी आपेक्षिक हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि सादृश्य के सम्बन्ध से होने वाला

ज्ञान प्रमाण है तो वाच्यवाचक आदि के सम्बन्ध से होने वाला ज्ञान प्रमाण क्यों नहीं है? अर्थात् अपेक्षाबुद्धिजन्य होने के कारण द्वित्वादि संख्याजन्य ज्ञान को भी प्रमाणान्तर मानना पड़ेगा।

इसी विषय में अन्य दूषण भी देखिए-

इदमल्पं महद् दूरमासन्नं प्रांशु नेति वा।
व्यपेक्षातः समक्षेऽर्थे विकल्पः साधनान्तरम्।।21।।

यह अल्प है, यह महत् है, यह दूर है, यह आसन्न है, यह प्रांशु (ऊँचा) है और यह प्रांशु नहीं है, इत्यादि प्रकार से प्रत्यक्ष अर्थ में उसके प्रतिपक्षी अर्थ की अपेक्षा से जो निश्चय होता है उसे भी प्रमाणान्तर (उपमान से पृथक् प्रमाण) मानना आवश्यक है।

यह इससे अल्प है, यह इससे महत् है, यह इससे दूर है, यह इससे आसन्न है, यह इससे प्रांशु है, इत्यादि। अब इसके विपरीत भी देखिए- यह इससे अल्प नहीं है, यह इससे महत् नहीं है, यह इससे दूर नहीं है, यह इससे आसन्न नहीं है, यह इससे प्रांशु नहीं है, इत्यादि प्रकार से प्रतिपक्षी अर्थ की अपेक्षापूर्वक प्रत्यक्ष अर्थ में अल्प, महत् आदि का जो आपेक्षिक ज्ञान होता है वह नैयायिक की प्रमाण संख्या का विघटन कर देता है। अर्थात् उक्त ज्ञानों को उपमान प्रमाण के अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण मानना पड़ता है, क्योंकि उपमान प्रमाण का लक्षण इनमें घटित नहीं होता है।

इस प्रकार मीमांसक और नैयायिक अभिमत उपमान प्रमाण का निराकरण करके अब अर्थापत्ति प्रमाण के विषय में विचार करते हैं।

अर्थापत्तिप्रमाण-विचार :

पूर्वपक्ष- मीमांसक अर्थापत्ति को एक पृथक् प्रमाण मानते हैं। उनके अनुसार अर्थापत्ति प्रमाण का लक्षण इस प्रकार है-

प्रमाणषट्कविज्ञातो यत्रार्थोऽनन्यथाभवन्।
अदृष्टं कल्पयेदन्यं सार्थापत्तिरुदाहृता।।

अर्थात् प्रत्यक्षादि छह प्रमाणों से विज्ञात जो अर्थ जिस अन्य अर्थ

के बिना नहीं हो सकता है उस अदृष्ट अर्थ की कल्पना करने को अर्थापत्ति कहते हैं। यहाँ किसी दृष्ट अथवा श्रुत अर्थ के द्वारा ऐसे अर्थ की कल्पना की जाती है जो अर्थ अन्यथा नहीं हो सकता है। अर्थापत्ति छह प्रकार की होती है- (1) प्रत्यक्षपूर्विका अर्थापत्ति, (2) अनुमानपूर्विका अर्थापत्ति, (3) उपमानपूर्विका अर्थापत्ति, (4) अर्थापत्तिपूर्विका अर्थापत्ति, (5) अभाव-पूर्विका अर्थापत्ति और (6) श्रुतार्थापत्ति। श्रुतार्थापत्ति को आगमपूर्विका अर्थापत्ति भी कहते हैं।

(1) प्रत्यक्षपूर्विका अर्थापत्ति– प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञात दाह नामक कार्य वह्नि में दाहक शक्ति के बिना नहीं हो सकता है। अतः वह्नि में दाहक शक्ति की कल्पना करना प्रत्यक्षपूर्विका अर्थापत्ति है।

(2) अनुमानपूर्विका अर्थापत्ति– देशान्तर प्राप्तिरूप लिङ्ग से अनुमित आदित्य की गति आदित्य में गमनशक्ति के बिना नहीं हो सकती है। अतः आदित्य में गमनशक्ति की कल्पना करना अनुमानपूर्विका अर्थापत्ति है।

(3) उपमानपूर्विका अर्थापत्ति– उपमान ज्ञान से ज्ञात गवय में सारूप्य विशिष्ट गोपिण्ड की अन्यथा उपपत्ति सम्भव न होने से सारूप्य विशिष्ट गोपिण्ड में उपमान ज्ञान के द्वारा ग्राह्य शक्ति की कल्पना करना उपमानपूर्विका अर्थापत्ति है।

(4) अर्थापत्तिपूर्विका अर्थापत्ति– शब्द के द्वारा होने वाले पदार्थ का ज्ञान शब्द के अतिरिक्त अन्य प्रकार से सम्भव न होने के कारण शब्द की वाचक शक्ति को जानकर उसमें नित्यत्व रूप की कल्पना करना अर्थापत्तिपूर्विका अर्थापत्ति है।

(5) अभावपूर्विका अर्थापत्ति– जीवित चैत्र का घर में अभाव जानकर उसके घर से बाहर होने की कल्पना करना अभावपूर्विका अर्थापत्ति है।

(6) श्रुतार्थापत्ति– किसी ने कहा कि पीन (मोटा) देवदत्त दिन में नहीं खाता है। इस वाक्य को सुनने वाला व्यक्ति देवदत्त में रात्रिभोजन की कल्पना करता है, क्योंकि दिन में भोजन नहीं करने पर मोटा होना रात्रिभोजन के बिना नहीं बन सकता है। अतः देवदत्त में रात्रिभोजन की कल्पना करना श्रुतार्थापत्ति अथवा आगमपूर्विका अर्थापत्ति है।

अर्थापत्ति स्वरूप आदि के भेद के कारण प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भिन्न है। जिस प्रमाण का स्वरूप अन्य किसी प्रमाण से भिन्न होता है वह प्रमाणान्तर होता है, जैसे प्रत्यक्ष से अनुमान भिन्न है। अर्थापत्ति का स्वरूप भी प्रत्यक्षादि से भिन्न होने से वह प्रमाणान्तर है। ऊपर जो छह प्रकार की अर्थापत्ति बतलायी गयी है उसका अन्तर्भाव प्रत्यक्षादि किसी अन्य प्रमाण में नहीं होता है, क्योंकि अर्थापत्ति का विषय अतीन्द्रिय शक्ति होती है और अतीन्द्रिय शक्ति प्रत्यक्ष के द्वारा परिच्छेद्य नहीं होती है। वह अनुमानपरिच्छेद्य भी नहीं हो सकती है, क्योंकि जो प्रत्यक्ष का विषय नहीं है उसमें अनुमान की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। प्रत्यक्ष के द्वारा अविनाभाव का ज्ञान होने पर ही किसी विषय में अनुमान प्रवृत्त होता है। शक्ति के अतीन्द्रिय होने से किसी लिङ्ग के साथ इसके अविनाभाव की प्रतिपत्ति सम्भव नहीं है। यही कारण है कि अतीन्द्रियशक्ति अनुमान के द्वारा ज्ञेय नहीं हो सकती है। इसी प्रकार शब्द और उपमान के द्वारा भी अतीन्द्रिय शक्ति की प्रतिपत्ति सम्भव नहीं है। इत्यादि प्रकार से विचार करने पर यह सिद्ध होता है कि अर्थापत्ति एक पृथक् प्रमाण है।

उत्तरपक्ष– मीमांसकों ने अर्थापत्ति को प्रत्यक्षादि से भिन्न एक पृथक् प्रमाण माना है; किन्तु हम यहाँ यह सिद्ध करना चाहते हैं कि अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान प्रमाण में होता है। यहाँ इस बात पर विचार करना आवश्यक है कि अर्थापत्ति में जो दृष्ट अथवा श्रुत अर्थ रात्रिभोजन आदि अदृष्ट अर्थ की कल्पना करता है वह अपने साध्य अर्थ से सम्बद्ध होकर वैसा करता है अथवा असम्बद्ध होकर? यदि दृष्ट अर्थ अपने साध्य से असम्बद्ध है तो वह उसकी कल्पना स्वप्न में भी नहीं कर सकता है। ऐसा नहीं है कि जिस किसी अर्थ को देखकर किसी भी अर्थ की कल्पना कर ली जाय। यदि ऐसा हो तो अतिप्रसङ्ग दोष आता है। अब यदि ऐसा माना जाय कि दृष्ट अथवा श्रुत अर्थ अपने साध्य से सम्बद्ध है, तब सम्बद्ध अर्थ से अदृष्ट अर्थ का जो ज्ञान होता है वह तो अनुमान ही हुआ। जो भी ज्ञान अविनाभाव के बल से उत्पन्न होता है वह अनुमान कहलाता है। जैसे धूम से होने वाला अग्नि का ज्ञान अनुमान है, वैसे ही अर्थापत्तिरूप प्रतीति अविनाभाव की सामर्थ्य से उत्पन्न होने के कारण अनुमान ही है।

प्रत्यक्षपूर्विका अर्थापत्ति में बतलाया गया है कि दाहादि कार्य की अन्यथानुपपत्ति से वह्नि में दाहकशक्ति की कल्पना करना प्रत्यक्षपूर्विका अर्थापत्ति है। अग्नि में दाहक शक्ति है और उसके संसर्ग से हस्त आदि में स्फोट आदि हो जाता है, परन्तु स्फोट आदि के कारण की सिद्धि अर्थापत्ति से ही नहीं होती है, अपितु अनुमान से भी उसकी सिद्धि होने में कोई विरोध या अनिष्टापत्ति नहीं है। तथाहि–

स्फोटादि कारणपूर्वकम्, कार्यत्वात्, यत्कार्यं तत्कारणपूर्वकं यथा धूमादि, कार्यञ्चेदं स्फोटादि, तस्मात् कारणपूर्वकमिति। इस अनुमान से यह सिद्ध होता है कि स्फोट एक कार्य है तथा कोई भी कार्य कारणपूर्वक ही होता है। अतः स्फोट का कारण अग्नि में विद्यमान दाहकशक्ति है।

'पीनो देवदत्तः दिवा न भुङ्क्ते' यह श्रुतार्थापत्ति का उदाहरण है। यहाँ दिन में भोजन नहीं करने पर भी देवदत्त में पीनत्व के कारण रात्रिभोजन की कल्पना की गयी है। यह अर्थापत्ति भी कार्य (पीनत्व) के द्वारा कारण (रात्रिभोजन) की प्रतिपत्ति होने के कारण अनुमान ही है। अपने में तथा दूसरों में पीनत्व का ज्ञान भोजनरूप कारण के द्वारा ही होता है। भोजन के बिना पीनत्व सम्भव नहीं है। जब हम किसी प्रामाणिक पुरुष के द्वारा यह जानते हैं कि देवदत्त दिन में भोजन न करने पर भी मोटा है तब यह भी जानते हैं कि पीनत्व का उपपादक कोई कारण अवश्य है और वह कारण है रात्रिभोजन, क्योंकि कारण के बिना कोई कार्य नहीं होता है। अतः देवदत्त में रात्रिभोजन का ज्ञान अनुमान के द्वारा हो जाता है। वह अनुमान इस प्रकार है–

देवदत्तः रात्रिभुक्तिमान् दिवाभुक्तिरहितत्वे सति पीनत्वात्। यो यो दिवाभुक्तिरहितत्वे सति पीनः स स रात्रिभुक्तिमान्, यथा नक्तञ्चरः। यहाँ इस अनुमान से देवदत्त में रात्रिभोजन की सिद्धि हो जाती है।

अभावपूर्विका अर्थापत्ति का उदाहरण इस प्रकार दिया गया है– **"जीवतो हि चैत्रस्य गृहेऽभावमवगम्य तदन्यथानुपपत्त्या बहिर्भावकल्पना अभावपूर्विका अर्थापत्तिः।"** यह अर्थापत्ति भी अनुमानरूप ही है। यहाँ जीवित चैत्र का गृहाभावरूप लिङ्ग से घर से बाहर होने का अनुमान किया गया है। जब चैत्र जीवित है और वह घर के अन्दर नहीं है, तो इसका

मतलब यही है कि वह घर के बारह कहीं पर है।

इस प्रकार प्रत्यक्षपूर्विका, आगमपूर्विका, अभावपूर्विका आदि अर्थापत्तियों का अनुमान में अन्तर्भाव हो जाता है। यथार्थ बात यह है कि अर्थापत्ति में एक अर्थ अर्थापत्ति का उत्थापक होता है जो अदृष्ट अर्थ की कल्पना करता है। अब यहाँ प्रश्न यह है कि अर्थापत्ति के उत्थापक अर्थ का अदृष्ट अर्थ के साथ कोई सम्बन्ध है या नहीं और यदि सम्बन्ध है तो वह सम्बन्ध अवगत है या अनवगत? अर्थापत्ति के उत्थापक अर्थ का अदृष्ट अर्थ के साथ सम्बन्ध मानना आवश्यक है और उस सम्बन्ध का अवगत होना भी आवश्यक है। इसके बिना अर्थापत्ति का उत्थापक अर्थ अदृष्ट अर्थ की कल्पना नहीं कर सकता है। अतः अर्थापत्ति के उत्थापक अर्थ में और अदृष्ट अर्थ में धूम और अग्नि की तरह अविनाभाव सम्बन्ध अवश्य रहता है और उस सम्बन्ध का ज्ञान होने पर ही अर्थापत्ति के उत्थापक अर्थ के द्वारा अदृष्ट अर्थ का ज्ञान होता है। श्रुतार्थापत्ति में अर्थापत्ति का उत्थापक अर्थ है- दिन में भोजन नहीं करने पर भी देवदत्त में पीनत्व का होना, और अदृष्ट अर्थ है- रात्रि भोजन। जब हम ऐसा कहते हैं कि देवदत्त रात्रि में भोजन करता है, क्योंकि दिन में भोजन नहीं करने पर भी वह मोटा है। यहाँ अर्थापत्ति अनुमान का ही एक रूप है। यहाँ एक अर्थ साध्य है और दूसरा अर्थ साधन है। रात्रिभोजन साध्य है और दिन में भोजन नहीं करने पर भी पीनत्व का होना साधन है। अनुमान की तरह अर्थापत्ति में भी साधन से साध्य की सिद्धि की जाती है। अतः अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव मानना युक्तिसङ्गत है।

इस प्रकार मीमांसकों के द्वारा अभिमत प्रमाणों की षट् संख्या का व्याघात हो जाता है। परन्तु प्रमाणों की संख्या के व्याघात का दोष जैनदर्शन में नहीं आता है, क्योंकि यहाँ प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रमाण माने गये हैं तथा स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम के भेद से परोक्ष प्रमाण के पाँच भेद होते हैं। यहाँ उपमान का प्रत्यभिज्ञान में और अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव हो जाने के कारण परोक्ष प्रमाणों की संख्या तदवस्थ रहती है। उसके व्याघात का कोई प्रश्न ही नहीं है।

।।प्रथम प्रमाणप्रवेश के अन्तर्गत तृतीय परोक्षपरिच्छेद समाप्त।।

●

प्रमाणाभास-विचार :

प्रत्यक्षाभं कथञ्चित् स्यात् प्रमाणं तैमिरादिकम्।
यद् यथैवाऽविसंवादि प्रमाणं तत्तथा मतम्।।22।।

तैमिरादिक ज्ञान कथञ्चित् प्रत्यक्षप्रमाणाभास होते हैं, सर्वथा नहीं। जो ज्ञान जिस रूप से अविसंवादी होता है वह उस रूप से प्रमाण माना गया है।

इस कारिका में प्रमाण और प्रमाणाभास के विषय में **अकलङ्कदेव** की एक विशेष दृष्टि परिलक्षित होती है। वह दृष्टि यह है कि कोई भी ज्ञान न तो सर्वथा प्रमाण है और न सर्वथा अप्रमाण। अर्थात् हर एक ज्ञान कथञ्चित् प्रमाण होता है और कथञ्चित् अप्रमाण। अपने विषय में अविसंवादी ज्ञान को प्रमाण कहते हैं और विसंवादी ज्ञान को प्रमाणाभास माना गया है। इन्द्रिय और मन से होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं और जो ज्ञान प्रत्यक्ष की तरह मालूम पड़ता है वह प्रत्यक्षाभास कहलाता है। तिमिर चक्षु का एक रोग है। जिस व्यक्ति की चक्षु में तिमिररोग हो गया है उसके द्वारा होने वाला चाक्षुष प्रत्यक्ष प्रत्यक्षाभास कहलाता है। जैसे एक चन्द्र में होने वाला द्विचन्द्र का ज्ञान। आदि शब्द के द्वारा आशुभ्रमण, नौकायान, रेलयान आदि का ग्रहण किया गया है। आशुभ्रमण के कारण अलातचक्र का ज्ञान हो जाता है। यद्यपि वहाँ चक्र नहीं है, फिर भी अलात को तेजी से घुमाने पर वहाँ चक्राकार की प्रतीति हो जाती है। इसी तरह तेज चलती हुई रेलगाड़ी में बैठकर यात्रा करने पर बाहर वृक्ष दौड़ते हुए प्रतीत होते हैं। इत्यादि प्रकार के ज्ञान सर्वथा प्रमाणाभास नहीं हैं। तैमरिक ज्ञान को प्रत्यक्षाभास माना गया है, परन्तु यह ज्ञान बहिरर्थाकार की अपेक्षा से ही प्रत्यक्षाभास है, स्वरूप की अपेक्षा से तो तैमरिक ज्ञान भी प्रमाण है। द्विचन्द्र ज्ञान चन्द्रांश में अविसंवादक होने से प्रमाण है, परन्तु द्वित्वसंख्या के विषय में विसंवाद होने से अप्रमाण है। इसी प्रकार संशयादि ज्ञान स्वरूप की अपेक्षा से प्रमाण होते हैं, केवल बाह्यार्थ की अपेक्षा से ही वे अप्रमाण माने गये हैं। कारिका में '**प्रत्यक्षाभम्**' शब्द उपलक्षण है। इससे '**परोक्षाभम्**' शब्द का भी ग्रहण करना चाहिए।

जिस स्मृत्याभास आदि ज्ञान को परोक्षाभास कहा गया है वह ज्ञान भी सर्वथा परोक्षाभास नहीं है; किन्तु कथञ्चित् परोक्षाभास है। परोक्षाभासरूप ज्ञान स्वरूप की अपेक्षा से परोक्षप्रमाणरूप ही है, परन्तु बाह्यार्थ की अपेक्षा से वह परोक्षप्रमाणाभास है। प्रमाण और अप्रमाण की व्यवस्था का यही लक्षण है। अर्थात् ज्ञान जितने अंश में संवादक होता है उतने अंश में वह प्रमाण है और जितने अंश में विसंवादक होता है उतने अंश में वह अप्रमाण है।

यहाँ बौद्ध आशङ्का करता है कि वही ज्ञान प्रमाण और अप्रमाण दोनों कैसे हो सकता है? इसका उत्तर यही है कि जो ज्ञान जितने रूप में अविसंवादी होता है वह उतने रूप में प्रमाण होता है और जो ज्ञान जितने रूप में विसंवादी होता है वह उतने रूप में अप्रमाण होता है, ऐसा मानने में कोई विरोध नहीं है। ऐसा नहीं है कि ज्ञान जिस अर्थ का अनुकरण करता है अर्थात् जिसके आकार को धारण करता है उस अर्थ में प्रमाण ही हो। उस अर्थ में वह अप्रमाण भी हो सकता है। इसी कारण तो वहाँ समारोप के व्यवच्छेद की आकांक्षा होती है। क्षणिक में अक्षणिक का ज्ञान होना समारोप है। यदि इस समारोप के निराकरण की आकांक्षा नहीं होती तो प्रत्यक्ष के विषयभूत क्षणभङ्गादि में अनुमान की प्रवृत्ति क्यों होती? प्रत्यक्ष के विषयभूत क्षणभङ्ग में 'सर्वं क्षणिकम्' इत्यादि जो अनुमान किया जाता है वह समारोप के व्यवच्छेद के लिए ही तो किया जाता है। यहाँ बौद्ध फिर कहना चाहता है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा नीलादिक का ही ग्रहण होता है, क्षणभङ्गादिक का नहीं। इसलिए क्षणभङ्ग के ज्ञान के लिए अनुमान प्रवृत्त होता है। बौद्धों का उक्त कथन ठीक नहीं है। यदि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा क्षणभङ्ग का ग्रहण नहीं होता है तो उनका यह कथन गलत सिद्ध हो जाता है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा वस्तु का सर्वप्रकार से ग्रहण हो जाता है। उक्त कथन का निष्कर्ष यह है कि तैमिरिक आदि इन्द्रियजन्य ज्ञान को जो प्रत्यक्षाभास कहा है वह सर्वथा प्रत्यक्षाभास नहीं है, परन्तु वह ज्ञान कथञ्चित् प्रत्यक्ष भी है। कोई भी ज्ञान न तो सर्वथा अप्रमाण है और न सर्वथा प्रमाण।

अब आगे यह बतलाते हैं कि बौद्ध जिस सविकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्षाभास कहते हैं वह भी प्रत्यक्ष है-

स्वसंवेद्यं विकल्पानां विशदार्थावभासनम्।
संहृताशेषचिन्तायां सविकल्पावभासनात्।।23।।

विकल्पज्ञानों में जो विशद अर्थ का अवभासन होता है वह स्वसंवेदन प्रत्यक्षग्राह्य है, क्योंकि जिसमें अशेष चिन्ताओं (विकल्पों) का नाश हो गया है उस अवस्था में भी सविकल्पक (निश्चयात्मक) ज्ञान का ही अनुभव होता है।

बौद्धों के यहाँ प्रत्यक्ष के दो भेद हैं- निर्विकल्पक और सविकल्पक। वे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को प्रमाण मानते हैं और सविकल्पक प्रत्यक्ष को प्रमाणाभास कहते हैं। **धर्मकीर्ति** ने **प्रमाणवार्तिक** में प्रत्यक्ष का लक्षण इस प्रकार बतलाया है-

संहृत्य सर्वतश्चिन्तां स्तिमितेनान्तरात्मना।
स्थितोऽपि चक्षुषा रूपमीक्षते साऽक्षजा मतिः।।

अर्थात् सर्वप्रकार से चिन्ता (विकल्प) को नष्ट करके स्थिर अन्तरात्मा से स्थित पुरुष चक्षु के द्वारा जो पदार्थों के रूप का दर्शन करता है वह इन्द्रिय प्रत्यक्ष है। इसी बात को इस प्रकार भी कहा गया है- **प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिद्ध्यति।**

अर्थात् प्रत्यक्ष कल्पनारहित है और इस बात की सिद्धि प्रत्यक्ष के द्वारा ही होती है। पदार्थों में जाति, गुण आदि की योजना करने को कल्पना कहते हैं। जैसे यह गौ है, यह घट है, यह शुक्ल है, इत्यादि ज्ञान कल्पनासहित होने के कारण सविकल्पक कहलाते हैं।

बौद्ध उक्त प्रकार से प्रत्यक्ष का लक्षण बतलाकर निर्विकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं और सविकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्षाभास बतलाते हैं, परन्तु **अकलङ्कदेव** ने पूर्वोक्त '**स्वसंवेद्यम्** ....' आदि कारिका में यह बतलाया है कि सविकल्पक ज्ञान प्रत्यक्षाभास नहीं है, अपितु प्रत्यक्ष है। इसके विपरीत बौद्ध जिस निर्विकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं वह अविशद तथा अनिश्चयात्मक होने के कारण प्रत्यक्षाभास है।

यहाँ बौद्धों की आशङ्का है कि विशद और अविशद ज्ञानों का प्रतिभास

और विषय भिन्न-भिन्न होने के कारण यह कहना ठीक नहीं है कि चक्षु के द्वारा स्थूलादि स्वभाव वाले पदार्थों के रूप का दर्शन होता है, क्योंकि जिन ज्ञानों का प्रतिभास भिन्न-भिन्न होता है उनका विषय भी भिन्न-भिन्न होता है। जैसे रूपज्ञान और रसज्ञान– ये दोनों भिन्न हैं, क्योंकि इनका प्रतिभास और विषय पृथक्-पृथक् होता है। इसी प्रकार निर्विकल्पक और सविकल्पक ज्ञान के विषय में भी समझना चाहिए। विशदस्वभावरूप निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है और अविशदस्वभावरूप विकल्प का विषय स्थिरस्थूलादिरूप पदार्थ है।

बौद्धों की उक्त आशङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि विशद और अविशद ज्ञानों में विषयभेद का एकान्त नहीं है। अर्थात् ऐसा एकान्त नहीं है कि परमार्थसत् वस्तु में विशद विकल्प होता है और कल्पित वस्तु में अविशद विकल्प। किन्तु जो विशद विकल्प का विषय है वह अविशद विकल्प का भी विषय होता है। जैसे जिस ज्ञान का विषय प्रत्यासन्न है और जिसका विषय अप्रत्यासन्न है ऐसे प्रत्यक्ष ज्ञानों में प्रतिभासभेद होने पर भी उनके विषय को एक ही होने में कोई अनुपपत्ति नहीं है। दूरवर्ती पुरुष को वृक्ष का भिन्न प्रतिभास होता है और निकटवर्ती पुरुष को उसी वृक्ष का प्रतिभास भिन्न होता है, परन्तु दो पुरुषों का प्रतिभास भिन्न-भिन्न होने के कारण वृक्ष भिन्न नहीं हो जाता है। जिस वृक्ष का प्रतिभास दो पुरुषों को भिन्न-भिन्न हो रहा है वह वृक्ष तो एक ही है। अतः प्रतिभास के भेद से विषयभेद का एकान्त सिद्ध नहीं होता है।

यहाँ बौद्ध पुनः कहते हैं कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में कल्पनायें नहीं होती हैं। यदि उसमें कल्पनायें होतीं तो उपलब्धिलक्षणप्राप्त (दृश्य) उनकी उपलब्धि होनी चाहिए; किन्तु उनकी उपलब्धि होती नहीं है। जैसे किसी प्रदेश विशेष में घट उपलब्ध नहीं होता है तो वह वहाँ नहीं है। उसी प्रकार प्रत्यक्ष में भी कल्पनायें उपलब्ध नहीं होती हैं। इसका मतलब यही है कि प्रत्यक्ष में कल्पनाओं का अभाव है। ऐसा भी नहीं है कि ये कल्पनायें असंविदित होकर ही उत्पन्न होती हों और व्यय को प्राप्त हो जाती हों, जिससे वे विद्यमान रहकर भी अनुपलक्षित रह सकें। बौद्धों के इस कथन में दूषण देते हुए **अकलङ्कदेव** कहते हैं–

प्रतिसंविदितोत्पत्तिव्ययाः सत्योऽपि कल्पनाः।

प्रत्यक्षेषु न लक्ष्येरन् तत्स्वलक्षणभेदवत्॥24॥

प्रत्येक प्राणी में जिनकी उत्पत्ति और व्यय का संवेदन होता है ऐसी विद्यमान कल्पनायें भी चारों प्रकार के प्रत्यक्षों में लक्षित नहीं होती हैं। इस विषय में बौद्धों का ही उदाहरण देते हुए कहते हैं कि उन कल्पनाओं में जैसे स्वलक्षणभेद की प्रतीति नहीं होती है, वैसे ही प्रत्यक्ष में कल्पनाओं की प्रतीति नहीं होती है।

बौद्धदर्शन में प्रत्यक्ष के चार भेद हैं- इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष, स्वसंवेदनप्रत्यक्ष और योगिप्रत्यक्ष। यहाँ विचारणीय बात यह है कि उन प्रत्यक्षों में कल्पनायें रहती हैं या नहीं? बौद्ध कहते हैं कि उन प्रत्यक्षों में कल्पनायें नहीं रहती हैं। इसके विपरीत जैनदर्शन की मान्यता है कि उक्त चारों प्रकार के प्रत्यक्षों में कल्पनायें (निश्चयात्मक विकल्प) विद्यमान रहती हैं और उनकी उत्पत्ति और व्यय का प्रत्येक प्राणी संवेदन करता है। फिर भी कल्पनायें परिलक्षित नहीं होती हैं। इसी बात को बतलाने के लिए बौद्धों का उदाहरण देते हुए कहा गया है- **'तत्स्वलक्षणभेदवत्'**। अर्थात् उन कल्पनाओं में सजातीय-विजातीयव्यावृत्तिरूप जो स्वलक्षण (स्वस्वरूप) का भेद है उसके अनुपलक्षण की तरह। इसका मतलब यही है कि उन कल्पनाओं में उत्पत्तिव्ययरूप (क्षणभङ्गरूप) भेद तो रहता है, फिर भी वह लक्षित नहीं होता है। इसीलिए तो क्षणभङ्ग की सिद्धि करने के लिए **'सर्वं क्षणिकम्'** इत्यादि अनुमान किया जाता है। अन्यथा क्षणक्षय का अनुमान व्यर्थ है। यही बात प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में भी है। उसमें कल्पनायें रहती तो हैं; किन्तु वे लक्षित नहीं होती हैं। अतः प्रत्यक्ष में कल्पनाओं का विरह रहता है, ऐसा एकान्त सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष में अनुपलक्षित कल्पनाओं का सद्भाव सम्भव है। जो प्रत्यक्ष स्वरूप में सर्वथा निर्विकल्पक है वह बाह्य में सविकल्पक कैसे हो सकता है? अन्यथा अनेकान्त का प्रसङ्ग प्राप्त होता है। प्रत्यक्षज्ञान को स्वरूप में निर्विकल्पक और बाह्य अर्थ के ज्ञान में सविकल्पक मानने पर निर्विकल्पक और सविकल्पक ज्ञानों का अनेकान्त दुर्निवार है।

आगे प्रामाण्य और अप्रामाण्य के विषय में उपसंहार करते हुए कहते हैं-

अक्षधीस्मृतिसंज्ञाभिः चिन्तयाभिनिबोधकैः।
व्यवहाराऽविसंवादस्तदाभासस्ततोऽन्यथा ।।25।।

मति, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान- इन ज्ञानों के द्वारा व्यवहार में विसंवाद न होने पर उन ज्ञानों में प्रामाण्य माना गया है। इसके विपरीत एकान्तवादियों ने जिस प्रकार उक्त ज्ञानों के स्वरूप की कल्पना की है वह सब प्रमाणाभास है।

प्रत्यक्ष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान आदि ज्ञानों के द्वारा ज्ञात घटादि अर्थों में अविसंवाद होने के कारण उन प्रत्यक्षादि ज्ञानों में प्रामाण्य माना जाता है और जहाँ उनके द्वारा ज्ञात अर्थों में विसंवाद देखा जाता है वहाँ उन्हें प्रमाणाभास कहा जाता है। अक्षधी का अर्थ है- इन्द्रियजन्य ज्ञान अर्थात् सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष। पूर्व में ज्ञात वस्तु के स्मरण को स्मृति कहते हैं। संज्ञा का अर्थ है- प्रत्यभिज्ञान। चिन्ता का तात्पर्य तर्क से है और अभिनिबोध अनुमान को कहते हैं। इन प्रमाणों के द्वारा ज्ञात वस्तु में जब कोई विसंवाद नहीं देखा जाता है तब वे ज्ञान प्रमाण कहलाते हैं और जिन ज्ञानों में विसंवाद पाया जाता है वे ज्ञान प्रमाणाभास कहे जाते हैं। किसी ज्ञान के प्रमाण होने की कसौटी है- अविसंवाद और प्रमाणाभास होने की कसौटी है- विसंवाद। अविसंवाद का अर्थ है- जिस वस्तु को जिस रूप में जाना है उसको वैसा ही होना चाहिए। जैसे किसी ने शङ्ख को देखकर जाना कि यह शङ्ख श्वेत है। यहाँ शङ्खविषयक जो ज्ञान हुआ है वह अविसंवादी है। विसंवाद का अर्थ है- जिस वस्तु को जिस रूप में जाना है उसको वैसा न होकर अन्यथा होना। जैसे- किसी ने शुक्तिका में रजत ज्ञान कर लिया तो उसका यह ज्ञान विसंवादी है। यही कारण है कि संशय, विपर्यय और अनध्यवसायरूप ज्ञान प्रमाणाभास होते हैं। इसी प्रकार प्रत्यक्षाभास, स्मृत्याभास, प्रत्यभिज्ञानाभास, तर्काभास और अनुमानाभास- ये सब ज्ञान प्रमाणाभास कहलाते हैं, क्योंकि इनके द्वारा वस्तु के स्वरूप का यथार्थ बोध नहीं होता है। अब आगे श्रुतज्ञान में प्रमाणत्व के समर्थन के लिए कहते हैं-

श्रुतज्ञान में प्रमाणत्व का समर्थन :

प्रमाणं श्रुतमर्थेषु सिद्धं द्वीपान्तरादिषु।
अनाश्वासं न कुर्वीरन् क्वचित्तद्व्यभिचारतः।।26।।

द्वीपान्तर आदि अर्थों में श्रुतज्ञान अविसंवादक होने से प्रमाणरूप से सिद्ध है। यदि किसी श्रुतज्ञान में व्यभिचार पाया जाता है तो इससे सम्पूर्ण श्रुतज्ञान में अविश्वास करना युक्तिसङ्गत नहीं है।

जम्बूद्वीप से अतिरिक्त धातकीखण्ड आदि द्वीप द्वीपान्तर कहे जाते हैं। इस पद से देशविप्रकृष्ट अर्थों का ग्रहण किया गया है। यहाँ आदि शब्द से काल और स्वभाव विप्रकृष्ट अर्थों का ग्रहण करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि अविसंवादक होने से श्रुतज्ञान देश, काल और स्वभाव से विप्रकृष्ट अर्थों में प्रमाण होता है। कहा भी है– **'आप्तवचनादिनिबन्धनं मतिपूर्वमर्थज्ञानं श्रुतम्।'** अर्थात् आप्तवचन आदि के द्वारा मतिपूर्वक जो अर्थज्ञान उत्पन्न होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। श्रुतज्ञान से अर्थ को जानकर उस अर्थ में प्रवृत्ति करने वाले पुरुष को कोई विसंवाद नहीं होता है। यदि कहीं किसी श्रुतज्ञान में व्यभिचार देखा जाता है तो इसका मतलब यह नहीं है कि सभी श्रुतज्ञान व्यभिचारी हैं। किसी पुरुष ने बालकों से कहा कि नदी के तीर पर मोदकों के ढेर लगे हैं। इस बात को सुनकर वहाँ जाने वाले बालकों को एक भी मोदक नहीं मिलता है तो यह श्रुत व्यभिचरित हो जाता है; किन्तु एक स्थान में व्यभिचार देखे जाने से सर्वत्र व्यभिचार की कल्पना नहीं की जा सकती है। अन्यथा द्विचन्द्र ज्ञान में चाक्षुष प्रत्यक्ष का व्यभिचार पाये जाने से एकचन्द्रज्ञान को भी व्यभिचरित मानना पड़ेगा और ऐसा होने से सकल व्यवहार के लोप का प्रसङ्ग प्राप्त होगा।

पूर्वपक्ष– वैशेषिकों और बौद्धों का मत है कि श्रुतज्ञान अनुमान प्रमाणरूप है, अनुमान से अतिरिक्त नहीं। इसलिए स्याद्वादियों का **'प्रमाणं श्रुतमर्थेषु'** इत्यादि कथन अयुक्त है। हम कह सकते हैं कि श्रुत अनुमान से व्यतिरिक्त नहीं है, क्योंकि दोनों का विषय अभिन्न है और दोनों ही अभिन्न सामग्री से समन्वित हैं। तथाहि–

शब्दोऽनुमानान्न व्यतिरिच्यते तदभिन्नविषयत्वात् तदभिन्नसामग्री-समन्वितत्वाच्च।

शब्द का विषय अनुमान के विषय से अभिन्न इसलिए है, क्योंकि दोनों ही सामान्य को विषय करते हैं। शब्द को अनुमान से अभिन्न होने

का एक कारण यह भी है कि शब्द स्वसम्बद्ध अर्थ की प्रतिपत्ति का हेतु होता है तथा वह असम्बद्ध अर्थ का प्रतिपादन कभी नहीं करता है। यदि शब्द असम्बद्ध अर्थ का प्रतिपादन करने लगे तो किसी भी शब्द से किसी भी अर्थ का प्रतिपादन हो जायेगा; किन्तु ऐसा होता नहीं है और जब शब्द सम्बद्ध अर्थ का प्रतिपादन करता है तो उस अर्थ के प्रति वह लिङ्ग (हेतु) होता है। अतः अर्थ का ज्ञान शब्दलिङ्गजन्य होने के कारण अनुमान ही है। इसके अतिरिक्त शब्द और अनुमान– दोनों ही प्रमाण अभिन्न सामग्री से समन्वित होते हैं। धूमादि की तरह शब्द के द्वारा अर्थ की प्रतीति में सम्बन्ध की स्मृति की अपेक्षा होती है। धूम के द्वारा वह्नि का ज्ञान तभी होता है जब धूम और वह्नि के सम्बन्ध की स्मृति हो। इसी प्रकार शब्द और अर्थ में सम्बन्ध की स्मृति होने पर शब्द के द्वारा अर्थ का ज्ञान होता है। शब्द और अर्थ में धूम और वह्नि की तरह अन्वय-व्यतिरेक भी देखा जाता है। जो शब्द लोक में जिस अर्थ में देखा जाता है वही शब्द उस अर्थ का वाचक होता है, अन्य नहीं। जिस तरह प्रत्यक्ष से धूम को देखकर वह्नि की प्रतीति होती है उसी प्रकार शब्द को सुनकर उसके अर्थ की प्रतीति होती है। शब्द के विषय में एक बात और भी है। शब्द विवक्षा में ही प्रमाण है, बाह्य अर्थ में नहीं। **'अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते'** इत्यादि शब्दों का बाह्यार्थ में प्रामाण्य नहीं पाया जाता है। शब्द केवल वक्ता की विवक्षा को ही बतलाता है और उस विवक्षा को बतलाने में शब्द लिङ्ग होता है। इत्यादि कारणों से यह सिद्ध होता है कि शब्द कोई पृथक् प्रमाण नहीं है, किन्तु वह अनुमानरूप ही है। ऐसा वैशेषिकों और बौद्धों का मत है।

उत्तरपक्ष– वैशेषिकों और बौद्धों का उक्त मत असमीचीन है। उनका यह कथन ठीक नहीं है कि श्रुतज्ञान अनुमान से भिन्न नहीं है। उन्होंने जो यह कहा है कि दोनों का विषय अभिन्न है वह भी गलत है। हम बतलाना चाहते हैं कि शब्द और अनुमान– इन दोनों का विषय भिन्न-भिन्न है। शब्द का विषय अर्थमात्र है, किन्तु अनुमान का विषय साध्यधर्मविशिष्ट धर्मी है। यदि सामान्यवान् अर्थ को विषय करने के कारण दोनों में विषय का अभेद माना जाता है तो इससे प्रत्यक्ष में भी अनुमानत्व का प्रसङ्ग प्राप्त होता है, क्योंकि सामान्यवान् अर्थ को विषय करना तो दोनों में

समान रूप से पाया जाता है। जैनदर्शन ने सामान्यविशेषात्मक अर्थ को सकल प्रमाणों का विषय बतलाया है। स्वसम्बद्ध अर्थ की प्रतिपत्ति में हेतु होने के कारण शब्द को अनुमानरूप बतलाना भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष भी तो स्वसम्बद्ध अर्थ की प्रतीति में हेतु होता है। इसलिए उसे भी अनुमान मानिए। यह कहना भी ठीक नहीं है कि सामग्रीभेद के कारण प्रत्यक्ष और अनुमान में भेद है, क्योंकि शब्द और अनुमान में भी तो सामग्रीभेद पाया जाता है। अतः अभिन्नविषयत्व के कारण शब्द को अनुमानरूप मानना युक्तिसङ्गत नहीं है।

इसी प्रकार शब्द और अनुमान दोनों को अभिन्न सामग्री से समन्वित होने के कारण शब्द को अनुमान कहना सर्वथा गलत है। यथार्थ में दोनों की सामग्री अभिन्न नहीं है, किन्तु भिन्न है। पक्षधर्मत्वादि तीनरूपयुक्त लिङ्ग अनुमान की सामग्री है और शब्द की सामग्री इससे भिन्न है। शब्दज्ञान में न तो कोई धर्मी होता है और न पक्षधर्मत्वादि तीनरूप सहित कोई हेतु होता है। बौद्धों ने स्वलक्षण के साथ शब्द का कोई सम्बन्ध भी नहीं माना है। शब्द और अर्थ में न तादात्म्यरूप सम्बन्ध है और न तदुत्पत्तिरूप सम्बन्ध। अर्थ से असम्बद्ध शब्द अर्थ का धर्म नहीं हो सकता है। शब्द और अर्थ में अन्वयव्यतिरेक भी नहीं पाया जाता है। ऐसा नहीं है कि जिस देश में शब्द है उस देश में अर्थ भी हो। शब्द मुख में होता है और अर्थ भूमि पर। व्यवहारी पुरुषों को शब्द और अर्थ के अन्वय का निश्चय नहीं होता है। जहाँ पिण्डखर्जूर आदि शब्द सुने जाते हैं वहाँ व्यवहारीजन पिण्डखर्जूर आदि अर्थ की उपलब्धि नहीं करते हैं। अतः शब्दों का अर्थ के साथ देशकृत अन्वय नहीं है। इसी तरह शब्दों का अर्थ के साथ कालकृत अन्वय भी नहीं है। रावण, शङ्खचक्रवर्ती आदि शब्द वर्तमान में सुने जाते हैं, परन्तु उनका अर्थ भूत और भविष्यत्कालवर्ती है। इस कारण शब्दों का अर्थ के साथ कालकृत अन्वय भी नहीं है और अन्वय के अभाव में व्यतिरेक का अभाव भी स्वतः हो जाता है, क्योंकि व्यतिरेक अन्वयपूर्वक ही होता है। जब अन्वय ही नहीं है तब व्यतिरेक कैसे होगा? इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि शब्द और अर्थ में अन्वयव्यतिरेक का अभाव है। इसका मतलब यही है कि शब्द को अनुमानरूप नहीं माना जा सकता है।

पूर्वपक्ष में बतलाया गया है कि शब्द विवक्षा में ही प्रमाण होता है। यह कथन वक्ता के अज्ञान का ही सूचक है। ऐसा नहीं है कि शब्द वक्ता की इच्छा को ही प्रकट करता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि वक्ता कहना कुछ चाहता है, परन्तु कुछ कारणों से उससे विपरीत अवाञ्छित बात को भी कह देता है। इसी बात को आगे बतलाया गया है– **वर्णाः पदानि वाक्यानि प्राहुरर्थानवाञ्छितान्।** अर्थात् वर्ण, पद और वाक्य अवाञ्छित अर्थों को कहते हैं। इस प्रकार के विवेचन से यह सिद्ध होता है कि शब्द अथवा आगम एक पृथक् प्रमाण है और अनुमान में उसका अन्तर्भाव करना सर्वथा गलत है।

शब्द में अर्थवाचकत्व की सिद्धि :

पूर्वपक्ष– बौद्ध मानते हैं कि शब्द अर्थ के वाचक नहीं होते हैं। उनका कथन है कि विकल्पवासनामात्र से जन्य होने के कारण अर्थ के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। शब्द और अर्थ में न तो तादात्म्य सम्बन्ध है और न तदुत्पत्ति सम्बन्ध है। शब्द और अर्थ– दोनों का देश भिन्न होने के कारण उनमें तादात्म्य सम्बन्ध नहीं बनता है। शब्द का देश मुख है और अर्थ का देश भूमि है। यदि शब्द और अर्थ में तादात्म्य सम्बन्ध माना जाय तो क्षुर और मोदक शब्द का उच्चारण करने पर क्रमशः मुख का छेदन और पूरण का प्रसङ्ग आता है। उनमें तदुत्पत्ति सम्बन्ध भी नहीं है। अर्थ के अभाव में भी शब्दों की उत्पत्ति देखी जाती है। पिण्डखर्जूर, राम, रावणादि अर्थों के न रहने पर भी उन शब्दों की उत्पत्ति हो जाती है। अतः अर्थ के साथ कोई सम्बन्ध न रखने वाले शब्द बाह्य अर्थ में कोई ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकते हैं। इसी कारण शब्दों में प्रामाण्य मानना उचित नहीं है। शब्द तो अनादिकालीन विकल्पवासनामात्र से जन्य होने के कारण अपनी महिमा से बाह्य अर्थों का तिरस्कार करके निरर्थक ज्ञान को उत्पन्न करते हैं। जैसे अङ्गुली के अग्रभाग पर सैकड़ों हाथियों का समूह है, इत्यादि प्रकार का ज्ञान। यहाँ यह कहना भी ठीक नहीं है कि यह तो पुरुष के दोषों की महिमा है, शब्दों की नहीं, क्योंकि शब्दों का उच्चारण नहीं करने वाले दोषवान् मूकादि पुरुष में भी इस प्रकार के असत्य प्रत्यय के उत्पादन की सामर्थ्य सम्भव नहीं है। तथा पुरुषों के हृदय में कालुष्य के नहीं होने पर भी आप्तप्रयुक्त **'अङ्गुल्यग्रे**

हस्तियूथशतम्' आदि वाक्य बाह्यार्थशून्य मिथ्याप्रत्ययों को उत्पन्न करते ही हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि शब्द और अर्थ में कोई सम्बन्ध नहीं है तथा शब्द अर्थ के वाचक नहीं होते हैं।

उत्तरपक्ष– बौद्धों का उक्त कथन समीचीन नहीं है। यह कहना सर्वथा गलत है कि शब्द और अर्थ में कोई सम्बन्ध नहीं है। हम कह सकते हैं कि शब्द अर्थ के साथ सम्बद्ध होकर अर्थ का ज्ञान कराता है, चक्षु की तरह। चक्षु अपने अर्थ से सम्बद्ध होकर ही उस अर्थ को जानती है। यह भी कहा जा सकता है कि शाब्दप्रत्यय सम्बद्ध शब्द और अर्थ से उत्पन्न होता है, प्रतिनियतप्रत्यय होने से, दण्डी इत्यादि प्रत्यय की तरह। यद्यपि शब्द और अर्थ में तादात्म्य और तदुत्पत्तिरूप सम्बन्ध नहीं है, फिर भी उनमें योग्यतालक्षणसम्बन्ध रहता ही है, चक्षु और रूप की तरह। चक्षु का घटादिरूप के साथ तादात्म्य और तदुत्पत्ति सम्बन्ध न होने पर भी चक्षु के द्वारा रूप का प्रत्यय होता ही है।

यहाँ ऐसी आशङ्का करना ठीक नहीं है कि यदि योग्यता के कारण शब्द अर्थ का वाचक होता है तो अर्थ को भी शब्द का वाचक होना चाहिए, क्योंकि पदार्थों की शक्तियाँ प्रतिनियत होती हैं। ज्ञान और ज्ञेय में ज्ञाप्य-ज्ञापकशक्ति की तरह शब्द और अर्थ में प्रतिपाद्य-प्रतिपादक शक्ति का नाम योग्यता है। चक्षु और रूप में तथा घट और प्रदीप में जो प्रकाश्य-प्रकाशकभाव का प्रतिनियम देखा जाता है वह योग्यता के कारण ही होता है, कार्यकारणभाव आदि के कारण नहीं। शब्द अर्थ का जो प्रतिपादन करता है वह सङ्केतरूप योग्यता के कारण करता है। यह शब्द इस अर्थ का वाचक है और यह अर्थ इस शब्द का वाच्य है, ऐसा शब्द और अर्थ में वाच्य-वाचक के विनियोग को सङ्केत कहते हैं। इस प्रकार के सङ्केत का ग्रहण जिस पुरुष को होता है उसी पुरुष को वह शब्द अपने अर्थ का प्रतिपादन कराता है, अन्य को नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि जिस पुरुष ने शब्द और अर्थ में सङ्केत का ग्रहण किया है उसी के प्रति शब्द अर्थ का वाचक होता है, अन्य किसी पुरुष के प्रति नहीं।

यहाँ पूर्वपक्ष पुनः शङ्का करता है कि सङ्केत तो पुरुष की इच्छा के अधीन होता है, किन्तु पुरुष की इच्छा से वस्तुव्यवस्था मानना ठीक नहीं है। पुरुष की इच्छा तो निरंकुश होती है। अतः अर्थ वाचक और शब्द

वाच्य क्यों नहीं हो सकता है? उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि सङ्केत स्वाभाविक योग्यता के कारण होता है। शब्द और अर्थ में ऐसी स्वाभाविक योग्यता है जिसके कारण शब्द वाचक होता है और अर्थ वाच्य। यदि कोई स्वाभाविक शक्ति का व्यतिक्रम करना चाहे तो चक्षुरूपादि में भी प्रकाशक और प्रकाश्य शक्ति का व्यतिक्रम मान लीजिए। ऐसी स्थिति में चक्षु प्रदीप आदि को प्रकाश्य और रूप, घट आदि को प्रकाशक मानना पड़ेगा और ऐसा मानना किसी को भी इष्ट नहीं है। अतः जिस प्रकार रूप के प्रकाशन में चक्षु की स्वाभाविक शक्ति है उसी प्रकार अर्थ के प्रकाशन में शब्द की भी स्वाभाविक शक्ति है।

पूर्वपक्ष ने कहा था कि अर्थ के साथ कोई सम्बन्ध न रखने वाले शब्द बाह्य अर्थ में ज्ञान उत्पन्न करने में असमर्थ हैं। उनका यह कथन समीचीन नहीं है। यहाँ तीन विकल्प होते हैं। क्या आप्तप्रणीत शब्द अर्थ के साथ असम्बद्ध होते हैं या अनाप्तप्रणीत शब्द अथवा शब्दमात्र? प्रथम पक्ष में तो प्रत्यक्ष बाधा है। '**नद्यास्तीरे फलानि सन्ति**' इत्यादि आप्तप्रणीत वाक्य से अर्थ की प्रतीति और प्राप्ति देखी जाती है। अब यदि अनाप्तप्रणीत शब्द या वाक्य से अर्थ की प्रतीति तथा प्राप्ति नहीं होती है तो उसी को अर्थ से असम्बद्ध मानना चाहिए, अन्य शब्द को नहीं। अन्यथा सदोष चक्षु से उत्पन्न होने वाले द्विचन्द्रादि प्रत्यय में तदनुसार अर्थ की उपलब्धि न होने से अन्य सभी प्रत्यक्षों को भी वैसा ही मानना पड़ेगा। इस कथन से तृतीय विकल्प भी निरस्त हो जाता है, क्योंकि आप्त और अनाप्त प्रणीत शब्दों के अतिरिक्त अन्य कोई शब्दमात्र शेष नहीं रहता है। यहाँ एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि चक्षुरादि की तरह शब्द का स्वरूप अर्थ का प्रकाशकत्वमात्र है, यथार्थप्रकाशकत्व अथवा अयथार्थप्रकाशकत्व नहीं। यथार्थप्रकाशकत्व और अयथार्थप्रकाशकत्व के कारण तो गुण और दोष होते हैं। चक्षु में नैर्मल्यादि गुण होने पर वह यथार्थवस्तु को प्रकाशित करती है और तिमिरादि दोष होने पर वह अयथार्थ वस्तु को प्रकाशित करती है। इसी प्रकार शब्द भी वक्ता के गुण और दोष के अनुसार वस्तु के यथार्थ और अयथार्थ स्वरूप को प्रकाशित करते हैं।

उपर्युक्त कथन का निष्कर्ष यह है कि शब्द (श्रुत) प्रमाण है, क्योंकि

वह अर्थ की उपलब्धि में निमित्त होता है, प्रत्यक्षादि की तरह। सम्यग्ज्ञान की तरह शब्द स्वपक्ष के साधन और परपक्ष के दूषण में भी समर्थ होता है। देश, काल और स्वभाव से विप्रकृष्ट अर्थों की प्रतिपत्ति शब्द (आगम) के बिना अन्य किसी प्रमाण से सम्भव नहीं है। इतना विशेष अवश्य है कि अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष सभी प्रकार के विप्रकृष्ट अर्थों (परमाणु आदि) को जानने में पूर्णरूप से समर्थ होता है। श्रुतज्ञान और केवलज्ञान- दोनों ही सर्वतत्त्वों के प्रकाशक होते हैं। उनमें भेद केवल इतना ही है कि केवलज्ञान साक्षात् सर्वतत्त्वों का प्रकाशक होता है और श्रुतज्ञान परोक्षरूप से सर्वतत्त्वों का प्रकाशक होता है, परन्तु इतनी बात निर्विवादरूप से सिद्ध होती है कि शब्द अर्थवाचक होता है तथा वह प्रमाण है।

शब्द और अर्थ में नित्य सम्बन्धनिरास :

पूर्वपक्ष– मीमांसक मानते हैं कि शब्द और अर्थ में नित्य सम्बन्ध है, अनित्य नहीं। इसी कारण शब्द का अर्थ में जो सङ्केत होता है वह पुरुषकृत नहीं हो सकता है। अनित्य सम्बन्ध तो किया ही नहीं जा सकता है। यदि अनित्य सम्बन्ध किया जाता है तो वह प्रत्येक पुरुष में प्रत्येक शब्द में और प्रत्येक अर्थ में किसी के द्वारा एक साथ ही किया जाना चाहिए। इसमें अन्य कोई विकल्प सम्भव नहीं है। प्रथम पक्ष में प्रश्न यह है कि पुरुष के द्वारा प्रत्येक पुरुष में किया गया सङ्केत (सम्बन्ध) एक किया जाता है अथवा अनेक? यदि एक सङ्केत किया जाता है तो वह कृतक कैसे हुआ? उसके पूर्व में भी उसका सद्भाव होने से वह तो अकृतक सिद्ध होता है। यदि सङ्केत अनेक किया जाता है तो उसकी एक अर्थ में सङ्गति कैसे होगी? जैसे गो शब्द का सास्नादिमान् अर्थ में सङ्केत होता है और अश्व शब्द का केसरादिमान् अर्थ में सङ्केत होता है। एक प्रश्न यह भी है कि यदि प्रत्येक पुरुष में सङ्केत किया जाता है तो उसका करने वाला एक पुरुष है अथवा बहुत पुरुष? यदि एक पुरुष है तो वह देशान्तर में अवस्थित पदार्थों में कैसे सङ्केत करेगा? उन-उन देशों में जाकर तो वह जीवनपर्यन्त भी उन पदार्थों में सङ्केत नहीं कर सकता है। अब यदि माना जाय कि सङ्केत करने वाले पुरुष बहुत हैं तो सकल देशों में और सकल कालों में सङ्केत करने में एकरूपता नहीं आ सकती है, क्योंकि सङ्केत की एकरूपता का कोई निमित्त नहीं है।

दूसरा विकल्प है कि प्रत्येक शब्द में सङ्केत किया जाता है तो यहाँ भी प्रश्न यह है कि प्रत्येक शब्द को उच्चारण करके सङ्केत किया जाता है अथवा उच्चारण के बिना ही? उच्चारण के बिना सङ्केत मानना तो ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसी स्थिति में सङ्केत निराश्रय हो जायेगा। प्रत्येक शब्द का उच्चारण करके भी सङ्केत नहीं किया जा सकता है, क्योंकि ऐसा करना तो पुरुष की आयुपर्यन्त भी सम्भव नहीं है। अब तीसरा विकल्प है कि प्रत्येक अर्थ में सङ्केत किया जाता है। यह विकल्प भी ठीक नहीं है, क्योंकि अर्थ तो अनन्त हैं और विप्रकृष्ट देशवर्ती हैं। उनके साथ सङ्केत कैसे सम्भव होगा? इत्यादि कारणों से शब्द और अर्थ में नित्य सम्बन्ध ही मानना चाहिए। शब्द और अर्थ में नित्य सम्बन्ध की प्रतिपत्ति प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति से होती है। जब एक पुरुष सङ्केत जानने वाले दूसरे पुरुष से कहता है कि हे देवदत्त! सफेद गाय को लाओ, तब पास में बैठा हुआ सङ्केत नहीं जानने वाला पुरुष शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को प्रत्यक्ष से जान लेता है तथा इस वाक्य को सुनने वाला पुरुष गौविषयक क्षेपण आदि चेष्टा को जानकर अनुमान से और अर्थापत्ति से गौ की प्रतिपत्ति कर लेता है।

उत्तरपक्ष– मीमांसकों ने बतलाया है कि शब्द और अर्थ में नित्य सम्बन्ध है, अनित्य नहीं। उनका वह कथन तर्कसङ्गत नहीं है। जब हम शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में सम्यक्रूप से विचार करते हैं तो वह नित्य सिद्ध नहीं होता है। यहाँ हम नित्यसम्बन्धवादियों से पूछना चाहते हैं कि शब्द और अर्थ में जो सम्बन्ध का नित्यत्व है वह स्वभाव से है अथवा सम्बन्धियों के नित्य होने से? यदि वह सम्बन्ध का नित्यत्व स्वभाव से है तो ऐसे सम्बन्ध का सबको सर्वथा प्रकाशन होना चाहिए। ऐसा नहीं होता है कि प्रदीप स्वभाव से रूप का प्रकाशक होकर किसी के प्रति वह रूप का प्रकाशन करे और किसी के प्रति नहीं। यदि ऐसा माना जाय कि सङ्केत के द्वारा व्यक्त यह सम्बन्ध शब्दार्थ का प्रकाशक होता है, तब तो इस शब्दार्थ के सम्बन्ध में नित्यैकरूपता का नियम कहाँ रहा? व्यक्त और अव्यक्तरूप से उसमें भेद का प्रसङ्ग प्राप्त होता है। नित्य और एकरूप वस्तु यदि व्यक्त है तो वह सदा व्यक्त ही रहेगी, क्योंकि उसका स्वभाव अभिन्न होता है।

इस प्रकरण में एक बात यह भी विचारणीय है कि शब्द और अर्थ में सङ्केत पुरुषाश्रित होता है तथा अतीन्द्रिय अर्थ के ज्ञान से रहित पुरुष वेदार्थ में अन्यथा भी सङ्केत कर सकता है। और ऐसा होने से वेद में मिथ्यात्वलक्षण अप्रामाण्य प्राप्त होता है। इसी प्रसङ्ग में **आचार्य धर्मकीर्ति** ने **प्रमाणवार्तिक** (3/318) में कहा है-

तेनाग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम इति श्रुतौ।
खादेत् श्वमांसमित्येष नार्थ इत्यत्र का प्रमा।।

अर्थात् जिस पुरुष को स्वर्ग की कामना हो वह अग्निहोत्र यज्ञ करे, ऐसा वेदवाक्य है। इस वाक्य का कोई ऐसा भी अर्थ कर सकता है कि जिसको स्वर्ग की इच्छा हो वह कुत्ते का मांस खावे। यदि कोई यहाँ यह कहना चाहे कि ऐसा अर्थ करना गलत है तो हम उससे पूछ सकते हैं कि इस विषय में क्या प्रमाण है? अर्थात् एक अर्थ सही है और दूसरा अर्थ गलत है. इस विषय में कोई प्रमाण नहीं है। अतः शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्वभाव से नित्य सिद्ध नहीं होता है।

अब यदि ऐसा माना जाय कि शब्द और अर्थ में सम्बन्ध का नित्यत्व सम्बन्धियों के नित्य होने से है तो ऐसा मानना भी ठीक नहीं है। यहाँ प्रश्न यह है कि नित्य सम्बन्धी कौन हैं- शब्द, अर्थ अथवा दोनों? शब्द तो नित्य नहीं है, पुद्गल द्रव्य की पर्याय होने से शब्द अनित्य है। अर्थ भी सर्वथा नित्य नहीं है। शब्दार्थसम्बन्ध का विषयभूत घटादि अर्थ सर्वथा नित्य न होकर कथञ्चित् अनित्य भी है. ऐसा प्रत्यक्षादि के द्वारा ज्ञात होता ही है। जब शब्द और अर्थ दोनों के नित्यत्व का खण्डन कर दिया गया है तब दोनों को नित्य मानना तो सर्वथा अयुक्त है, क्योंकि पृथक्-पृथक् पक्ष के विषय में प्रदत्त तर्क उभयपक्ष में भी चरितार्थ होता है। इस प्रकार सम्बन्धियों को नित्य बतलाकर शब्दार्थसम्बन्ध को नित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता है। तात्पर्य यह है कि शब्द और अर्थ में नित्य सम्बन्ध किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होता है। अतः शब्दार्थसम्बन्ध को अनित्य ही मानना चाहिए।

पूर्वपक्ष में कहा गया है कि यदि 'अनित्य सम्बन्ध किया जाता है तो वह प्रत्येक पुरुष में, प्रत्येक शब्द में और प्रत्येक अर्थ में किया जाना

चाहिए, इत्यादि। वह कथन समीचीन नहीं है, क्योंकि शब्दव्यवहार अनादि है। सर्वथा सत् जगत् का न तो निर्मूल नाशरूप महाप्रलय होता है और न असत् का आत्मलाभरूप उत्पाद होता है। मान लिया जाय कि शब्दार्थसम्बन्ध नित्य है, फिर भी उसकी अभिव्यक्ति अनित्य ही माननी पड़ेगी, क्योंकि शब्दार्थसम्बन्ध को नित्य मानने में जो दोष आते हैं वे दोष अभिव्यक्ति को नित्य मानने में भी समानरूप से विद्यमान रहते ही हैं। कोई भी वस्तु सर्वथा नित्य नहीं है, क्योंकि सर्वथा नित्य वस्तु में न तो क्रम से अर्थक्रिया होती है और न युगपत्। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि शब्द और अर्थ में कथञ्चित् अनित्यतालक्षण सम्बन्ध के बल से श्रुत (शब्द) अर्थ का प्रतिपादक होता है। इसलिए **'संवादकं श्रुतं प्रमाणम्'** जैनदर्शन का यह कथन सर्वथा युक्तिसङ्गत है।

अन्यापोहवाद :

पूर्वपक्ष– बौद्धों का कथन है कि शब्द अर्थ के वाचक नहीं होते हैं, क्योंकि अर्थ के अभाव में भी शब्द देखे जाते हैं। जो शब्द अर्थ के होने पर देखे जाते हैं वही शब्द अर्थ के अभाव में भी पाये जाते हैं। इस कारण शब्द विधि के द्वारा अर्थ के अभिधायक नहीं होते हैं। परन्तु वे निषेध के द्वारा अन्यापोह का कथन करते हैं। कहा भी है–

अपोहः शब्दलिङ्गाभ्यां न वस्तु विधिनोच्यते।

अर्थात् शब्द और लिङ्ग के द्वारा अपोह (निषेध) का कथन किया जाता है, विधि के द्वारा वस्तु का नहीं। अन्यापोह का अर्थ है– अन्य का निषेध। गौ शब्द गाय का कथन न करके गौ से भिन्न अन्य समस्त वस्तुओं का निषेध करता है। अर्थात् यह अश्व नहीं है, भैंस नहीं है, गज नहीं है, नर नहीं है, इत्यादि प्रकार से गौभिन्न अन्य समस्त वस्तुओं का निषेध करने के बाद पारिशेष्यन्याय से यह ज्ञात हो जाता है कि यह गौ है, यही अन्यापोह है। शब्द और अर्थ में न तो कोई सम्बन्ध है और न अर्थ शब्द का वाच्य या विषय होता है। यदि अर्थ शब्द का विषय होता है तो स्वलक्षणरूप अर्थ शब्द का वाच्य होता है अथवा सामान्यरूप अर्थ? यहाँ प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि स्वलक्षण में तो शब्द का सङ्केत ही सम्भव नहीं है। सङ्केत ऐसे अर्थ में किया जाता है जिस

अर्थ का सङ्केतकाल और व्यवहारकाल- दोनों में अस्तित्व बना रहता है, परन्तु जिस स्वलक्षण में सङ्केत की बात की जाती है वह तो व्यवहार काल में रहता ही नहीं है। क्षणिक होने से वह तो सङ्केत काल में ही नष्ट हो जाता है और व्यवहारकाल में अन्य ही स्वलक्षण उपलब्ध होता है। इस कारण स्वलक्षण में सङ्केत सम्भव नहीं है। तथा जिस शब्द का जिस अर्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है वह शब्द उस अर्थ का प्रत्यायन नहीं करा सकता है। जैसे गोशब्द का अश्व के साथ कोई सम्बन्ध न होने के कारण वह अश्व का प्रत्यायन नहीं कराता है। इसी प्रकार शब्द का भी स्वलक्षण के साथ कोई सम्बन्ध न होने से वह स्वलक्षण का प्रत्यायन नहीं कराता है। यदि शाब्द प्रत्यय स्वलक्षण को विषय करता हो तो इन्द्रियजन्य प्रत्यय की तरह उसका भी प्रतिभास स्पष्ट होना चाहिए। परन्तु ऐसा मानने में प्रतीतिविरोध प्रतीत होता है। तथाहि-

अन्यदेवेन्द्रियग्राह्यमन्यच्छब्दस्य गोचरः।
शब्दात् प्रत्येति भिन्नाक्षो न तु प्रत्यक्षमीक्षते।।
अन्यथैवाग्निसम्बन्धाद् दाहं दग्धोऽभिमन्यते।
अन्यथा दाहशब्देन दाहार्थः सम्प्रतीयते।।

अर्थात् इन्द्रियग्राह्य अर्थ अन्य होता है तथा शब्द का विषयभूत अर्थ अन्य होता है। अन्धा व्यक्ति शब्द से अर्थ का ज्ञान कर लेता है; किन्तु वह उस अर्थ का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं कर पाता है। अग्नि के सम्बन्ध से दग्ध व्यक्ति दाह शब्द के अर्थ को दूसरे प्रकार से समझता है तथा वही व्यक्ति दाह शब्द के द्वारा दाह शब्द के अर्थ को भिन्न प्रकार से समझता है।

एक ही वस्तु के स्पष्ट और अस्पष्ट- ये दो रूप नहीं हो सकते हैं। अतः ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि वस्तुगत अस्पष्ट रूप ही शाब्द प्रत्यय में प्रतिभासित होता है। जिस प्रकार रूपजन्य प्रत्यय में रस प्रतिभासित नहीं होता है उसी प्रकार शब्दजन्य प्रत्यय में स्वलक्षणप्रतिभासित नहीं होता है। यही कारण है कि स्वलक्षणरूप अर्थ शब्द का विषय नहीं होता है। गोत्वादि सामान्य रूप अर्थ भी शब्द का विषय नहीं हो सकता है, क्योंकि गोत्वादि सामान्य अश्वविषाण की तरह अर्थक्रियाकारी न होने

से काल्पनिक है, वास्तविक नहीं। कुछ लोगों ने सामान्य को नित्य और एकस्वभाव वाला माना है, परन्तु ऐसा सामान्य न तो क्रम से अर्थक्रिया कर सकता है और न युगपत्।

अन्यापोह शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार होती है– **'अपोह्यते अन्यस्मात् इत्यन्यापोहः'** अपोह शब्द का अर्थ निषेध होता है। अन्य का अपोह अर्थात् निषेध। इसी को विजातीयव्यावृत्ति भी कहते हैं। गौ से भिन्न जितनी भी वस्तुएँ हैं वे गौ की अपेक्षा से विजातीय हैं। जब हम गोशब्द का उच्चारण करते हैं तब गोशब्द 'अगो' की व्यावृत्ति करता है, इत्यादि प्रकार से विचार करने पर यह सिद्ध होता है कि शब्द का विषय या वाच्य अर्थ नहीं है, किन्तु शब्द का वाच्य अन्यापोह है। ऐसा बौद्धों का मत है।

उत्तरपक्ष– बौद्धों का उक्त कथन तर्कसङ्गत नहीं है। यदि किसी प्रमाण से अन्यापोह की सिद्धि होती हो तो अन्यापोह को शब्द का वाच्य बतलाना ठीक है, किन्तु अन्यापोह की सिद्धि किसी भी प्रमाण से नहीं होती है। अन्यापोह की सिद्धि प्रत्यक्ष से तो होती नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष स्वलक्षण को विषय करता है। वह निषेधरूप अपोह को विषय करने में असमर्थ है। अनुमान के द्वारा भी अन्यापोह की सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि अन्यापोह के साथ अविनाभाव रखने वाला कोई लिङ्ग नहीं है। बौद्धों के अनुसार गोशब्द का वाच्य है– अगोव्यावृत्ति और अगोव्यावृत्ति के साथ अविनाभावी कोई लिङ्ग उपलब्ध नहीं होता है। बौद्धदर्शन में तादात्म्य और तदुत्पत्ति के द्वारा किसी के साथ लिङ्ग का अविनाभाव माना गया है, परन्तु अन्यव्यावृत्ति का न तो किसी के साथ तादात्म्य घटित होता है और न तदुत्पत्ति। अवस्तु होने के कारण अन्यव्यावृत्ति स्वलक्षणरूप नहीं है। जो अवस्तुरूप है वह स्वलक्षण नहीं हो सकता है जैसे खरविषाण। अगोव्यावृत्ति भी अन्यव्यावृत्तिरूप है। अतः वह स्वलक्षण नहीं है। इस प्रकार अवस्तुरूप अपोह का किसी के साथ तादात्म्य नहीं बनता है। नीरूप होने के कारण अपोह की किसी से उत्पत्ति भी नहीं हो सकती है। जो नीरूप (निःस्वभाव) होता है वह न तो किसी के द्वारा जन्य होता है और न किसी का जनक। अतः किसी के साथ तादात्म्य और तदुत्पत्ति सम्बन्ध के अभाव में अनुमान प्रमाण के द्वारा अन्यापोह की सिद्धि सम्भव नहीं है। जब किसी भी प्रमाण से अन्यापोह की सिद्धि नहीं होती है

तब उसको शब्द का वाच्य मानना कहाँ तक युक्तिसङ्गत है?

यहाँ ध्यान देने योग्य एक बात यह भी है कि यदि शब्द द्वारा अपोह की प्रतीति होती है तो सब शब्द पर्यायवाची हो जायेंगे, क्योंकि सब शब्द समानरूप से अपोहमात्र का प्रतिपादन करते हैं और इस तरह शब्दों में विशेषण-विशेष्यभेद, अतीतादिकालभेद, स्त्रीपुंनपुंसकलिङ्गभेद, एकद्विबहुवचनभेद और लिङ्गलिङ्गीभेद आदि सब भेद समाप्त हो जावेंगे। ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है कि आश्रय के भेद से अथवा स्वरूप के भेद से अपोह में भेद माना जा सकता है, क्योंकि अवस्तुरूप होने के कारण अपोह का कोई आश्रय सम्भव ही नहीं है, जो अवस्तुरूप है वह किसी के आश्रित नहीं होता है, जैसे आकाशपुष्प। अपोह भी अवस्तुरूप है। अतः वह किसी के आश्रित नहीं हो सकता है। मान लिया जाय कि अपोह किसी के आश्रित है तो वह प्रतिव्यक्ति भिन्न है या अभिन्न? यदि भिन्न है तो द्रव्य, गुण और कर्म में से अपोह को किसी एकरूप मानना पड़ेगा, क्योंकि अपोहरूप सामान्य के आश्रय द्रव्य, गुण और कर्म ही हो सकते हैं। अतः अपोह को प्रतिव्यक्ति भिन्न मानना ठीक नहीं है। अब यदि अपोह को प्रतिव्यक्ति अभिन्न माना जाता है तो इससे अपोह गोत्वादि की तरह सामान्य रूप ही सिद्ध होता है। स्वरूपभेद की अपेक्षा से भी अपोह में भेद नहीं माना जा सकता है, क्योंकि अपरमार्थ सत् होने के कारण अपोह में स्वरूपभेद सम्भव नहीं है। जो अपरमार्थ सत् होता है उसमें स्वरूपभेद नहीं होता है। जैसे– गगनकुसुम खरविषाणादि में कोई स्वरूप भेद नहीं है। फिर भी यदि अपोह में स्वरूपभेद माना जाता है तो उसे स्वलक्षण की तरह परमार्थसत् मानना पड़ेगा। अपोह के विषय में एक प्रश्न यह भी है कि अपोह पर्युदासरूप है अथवा प्रसज्यरूप। यदि वह पर्युदासरूप है तो उसे घटपटादि की तरह भावान्तररूप ही मानना होगा। जैसे पर्युदासपक्ष में घटाभाव का अर्थ होता है घटरहित भूतल का सद्भाव। अतः पर्युदासपक्ष में विधि ही शब्द का वाच्य होता है, निषेध नहीं। अपोह को प्रसज्यरूप मानने का अर्थ यह होगा कि शब्दों के द्वारा निषेधमात्र का कथन होता है, जो कि अयुक्त है। क्योंकि शब्दों के द्वारा निषेधमात्र की प्रतीति नहीं होती है। शब्दप्रयोग परप्रतिपादन के लिए होता है। प्रतिपाद्यपुरुष गौ आदि अर्थ के ज्ञान का इच्छुक होता है। उसे अगोव्यावृत्ति आदि से कोई प्रयोजन नहीं होता है। लोक में गोशब्द का व्यवहार 'यह

गाय है' इस प्रकार विधिरूप से ही होता है, निषेधरूप से नहीं।

पूर्वपक्ष में 'अन्यदेवेन्द्रियग्राह्यमन्यच्छब्दस्य गोचरः' इत्यादि जो कहा गया है वह भी युक्तिसङ्गत नहीं है, क्योंकि प्रतिभासभेद विषयभेद को सिद्ध नहीं करता है। अभिन्न विषय में भी स्वसामग्री की विशेषता के कारण प्रतिभास भेद देखा जाता है। जैसे दूर, आसन्न देशादि सामग्रीविशेष के कारण एक ही पादप विभिन्नरूप से प्रतिभास का विषय होता है। उसी प्रकार शाब्दप्रत्यय और प्रत्यक्षप्रत्यय में विषय का अभेद होने पर भी शब्द, इन्द्रिय आदि सामग्री के भेद से अस्पष्ट और स्पष्ट प्रतिभास देखा जाता है। इसी प्रकार अन्धे तथा दृष्टिसम्पन्न व्यक्ति को अभिन्न विषय में भी सामग्री के भेद से प्रतिभास भेद हो जाता है।

बौद्धों का यह कथन भी ठीक नहीं है कि जो शब्द अर्थ के होने पर देखे जाते हैं वही शब्द अर्थ के अभाव में भी देखे जाते हैं। यदि कुछ शब्द अर्थ के अभाव में भी पाये जाते हैं तो इतने मात्र से यह नहीं कहा जा सकता है कि शब्द का अर्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अर्थसहित शब्दों से अर्थरहित शब्द भिन्न होते हैं। जो शब्द अर्थ के अभाव में भी पाये जाते हैं उनका अर्थ के साथ व्यभिचार होने पर भी सब शब्दों का अर्थ के साथ व्यभिचार सिद्ध नहीं किया जा सकता है, अन्यथा स्वप्नप्रत्यय के भ्रान्त होने के कारण अन्य सब प्रत्ययों को भी भ्रान्त मानना पड़ेगा। शब्दों को अन्यापोह का वाचक मानना प्रतीतिविरुद्ध भी है। गोशब्द के कहने पर विधिरूप गौ की ही प्रतीति होती है, निषेधरूप अगोव्यावृत्ति की नहीं। यदि गो शब्द से अगोव्यावृत्ति की प्रतीति होती हो तो गोशब्द के सुनने के अनन्तर श्रोता को अगोव्यावृत्ति की प्रतीति होनी चाहिए; किन्तु ऐसा होता नहीं है। ऐसा भी नहीं है कि 'नद्यास्तीरे मोदकराशयः सन्ति' इत्यादि शब्दों का अर्थ के साथ व्यभिचार देखकर सब शब्दों का अर्थ के साथ व्यभिचार माना जाय। यदि ऐसा हो तो मरीचिका में होने वाले जलज्ञान में अप्रामाण्य देखकर सत्य जलज्ञान को भी अप्रमाण मानना पड़ेगा।

यथार्थ बात यह है कि आप्तप्रणीत शब्दों का अर्थ के साथ कभी व्यभिचार नहीं देखा जाता है। अतः जो पदार्थ निर्बाध बोध में जैसा प्रतिभासित होता है उसको वैसा ही मानना चाहिए। यतः अबाध शाब्दप्रत्यय

में सामान्यविशेषरूप घटादि पदार्थ प्रतिभासित होते हैं, अतः उनको शाब्दप्रत्यय का विषय मानना सर्वथा युक्तिसङ्गत है।

उपर्युक्त कथन का निष्कर्ष यह है कि शब्दों का वाच्य अन्यापोह नहीं है, किन्तु वास्तविक अर्थ ही शब्द का वाच्य होता है तथा शब्द और अर्थ में निर्विवादरूप से वाच्य-वाचकसम्बन्ध सिद्ध होता है। शब्दों के द्वारा बाह्य अर्थ की प्रतिपत्ति, प्रवृत्ति और प्राप्ति होती है। शब्द न तो वक्ता की विवक्षा के सूचक हैं और न अन्यापोह के वाचक हैं। इस प्रकार बौद्धों का अन्यापोहवाद निरस्त हो जाता है।

सामान्यमात्रवाच्यत्व-निरास :

पूर्वपक्ष– मीमांसक मानते हैं कि शाब्दप्रत्यय में सामान्यविशेषात्मक वस्तु का प्रतिभास नहीं होता है, परन्तु शब्दों का विषय सामान्यमात्र है, विशेष नहीं। शब्दसङ्केत सामान्य में ही होता है, विशेष में नहीं। क्योंकि एक व्यक्ति में प्रतिपन्न सामान्य को एकरूप होने के कारण सब व्यक्तियों में सामान्य का सङ्केत आसानी से हो जाता है; किन्तु विशेषों में शब्दसङ्केत सम्भव नहीं है, क्योंकि अनन्त व्यक्तियों की पूर्णरूप से उपलब्धि सम्भव न होने के कारण उनमें सङ्केत करना अशक्य है। यदि ऐसा माना जाय कि जितने विशेष उपलब्ध होते हैं उनमें सङ्केत किया जा सकता है, तो फिर दूसरे विशेषों में सङ्केत न हो सकने के कारण उनमें शाब्दव्यवहार कैसे होगा? हम लोगों को सम्पूर्ण विशेषों का उपलम्भ न तो क्रम से होता है और न युगपत्। और जब सब विशेष अनुपलब्ध हैं तो उनमें यह इसका वाचक है तथा यह इसका वाच्य है, ऐसा अभिधान-अभिधेय प्रतिपत्तिनियमरूप सङ्केत सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में वाच्य-वाचकरूप सङ्केत के न होने पर शब्द के श्रवण से अर्थ की प्रतिपत्ति नहीं हो सकेगी और तब शाब्दव्यवहार के उच्छेद का प्रसङ्ग प्राप्त होना अनिवार्य है। इसलिए शाब्दव्यवहार के इच्छुक लोगों को सामान्यमात्र में शब्दसङ्केत मानना चाहिए। इस कारण सामान्यमात्र को शब्द का वाच्य मानना आवश्यक है।

जो लोग सामान्यवान् अर्थ को शब्द का वाच्य मानते हैं विशेष को नहीं, उनसे हम (मीमांसक) पूछना चाहते हैं कि क्या शब्द सामान्य का कथन करके व्यक्ति को कहता है अथवा सामान्य के कथन के बिना

ही व्यक्ति का कथन करता है? प्रथम पक्ष स्वीकार करना तो ठीक नहीं है, क्योंकि सामान्यरूप विशेषण और व्यक्तिरूप विशेष्य की प्रतिपत्ति में ही शब्द की शक्ति क्षीण हो जाने से शब्द विशेष्य का प्रतिपादन कभी कर ही नहीं सकेगा। दूसरा पक्ष भी सङ्गत नहीं है। यदि शब्द सामान्य के कथन के बिना ही विशेष्य का कथन करता है तो शब्द सामान्यवान् विशेष्य का वाचक सिद्ध नहीं हो सकता है, इसलिए पहले शब्द के द्वारा सामान्यमात्र की प्रतीति होती है। बाद में अन्यथानुपपत्ति के द्वारा पिण्डविशेष की प्रतीति होती है, क्योंकि निराधार सामान्य की प्रतीति सम्भव नहीं है, ऐसा मीमांसकों का अभिमत है।

उत्तरपक्ष– मीमांसकों का उक्त कथन सर्वथा गलत है। उनका यह कथन सही नहीं है कि शब्दों का विषय सामान्यमात्र है। सङ्केत के अनुसार शब्द अर्थ का वाचक होता है और सङ्केत सामान्यवान् विशेष में होता है। केवल गोत्वादि सामान्य न तो प्रवृत्ति का विषय होता है और न वह वाहदोहादि (भारवहन एवं दोहन) अर्थक्रिया करने में समर्थ होता है। अतः केवल सामान्य में शाब्दव्यवहार सम्भव न होने से उसमें सङ्केत मानना निष्फल है। पूर्वपक्ष का यह कथन युक्तिसङ्गत नहीं है कि अनन्त होने के कारण विशेषों में सङ्केत सम्भव नहीं है, क्योंकि साध्य-साधन व्यक्तियों की तरह सदृशपरिणाम को प्राप्त वाच्य और वाचक व्यक्तियों के अनन्त होने पर भी तर्क प्रमाण के द्वारा उनमें वाच्य-वाचक सम्बन्ध का ज्ञान तथा सङ्केत किया जा सकता है। पूर्वपक्ष में कहा गया है कि क्या शब्द सामान्य का कथन करके व्यक्ति को कहता है अथवा सामान्य के कथन के बिना ही व्यक्ति का कथन करता है? उनका उक्त कथन समीचीन नहीं है, क्योंकि सामान्य और विशेष्य का एक साथ एक ही ज्ञान में प्रतिभास सम्भव होने से उनमें विशेषणविशेष्यभावरूप सम्बन्ध की प्रतीति हो जाती है। जैसे कि दण्ड और पुरुष में एक साथ और एक ही ज्ञान में विशेषणविशेष्यभावरूप सम्बन्ध की प्रतीति होती है। अतः जिस प्रकार दण्डी शब्द से दण्डविशिष्ट पुरुष की प्रतीति होती है, उसी प्रकार गोशब्द से गोत्वविशिष्ट गोपिण्ड की प्रतीति होती है।

कोई यहाँ शङ्का करता है कि गोशब्द के सुनने से शावलेयादि गोविशेषों की प्रतीति नहीं होती है, इसलिए शब्द का वाच्य विशेष नहीं माना जा

सकता है। उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि गोशब्द से शावलेयादि विशेषों की प्रतीति न होने पर भी गोत्वादिसामान्ययुक्त तथा ककुदादिमान् विशेष की प्रतीति होती ही है। इतना ही नहीं, अपितु गोत्वविशिष्ट शाबलेयादिविशेष शाबलेयादि शब्दों से प्रतीत होते ही हैं। **'गामानय'** (गाय को लाओ) इत्यादि प्रयोगों में गोत्व सामान्ययुक्त गौ में आनयन आदि क्रिया का सम्बन्ध देखा जाता है। इसलिए सामान्ययुक्त विशेष ही शब्द का वाच्य होता है, केवल सामान्य नहीं। यहाँ हम सामान्य में सङ्केत मानने वाले मीमांसक से एक प्रश्न पूछना चाहते हैं कि सामान्य में सङ्केतित शब्द सामान्य को कहता है अथवा असङ्केतित? असङ्केतित शब्द तो सामान्य को कह नहीं सकता है, क्योंकि ऐसा मानने में अतिप्रसङ्ग दोष आता है। अब यदि माना जाय कि सङ्केतित शब्द सामान्य को कहता है तो यहाँ भी प्रश्न होता है कि प्रतिपन्न सामान्य में सङ्केत होता है अथवा अप्रतिपन्न सामान्य में? यदि अप्रतिपन्न सामान्य में शब्दसङ्केत माना जाय तो पूर्ववत् अतिप्रसङ्ग दोष आता है। अब यदि ऐसा माना जाय कि प्रतिपन्न सामान्य में शब्दसङ्केत होता है तो यह जानना भी आवश्यक है कि सामान्य की प्रतिपत्ति कैसे होती है? नित्यादिस्वभावसम्पन्न तथा आश्रयरहित सामान्य की प्रतिपत्ति प्रत्यक्ष और अनुमान से सम्भव नहीं है। यहाँ एक बात यह भी विचारणीय है कि यदि शब्द से केवल सामान्य की ही प्रतीति होती है तो गृहीत-ग्राही होने के कारण शाब्दप्रत्यय अप्रमाण ही कहलायेगा, क्योंकि शब्द और अर्थ में सम्बन्ध ग्रहण करने वाले प्रमाण से ही सामान्य गृहीत होता है।

यहाँ एक बात और विचारणीय है कि यदि गोशब्द से गोत्वमात्र की प्रतीति होती है तो फिर किसी भी व्यक्तिविशेष में प्रतिपत्ता की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि व्यक्तिविशेष तो सर्वथा अप्रतिपन्न है। जिसके प्रतीत होने पर जो सर्वथा प्रतीत नहीं होता है तो वहाँ एक की प्रतीति से दूसरे में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। जैसे जल की प्रतीति होने पर अनल में प्रवृत्ति नहीं होती है। गोशब्द से गोत्वमात्र की प्रतीति मानने पर उसके द्वारा शाबलेयादि व्यक्तिविशेषों में प्रवृत्ति सम्भव नहीं है। अब यदि ऐसा माना जाय कि गोशब्द से जो गोत्वसामान्य की प्रतीति होती है वह गोव्यक्ति से सम्बद्ध सामान्य की ही प्रतीति है तो ऐसा मानने पर यह कैसे सिद्ध होता है कि सामान्य ही शब्द का वाच्य है। उपर्युक्त

कथन का निष्कर्ष यह है कि प्रमाण से जिस प्रकार की वस्तु की प्रतीति होती है उसको वैसा ही मानना चाहिए तथा गौ आदि शब्दों को सुनकर गौ आदि वस्तुओं की प्रतीति होने के कारण विशेषों को ही शब्दों का वाच्य मानना चाहिए, केवल सामान्य को नहीं। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि शब्द सामान्यविशेषात्मक अर्थ के वाचक होते हैं।

विधि-भावना-नियोगवाद :

पूर्वपक्ष– वेद में मुख्यरूप से विधि और निषेधरूप दो प्रकार के कार्यों का उपदेश दिया गया है। विधि और निषेध ही वेद का प्रतिपाद्य विषय है। '**अग्निष्टोमेन यजेत् स्वर्गकामः**' अर्थात् जिसको स्वर्ग प्राप्त करने की इच्छा हो वह अग्निष्टोम यज्ञ करे। यह विधिवाक्य है। '**सुरां न पिबेत्**' मदिरा को न पिओ। यह निषेधवाक्य है; किन्तु यहाँ '**यजेत्**' क्रिया का अर्थ क्या है, इस विषय में मीमांसकों में मतभेद पाया जाता है। यज् धातु से लिङ्लकार में '**यजेत्**' रूप बनता है। '**यजेत्**' में जो लिङ्लकार है उसका अर्थ क्या है, इस विषय में मीमांसकों के तीन मत हैं– विधिवादी, भावनावादी और नियोगवादी। विधिवादी वेदान्तियों के अनुसार '**यजेत्**' इस क्रियापद का अर्थ विधि है। विधि का स्वभाव अप्रवृत्त अर्थ में प्रवर्तन कराने का है। अनुष्ठेय अर्थ में विधि पुरुषों की प्रवर्तक होती है। **मीमांसाश्लोकवार्तिक** में विधि का लक्षण इस प्रकार बतलाया गया है– '**विधेर्लक्षणमेतावदप्रवृत्तप्रवर्तनम्।**' विधिवादी कहते हैं कि प्रवर्तक होने से शब्द ही विधि है तथा अन्वयव्यतिरेक से शब्द में प्रवर्तकत्व का ज्ञान होता है। यद्यपि सामान्य रूप से शब्दों में प्रवर्तकत्व माना गया है तथापि लिङ्, लोट् और तव्यत् प्रत्ययान्त शब्दों में प्रवर्तकत्व मानना युक्तिसङ्गत है। '**द्रष्टव्योऽयमात्मा श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः**'। अर्थात् इस आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यास करना चाहिए, इत्यादि वेदवाक्यों के द्वारा विधिरूप ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है। इसलिए ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य यज्ञ आदि का विधान वेदविहित नहीं है। ऐसा विधिवादियों का मत है।

*भावनावादी भाट्ट '**अग्निष्टोमेन यजेत्**' इस वाक्य का अर्थ भावनापरक करते हैं। भावना का लक्षण है–* '**भवितुर्भवनानुकूलो भावकव्यापारविशेषः भावना।**' अर्थात् जो कार्य आगे होने वाला है उसकी उत्पत्ति के अनुकूल

भावक (प्रयोजक) में रहने वाला जो व्यापार है उसी का नाम भावना है। भावना दो प्रकार की होती है– शाब्दीभावना और आर्थीभावना। **'यजेत्'** पद में जो लिङ्लकार है उससे होने वाली भावना को शाब्दीभावना कहते हैं और शाब्दीभावना से पुरुष में होने वाली भावना को आर्थीभावना कहते हैं। भाट्ट मत के अनुयायी मीमांसक कहते हैं कि **'यजेत्'** क्रियापद का अर्थ यज्ञ करना नहीं है; किन्तु यज्ञ करने की भावना करना है। मुझे अग्निष्टोम यज्ञ करना चाहिए, इस प्रकार के विचार का नाम भावना है। अर्थात् जो व्यक्ति स्वर्ग की इच्छा करता है उसे अग्निष्टोम यज्ञ करने की भावना करनी चाहिए। जिस समय यज्ञ करने का इच्छुक व्यक्ति **'यजेत्'** क्रियापद को सुनता है उस समय उसमें लिङ्लकारजन्य शाब्दीभावना उत्पन्न होती है। इसके बाद पुरुष का यज्ञ के लिए व्यापारविशेष होता है उसी का नाम आर्थीभावना है।

नियोगवादी प्राभाकर **'अग्निष्टोमेन यजेत्'** इस वाक्य का अर्थ नियोगपरक करते हैं। नियोग का लक्षण है– **'नियुक्तोऽहमनेनाग्निष्टो-मादिवाक्येनेति निरवशेषो हि नियोगः।'** अर्थात् स्वर्ग की इच्छा करने वाला अग्निष्टोम यज्ञ करे, इत्यादि वाक्य के श्रवण से मैं इस कार्य में लग गया हूँ, इस प्रकार कार्य में पूर्णरूप से तत्परता का नाम नियोग है। भावनावादी अग्निष्टोम यज्ञ करने की भावनामात्र करता है, परन्तु नियोगवादी अग्निष्टोम यज्ञ करने में प्रवृत्त हो जाता है। अतः यज्ञ करने में लग जाना, इसी का नाम नियोग है। इस प्रकार शब्द या वाक्य का वाच्य किसी ने विधि को माना है, किसी ने भावना को और किसी ने नियोग को।

उत्तरपक्ष– विधिवाद, भावनावाद और नियोगवाद– ये सब मत युक्तिसङ्गत नहीं हैं। उक्त मतों में परस्पर में विरोध होने के कारण वेद वाक्यों का वास्तविक अर्थ समझना अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है। इस प्रसङ्ग में निम्नलिखित श्लोक ध्यान देने योग्य हैं–

भावना यदि वाक्यार्थो नियोगो नेति का प्रमा।
तावुभौ यदि वाक्यार्थौ हतौ भट्टप्रभाकरौ।।
कार्येऽर्थे चोदनाज्ञानं स्वरूपे किन्न तत्प्रमा।
द्वयोश्चेद् हन्त तौ नष्टौ भट्टवेदान्तवादिनौ।।

यदि वाक्य का अर्थ भावना है तो नियोग को वाक्य का अर्थ न मानने में कौनसी युक्ति है? और यदि दोनों ही वाक्य के अर्थ हैं तो भट्ट और प्रभाकर के सिद्धान्तों में मतभेद नहीं होना चाहिए। यदि वेद वाक्य का अर्थ कार्य अर्थ (जो अर्थ किया जाने वाला है अर्थात् भावना) में है तो स्वरूप (विधि) में क्यों नहीं है? यदि भावना और विधि दोनों ही वेद वाक्य के अर्थ हैं तो भट्ट और वेदान्तवादियों में कोई मतभेद ही नहीं होना चाहिए।

उक्त कथन का तात्पर्य यही है कि उक्त मतों में स्पष्टरूप से विरोध मालूम पड़ रहा है। इसके साथ ही एक मत दूसरे मत का खण्डन भी करता है। भावनावादी भट्ट कहता है कि वाक्य का अर्थ नियोग नहीं हो सकता है। वाक्य का अर्थ नियोग करने पर अनेक दोष आते हैं। नियोग प्रमाण है अथवा प्रमेय है, वह उभयरूप है अथवा अनुभयरूप है। इसी प्रकार नियोग शब्द का व्यापार है अथवा पुरुष का व्यापार है, दोनों का व्यापार है अथवा दोनों के व्यापार से रहित है। यदि नियोग प्रमाणरूप है तो प्रमाण के चैतन्यरूप होने से विधि ही वाक्य का अर्थ हुआ। यदि शब्दव्यापार अथवा पुरुषव्यापार का नाम नियोग है तो शाब्दीभावना अथवा आर्थीभावना ही नियोग का अर्थ होने से भट्ट के मत की ही सिद्धि होती है। नियोग का स्वभाव यदि प्रवृत्ति कराने का है तो जैसे वह प्राभाकरों को यज्ञ में प्रवृत्त कराता है वैसे ही बौद्ध आदि को भी प्रवृत्त कराना चाहिए। और यदि नियोग का स्वभाव प्रवृत्ति कराने का नहीं है तो वह वाक्य का अर्थ हो ही नहीं सकता है। नियोग फलरहित है अथवा फलसहित? यदि वह फलरहित है तो बुद्धिमान् पुरुष नियोग द्वारा कार्य में प्रवृत्ति कैसे करेंगे? और यदि नियोग फलसहित है तो फल ही प्रवृत्ति का कारण हुआ, नियोग नहीं। इत्यादि प्रकार से नियोग को वाक्यार्थ मानने में अनेक दोष आते हैं।

जो दोष नियोग को वाक्यार्थ मानने में आते हैं वही दोष विधि को वाक्यार्थ मानने में भी आते हैं। विधि प्रमाणरूप है या प्रमेयरूप, वह शब्दव्यापाररूप है या अर्थव्यापाररूप। विधि को प्रमाणरूप मानने पर प्रमेय उससे भिन्न मानना पड़ेगा; किन्तु वेदान्त मत में ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ की सत्ता ही नहीं है। विधि को प्रमेयरूप मानने में भी यही

दोष है। विधि को शब्दव्यापाररूप मानने में शाब्दीभावनारूप और पुरुषव्यापाररूप मानने में आर्थीभावनारूप अर्थ का प्रतिपादन होने से भाट्ट मत की ही सिद्धि होती है। विधि का स्वभाव प्रवृत्ति कराने का है या नहीं। यदि विधि का स्वभाव प्रवृत्ति कराने का है तो उसे वेदान्तियों की तरह सबका प्रवर्तक होना चाहिए। और यदि विधि का स्वभाव प्रवृत्ति कराने का नहीं है तो वह वाक्यार्थ कैसे हो सकता है। इसी प्रकार विधि यदि फलरहित है तो उससे प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि प्रयोजन के बिना मूर्ख भी किसी कार्य में प्रवृत्ति नहीं करता है। और विधि को फलसहित मानने में फल से ही कार्य में प्रवृत्ति हो जायेगी, फिर विधि मानने की क्या आवश्यकता है?

इसी प्रकार भावना भी वेदवाक्य का अर्थ नहीं हो सकती है। भावना दो प्रकार की है– शब्दभावना और अर्थभावना। शब्दव्यापार का नाम शब्दभावना है। यहाँ इस प्रकार से दूषण दिया जाता है कि शब्द का व्यापार शब्द से अभिन्न है या भिन्न? यदि शब्दव्यापार शब्द से अभिन्न है तो उन दोनों में प्रतिपाद्य और प्रतिपादकभाव नहीं हो सकता है। शब्द और शब्दव्यापार अभिन्न होने से एक हुए और एक ही वस्तु में वाच्यवाचकभाव सम्भव नहीं है। यदि शब्दव्यापार शब्द से भिन्न माना जाय तो भी एक व्यापार के प्रतिपादन के लिए दूसरे व्यापार की आवश्यकता होगी और दूसरे के लिए तीसरे की। इस तरह अनवस्थादोष आने से भिन्न पक्ष भी सङ्गत नहीं है। शब्दभावना में दोष आने के कारण पुरुषव्यापाररूप अर्थभावना को वेदवाक्य का अर्थ मानना भी ठीक नहीं है। पुरुष के व्यापार का नाम अर्थभावना है, यदि इस प्रकार की अर्थभावना वेदवाक्य का अर्थ है तो नियोग का भी यही अर्थ है, फिर भाट्ट नियोग का खण्डन क्यों करते हैं? नियोग का अर्थ है कार्य में लगना। अर्थभावना का भी यही अर्थ है। तब भाट्ट और प्राभाकर में कोई मतभेद नहीं होना चाहिए।

इस प्रकार परस्पर में विरोध होने के कारण विधि, नियोग और भावना में कोई भी वेदवाक्य का निर्दोष अर्थ नहीं हो सकता है। अतः *जिस प्रकार परस्पर में विरुद्ध पदार्थ का प्रतिपादन करने के कारण सुगत, कपिल आदि सर्वज्ञ नहीं हैं, उसी प्रकार वेद भी परस्पर विरुद्ध अर्थ का* प्रतिपादक होने से प्रमाणभूत नहीं है। तात्पर्य यह है कि विधि, भावना

और नियोग में शब्दवाच्यत्व सिद्ध नहीं होता है। इसलिए सामान्यविशेषात्मक अर्थ ही शब्द का वाच्य मानना युक्तिसङ्गत है।

यहाँ बौद्ध की शङ्का है कि अर्थाभाव में भी श्रुति (आगमज्ञान) की प्रायः प्रवृत्ति देखी जाती है। अतः श्रुति को प्रमाण नहीं माना जा सकता है। इस शङ्का का उत्तर देने के लिए **अकलङ्कदेव** कहते हैं–

अर्थाभाव में श्रुति की प्रवृत्ति का निरास :

प्रायः श्रुतेर्विसंवादात् प्रतिबन्धमपश्यताम्।
सर्वत्र चेदनाश्वासः सोऽक्षलिङ्गधियां समः।।27।।

यदि शब्द और अर्थ में सहजयोग्यतारूप वाच्यवाचकसम्बन्ध को नहीं देखने वाले बौद्धों को प्रायः श्रुति में विसंवाद होने के कारण सब श्रुतियों (सत्य श्रुतियों) में अविश्वास होता है तो यह बात प्रत्यक्ष और अनुमान बुद्धियों में भी समान है। इन बुद्धियों में भी प्रायः विसंवाद देखा जाता है। इसलिए सभी प्रत्यक्षों और सभी अनुमानों में भी अप्रमाणता का प्रसङ्ग प्राप्त होगा।

बौद्ध केवल दो ही प्रमाण मानते हैं– प्रत्यक्ष और अनुमान। वे श्रुत (शब्द या आगम) को प्रमाण नहीं मानते हैं, क्योंकि शब्द और अर्थ में कोई सम्बन्ध नहीं है। इस विषय में हम (जैन) बौद्धों को बतलाना चाहते हैं कि प्रत्यक्षादि में प्रामाण्य क्यों माना गया है? प्रत्यक्ष में जो प्रामाण्य है वह अभ्रान्त, अव्यभिचारी आदि विशेषणों के बिना नहीं हो सकता है। वही प्रत्यक्ष प्रमाण होता है जो अभ्रान्त, अव्यभिचारी आदि विशेषणों से युक्त हो। किसी ज्ञान में व्यभिचार देखे जाने से सभी ज्ञानों में व्यभिचार मानना गलत है। अन्यथा द्विचन्द्रज्ञान में व्यभिचार पाये जाने से एकचन्द्रज्ञान आदि अन्य ज्ञानों में भी व्यभिचार मानना पड़ेगा। अनुमान ज्ञान में भी यही बात है। यदि कोई अनुमान विसंवादी है तो इसका मतलब यह नहीं हो सकता है कि सब अनुमान विसंवादी हैं। इसी प्रकार श्रुतज्ञान में भी ऐसे ही विशेषणों के द्वारा प्रामाण्य मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। हम (जैन) कह सकते हैं कि हर एक शब्दजन्य ज्ञान प्रमाण नहीं होता है, परन्तु वही शब्दज्ञान प्रमाण होता है जिसका वक्ता आप्तपुरुष हो।

जिस प्रकार तादात्म्य और तदुत्पत्ति सम्बन्ध के बिना ही कृत्तिकोदयादि हेतुओं से शकटोदयादि साध्य का ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार जिस अर्थ के साथ शब्द का तादात्म्यादि सम्बन्ध नहीं है ऐसे शब्द के द्वारा जो अर्थ का ज्ञान होता है वह अविसंवादी होने से प्रमाण है। किसी एक श्रुति के विषय में व्यभिचार देखे जाने से यदि सब श्रुतियों को अप्रमाण माना जाय तो केवल बाह्य अर्थ में ही नहीं, वक्ता के अभिप्राय सूचक वचनों में भी अप्रामाण्य मानना पड़ेगा।

बौद्ध कहते हैं कि शब्द अर्थ के वाचक न होकर वक्ता के अभिप्राय के सूचक होते हैं। इसी बात के निराकरण के लिए कहा गया है– **'वक्त्रभिप्रायेऽपि वाचः कथमनाश्वासो न स्यात् तत्रापि व्यभिचार-सम्भवात्।'** अर्थात् वचनों को वक्ता के अभिप्राय के सूचक मानने पर भी उनमें अविश्वास क्यों नहीं होगा, क्योंकि वहाँ भी व्यभिचार की सम्भावना बनी ही रहती है। कभी-कभी वक्ता का अभिप्राय भी विपरीतरूप में प्रकट हो जाता है। वक्ता कहना कुछ चाहता है; किन्तु उच्चारण आदि के दोष से वह उससे भिन्न अन्य कुछ कह देता है। अर्थात् अन्य किसी अर्थ की विवक्षा होने पर भी स्खलन के कारण वक्ता के मुख से कोई दूसरा ही शब्द निकल जाता है। अतः शब्द न तो विवक्षा के सूचक हैं और न विधि और न भावना आदि के वाचक। इत्यादि कथन से यही सिद्ध होता है कि प्रत्यक्ष और अनुमान की तरह श्रुति भी प्रमाण है।

इसी विषय में और भी हेतु देते हुए कहते हैं–

आप्तोक्तेर्हेतुवादाच्च बहिरर्थाविनिश्चये।
सत्येतरव्यवस्था का साधनेतरता कुतः।।28।।

आप्तपुरुष के वचन से और हेतुवाद (हेतुवचन) से बाह्य अर्थ का निश्चय न मानने पर यह सत्य है और यह असत्य है, ऐसी व्यवस्था कैसे होगी? तथा यह साधन है और यह असाधन है, ऐसी व्यवस्था भी कैसे बनेगी? अर्थात् यह सब व्यवस्था किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है।

प्रामाणिक पुरुष के वचन को आप्तवचन कहते हैं। बौद्ध मानते हैं

कि बुद्ध वचन सत्य हैं और कपिलादि के वचन असत्य हैं। तथा त्रिरूप लिङ्ग का वचन साधन है और पक्षादि का वचन असाधन है। इस प्रकार की व्यवस्था तभी बन सकती है जब आप्तवचन से और हेतु के वचन से बाह्य अर्थ का निश्चय माना जाय। ऐसा न मानने पर सुगत के वचनों में सत्यता और कपिलादि के वचनों में असत्यता का निश्चय नहीं हो सकता है। इसी प्रकार बौद्ध हेतु के वचन के द्वारा यदि बाह्य अर्थ का निश्चय नहीं मानते हैं तो **'सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्'** इस अनुमान में प्रयुक्त सत्त्व हेतु साधन है और **'नित्यः शब्दः कृतकत्वात्'** इस अनुमान में प्रयुक्त कृतकत्व हेतु असाधन है, ऐसी व्यवस्था कैसे बन सकती है? अर्थात् एक को साधन कहना और दूसरे को असाधन कहना सम्भव नहीं है, क्योंकि बहिरर्थ का अनिश्चय तो दोनों स्थानों में समान रूप से विद्यमान है। बौद्ध अविसंवादी चार आर्यसत्यों के उपदेश से बुद्ध में आप्तत्व की व्यवस्था करते हैं और विसंवादी प्रधानादि तत्त्वों के उपदेश से कपिलादि में अनाप्तत्व की व्यवस्था करते हैं। तथा त्रिरूप हेतु के वचन से स्वसाध्य की सिद्धि की व्यवस्था को और सदोष हेतु के वचन से साध्य की असिद्धि की व्यवस्था को मानते हैं। ऐसा मानकर भी वे कहते हैं कि वचन वक्ता के अभिप्राय को सूचित करते हैं, बाह्य अर्थ को नहीं। ऐसा कहने वाले **धर्मकीर्ति** आदि स्वस्थ कैसे हो सकते हैं? अर्थात् बौद्धों का उक्त कथन उनके स्वस्थ मस्तिष्क का सूचक नहीं है।

इतना सब बतला देने के बाद भी बौद्ध फिर कहते हैं कि हमने वक्ता के अभिप्राय में शब्दों का जो प्रामाण्य माना है वह व्यवहारीजनों के अनुरोध से ही ऐसा माना है, वास्तव में नहीं। इसी बात का उत्तर देने के लिए **अकलङ्कदेव** पुनः कहते हैं-

पुंसश्चित्राभिसन्धेश्चेद् वागर्थव्यभिचारिणी।
कार्यं दृष्टं विजातीयाच्छक्यं कारणभेदि किम्।।29।।

वक्ता पुरुष के अभिप्राय विचित्र (नाना) होने के कारण यदि वाक् (शब्द) अर्थ का व्यभिचारी माना जाय तो विजातीय कारण से भी कार्य की उत्पत्ति माननी पड़ेगी और तब कार्य कारण-विशेष का भेदी (भेद कराने वाला) कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता है।

पुरुषों के अभिप्राय विचित्र होते हैं। सराग पुरुष वीतराग की तरह चेष्टा करते हैं और वीतराग सराग की तरह। किसी के अभिप्राय का ज्ञान उसके देखने मात्र से नहीं हो सकता है। यदि किसी पुरुष के अभिप्राय में व्यभिचार देखा जाता है तो इतने मात्र से सब वचनों को अर्थ का व्यभिचारी मानना ठीक नहीं है। इसी प्रकार विजातीय कारण से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है। कार्य की उत्पत्ति सजातीय कारण से ही होती है। मिट्टी से घट उत्पन्न होता है और तन्तुओं से पट उत्पन्न होता है। किसी कार्य को देखकर यह जान लिया जाता है कि इस कार्य का कोई विशेष कारण है। किसी भी कारण से किसी भी कार्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। वक्ता के अभिप्राय का अनुसरण करने वाली श्रुतियों में क्वचित् बाह्य अर्थ का व्यभिचार देखकर सर्वत्र बाह्य अर्थ में अनाश्वास (अविश्वास) नहीं किया जा सकता है। क्योंकि श्रुति के द्वारा तादात्म्य और तदुत्पत्ति सम्बन्ध के बिना भी परोक्ष अर्थ की प्रतिपत्ति होती है।

वचनों का अर्थ में व्यभिचार मानने वाले बौद्धों से हम पूछना चाहते हैं कि 'यह वृक्ष है, शिंशपा होने से', 'यहाँ अग्नि है, धूम होने से' इत्यादि स्थलों में भी समाश्वास कैसे होगा? क्योंकि किसी देशविशेष में शिंशपा की लता ही उपलब्ध होती है, जैसे कि आम्रलता। उस देश में शिंशपारूप वृक्ष के न होने पर भी, वृक्ष के होने में कोई विरोध नहीं है। इसी प्रकार अग्नि का जन्म काष्ठ से होता है तथा मणि आदि सामग्री से भी होता है और ये दोनों अग्नियाँ सामग्रीभेद के कारण भिन्न हैं। तब यह कैसे कहा जा सकता है कि धूम अग्नि से ही उत्पन्न होता है, अर्थान्तर से नहीं, जिससे कि अव्यभिचरित कार्य हेतु धूम से अग्नि के अनुमान करने में विश्वास हो सके। इस दोष के निराकरण के लिए पूर्वपक्ष कह सकता है कि **'सुविवेचितं कार्यं कारणं न व्यभिचरति'**, अर्थात् अच्छी तरह से परीक्षित कार्य का कारण के साथ व्यभिचार नहीं होता है। इसका मतलब यह है कि स्वभाव विशेष और कार्यविशेषरूप हेतुओं का अपने साध्य के साथ कभी भी व्यभिचार नहीं होता है। यही कारण है कि वे अपने साध्य की सिद्धि करते हैं। यदि ऐसा है तो हम (जैन) भी कह सकते हैं कि श्रुत में भी अर्थ के साथ तादात्म्य और तदुत्पत्ति नहीं होने पर भी द्वीपान्तर आदि बाह्य अर्थ में उसका अविसंवाद पाया जाता है। इस कारण श्रुत में प्रामाण्य मानना युक्तिसङ्गत है। इतना विशेष अवश्य है

कि जो पुरुष राग,द्वेष और मोह से आक्रान्त होते हैं उनके वचनों में प्रामाण्य नहीं होता है, परन्तु जो यथार्थ वक्ता आप्त हैं उनके वचन अवश्य प्रमाण होते हैं। इसलिए आप्तवचनरूप श्रुत को अवश्य प्रमाण मानना चाहिए।

।।प्रथम प्रमाणप्रवेश के अन्तर्गत चतुर्थ आगमपरिच्छेद समाप्त।।

●

नयप्रवेश : पञ्चम नयपरिच्छेद

प्रमाण और प्रमाणाभास की परीक्षा करने के अनन्तर अब नय और नयाभास की परीक्षा करने का उपक्रम करते हुए कहते हैं-

नय और दुर्नय का स्वरूप :

भेदाभेदात्मके ज्ञेये भेदाभेदाभिसन्धयः।
ये तेऽपेक्षानपेक्षाभ्यां लक्ष्यन्ते नयदुर्नयाः।।30।।

भेद और अभेदरूप ज्ञेय में जो भेद और अभेदविषयक ज्ञाता के अभिप्राय होते हैं वे अभिप्राय ही परसापेक्ष होने से नय और परनिरपेक्ष होने से दुर्नय कहलाते हैं।

ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं। कहा भी है- **'नयो ज्ञातुरभिप्रायः'**। नय मुख्य रूप से दो हैं- द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। द्रव्य को विषय करने वाले नय को द्रव्यार्थिक और पर्याय को विषय करने वाले नय को पर्यायार्थिक कहते हैं। प्रमाण द्वारा परिच्छेद्य वस्तुतत्त्व को ज्ञेय कहते हैं। ज्ञेय भेद और अभेद रूप होता है। भेद का अर्थ है- विशेष या पर्याय और अभेद का अर्थ है- सामान्य या द्रव्य। इस दृष्टि से पर्याय को विशेष और द्रव्य को सामान्य कहा जाता है। प्रमाण का विषय सामान्यविशेषात्मक अथवा द्रव्यपर्यायात्मक होता है। संसार की समस्त वस्तुएँ ज्ञेय होने से भेदाभेदात्मक होती हैं। उस वस्तु के विषय में ज्ञाता का अभिप्राय कभी भेद को लेकर होता है और कभी अभेद को लेकर होता है। एक ज्ञाता वस्तु में स्थायित्व देखकर उसे नित्य कहता है तो दूसरा ज्ञाता उसी वस्तु में परिवर्तन को देखकर उसे अनित्य कहता है। ज्ञाता के ये विभिन्न प्रकार के अभिप्राय ही नय अथवा दुर्नय के रूप में परिणत हो जाते हैं।

यथार्थ में वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। जब किसी ज्ञाता का अभिप्राय अपने विवक्षित धर्म को मुख्यरूप से ग्रहण करके भी अन्य धर्मों का निराकरण नहीं करता है तब वह नय कहलाता है। तथा दुर्नय वह है जो वस्तु के अन्य धर्मों का निराकरण करके केवल एक धर्म का अस्तित्व स्वीकार करता है। नय वस्तु के अनन्त धर्मों में से मुख्यरूप से एक धर्म का प्रतिपादन करता है और शेष धर्मों का गौणरूप से द्योतन करता है। नय अन्य धर्मों का निराकरण

न करके अन्य धर्म सापेक्ष होता है। इसके विपरीत दुर्नय अन्य धर्मों का निराकरण करके केवल एक धर्म को ही स्वीकार करता है। इसलिए अन्य धर्मनिरपेक्ष नय मिथ्यानय कहलाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि ज्ञाता के अभिप्राय परस्पर सापेक्ष हैं तो वे नय कहलाते हैं और यदि वे अभिप्राय परस्पर निरपेक्ष हैं तो वे दुर्नय कहे जाते हैं। **आचार्य समन्तभद्र** ने **आप्तमीमांसा** में कहा भी है- **'निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्।'** अर्थात् स्याद्वादियों के मत में निरपेक्ष नय मिथ्या होते हैं, परन्तु सापेक्ष नय अर्थक्रियाकारी वस्तु कहलाते हैं।

यहाँ बौद्ध कहते हैं कि सकल पदार्थ देश, काल और आकार के भेद से अत्यन्त भिन्न हैं और अभेद नाम की कोई वस्तु नहीं है। तब द्रव्यार्थिकनय को अभेदाश्रित कैसे कहा जा सकता है? इस कथन का निराकरण करने के लिए कहते हैं-

द्रव्याश्रितनय के अभेदाश्रित होने का समर्थन :

जीवाजीवप्रभेदा यदन्तर्लीनाः तदस्ति सत्।
एकं यथा स्वनिर्भासि ज्ञानं जीवः स्वपर्ययैः।।31।।

जीव और जीव के समस्त प्रभेद (अवान्तरविशेष) जिसके अन्तःप्रविष्ट हैं ऐसा सत् (सत्तासामान्य) एक है। जैसे कि नीलादि अनेक आकार वाला चित्रज्ञान स्वनिर्भास की अपेक्षा से एक है। इसी प्रकार जीव और अजीव द्रव्य भी स्वपर्यायों से युक्त होकर भी सत्त्व की अपेक्षा से अभेदरूप हैं।

ऊपर जो स्वनिर्भासी ज्ञान का उदाहरण दिया गया है वह बौद्धों के चित्रज्ञान को लक्ष्य करके दिया गया है। बौद्धदर्शन में एक चित्रज्ञान माना गया है। यद्यपि चित्रज्ञान में नील, पीतादि अनेक आकार विद्यमान रहते हैं, फिर भी स्वनिर्भासरूप ज्ञान की अपेक्षा से उनमें एकत्व रहता है तथा चित्रज्ञान को एक माना जाता है। इसी प्रकार जीव और अजीव द्रव्य के जितने अवान्तर-विशेष हैं वे सब सत्त्व के अन्तर्गत हैं। चेतन-अचेतन सभी द्रव्यों में सत्त्व अनुस्यूत रहता है। द्रव्य का लक्षण है- **'सद् द्रव्यलक्षणम्'**। द्रव्य वह है जिसमें सत्त्व रहता है तथा उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त वस्तु को सत् कहा गया है। द्रव्य का एक लक्षण और भी है- **'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्'**। जिसमें गुण और पर्याय- दोनों रहते हैं वह द्रव्य कहलाता है। द्रव्य के दोनों लक्षण परस्पर

में भिन्न नहीं है, किन्तु वे एक दूसरे के पूरक हैं। द्रव्य की अपेक्षा से वस्तु अभेदरूप है और पर्याय की अपेक्षा से भेदरूप है। इसीलिए कहा गया है- **'भेदाभेदात्मके ज्ञेये'**। जिस प्रकार चित्रज्ञान के नीलादि भेद चित्रज्ञान के एकत्व में बाधक नहीं हैं, उसी प्रकार सत्ता सामान्य के जीव, अजीवादि भेद उसके एकत्व में बाधक नहीं होते हैं। सत्त्व की अपेक्षा से तो वे सभी एक हैं।

अब उस सत्ता सामान्य को ग्रहण करने वाले संग्रहनय का स्वरूप बतलाते हैं-

संग्रहनय का स्वरूप :

शुद्धं द्रव्यमभिप्रैति संग्रहस्तदभेदतः।
भेदानां नासदात्मैकोऽप्यस्ति भेदो विरोधतः।।32।।

संग्रहनय सब द्रव्यों में सत्तासामान्य के समान रूप से पाये जाने के कारण शुद्ध द्रव्य को विषय करता है। जीवादि द्रव्यों में ऐसा कोई भी भेद (विशेष) नहीं है जो असत्स्वरूप हो, क्योंकि ऐसा मानने में विरोध आता है। यदि वह असत् है तो वह सत् कैसे हो सकता है और यदि उसकी सत्ता है तो वह असत् कैसे हो सकता है।

यदि असन् कथमस्ति, अस्ति चेत् कथमसन्।

संग्रहनय कहता है कि चेतन और अचेतन स्वभावरूप सभी वस्तुएँ एक हैं, क्योंकि सभी में सत्तासामान्य समान रूप से विद्यमान रहता है। सत् रूप से सब पदार्थों में विद्यमान सत्तासामान्य का निराकरण सम्भव नहीं है, क्योंकि जीवादि द्रव्यों में कोई भी ऐसा विशेष नहीं है जो असत्स्वरूप हो। किसी को भी असत्स्वरूप मानने में विरोध आता है। कोई भी ज्ञान, चाहे वह प्रत्यक्षरूप हो या अनुमानरूप, सत्त्व के स्वरूप को नहीं जानकर द्रव्य, गुण आदि के स्वरूप को नहीं जान सकता है।

इस कथन का तात्पर्य यही है कि जितने द्रव्यविशेष हैं उन सबमें सत्तासामान्य का अन्वय पाया जाता है। कोई भी द्रव्य ऐसा नहीं है जो असत् हो। इसलिए सब द्रव्यों में सत्तासामान्य के रहने के कारण संग्रहनय *सत्तालक्षण रूप शुद्ध द्रव्य को ग्रहण करता है। सब द्रव्यों में 'सत् सत्' ऐसा* प्रत्यय होता है और इस प्रत्यय के द्वारा सब द्रव्यों का संग्रह हो जाता है।

संग्रह नय की यही विशेषता है कि वह एक शब्द के द्वारा सबका संग्रह कर लेता है। द्रव्य शब्द के द्वारा सब द्रव्यों का संग्रह हो जाता है, घट शब्द के द्वारा सब घटों का संग्रह हो जाता है और वृक्ष शब्द के द्वारा सब वृक्षों का संग्रह हो जाता है। इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिए।

यहाँ बौद्ध आशङ्का करते हैं कि हम तो चित्रज्ञान को एक और निरंश मानते हैं। इसलिए हमारे मत में ज्ञान में नीलपीतादि अनेक आकार होने पर भी उसके एकत्व में कोई बाधा नहीं आती है; किन्तु जैनमत में जीव, अजीव आदि द्रव्यों में एकत्व कैसे हो सकता है? यहाँ पुरुषाद्वैतवादी भी कहता है कि पुरुषमात्र ही वास्तविक तत्त्व है और जीव, अजीव आदि की सत्ता तो भ्रान्त है। इस प्रकार की आशङ्का का उत्तर देने के लिए **अकलङ्कदेव** कहते हैं–

चित्रज्ञान और पुरुषाद्वैत एक-एक नहीं :

प्रत्यक्षं बहिरन्तश्च भेदाज्ञानं सदात्मना।
द्रव्यं स्वलक्षणं शंसेद् भेदात् सामान्यलक्षणात्॥33॥

प्रत्यक्ष बहिरङ्ग में और अन्तरङ्ग में भेद का ग्रहण नहीं करता है। कारिका में '**भेदाज्ञानम्**' शब्द के द्वारा भेद का अग्रहण बतलाया गया है। प्रत्यक्ष तो सामान्यलक्षण वाले भेद के आश्रय से सत्स्वरूप से स्वलक्षणरूप द्रव्य का ही कथन करता है।

बौद्ध स्थिर, स्थूल आदि पदार्थ के ज्ञान को मिथ्या मानता है। इसी प्रकार ब्रह्माद्वैतवादी एकमात्र ब्रह्म को यथार्थ मानता है और जीव-अजीव आदि के भेद को मिथ्या मानता है, परन्तु जैन मानते हैं कि चेतन-अचेतनरूप समस्त वस्तु समूह सत्सामान्य की अपेक्षा से एक है और संग्रहनय सत्सामान्य को ग्रहण करता है। बौद्धों का निरंश क्षणों को सत् मानना सङ्गत नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष के द्वारा निरंश क्षणों का ग्रहण नहीं होता है। संसार में जो कुछ है वह सत् अवश्य है। सत्त्व का ग्रहण द्रव्यादिविशेष सापेक्ष होता है और द्रव्य का ग्रहण सत्त्वसापेक्ष होता है। बौद्धों का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष सत्सामान्य के बिना केवल भेद को ग्रहण नहीं कर सकता है। अतः प्रत्यक्ष के द्वारा द्रव्य की सिद्धि अवश्य होती है। तब द्रव्य का अथवा सत्सामान्य का ग्राहक संग्रहनय मिथ्या कैसे हो सकता है? इस बात को पहले ही विस्तार से

बतलाया जा चुका है कि क्षणिक और निरंश परमाणु रूप तत्त्व की अथवा पुरुषाद्वैतरूप तत्त्व की सिद्धि क्यों नहीं होती है। उपर्युक्त कथन का सारांश यही है कि प्रत्यक्ष स्वलक्षणरूप वास्तविक द्रव्य का कथन करता है और सत्तासामान्य की अपेक्षा से संग्रहनय द्रव्य का ग्राहक होता है।

यहाँ बौद्ध पुनः कहते हैं कि प्रतिक्षण विलक्षण ज्ञानादि क्षणों से व्यतिरिक्त जीवादि द्रव्य के सम्भव न होने से '**प्रत्यक्षं द्रव्यं शंसेत्**' प्रत्यक्ष द्रव्य का कथन करता है, जैनों का यह कथन शोभा नहीं देता है। बौद्धों के इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए कहते हैं–

ज्ञानादि क्षणों से व्यतिरिक्त अन्य द्रव्य का समर्थन :

सदसत्स्वार्थनिर्भासैः सहक्रमविवर्त्तिभिः।
दृश्यादृश्यैर्विभात्येकं भेदैः स्वयमभेदकैः।।34।।

जिस प्रकार बौद्धदर्शन में एक ही ज्ञान सद्रूप ज्ञानगत आकारों और असद्रूप अर्थाकारों के साथ शोभित होता है, उसी प्रकार जैनदर्शन में दृश्य और अदृश्य तथा सहवर्ती और क्रमवर्ती पर्यायों के साथ अभेद रूप से एक द्रव्य भी शोभित होता है। इसमें विरोध की कोई बात नहीं है, क्योंकि ये पर्यायें स्वयं भेदरूप नहीं हैं।

इस कारिका में यह बतलाया गया है कि ज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध क्षणिकज्ञान या चित्तज्ञान को एक मानते हैं। यद्यपि उसमें ज्ञानगत आकार सत् हैं और नीलपीतादिरूप अर्थाकार असत् हैं, फिर भी वह ज्ञान एक या अभिन्न है। उसके एक होने में कोई विरोध नहीं है। उसी प्रकार जैनदर्शन में सत्ता की अपेक्षा से द्रव्य एक है। यद्यपि द्रव्य में अनेक प्रकार की पर्यायें पायी जाती हैं, फिर भी वह द्रव्य बौद्धाभिमत ज्ञान की तरह एक ही रहता है।

पर्यायें दो प्रकार की होती हैं– व्यञ्जनपर्याय और अर्थपर्याय। व्यञ्जन पर्याय दृश्य होती है और अर्थपर्याय अदृश्य होती है। कारिका में '**सहक्रमविवर्त्तिभिः**' शब्द आया है। इसका तात्पर्य यह है कि द्रव्य गुण और पर्यायों से युक्त माना गया है। उनमें से गुण तो सहवर्ती होते हैं और पर्यायें क्रमवर्ती होती हैं। ऐसे गुण और पर्यायों से युक्त द्रव्य वैसे ही परमार्थसत् है जैसे ज्ञानाद्वैतवाद में प्रतिक्षण परिवर्तनशील ज्ञानक्षण परमार्थसत् हैं। *गुण और पर्यायवान् द्रव्य अनादिनिधन है और संग्रहनय*

की दृष्टि से एक है। इस कथन में किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है।

इस प्रकार प्रतिभास के बल से स्वमत की विधि और परमत का निषेध करके अब क्षणिकैकान्त में अर्थक्रियाकारित्व का निराकरण करने के लिए कहते हैं-

क्षणिकैकान्त में अर्थक्रियाकारित्व का निरास :

लक्षणं क्षणिकैकान्ते नार्थस्याऽर्थक्रिया सति।
कारणे कार्यभावश्चेत् कार्यकारणलक्षणम्।।35।।

अर्थ का लक्षण अर्थक्रिया है और क्षणिकैकान्त में वह अर्थक्रिया नहीं बन सकती है। यदि कारण के होने पर कार्य की उत्पत्ति होती है तो कार्य और कारण का लक्षण बन सकता है। परन्तु क्षणिकैकान्त में ऐसा सम्भव नहीं है तथा यदि ऐसा सम्भव है तो फिर क्षणिकैकान्त का अस्तित्व समाप्त हो जायेगा।

यहाँ यह बतलाया गया है कि क्षणिकैकान्त में अर्थ का लक्षण अर्थक्रिया नहीं हो सकता है, क्योंकि कार्य और कारण का जो लक्षण है वह क्षणिकैकान्त में बनता नहीं है। कार्य वह होता है जिसमें कारण का अन्वय और व्यतिरेक पाया जाय तथा कारण वह कहलाता है जिसके द्वारा कार्य की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार का लक्षण क्षणिकैकान्त में सम्भव नहीं है, क्योंकि क्षणिकैकान्तवादी कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति मानते हैं। इसका कारण यह है कि बौद्धदर्शन में प्रत्येक पदार्थ क्षणिक है। कारणरूप से माना गया अर्थ कार्य की उत्पत्ति के समय नष्ट हो जाता है। जब कारण का अस्तित्व ही नहीं रहा तब उसके द्वारा कार्य कैसे उत्पन्न होगा? यथार्थ बात यह है कि कारण के होने पर ही कार्य की उत्पत्ति होती है, कारण के अभाव में नहीं।

बौद्ध अक्षणिक पदार्थ में अर्थक्रिया का निराकरण करने के लिए कहते हैं कि नित्य पदार्थ न तो क्रम से अर्थक्रिया करता है और न युगपत्, क्योंकि ऐसा मानने में अनेक दोष आते हैं। इसी बात को हम क्षणिक अर्थ के विषय में भी कह सकते हैं कि वह भी न तो क्रम से अर्थक्रिया कर सकता है और न युगपत्। ऐसी स्थिति में अर्थक्रियालक्षण सत्त्व की क्षणिक पदार्थ से व्यावृत्ति हो जाती है और क्षणिक पदार्थ से

सत्त्व की व्यावृत्ति हो जाने पर वह आकाशपुष्प की तरह असत् हो जायेगा। जब कारण भी असत् है और कार्य भी असत् है तब उनमें कार्यकारणभाव कैसे सिद्ध होगा? तात्पर्य यह है कि क्षणिकैकान्त में कार्यकारण का लक्षण घटित नहीं होता है, क्योंकि कारण और कार्य का काल भिन्न-भिन्न है। यदि कारण और कार्य का सद्भाव एक ही काल में माना जाय तो ऐसी स्थिति में क्षणभङ्ग के भङ्ग का प्रसङ्ग प्राप्त होता है। अर्थात् तब पदार्थ क्षणिक न होकर कथञ्चित् नित्य सिद्ध हो जाता है।

यहाँ बौद्ध कहते हैं कि 'जिसके होने पर जो होता है वह उसका कार्य है'। इसका मतलब यही है कि कारण के होने पर कार्य होता है। कारण पूर्वक्षण में रहता है और कार्य उत्तरक्षण में होता है, ऐसा मानने में कोई विरोध नहीं। यदि कार्य और कारण का काल एक ही हो तो उनमें कार्यकारणभाव नहीं बन सकता है, जैसे एक ही समय में होने वाले गाय के दोनों सींगों में कार्यकारणभाव नहीं होता है।

बौद्धों के इस कथन का उत्तर देने के लिए कहते हैं–

कार्योत्पत्तिर्विरुद्धा चेत् स्वयं कारणसत्तया।
युज्येत क्षणिकेऽर्थेऽर्थक्रियाऽसम्भवसाधनम्।।36।।

यदि कार्य की उत्पत्ति स्वयं कारण की सत्ता से विरुद्ध है तो क्षणिक अर्थ में अर्थक्रिया को असम्भव सिद्ध करना उपयुक्त है।

बौद्धदर्शन की मान्यता है कि कारण का अभाव होने पर ही कार्य की उत्पत्ति होती है, क्योंकि सब पदार्थ क्षणिक हैं। प्रत्येक पदार्थ एक क्षण ठहरता है और दूसरे क्षण में नष्ट हो जाता है। कारण भी एक क्षण ठहरता है तथा कार्य की उत्पत्ति के समय उसका अस्तित्व नहीं रहता है। बौद्धों की इस मान्यता का निराकरण करने के लिए जैनदर्शन का कथन है कि क्या कारण की सत्ता के साथ कार्य की उत्पत्ति का विरोध है, जिसके कारण कार्य को अपनी उत्पत्ति के लिए कारण के अभाव की प्रतीक्षा करनी पड़े। अर्थात् जब कारण का अभाव हो जाय तब कार्य की उत्पत्ति हो सके, परन्तु कार्य की उत्पत्ति कारण के अभाव की प्रतीक्षा नहीं करती है। इसके विपरीत कारण के सद्भाव में ही कार्य की उत्पत्ति होती है। यदि कारण का अभाव होने पर ही कार्य निष्पन्न होता हो तो वह कार्य कारण के बिना ही उत्पन्न कहलायेगा

तथा ऐसे कार्य में देश, काल और स्वभाव का कोई नियम नहीं बनेगा। जो अकारण है उसके सर्वत्र सर्वदा और सर्वथा उत्पन्न होने का प्रसङ्ग प्राप्त होगा। एक बात और द्रष्टव्य है। बौद्धदर्शन के अनुसार भाव और अभाव का परस्पर में कार्यकारणभाव प्राप्त होगा, क्योंकि कार्य अपनी उत्पत्ति में कारण के अभाव की अपेक्षा करता है। इस दृष्टि से अभाव कारण हुआ और भाव कार्य हुआ। अतः भाव और अभाव में कार्यकारणभाव मानना अनिवार्य है, परन्तु अभाव किसी का कारण नहीं होता है। क्षणिकवादी बौद्ध नित्य पदार्थ में अर्थक्रिया का निषेध करने के लिए कहते हैं कि नित्य पदार्थ न तो क्रम से अर्थक्रिया कर सकता है और न युगपत्। इसके उत्तर में हम (जैन) भी कह सकते हैं कि क्षणिक अर्थ न तो क्रम से अर्थक्रिया करता है और न युगपत्।

उपर्युक्त कथन का निष्कर्ष यह है कि कार्य की उत्पत्ति कारण के सद्भाव में ही होती है, कारण के अभाव में नहीं। तथा कार्य के काल में कारण का सद्भाव आवश्यक है। इसके बिना त्रिकाल में भी कार्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि कोई भी पदार्थ न तो सर्वथा नित्य है और न सर्वथा क्षणिक, अपितु प्रत्येक पदार्थ कथञ्चित् नित्य और कथञ्चित् क्षणिक है। और ऐसा ही पदार्थ अर्थक्रिया करने में समर्थ होता है। जो पदार्थ सर्वथा नित्य है वह कोई भी अर्थक्रिया नहीं कर सकता है। इसी तरह सर्वथा क्षणिक अर्थ भी किसी भी प्रकार की अर्थक्रिया करने में समर्थ नहीं होता है।

यहाँ बौद्ध पुनः कहना चाहते हैं कि असत् कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है। यदि कार्यकाल में अविद्यमान कारण से कार्य की उत्पत्ति न मानी जाय तो जाग्रद् अवस्था का विज्ञान प्रबोध अवस्था के विज्ञान का कारण कैसे होगा? तथा आगे होने वाला मरण आज होने वाले अरिष्ट (अपशकुन) का कारण कैसे होगा? बौद्धों के इस कथन का उत्तर देने के लिए कहते हैं-

असत् कारण से कार्य की उत्पत्ति का निरास :

यथैकं भिन्नदेशार्थान् कुर्याद् व्याप्नोति वा सकृत्।
तथैकं भिन्नकालार्थान् कुर्याद् व्याप्नोति वा क्रमात्।।37।।

जिस प्रकार सौगत अभिमत एक क्षणिक स्वलक्षण विभिन्न देशवर्ती

कार्यों को सकृत् (एक साथ या एक क्षण में) कर देता है तथा एक ज्ञान विभिन्न नीलादि आकारों को व्याप्त कर लेता है, उसी प्रकार जैनाभिमत एक द्रव्य क्रम से (काल भेद से) विभिन्न कालवर्ती कार्यों को करता है तथा उनको व्याप्त भी करता है अर्थात् वह पूर्व आकार का परिहार, उत्तर आकार की प्राप्ति और ध्रौव्यरूप से परिणमित होता है।

इस कारिका में बौद्धों का उदाहरण देकर जैनमत का समर्थन किया गया है। बौद्ध मानते हैं कि एक निरंश और क्षणिक पदार्थ भिन्न देशवर्ती अनेक कार्यों को एक साथ करता है। जैसे एक प्रदीपक्षण प्रमाता में प्रदीपविषयक ज्ञान, तैलपात्र में तैलशोष, वर्तिकादाह आदि विभिन्न देशवर्ती अनेक कार्यों को एक साथ करता है, क्योंकि उन कार्यों को करने का उसका ऐसा स्वभाव है। सामग्री के भेद से कार्यभेद होने पर भी उसके कारण में स्वभावभेद नहीं होता है। उसी प्रकार जैनाभिमत एक अक्षणिक पदार्थ भी जो कार्य जिस समय उत्पन्न होने वाला है उस कार्य को उसी समय करता है, क्योंकि उस कार्य को करने का उसका ऐसा ही स्वभाव है। एक नित्य द्रव्य विभिन्न कालवर्ती अनेक कार्यों को क्रम से करता है, ऐसा मानने में कोई विरोध भी नहीं है। जिस प्रकार एक चित्रज्ञान अपने नील-पीतादि आकारों को व्याप्त करता है, गुणी गुणों को व्याप्त करता है और अवयवी अवयवों को व्याप्त करता है, उसी प्रकार एक द्रव्य अपनी विभिन्न कालवर्ती अनेक सुखादि पर्यायों को व्याप्त करता है। वे पर्यायें उस द्रव्य से सर्वथा भिन्न नहीं हैं।

बौद्धों की यह मान्यता ठीक नहीं है कि काल के व्यवधान में भी कार्यकारणभाव होता है। बौद्ध मानते हैं कि आगे होने वाला मरण आज होने वाले अरिष्ट का हेतु होता है। कितनी विचित्र बात है कि एक वर्ष बाद होने वाला मरण एक वर्ष पहले हुए अरिष्ट का हेतु होता है। यहाँ काल का व्यवधान तो है ही, इसके साथ यह भी विचित्रता है कि कार्य पहले हो गया और उसका कारण बहुत समय बाद अस्तित्व में आयेगा। इसी प्रकार बौद्धों की एक मान्यता यह भी है कि *अतीत जाग्रत् बोध* (सोने से पहले का ज्ञान) उद्बोध (प्रातःकाल जागने के समय का ज्ञान) का हेतु होता है। बौद्ध मानते हैं कि सुप्तावस्था में ज्ञान नहीं रहता है। अतः सोने के पहले जो ज्ञान था वही ज्ञान जागने के समय के ज्ञान

का हेतु होता है। यहाँ भी काल के व्यवधान में कार्यकारणसम्बन्ध माना गया है। काल के व्यवधान में कार्यकारणसम्बन्ध मानना एक बड़ी ही विचित्र और गलत बात है। बौद्धों की यह बात भी सर्वथा गलत है कि सुप्तावस्था में ज्ञान नहीं रहता है।

यथार्थ बात यह है कि दो पदार्थों में कार्यकारणभाव का होना कारण के व्यापार के आश्रित है। कारण का व्यापार होने पर ही कार्य की उत्पत्ति होती है। ऐसा सम्भव नहीं है कि कारण के व्यापार के अभाव में भी कार्य की उत्पत्ति हो जाय। बौद्धों के यहाँ तो मरणरूप कारण के व्यापार के अभाव में ही अरिष्टरूप कार्य सम्पन्न हो जाता है। इसी तरह जाग्रद् बोधरूप कारण के बिना ही उद्बोधरूप कार्य हो जाता है, ऐसा मानना सर्वथा प्रतीति विरुद्ध है। अतः दो पदार्थों में कार्यकारणभाव तभी बन सकता है जब पहले कारण का व्यापार हो और उसके बाद कार्य की उत्पत्ति। काल के व्यवधान में तो कार्यकारणभाव त्रिकाल में भी सम्भव नहीं है। अब संग्रहनय का उपसंहार करने के साथ ही संग्रहाभास का स्वरूप बतलाने के लिए कहते हैं–

संग्रहाभास का स्वरूप :

संग्रहः सर्वभेदैक्यमभिप्रैति सदात्मना।
ब्रह्मवादस्तदाभासः स्वार्थभेदनिराकृतेः।।38।।

संग्रहनय जीव, अजीव आदि सब तत्त्वों को सत्ता की दृष्टि से एक मानता है। जैसे जीव सत् है वैसे अजीव भी सत् है। अतः सत्ता की दृष्टि से दोनों एक तथा अभिन्न हैं। कोई भी तत्त्व चाहे चेतन हो या अचेतन, वह असत् नहीं हो सकता है। उसके असत् होने में विरोध आता है। जो द्रव्यादि जिस रूप (सदादिरूप) होता है वह उसी रूप होता है, वह अन्यरूप नहीं हो सकता है। अतः सदात्मक द्रव्य के विशेष भी सदात्मक ही होते हैं, अन्य प्रागभावादिरूप नहीं। इसलिए संग्रहनय सन्मात्रप्रधान होने से सब सत् पदार्थों को विषय कर लेता है।

यहाँ ब्रह्मवादी कह सकता है कि ब्रह्मवाद भी तो सन्मात्र को विषय करता है। तब उसे भी संग्रहनय का विषय मान लीजिए। इसके उत्तर में हमारा कथन यह है कि ब्रह्मवाद संग्रहनय का विषय नहीं हो सकता

है, वह तो संग्रहनयाभास का विषय है। इसका कारण यह है कि ब्रह्मवाद केवल सन्मात्र तत्त्व को स्वीकार करता है और उसके विशेष जीवादि भेदों को नहीं मानता या उनका निराकरण करता है। परन्तु हमारा संग्रहनय जीवादिविशेष तत्त्वों का निराकरण न करके सत्ता की अपेक्षा से उनमें अभेद स्वीकार करता है। संग्रह और संग्रहाभास में यही अन्तर है।

नैगम और नैगमाभास का स्वरूप :

> **अन्योन्यगुणभूतैकभेदाभेदप्ररूपणात् ।**
> **नैगमोऽर्थान्तरत्वोक्तौ नैगमाभास इष्यते ।।39।।**

जो भेद और अभेद में से परस्पर एक को गौण और दूसरे को प्रधान करके कहता है वह नैगमनय है और जो सर्वथा भेद को कहता है वह नैगमाभास है।

नैगम शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है– **'नैकं गमः नैगमः'**। अर्थात् जो केवल एक को ही प्राप्त नहीं होता है, अपितु अनेक को प्राप्त होता है वह नैगमनय कहलाता है। इस नय के द्वारा गुण-गुणी आदि में से कभी गुणी को मुख्य मान लिया जाता है और उस समय गुणों को गौण मान लेते हैं। इसके विपरीत कभी गुणों को मुख्य और गुणी को गौण मान लिया जाता है। द्रव्य और पर्यायों में परस्पर में कथञ्चित् भेद और अभेद है। इनमें से कभी एक प्रधान होता है और दूसरा अप्रधान। द्रव्य और पर्यायों में भेद और अभेद की प्ररूपणा करते समय जब किसी एक की प्ररूपणा करते हैं तब उस समय वह प्रधान होता है और दूसरा गौण हो जाता है। कभी भेद प्रधान होता है और कभी अभेद। जब हम जीव के स्वरूप का निरूपण करते हैं तब उस समय जीव प्रधान होता है और उसके ज्ञानादि गुण अप्रधान होते हैं। और जब हम जीव के ज्ञान-सुखादि गुणों की प्ररूपणा करते हैं तब ज्ञानादि गुण प्रधान होते हैं और उस समय जीव गौण हो जाता है। इस प्रकार नैगमनय द्रव्यादि में मुख्य और गौण की कल्पना करके उनका प्रतिपादन करता है।

इसके विपरीत नैगमाभास जीव और उसके ज्ञानादि गुणों में अत्यन्त भेद की प्ररूपणा करता है। जिस प्रकार ब्रह्माद्वैत संग्रहाभास है उसी प्रकार यौगाभिमत गुण-गुणी, अवयव-अवयवी आदि में अत्यन्त भेद नैगमाभास

है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जीव और उसके गुणों में न सर्वथा भेद है और न सर्वथा अभेद है, किन्तु कथञ्चित् भेदाभेद है। गुण-गुणी, अवयव-अवयवी आदि में सर्वथा भेद मानने पर गुणों की गुणी में, अवयवों की अवयवी में वृत्ति का विरोध प्राप्त होता है। यदि गुण गुणी से सर्वथा भिन्न हैं तो वे गुणी में कैसे रहते हैं? उनमें समवाय सम्बन्ध भी नहीं बन सकता है, इस बात को पहले ही बतलाया जा चुका है। अतः गुण-गुणी, अवयव-अवयवी आदि में सर्वथा भेद मानना उचित नहीं है। गुण-गुणी आदि में भेदैकान्त का निराकरण करके अब सत्ता और सत्तावान् में भेदैकान्त का निराकरण करने के लिए कहते हैं–

सत्ता और सत्तावान् में भेदैकान्त-निरास :

> **स्वतोऽर्थाः सन्तु सत्तावत् सत्तया किं सदात्मनाम्।**
> **असदात्मसु नैषा स्यात् सर्वथातिप्रसङ्गतः।।40।।**

द्रव्यादि पदार्थ सत्ता की तरह स्वतः सत् हैं और जो स्वतः सदात्मक हैं उन्हें सत्ता से क्या प्रयोजन हो सकता है? यदि पदार्थ स्वतः असदात्मक हैं तो उनमें सत्ता नहीं रह सकती है। असत् पदार्थ को सत्ता के सम्बन्ध से सत् मानने पर अतिप्रसङ्ग दोष आता है।

नैयायिक-वैशेषिक द्रव्य, गुण और कर्म को सत्तासामान्य (पर सामान्य) के सम्बन्ध से सत् मानते हैं, परन्तु द्रव्यत्वादिसामान्य (अपर सामान्य), विशेष और समवाय को स्वतः सत् मानते हैं। यहाँ हम यौगों से पूछना चाहते हैं कि द्रव्यादि पदार्थ स्वतः सत् हैं या असत् हैं? यदि वे सत्ता की तरह स्वतः सत् हैं तो सत्स्वरूप उन पदार्थों को सत्ता के सम्बन्ध से क्या प्रयोजन है? जिस तरह स्वयं सत् सत्ता के लिए दूसरी सत्ता से कोई प्रयोजन नहीं है, उसी तरह स्वतः सत् पदार्थों को भी सत्ता का सम्बन्ध निष्प्रयोजन है। जब वे स्वतः सत् हैं तो उनमें सत्ता के सम्बन्ध की कोई आवश्यकता ही नहीं है। जिस प्रकार द्रव्यत्वादि-सामान्य, विशेष और समवाय– ये तीन पदार्थ स्वतः सत् होने से इनमें सत्ता के सम्बन्ध की कोई आवश्यकता नहीं होती है, उसी प्रकार द्रव्य, गुण और कर्म में भी सत्तासम्बन्ध मानना निरर्थक है।

अब यदि ऐसा माना जाता है कि द्रव्य, गुण और कर्म– ये तीन पदार्थ स्वतः असत्स्वरूप हैं। तब तो उनमें सत्ता का सम्बन्ध सम्भव ही

नहीं है। यदि असत् पदार्थ में भी सत्ता का सम्बन्ध माना जाय तो खरविषाण, आकाशकुसुम आदि में भी सत्ता का सम्बन्ध मानना चाहिए और ऐसी स्थिति में खरविषाणादि भी सत् कहलायेंगे। अतः ऐसा मानना ही प्रमाणसङ्गत है कि सत्ता सत्तावान् से पृथक् नहीं है तथा सत्ता और सत्तावान् में कथञ्चित् तादात्म्य सम्बन्ध है।

यहाँ ब्रह्माद्वैतवादी और यौग कहते हैं कि वस्तुव्यवस्था प्रमाणाधीन है। ब्रह्मवाद और भेदवाद भी प्रमाणसिद्ध हैं। अतः उनके ग्राहक नयों को नयाभास कहना गलत है। इसका उत्तर देने के लिए आचार्य कहते हैं-

ब्रह्मवाद और भेदवाद के ग्राहक नय नयाभास नहीं :

प्रामाण्यं व्यवहाराद्धि स न स्यात् तत्त्वतस्तयोः।
मिथ्यैकान्ते विशेषो वा कः स्वपक्षविपक्षयोः।।41।।

व्यवहार से ही प्रामाण्य की व्यवस्था होती है, परन्तु संग्रहाभास (निरपेक्ष अभेदैकान्त) और नैगमाभास (सर्वथा भेदैकान्त) में वास्तविक व्यवहार सम्भव नहीं है। यदि उनमें अवास्तविक व्यवहार माना जाय तो व्यवहार के मिथ्या होने से व्यवहाराश्रित प्रमाण भी मिथ्या होगा और ऐसा होने पर स्वपक्ष और विपक्ष में क्या विशेष (भेद) रहेगा? जब प्रमाण मिथ्या है तो स्वपक्ष की तरह विपक्ष को भी सिद्ध मानना चाहिए अथवा विपक्ष की तरह स्वपक्ष को भी असिद्ध मानिए।

ब्रह्माद्वैतवादी पर्यायरहित शुद्ध द्रव्य ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं। बौद्ध द्रव्यरहित शुद्ध पर्याय क्षणिक-निरंश परमाणु का प्रतिपादन करते हैं। नैयायिक अन्योन्यनिरपेक्ष गुण-गुणी, अवयव-अवयवी आदि को बतलाते हैं। इत्यादि प्रकार के तत्त्वों की व्यवस्था के लिए प्रमाण का होना आवश्यक है तथा प्रमाण के प्रामाण्य की व्यवस्था का आधार व्यवहार है और व्यवहार संग्रहनय की दृष्टि से मिथ्या है, क्योंकि व्यवहार भेदग्राही है और संग्रहनय अभेदग्राही है। ऐसी स्थिति में दोनों ही मिथ्यासिद्ध होते हैं। संग्रहनय की दृष्टि से व्यवहार मिथ्या है तथा प्रमाण को व्यवहाराश्रित होने से प्रमाण के अभाव में संग्रह भी मिथ्या है। इस प्रकार जब दोनों ही मिथ्या हैं तब अभेदवाद में संग्रहनय की व्यवस्था कैसे की जा सकती है? अर्थात् *उसे तो प्रमाण के अभाव में संग्रहाभास मानना ही पड़ता है। इसी प्रकार*

नैगमाभास में भी प्रमाण का अभाव है।

नैयायिक कहते हैं कि अवयवी अपने अवयवों में रहता है, गुण गुणी में रहते हैं, आत्मा स्वयं अज्ञ है, किन्तु ज्ञान के समवाय से वह 'ज्ञ' कहलाता है। इत्यादि कथन नैगमाभास हैं। इस प्रकार के कथन को सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है। लौकिकजन कहते हैं– 'गाय के सींग हैं', 'वृक्ष में शाखा हैं'। इसी बात को नैयायिक मत के अनुसार इस प्रकार कहा जायेगा– 'सींग में गौ है, शाखा में वृक्ष है'। ऐसा कथन लोक में प्रतीतिविरुद्ध सिद्ध होता है। इसी तरह यदि आत्मा स्वयं अज्ञ है तो वह ज्ञान के समवाय से 'ज्ञ' कैसे हो सकता है? यदि ज्ञान के समवाय से अज्ञ भी 'ज्ञ' हो सकता है तो समवाय को भी ज्ञान के समवाय से 'ज्ञ' मानना चाहिए। नैयायिकों के अनुसार गुण गुणी से सर्वथा पृथक् हैं तथा वे समवाय सम्बन्ध से गुणी में रहते हैं। उनका ऐसा कथन भी प्रमाणविरुद्ध है। गुण और गुणी में सर्वथा भेद नहीं है, अपितु कथञ्चित् भेद है। यथार्थतः गुण-गुणी आदि में समवाय सम्बन्ध न होकर तादात्म्य है। इस प्रकार यहाँ यह सिद्ध किया गया है कि ब्रह्माद्वैतवादियों का कथन संग्रहाभास और यौगों का कथन नैगमाभास है। उनके कथन को संग्रहनय और नैगमनय नहीं माना जा सकता है। अब व्यवहारनय और व्यवहाराभास का स्वरूप बतलाते हैं–

व्यवहारनय और व्यवहाराभास का स्वरूप :

व्यवहाराविसंवादी नयः स्याद् दुर्नयोऽन्यथा।
बहिरर्थोऽस्ति विज्ञप्तिमात्रं शून्यमितीदृशः।।42।।

जो नय व्यवहार का अविसंवादी है वह व्यवहारनय है। जैसे बाह्य पदार्थ की सत्ता है ऐसा कथन करना व्यवहारनय है। इसके विपरीत जो नय व्यवहार का विसंवादी होता है वह नय दुर्नय (व्यवहाराभास) कहलाता है। जैसे विज्ञप्तिमात्र ही तत्त्व है अथवा शून्यरूप ही तत्त्व है, इत्यादि प्रकार का कथन व्यवहाराभास कहलाता है।

प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों में जो प्रामाण्य होता है वह व्यवहार की अपेक्षा से होता है। यहाँ कार्यकारणभाव, साध्यसाधनभाव आदि की

व्यवस्था का नाम व्यवहार है तथा इसमें किसी अन्य प्रमाण से बाधा का न आना अविसंवाद है। अर्थ के तीन रूप होते हैं- वस्तुरूप, शब्दरूप और ज्ञानरूप। उत्पादव्ययध्रौव्य से जो युक्त है वह सत् है, जो गुणपर्याय वाला है, वह द्रव्य है, जो चैतन्यस्वरूप है वह जीव है। ये वस्तुरूप अर्थ हैं। सत्, द्रव्य, जीव आदि शब्द शब्दरूप अर्थ हैं और इनका ज्ञान ज्ञानरूप अर्थ है। व्यवहारनय वस्तु के इन तीनों ही रूपों को स्वीकार करता है। जो वस्तु के इन रूपों को स्वीकार नहीं करता है वह व्यवहारनयाभास है। जैसे- बौद्धदार्शनिकों का वैभाषिक मत बाह्य अर्थ की सत्ता मानता है, योगाचार मत विज्ञानमात्र तत्त्व को स्वीकार करता है तथा माध्यमिक मतवादी शून्यवाद को तत्त्व बतलाता है। इत्यादि प्रकार की मान्यता व्यवहाराभास है।

ऋजुसूत्रनय और ऋजुसूत्राभास का स्वरूप :

ऋजुसूत्रस्य पर्यायः प्रधानं चित्रसंविदः।
चेतनाणुसमूहत्वात् स्याद्भेदानुपलक्षणम्।।43।।

ऋजुसूत्रनय का प्रधान विषय वर्तमान पर्याय है। बौद्धदर्शन में अभिमत चित्रज्ञान तो चेतन अणुओं (ज्ञान के अविभागी) प्रतिच्छेदों का समूहरूप होने से ऋजुसूत्रनय का विषय नहीं हो सकता है। चित्रज्ञान नील,पीत आदि नाना आकारों के समुदायरूप होता है, परन्तु उसमें रहने वाले भेद का उपलक्षण (दर्शन) नहीं होता है।

ऋजुसूत्र शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है- '**ऋजु प्राञ्जलं वर्तमानक्षणमात्रं सूत्रयतीति ऋजुसूत्रः।**' इसका तात्पर्य यह है कि ऋजुसूत्रनय केवल वर्तमान क्षणवर्ती एक पर्याय को ग्रहण करता है तथा व्यवहार में अनुपयोगी होने के कारण वह अतीत और अनागत पर्यायों को ग्रहण नहीं करता है। यद्यपि ऋजुसूत्रनय केवल वर्तमान पर्याय को ग्रहण करता है, फिर भी वह अतीत तथा अनागत पर्यायों का निराकरण नहीं करता है। अतः अन्य पर्याय सापेक्ष होने से वह नय है। वही नय अन्य पर्याय निरपेक्ष हो जाने पर दुर्नय कहलाता है। द्रव्य की अविनाभावी वर्तमान पर्याय ऋजुसूत्रनय का विषय होती है; किन्तु सर्वथा द्रव्यनिरपेक्ष-पर्याय अवस्तु होने से ऋजुसूत्रनय का विषय नहीं हो सकती है।

यहाँ बौद्ध कह सकते हैं कि व्यवहार में उपयोगी चित्रज्ञान को ऋजुसूत्रनय का विषय मानने में क्या आपत्ति है? इस विषय में जैनदर्शन का कथन यह है कि नील, पीतादि अनेक आकाररूप ज्ञान को चित्रज्ञान कहते हैं। वह अनेक ज्ञानों के समुदायरूप होने के कारण ऋजुसूत्रनय का विषय नहीं हो सकता है। क्योंकि समुदाय प्रतिनियत व्यवहार में उपयोगी नहीं होता है। यहाँ कोई कह सकता है कि चित्रज्ञान में भेद की प्रतीति क्यों नहीं होती है,तो इसका उत्तर यह है कि जैसे लोहे के गोले में पर्यायभेद होने पर भी भेद की प्रतीति नहीं होती है, उसी प्रकार चित्रज्ञान में भी अंशभेद होने पर भी उसकी प्रतीति नहीं होती है। यहाँ एक बात और द्रष्टव्य है कि जिस प्रकार बाह्य में जड़ परमाणु स्थूलरूप एक असत् आकार को प्रदर्शित करते हैं, उसी प्रकार संवित्ति के परमाणु भी असत् स्वरूप को बतलाते हैं, वास्तविक स्वरूप को नहीं। इस प्रकार हम कह सकते है कि चित्रज्ञान का वास्तविक स्वरूप अनुभव में नहीं आता है। यही कारण है कि चित्रज्ञान ऋजुसूत्रनय का विषय नहीं हो सकता है। अतः बौद्धों द्वारा माना गया सर्वथा निरन्वय क्षणभङ्गवाद ऋजुसूत्राभास है।

शब्द, समभिरूढ़ और एवम्भूतनयों का स्वरूप :

कालकारकलिङ्गानां भेदाच्छब्दोऽर्थभेदकृत्।
अभिरूढस्तु पर्यायैरित्थंभूतः क्रियाश्रयः।।44।।

जो काल, कारक, लिङ्ग, संख्या, साधन आदि के भेद से अर्थ को भेदरूप ग्रहण करता है वह शब्दनय है। जो पर्याय के भेद से अर्थ को भेदरूप ग्रहण करता है वह समभिरूढ़नय है और जो विवक्षित क्रिया की प्रधानता से अर्थ को भेदरूप ग्रहण करता है वह एवम्भूतनय है।

शब्दनय– काल, कारक आदि के भेद से अर्थभेद का कथन करना शब्दनय कहलाता है। यह नय एक अर्थ के वाचक अनेक शब्दों का कालादि के भेद से भिन्न-भिन्न अर्थ स्वीकार करता है। हुआ, होता है और होगा, ये कालभेद के उदाहरण हैं। अतीत सम्बन्धी अर्थ 'हुआ' कहा जाता है, वर्तमान काल सम्बन्धी अर्थ 'होता है' कहा जाता है और आगामीकालसम्बन्धी

अर्थ 'होगा' कहलाता है। इस प्रकार शब्दनय काल के भेद से अर्थ को भेदरूप ग्रहण करता है, क्योंकि सत्ता के भेद के बिना अर्थ के सम्बन्ध में हुआ, होगा इत्यादि नहीं कहा जा सकता है।

कारक के भेद से भी शब्दनय अर्थ को भेदरूप ग्रहण करता है। जैसे पढ़ता है, वह देवदत्त को धन देता है, वह देवदत्त से धन पाता है, इत्यादि। यहाँ देवदत्त में कर्ता, कर्म आदि कारकों का प्रयोग किया गया है। धर्मभेद के कारण ही 'देवदत्त में कर्त्ता, कर्म आदि कारकों का प्रयोग सम्भव है। कर्त्ताकारक में प्रयुक्त देवदत्त अन्य है और कर्म आदि कारकों में प्रयुक्त देवदत्त भिन्न है। इसी तरह लिङ्गभेद से भी शब्दनय अर्थ का भिन्न-भिन्न रूप से कथन करता है। जैसे दारा शब्द स्त्रीलिङ्ग है। यहाँ शब्दनय लिङ्गभेद से अर्थभेद करता है। अर्थात् दारा शब्द के द्वारा कहा गया अर्थ अन्य है तथा कलत्र और भार्या शब्दों से कहा गया अर्थ पृथक्-पृथक् है। इसका तात्पर्य यह है कि तीनों लिङ्गवाचक शब्द एक ही अर्थ को नहीं कहते हैं। इसी तरह शब्दनय संख्या के भेद से भी अर्थभेद करता है। जैसे **'जलम्'** और **'आपः'**। ये दोनों शब्द जल के वाचक हैं, परन्तु **'जलम्'** एक वचन का प्रयोग है और **'आपः'** शब्द का प्रयोग बहुवचन में होता है। शब्दनय के अनुसार एकवचनान्त **'जलम्'** शब्द का अर्थ अन्य है और बहुवचनान्त **'आपः'** शब्द का अर्थ भिन्न है। इस प्रकार शब्दनय काल, कारक आदि के भेद से एक ही अर्थ को भिन्न-भिन्न रूप से ग्रहण करता है। लिङ्गादि का भेद होने पर भी उन शब्दों में अर्थभेद नहीं मानना शब्दनयाभास है।

समभिरूढ़नय– यह नय पर्याय के भेद से अर्थभेद मानता है। यह नय बतलाता है कि जब काल, कारक आदि के भेद से अर्थ में भेद किया जाता है तब पर्यायभेद से भी अर्थ में भेद किया जाना चाहिए। अर्थात् जहाँ अनेक शब्दों का एक अर्थ ग्रहण किया जाता है वहाँ वास्तव में उन शब्दों का एक अर्थ नहीं हो सकता है तथा प्रत्येक शब्द का पृथक्-पृथक् *अर्थ होना चाहिए। जैसे इन्द्र, शक्र और पुरन्दर– ये तीनों शब्द पर्यायवाची* हैं तथा स्वर्गाधिपति के वाचक हैं। इन तीनों शब्दों में पर्याय का भेद है। अतः पर्याय के भेद के कारण इन तीनों शब्दों का अर्थ भी भिन्न-भिन्न है। जो इन्द्र शब्द का अर्थ है वह शक्र शब्द का नहीं है तथा जो पुरन्दर

शब्द का अर्थ है वह इन्द्र और शक्र का नहीं है। वह आनन्द करने से इन्द्र कहलाता है, शक्तिशाली होने से शक्र कहा जाता है तथा पुरों (नगरों) का दारण (विनाश) करने के कारण उसे पुरन्दर कहते हैं। अतः समभिरूढ़नय की दृष्टि से इन्द्र, शक्र और पुरन्दर– ये तीनों शब्द पर्यायवाची होते हुए भी पृथक्-पृथक् अर्थ का कथन करते हैं। शब्दों में पर्यायभेद मानकर भी अर्थभेद नहीं मानना समभिरूढ़नयाभास है। जैसे शक्र, इन्द्र और पुरन्दर– इन तीनों शब्दों का वाच्य एक ही अर्थ मानना।

एवम्भूतनय– जो नय क्रिया के आश्रय से अर्थ में भेद का निरूपण करता है वह एवम्भूतनय है। एवम्भूतनय कहता है कि अर्थ में जिस समय जो क्रिया हो रही है उसी के आधार से उस शब्द का प्रयोग करना चाहिए। यहाँ शब्द की व्युत्पत्ति पर ध्यान दिया जाता है। '**गच्छतीति गौः**' गोशब्द की ऐसी व्युत्पत्ति होती है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार जब गौ चल रही हो तभी उसे गौ कहेंगे, बैठे या सोते समय नहीं। इसी प्रकार देवराज जिस समय शासन कर रहा हो तभी उसे शक्र कहेंगे, अन्य समय में नहीं। इस नय के अनुसार पूजा करते समय देवदत्त को पुजारी और अध्यापन कराते समय अध्यापक कहना चाहिए, दूसरे समय में नहीं। निष्कर्ष यह है कि एवम्भूतनय यह बतलाता है कि जिस समय जो व्यक्ति जैसी क्रिया कर रहा हो उस समय उसको वैसा ही कहना चाहिए, अन्य प्रकार से नहीं।

किसी क्रिया के काल में उस शब्द का प्रयोग न करना अथवा अन्य क्रिया के काल में उस शब्द का प्रयोग करना एवम्भूतनयाभास है। जैसे किसी व्यक्ति को देवपूजन करते समय अध्यापक कहना अथवा अध्यापन कराते समय पुजारी कहना एवम्भूतनयाभास है।

इन सात नयों में से प्रथम चार नय अर्थप्रधान होने से अर्थनय और शेष तीन नय शब्दप्रधान होने से शब्दनय कहलाते हैं। नैगम, संग्रह और व्यवहार– ये तीन नय द्रव्य को विषय करने के कारण द्रव्यार्थिक नय और शेष चार नय पर्याय को विषय करने के कारण पर्यायार्थिक नय कहलाते हैं।

नय के एकदेश प्रमाणत्व का समर्थन :

अब नय के विषय में एक विशेष प्रश्न होता है कि नय प्रमाण है

अप्रमाण? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि नय न तो प्रमाण है और न अप्रमाण; किन्तु वह प्रमाण का एक देश है। जैसे घट में भरे हुए समुद्र के जल को न तो समुद्र कह सकते हैं और न असमुद्र, परन्तु वह समुद्र का एक देश है। उसी प्रकार नय भी प्रमाण का एक देश है। प्रमाण, नय और दुर्नय के भेद को बतलाने वाला निम्नलिखित श्लोक ध्यान देने योग्य है। इस श्लोक को **अकलङ्कदेव** ने अष्टशती में किसी ग्रन्थ से उद्धृत किया है-

अर्थस्यानेकरूपस्य धीः प्रमाणं तदंशधीः।
नयो धर्मान्तरापेक्षी दुर्नयस्तन्निराकृतिः।।

अर्थात् अनेक धर्मात्मक अर्थ का ज्ञान प्रमाण है। अन्य धर्मों की अपेक्षापूर्वक एक धर्म का ज्ञान नय है और अन्य समस्त धर्मों का निराकरण करके केवल एक धर्म को ही ग्रहण करना दुर्नय है। दुर्नय को नयाभास भी कहते हैं।

यहाँ बौद्ध कहना चाहते हैं कि शब्द सङ्केतित अर्थ का ही कथन करते हैं, अन्य अर्थ का नहीं। यदि ऐसा न माना जाय तो अतिप्रसङ्ग दोष प्राप्त होगा, परन्तु शब्द और अर्थ- दोनों का ग्रहण किये बिना सङ्केत का ग्रहण सम्भव नहीं है। प्रत्यक्ष के द्वारा शब्द और अर्थ का ग्रहण हो नहीं सकता है, क्योंकि जो श्रावणप्रत्यक्ष शब्द को ग्रहण करता है वह उसके वाच्यार्थ घटादि को ग्रहण नहीं करता है तथा वाच्यार्थ को ग्रहण करने वाला चाक्षुष प्रत्यक्ष शब्द को ग्रहण नहीं कर सकता है। अतः प्रत्यक्ष से सङ्केत का ग्रहण नहीं हो सकता है। स्मृति के द्वारा भी सङ्केत का ग्रहण सम्भव नहीं है, क्योंकि शब्द और अर्थ- दोनों क्षणिक होने से स्मृति के विषय नहीं हो सकते हैं। स्मृति को तो निर्विषयक होने से प्रमाण ही नहीं माना गया है।बौद्धों की उक्त आशङ्का का निराकरण करने के लिए कहते हैं-

प्रत्यक्ष और स्मृति के द्वारा शब्द का अर्थ में सङ्केत-ग्रहण का समर्थन :

अक्षबुद्धिरतीतार्थं वेत्ति चेन्न कुतः स्मृतिः।
प्रतिभासभिदैकार्थे दूरासन्नाक्षबुद्धिवत्।।45।।

यदि अक्षबुद्धि (इन्द्रियजन्य ज्ञान) अतीत अर्थ को जानती है तो स्मृति

अतीत अर्थ को क्यों नहीं जान सकती है? प्रत्यक्ष और स्मृति में प्रतिभास भेद के कारण अथवा गृहीतग्राही होने से स्मृति को अप्रमाण कहना उचित नहीं है, क्योंकि दोनों का विषय एक होने पर भी दोनों के प्रतिभास में भेद है। जैसे कि एक ही वृक्ष को दूर और निकट से जानने वाले इन्द्रियज्ञानों में स्पष्ट और अस्पष्ट प्रतिभास का भेद पाया जाता है।

बौद्ध स्मृति को प्रमाण नहीं मानते हैं, क्योंकि स्मृति अतीत अर्थ को जानती है। ऐसा भी कहा जाता है गृहीतग्राही होने से स्मृति प्रमाण नहीं है। प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत अर्थ को ही स्मृति जानती है। इससे वह गृहीतग्राही सिद्ध होती है। यदि ऐसा है तो यहाँ हम (जैन) बौद्धों से कह सकते हैं कि बौद्धदर्शन में प्रत्यक्ष भी तो अतीत अर्थ को जानता है, क्योंकि वहाँ ऐसा माना गया है कि अर्थ क्षणिक है और ज्ञान अर्थ से उत्पन्न होता है। अतः जिस क्षण में ज्ञान उत्पन्न होता है उस क्षण में अर्थ नष्ट हो जाता है। तब अपनी उत्पत्ति के अनन्तर ज्ञान उस अर्थ को ही जानता है, जो नष्ट हो चुका है। ऐसी स्थिति में प्रत्यक्ष अतीतार्थग्राही सिद्ध होता है। इसलिए जैसे प्रत्यक्ष अतीत अर्थ को जानता है, वैसे ही स्मृति भी अतीत अर्थ को जानती है, इसमें कौनसा दोष है? बौद्धों की यह आपत्ति भी ठीक नहीं है कि गृहीतग्राही होने से स्मृति अप्रमाण है। गृहीतग्राही होने से स्मृति को अप्रमाण नहीं माना जा सकता है। इसका कारण यह है कि दोनों का विषय एक होने पर भी उनके प्रतिभास में भेद देखा जाता है। अर्थात् प्रत्यक्ष का प्रतिभास स्पष्ट होता है और स्मृति का प्रतिभास अस्पष्ट होता है। प्रत्यक्ष देवदत्त को 'यह देवदत्त' इस रूप में जानता है और स्मृति उसी देवदत्त को 'वह देवदत्त' इस रूप में जानती है। अतः प्रतिभास भेद होने के कारण स्मृति को सर्वथा गृहीतग्राही नहीं कहा जा सकता है। जैसे एक ही वृक्ष को एक मनुष्य दूर से जानता है और दूसरा मनुष्य उसे निकट से जानता है। यहाँ दोनों मनुष्यों का विषय एक ही वृक्ष है, परन्तु दोनों के प्रतिभास में भेद पाया जाता है। एक का प्रतिभास अस्पष्ट है और दूसरे का प्रतिभास स्पष्ट है। यही बात प्रत्यक्ष और स्मृति के विषय में भी जान लेनी चाहिए।

यहाँ बौद्धों का पुनः कथन है कि शब्द और अर्थ में कोई सम्बन्ध नहीं है तथा अर्थ के अभाव में भी शब्दज्ञान होता है। तब शब्दजन्य

ज्ञान को प्रमाण कैसे माना जा सकता है और ऐसी स्थिति में शब्दादि नयों में प्रामाण्य स्वीकार करना कहाँ तक उचित है? बौद्धों की इस आपत्ति का समाधान करने के लिए कहते हैं–

अर्थ के अभाव में भी शब्दादि नयों में प्रामाण्यत्व :

अक्षशब्दार्थविज्ञानमविसंवादतः समम्।
अस्पष्टं शब्दविज्ञानं प्रमाणमनुमानवत्।।46।।

इन्द्रियों से होने वाला अर्थ का विज्ञान और शब्द से होने वाला अर्थ का विज्ञान– ये दोनों ही अविसंवादी होने के कारण समान रूप से प्रमाण हैं। दोनों में अन्तर यही है कि इन्द्रियजन्य ज्ञान स्पष्ट होता है और शब्दजन्य ज्ञान अस्पष्ट। यद्यपि शब्द से होने वाला ज्ञान अस्पष्ट होता है फिर भी वह अनुमान की तरह प्रमाण है।

सामान्यविशेषात्मक वस्तु के अविसंवादी ज्ञान को विज्ञान कहते हैं। वह ज्ञान इन्द्रिय के द्वारा उत्पन्न हुआ हो अथवा शब्द के द्वारा उत्पन्न हुआ हो, दोनों ही प्रकार के ज्ञान समानरूप से प्रमाण माने गये हैं। जिस प्रकार इन्द्रियजन्य ज्ञान अविसंवादी होने से प्रमाण है उसी प्रकार शब्दजन्य ज्ञान भी अविसंवादी होने से प्रमाण है। यदि कभी कोई शब्दजन्य ज्ञान असत्य देखा जाता है तो इससे सभी शब्दजन्य ज्ञानों को असत्य नहीं माना जा सकता है। यदि एक शब्द के ज्ञान के विसंवादी होने से सब ज्ञानों को विसंवादी मान लिया जाय तो कभी-कभी प्रत्यक्ष में भी तो द्विचन्द्रादि ज्ञान की तरह विसंवाद देखा जाता है। तो क्या इससे सभी प्रत्यक्षज्ञानों को विसंवादी मान लेना चाहिए? परन्तु ऐसा मानना सर्वथा अनुचित है।

यह कहना भी ठीक नहीं है कि स्पष्ट होने से इन्द्रियजन्य ज्ञान प्रमाण है और अस्पष्ट होने शब्दजन्य ज्ञान अप्रमाण है, क्योंकि प्रामाण्य और अप्रामाण्य का कारण स्पष्टता और अस्पष्टता नहीं है, परन्तु प्रामाण्य और अप्रामाण्य का कारण अविसंवाद और विसंवाद है। जिस ज्ञान में अविसंवाद होता है वह प्रमाण माना गया है और जिस ज्ञान में विसंवाद पाया जाता है उस ज्ञान को अप्रमाण कहा जाता है। अविसंवाद का अर्थ यह है कि जिस अर्थ को जिस रूप में जाना गया है उसको वैसा ही होना चाहिए। जैसे किसी अर्थ में रजत का ज्ञान हुआ और जब उस

अर्थ को लेने के लिए गये तो हमको वहाँ रजत ही मिली। यह ज्ञान अविसंवादी हुआ। विसंवाद का अर्थ यह है कि हमने किसी अर्थ को जिस रूप में जाना है वह अर्थ उस रूप में न होकर उसके विपरीतरूप में मिलता है। हमने जाना था कि वहाँ रजत है, परन्तु जब हम उसको लेने के लिए गये तो वहाँ शुक्तिका मिली। यह ज्ञान विसंवादी कहा जायेगा। ऐसा कोई नियम नहीं है कि जो ज्ञान स्पष्ट हो वह प्रमाण है और जो ज्ञान अस्पष्ट हो वह अप्रमाण है। यदि ऐसा नियम माना जाय तो बौद्धों को अनुमान को अप्रमाण मानना पड़ेगा, परन्तु बौद्ध अस्पष्ट होने पर भी अनुमान को प्रमाण मानते हैं। उसी प्रकार अस्पष्ट शब्दजन्य ज्ञान को भी प्रमाण मानने में क्या आपत्ति है? तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष और अनुमान की तरह शब्दजन्य ज्ञान भी प्रमाण है और जब शब्दजन्य ज्ञान प्रमाण है तो शब्दादिनय भी प्रमाण हैं, अप्रमाण नहीं।

यहाँ कोई शङ्का करता है कि काल, कारक आदि के भेद से शब्दनय अर्थभेद मानता है; किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि कालादि का ग्राहक कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है। इस शङ्का के उत्तर में आचार्य कहते हैं-

कालादि के ग्राहक प्रमाण के अभाव का निरसन :

कालादिलक्षणं न्यक्षेणान्यत्रेक्ष्यं परीक्षितम्।
द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषात्मार्थनिष्ठितम् ॥47॥

काल, कारक आदि के लक्षण का विचार विस्तारपूर्वक दूसरे ग्रन्थों में किया गया है। अतः इनके स्वरूप को वहाँ से जान लेना चाहिए। यहाँ इतना जान लेना आवश्यक है कि कालादि द्रव्यपर्यायात्मक अथवा सामान्यविशेषात्मक अर्थ में परिनिष्ठित हैं, उससे भिन्न नहीं हैं।

काल, कारक आदि के असाधारणस्वरूप का विचार **तत्त्वार्थवार्तिक** के प्रथम तथा पञ्चम अध्याय में विस्तार से किया गया है। **सर्वार्थसिद्धि** आदि ग्रन्थों में भी इनका स्वरूप उपलब्ध होता है। अतः इनके स्वरूप को वहाँ से जान लेना आवश्यक है। प्रत्येक अर्थ द्रव्यपर्यायरूप अथवा सामान्यविशेषरूप है। कालादि में भी यही बात घटित होती है। पूर्व और उत्तर पर्यायों में व्यापक ऊर्ध्वतासामान्य को द्रव्य कहते हैं। जैसे स्थास, कोश, कुसूल आदि पर्यायों में अनुस्यूत रहने वाला मृद् द्रव्य। एक द्रव्य

में क्रम से होने वाले परिणमनों को पर्याय कहते हैं। समान जातीय पदार्थों में होने वाले सदृश परिणाम को तिर्यक् सामान्य कहते हैं। जैसे खण्डी, मुण्डी आदि गायों में रहने वाला गोत्व। एक पदार्थ की अपेक्षा से दूसरे पदार्थ में होने वाले विसदृश परिणाम को विशेष कहते हैं। जैसे गाय की अपेक्षा से भैंस में होने वाले विसदृश परिणाम को विशेष कहते हैं।

इस प्रकार की द्रव्यपर्यायात्मक और सामान्यविशेषात्मक वस्तु अर्थक्रिया करने में समर्थ होती है। पर्याय से रहित केवल द्रव्य की या द्रव्य से रहित केवल पर्याय की सत्ता दृष्टिगोचर नहीं होती है। विशेषरहित सामान्य और सामान्यरहित विशेष भी दृष्टिगोचर नहीं होता है। काल का मुख्य लक्षण वर्तना है, जो एकान्तवाद में नहीं बन सकता है और वर्तना के बिना भूत, भविष्यत् और वर्तमान के भेद भी नहीं बन सकते हैं। इसी प्रकार एकान्तवाद में कारक का लक्षण भी नहीं बन सकता है। कर्त्ता, कर्म, करण आदि को कारक माना गया है। कारक या तो द्रव्य हो सकता है या उसकी शक्ति; किन्तु शक्ति और शक्तिमान् में सर्वथा भेद मानने पर सह्य और विन्ध्य पर्वतों की तरह शक्ति और शक्तिमान् में सम्बन्ध नहीं बन सकता है। तथा दोनों में सर्वथा अभेद मानने पर दोनों में से कोई एक ही रहेगा, दोनों नहीं। इस तरह सर्वथा भेदैकान्त और अभेदैकान्त में शक्ति और शक्तिमान् के न बनने से छहों कारकों का अभाव सिद्ध होता है। सर्वथा एकान्तवाद में क्रिया, कारक आदि के मानने में विरोध आदि अनेक दोष आते हैं, परन्तु अनेकान्तवाद में विरोध आदि दोषों के आने की कोई सम्भावना नहीं है। इसलिए अनेकान्तवाद को स्वीकार करना श्रेयस्कर है। इसी बात को आगे बतलाते हैं–

एक ही वस्तु में षट्कारकों की सिद्धि :

एकस्यानेकसामग्रीसन्निपातात् प्रतिक्षणम्।
षट्कारकी प्रकल्प्येत तथा कालादिभेदतः।।48।।

प्रत्येक क्षण में अनेक प्रकार की सामग्री के मिल जाने से एक ही वस्तु में छहों कारक घटित हो जाते हैं तथा कालादि के भेद से भी एक ही वस्तु में छहों कारक घटित हो सकते हैं।

अनेक प्रकार की अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग सामग्री के मिल जाने से एक

ही व्यक्ति में और एक ही समय में छहों कारकों के घटित हो जाने में कोई विरोध नहीं है। कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण- ये छह कारक माने गये हैं। हम एक ही व्यक्ति या वस्तु में इन छहों कारकों की योजना कर सकते हैं। जैसे एक ही देवदत्त में कर्त्ता, कर्म आदि सब कारकों का व्यवहार देखा जाता है। देवदत्त घट को बनाते समय घट का कर्त्ता होता है। अनेक पुरुष घट बनाते हुए देवदत्त को देखते हैं। वह उन पुरुषों की दृष्टि का विषय होने से कर्म होता है। कोई पुरुष देवदत्त से घट बनवाता है। इस दृष्टि से देवदत्त करण हुआ। कोई व्यक्ति देवदत्त के लिए धन का दान करता है। इस कारण देवदत्त सम्प्रदान होता है। उपद्रवी देवदत्त के डर से भाग जाते हैं। इस समय देवदत्त अपादान होता है। जब कोई कहता है कि देवदत्त कानों में कुण्डल पहने हुए है तो यहाँ देवदत्त अधिकरण हो जाता है। इस प्रकार एक ही देवदत्त में सामग्री या कारणों के भेद से कर्त्ता, कर्म आदि छहों कारक घटित हो जाते हैं। इसी तरह अन्य जीवादि वस्तुओं में छहों कारकों की योजना की जाती है।

जिस प्रकार कारणरूप सामग्री के भेद से एक ही वस्तु में छहों कारकों की योजना हो जाती है, उसी प्रकार काल,देश आदि के भेद से भी छहों कारकों की योजना की जाती है। जैसे देवदत्त ने किया, देवदत्त करता है, देवदत्त करेगा, इत्यादि प्रकार से काल की अपेक्षा से देवदत्त में छहों कारक घटित हो सकते हैं। इसका एक दूसरा अर्थ यह भी किया जा सकता है कि एक ही द्रव्य में सामग्री के भेद से कालादि भी घटित होते हैं, क्योंकि सर्वथा अभेद में काल, कारक आदि का भेद नहीं बन सकता है। काल आदि का भेद होने पर तथा षट् कारकों के सम्भव होने पर भी उनकी अपेक्षा नहीं करना और उनका निराकरण करना दुर्नय है। इसके विपरीत षट् कारकों की अपेक्षा रखना सुनय है। इस प्रकार सभी नैगमादि नय प्रत्यक्ष, अनुमान आदि से अविरुद्ध होने के कारण सुनय हैं, परन्तु एकान्तवाद में ये ही दुर्नय हो जाते हैं, क्योंकि वहाँ प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से विरोध आता है।

संग्रहनय के प्रथम ग्रहण का कारण :

यहाँ नयों के विषय में एक शङ्का हो सकती है कि सब सिद्धान्त-ग्रन्थों में नैगमनय को प्रथम स्थान दिया गया है, किन्तु यहाँ संग्रहनय

को प्रथम स्थान दिया गया है। इसका कारण क्या है? इस शङ्का का उत्तर यह है कि सिद्धान्त-ग्रन्थों में नयों का क्रम दो दृष्टियों से रखा गया है- (1) उत्तरोत्तर नयों का विषय सूक्ष्म होने से तथा (2) पूर्वपूर्व नय उत्तरोत्तर नयों का हेतु होने से। नैगमनय का विषय सब नयों की अपेक्षा से महत् है और एवम्भूतनय का विषय सबसे सूक्ष्म है। इसी तरह नैगमनय संग्रहनय का हेतु होता है और संग्रहनय व्यवहारनय का हेतु होता है, इत्यादि प्रकार से एवम्भूतनयपर्यन्त समझ लेना चाहिए। यह तो हुई सिद्धान्त-शास्त्र की बात। परन्तु यहाँ न्यायशास्त्र की बात है। अतः न्यायशास्त्र में समस्त नास्तिकों के विवादों का निराकरण करने के लिए समस्त पदार्थों के अस्तित्व के सूचक संग्रहनय को प्रथम स्थान दिया गया है। ऐसा करने में कोई सैद्धान्तिक विरोध की बात नहीं है।

यहाँ कोई शङ्का करता है कि सभी नय मानसिक विकल्प हैं और विकल्प निर्विषय होने के कारण प्रधानादि विकल्प की तरह तत्त्व को जानने के साधन नहीं हो सकते हैं। इस शङ्का का निराकरण करने के लिए कहते हैं-

नय मानसिक विकल्प होकर भी तत्त्वज्ञान में साधक :

व्याप्तिं साध्येन हेतोः स्फुटयति न विना चिन्तयैकत्र दृष्टिः,
साकल्येनैष तर्कोऽनधिगतविषयः तत्कृतार्थैकदेशे।
प्रामाण्ये चानुमानायाः स्मरणमधिगतार्थाविसंवादि सर्वम्,
संज्ञानञ्च प्रमाणं समधिगतिरतः सप्तधाख्यैर्नयौघैः।।49।।

चिन्ता (तर्क) के बिना एक स्थान तथा एक समय में होने वाला प्रत्यक्ष साध्य के साथ हेतु की व्याप्ति को पूर्णरूप से प्रकाशित नहीं कर सकता है। यह काम तो तर्क का है। तर्क का जो विषय है वह अन्य किसी प्रमाण से नहीं जाना जाता है। इसी कारण तर्क को अनधिगतविषयवाला तथा प्रमाण माना गया है। तर्क की तरह स्मृति भी प्रमाण है। यद्यपि स्मृति प्रत्यक्ष के द्वारा जाने गये अर्थ को जानने के कारण अधिगतार्थग्राही है, परन्तु वह अपने विषय में अविसंवादी होती है। तर्क के द्वारा ज्ञात व्याप्ति के आधारभूत एकदेश (साध्य) में जो अनुमान होता है उसका प्रामाण्य तर्क और स्मृति के प्रामाण्य पर ही निर्भर होता है। तात्पर्य यह है कि तर्क,स्मृति और अनुमान- ये सभी ज्ञान विकल्पात्मक

हैं और प्रमाण हैं। इसी प्रकार सात प्रकार के नय भी विकल्पात्मक और प्रमाण हैं तथा इनके द्वारा जीवादि तत्त्वों का सम्यग्ज्ञान होता है। प्रमाण और नय में केवल इतना अन्तर है कि प्रमाण समग्र वस्तु को ग्रहण करता है और नय वस्तु के एक अंश या धर्म को ग्रहण करता है। इसीलिए प्रमाण को सकलादेशी कहा गया है और नय को विकलादेशी।

साध्य और साधन में अविनाभाव सम्बन्ध होता है। अविनाभाव का ही दूसरा नाम व्याप्ति है। धूम और वह्नि में व्याप्ति होती है। यहाँ प्रश्न यह है कि क्या प्रत्यक्ष के द्वारा व्याप्ति का ग्रहण हो सकता है? इसका उत्तर है– नहीं। प्रत्यक्ष एक देश में तथा एक काल में व्याप्ति का ग्रहण करने में समर्थ है। जैसे महानस में धूम और वह्नि को एक साथ देखकर प्रत्यक्ष उनके सम्बन्ध को जान लेता है, परन्तु 'जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है और जहाँ अग्नि नहीं होती है वहाँ धूम भी नहीं होता है', इस प्रकार की व्याप्ति को जानने की सामर्थ्य प्रत्यक्ष में नहीं है। इसका कारण यह है कि व्याप्ति सार्वदेशिक और सार्वकालिक होती है। प्रत्यक्ष केवल एक देश और एक काल की व्याप्ति को तो जान सकता है; किन्तु सर्वदेशों से सम्बन्धित और सर्वकालों से सम्बन्धित व्याप्ति को नहीं जान सकता है। अन्य कोई प्रमाण भी व्याप्ति का ज्ञान नहीं करा सकता है। सार्वदेशिक और सार्वकालिक व्याप्ति के जानने की सामर्थ्य तो केवल तर्कप्रमाण में है। तर्क एक प्रमाण है तथा उसका विषय अनधिगत है, इस बात को पहले ही विस्तारपूर्वक बतलाया जा चुका है।

तर्क की तरह स्मृति भी एक प्रमाण है। यद्यपि स्मृति प्रत्यक्ष के द्वारा जानी गई वस्तु को कालान्तर में जानने के कारण गृहीतग्राही है, परन्तु इतने मात्र से उसे अप्रमाण नहीं कहा जा सकता है। प्रत्यक्ष जिस रूप में किसी वस्तु को जानता है, स्मृति उस रूप में उस वस्तु को नहीं जानती है। दोनों के जानने में अन्तर है। अविसंवादी होने के कारण भी स्मृति प्रमाण है। यदि स्मृति प्रमाण न हो तो अनुमान भी प्रमाण नहीं हो सकता है, क्योंकि तर्क के द्वारा गृहीत व्याप्ति का स्मरण होने पर ही अनुमान उत्पन्न होता है। तर्क, स्मृति और अनुमान– ये सभी ज्ञान विकल्परूप होने पर भी प्रमाण हैं। इसी प्रकार विकल्परूप नय भी प्रमाण हैं तथा नैगमादि सात नयों के द्वारा जीवादि पदार्थों का सम्यक्

बोध होता है। अतः पूर्वपक्ष का यह कथन सर्वथा गलत सिद्ध हो जाता है कि विकल्परूप होने के कारण नय वस्तुतत्त्व को जानने के साधन नहीं हो सकते हैं।

नयपरिच्छेद का उपसंहार :

> **सर्वज्ञाय निरस्तबाधकधिये स्याद्वादिने ते नम-**
> **स्तात्प्रत्यक्षमलक्षयन् स्वमतमभ्यस्याप्यनेकान्तभाक्।**
> **तत्त्वं शक्यपरीक्षणं सकलविन्नैकान्तवादी ततः,**
> **प्रेक्षावानकलङ्क याति[1] शरणं त्वामेव वीरं जिनम् ।।50।।**

हे अकलङ्क वीरजिन! एकान्तवादी बौद्ध आदि अपने मत का अभ्यास करके प्रत्यक्ष से ग्राह्य तथा परीक्षा करने के लिए जो शक्य (समर्थ) हैं ऐसे अनेकान्तात्मक तत्त्व की ओर ध्यान नहीं देते हैं। यही कारण है कि वे सर्वज्ञ नहीं हो सकते हैं। इसलिए विचारशील परीक्षकजन आप वीर जिनेन्द्र की ही शरण में जाते हैं। अतः सर्वज्ञ, दोष और आवरण से रहित ज्ञान वाले तथा स्याद्वादी आपके लिए हमारा नमस्कार है।

प्रमाण और नय द्वारा यह सिद्ध होता है कि जीवादि तत्त्व अनेकान्तात्मक हैं। फिर भी बौद्ध आदि एकान्तवादी जन अपने मत के अभिनिवेश के कारण उस अनेकान्तात्मक तत्त्व की ओर ध्यान नहीं देना चाहते हैं। यद्यपि अनेकान्तात्मक तत्त्व प्रत्यक्ष सिद्ध है और जिस किसी को भी इसमें सन्देह हो वह उसकी परीक्षा भी कर सकता है। फिर भी वे अपने मत के दृढ़ अभिनिवेशवश ऐसा नहीं करते हैं। अतः एकान्तवादी कभी भी सर्वज्ञ और यथार्थ वक्ता नहीं हो सकते हैं।

हे वीर जिन! आप ज्ञानावरणादि और रागद्वेषादि के कलङ्क से रहित हैं, आपने एकान्तवादियों के ज्ञान को निरस्त कर दिया है, अथवा आपका ज्ञान सब प्रकार के बाधकों से रहित है। इस कारण आप सर्वज्ञ हैं, इसके साथ ही आप स्याद्वाद के उपदेष्टा हैं। ऐसे वीर जिन के लिए ग्रन्थकर्ता का नमस्कार है।

।।द्वितीय नयप्रवेश के अन्तर्गत पञ्चम नयपरिच्छेद समाप्त।।

1. प्रेक्षावानकलङ्कमेति......। – अकलङ्कग्रन्थत्रयम्, पृष्ठ 17.

प्रवचनप्रवेश : षष्ठ प्रवचनपरिच्छेद

प्रमाण और नय के स्वरूप का निरूपण करके अब प्रमाणविशेष आगम के स्वरूप का पृथक् निरूपण करने के लिए उपक्रम करते हैं। इसके प्रारम्भ में शास्त्र के मध्यम मङ्गलभूत इष्टदेवता के गुणों का स्तवन करते हुए कहते हैं–

मध्यम मङ्गलाचरण :

> **प्रणिपत्य महावीरं स्याद्वादेक्षणसप्तकम्।**
> **प्रमाणनयनिक्षेपानभिधास्ये यथागमम्।।51।।**

जिसके स्याद्वादरूपी सात नेत्र हैं ऐसे भगवान् महावीर को नमस्कार करके मैं आगम के अनुसार प्रमाण, नय और निक्षेप के स्वरूप को कहूँगा।

'स्यादस्ति' इत्यादि सप्तभङ्गमयवाद को स्याद्वाद कहते हैं। यहाँ स्याद्वाद को **'ईक्षणसप्तकम्'** कहा गया है, क्योंकि स्याद्वाद के सात भङ्ग होते हैं और उन्हीं सात भङ्गों को सात नेत्र माना गया है। भगवान् महावीर ने वस्तुतत्त्व का जो प्ररूपण किया है वह स्याद्वादरूपी सात नेत्रों के आधार पर ही किया है, इसीलिए भगवान् को स्याद्वादी कहा जाता है।

यहाँ कोई शङ्का करता है कि स्याद्वाद को जो ईक्षण (नेत्र) कहा है वह मुख्य रूप से कहा है अथवा उपचार से? यहाँ प्रथम पक्ष स्वीकार करना ठीक नहीं है, क्योंकि मुख्य ईक्षण व्यपदेश तो चक्षु में ही होता है। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि रूपादि की प्रतिपत्ति के हेतुभूत चक्षु को लोक में ईक्षण कहा गया है; किन्तु भगवान् को रूपादि की प्रतिपत्ति में स्याद्वाद हेतु नहीं होता है। इस कारण स्याद्वाद में उपचार से भी ईक्षण व्यपदेश नहीं हो सकता है। अब यदि ऐसा माना जाय कि भगवान् दूसरों को स्याद्वाद के द्वारा बोध कराते हैं और उनकी प्रतिपत्ति में हेतु होने के कारण स्याद्वाद को ईक्षण कहा है, तो स्याद्वाद पर का ही ईक्षण सप्तक हुआ, भगवान् का नहीं, क्योंकि अन्य के नेत्र से अन्य को प्रतिपत्ति नहीं होती है।

उक्त शङ्का ठीक नहीं है। यदि **'स्याद्वादेक्षणसप्तकम्'** को महावीर का विशेषण मानने में विवाद है तो **'स्याद्वादेक्षणसप्तकम्'** इस पद का व्याख्यान हम इस प्रकार भी कर सकते हैं–

स्याद्वाद एव ईक्षणसप्तकं यस्माद् भव्यानां स तथोक्तस्तम्।

अर्थात् स्याद्वादरूपी सात नेत्र भगवान् महावीर से भव्यों को प्राप्त होते हैं। अथवा भगवान् महावीर के द्वारा भव्य जीव सप्तभङ्गमय स्याद्वाद को प्राप्त करते हैं। इससे महावीर को 'स्याद्वादेक्षणसप्तक' मानने में कोई विरोध नहीं है। ईक्षण सप्तक से स्याद्वाद का साधर्म्य यह है कि जिस प्रकार ईक्षण (नेत्र) से परोपदेश के बिना सामान्यजनों को रूपादि का ज्ञान हो जाता है उसी प्रकार स्याद्वाद से महावीर आदि तीर्थङ्करों को केवलज्ञान हो जाता है। यहाँ लेखक ने यह भी बतला दिया है कि मैं प्रमाण आदि के लक्षण को आगम के अनुसार कहूँगा, अपने मन से नहीं।

प्रमाण, नय और निक्षेप का संक्षिप्त स्वरूप :

ज्ञानं प्रमाणमात्मादेरुपायो न्यास इष्यते।
नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थपरिग्रहः।।52।।

आत्मा आदि के ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। आत्मा आदि के ज्ञान के उपाय (कारण) नामादि को न्यास (निक्षेप) कहते हैं और ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहा गया है। प्रमाण,नय और निक्षेपरूप युक्ति के द्वारा जीवादि पदार्थों का ग्रहण होता है।

प्रमाण का स्वरूप :

जैनन्याय में स्व और पर के निश्चयात्मक ज्ञान को प्रमाण माना गया है। कारिका में 'आत्मादेः' शब्द आया है। यहाँ आत्मा शब्द से 'स्व' का ग्रहण करना है और आदि शब्द से पुद्गलादि पर पदार्थ का ग्रहण किया गया है। इसका मतलब यह हुआ कि स्व और पर के निश्चय करने वाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। इसी विषय में **परीक्षामुख** में कहा गया है- **''स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्।''**

यहाँ यह स्मरणीय है कि अज्ञानरूप होने से सन्निकर्षादि प्रमाण नहीं हो सकते हैं। इस बात को प्रत्यक्ष परिच्छेद में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

यहाँ कोई शङ्का करता है कि ज्ञान और अर्थ में तादात्म्य, तदुत्पत्ति

आदि सम्बन्ध न होने के कारण यह कैसे कहा जा सकता है कि यह ज्ञान इसी अर्थ का है? इस शङ्का का उत्तर यह है कि ज्ञान और अर्थ में तादात्म्य आदि सम्बन्ध न होने पर भी विषयविषयीभावलक्षण सम्बन्ध पाया जाता है। घटादि पदार्थ ज्ञान के विषय होते हैं और ज्ञान विषयी कहलाता है। विषयी का अर्थ है– विषय करने वाला अथवा विषय को जानने वाला। जिस प्रकार प्रदीप और घटादि अर्थ में तादात्म्य और तदुत्पत्ति के न होने पर भी उनमें प्रकाश्य-प्रकाशकभाव पाया जाता है उसी प्रकार ज्ञान और अर्थ में भी विषय-विषयीभावरूप सम्बन्ध के होने में कोई विरोध नहीं है। इस तरह संक्षेप में यह प्रमाण का स्वरूप है। जीवादि तत्त्वों के जानने के उपाय को निक्षेप या न्यास कहते हैं। निक्षेप के चार भेद हैं– नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। **तत्त्वार्थसूत्र** में कहा गया है–

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः (1.5)

निक्षेपों का विशेष विवेचन आगे निक्षेप परिच्छेद में किया गया है।

नय का स्वरूप :

किसी वस्तु के विषय में ज्ञाता का जो अभिप्राय होता है वह नय है। प्रमाण समग्र वस्तु को जानता है और नय उसके एक अंश को जानता है। इसलिए एक अंशग्राही ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहा गया है। प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक होती है और प्रत्येक ज्ञाता अपने प्रयोजन के अनुसार उन अनन्त धर्मों में से किसी एक धर्म को ग्रहण करता है। एक ही वस्तु में विभिन्न ज्ञाताओं के विभिन्न धर्मों को लेकर विभिन्न अभिप्राय हो सकते हैं। ये सभी अभिप्राय नय कहलाते हैं। प्रत्येक अभिप्राय या नय वस्तु के केवल एक धर्म को ग्रहण करता है, परन्तु वह दूसरे धर्मों का निराकरण नहीं करता है, अपितु अन्य धर्म सापेक्ष होता है। इसी कारण वह सुनय कहलाता है। यदि कोई ज्ञाता एक ही धर्म को सत्य मानकर दूसरे धर्मों का निराकरण करने लगे तो उसका अभिप्राय दुर्नय हो जाता है। इन प्रमाण, नय और निक्षेपों के द्वारा जीवादि पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होता है।

अर्थकारणता-विचार :

बौद्ध मानते हैं कि अर्थ ज्ञान की उत्पत्ति में कारण होता है; किन्तु

उनका ऐसा मानना युक्तिसङ्गत नहीं है। अर्थ ज्ञान की उत्पत्ति में कारण नहीं होता है, क्योंकि ज्ञान की उत्पत्ति तो इन्द्रिय और अनिन्द्रिय के द्वारा होती है तथा अर्थ ज्ञान का परिच्छेद्य (विषय) होता है और ज्ञान के द्वारा परिच्छेद्य होने के कारण वह ज्ञान का कारण नहीं हो सकता है। जो ज्ञान का परिच्छेद्य है वह ज्ञान का कारण नहीं हो सकता है– इसी विषय में **परीक्षामुख** में कहा गया है–

नार्थालोकौ कारणं परिच्छेद्यत्वात् तमोवत्।।2/6।।

अर्थात् अर्थ और आलोक ज्ञान के कारण नहीं हैं, क्योंकि वे परिच्छेद्य होते हैं, जैसे अन्धकार। अन्धकार ज्ञान का विषय तो होता है, किन्तु वह ज्ञान का कारण नहीं होता है। इसी प्रकार घटादि पदार्थ भी ज्ञान के कारण नहीं होते हैं। जैसे प्रदीप के द्वारा प्रकाश्य घटादि प्रदीप के कारण नहीं होते हैं, फिर भी प्रदीप उनको प्रकाशित करता है, वैसे ही ज्ञान के द्वारा प्रकाश्य घटादि पदार्थ भी ज्ञान के कारण नहीं होते हैं, फिर भी वे ज्ञान के द्वारा प्रकाशित होते हैं। इससे बौद्धों का यह कथन निरस्त हो जाता है कि '**नाकारणं विषयः।**'– अर्थात् जो ज्ञान का कारण नहीं है वह ज्ञान का विषय नहीं होता है।

'**नाकारणं विषयः**' ऐसा मानने वालों से हम पूछना चाहते हैं कि '**किं कारणमेव विषयः**' अथवा '**कारणं विषय एव**'– इन दो विकल्पों में से आपको कौनसा विकल्प अभिप्रेत है। प्रथम विकल्प का अर्थ है– कारण ही विषय होता है और दूसरे विकल्प का अर्थ है– कारण विषय ही होता है। प्रथम विकल्प मानने पर विज्ञान के स्वरूप का संवेदन नहीं हो सकता है, क्योंकि विज्ञान का स्वरूप 'स्व' का कारण नहीं होता है, स्वात्मा में क्रिया का विरोध होने से। अब यदि द्वितीय विकल्प माना जाता है तो चक्षुरादि में भी ज्ञान के विषय होने का प्रसङ्ग आता है, क्योंकि चक्षुरादि ज्ञान के कारण होते ही हैं। अतः चक्षुरादि को ज्ञान का विषय भी होना चाहिए; किन्तु ऐसा होता नहीं है। यहाँ एक बात यह भी विचारणीय है कि अर्थ ज्ञान का कारण सिद्ध होने पर '**नाकारणं विषयः**' यह नियम सिद्ध होता है अथवा अर्थ ज्ञान का कारण सिद्ध न होने पर भी उक्त नियम सिद्ध हो जाता है। द्वितीय पक्ष-अर्थ ज्ञान का कारण सिद्ध न होने पर भी '**नाकारणं विषयः**' यह नियम मानने पर तो अतिप्रसङ्ग दोष

आता है। अब यदि अर्थ ज्ञान का कारण सिद्ध होने पर उक्त नियम मानते हैं तो उक्त बात की सिद्धि कैसे होती है- उसी ज्ञान से अथवा अन्य ज्ञान से? उसी ज्ञान से तो 'नाकारणं विषयः' इस नियम की सिद्धि नहीं हो सकती है-

इसी बात को आगे की कारिका में बतलाया गया है-

अयमर्थ इति ज्ञानं विद्यान्नोत्पत्तिमर्थतः।
अन्यथा न विवादः स्यात् कुलालादिघटादिवत्।।53।।

घटादि अर्थ का ग्राहक ज्ञान यह तो जानता है कि यह घटादि अर्थ है, परन्तु वह घटादि अर्थ से ज्ञान की उत्पत्ति को नहीं जानता है। यदि वह ऐसा जानता होता तो फिर कुम्भकार आदि से घटादि की उत्पत्ति की तरह अर्थ से ज्ञान की उत्पत्ति में कोई विवाद ही नहीं रहता।

प्रत्यक्ष के द्वारा जिस अर्थ की उत्पत्ति जिस कारण से होने की प्रतीति होती है उससे उसकी उत्पत्ति होने में कोई विवाद नहीं होता है। जैसे कुलाल (कुम्भकार) से घट की उत्पत्ति देखी जाती है तो इस विषय में किसी को कोई विवाद नहीं होता है, परन्तु ज्ञान की उत्पत्ति अर्थ से होती है या नहीं, इस विषय में विवाद देखा जाता है। कोई कहता है कि ज्ञान अर्थ से उत्पन्न होता है तो दूसरा कहता है कि ज्ञान अर्थ से उत्पन्न नहीं होता है। प्रत्यक्ष से तो यही प्रतीत होता है कि ज्ञान की उत्पत्ति अर्थ से नहीं होती है। इस प्रकार उसी ज्ञान से ज्ञान में अर्थकार्यता की सिद्धि सम्भव नहीं है। अब यदि प्रमाणान्तर से ज्ञान में अर्थकार्यता मानी जाय तो प्रश्न होता है कि वह प्रमाणान्तर प्रत्यक्षरूप है या अनुमानरूप? यदि प्रत्यक्षरूप है तो यहाँ भी दो विकल्प होते हैं- वह प्रत्यक्ष ज्ञानविषयक है अथवा अर्थविषयक है? दोनों ही विकल्पों के मानने पर ज्ञान और अर्थ में कार्यकारणभाव की सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि वे दोनों एक-एक वस्तु को विषय करने वाले ज्ञान के द्वारा ग्राह्य होते हैं, जो दो वस्तुएँ एक-एक विषयक ज्ञान के द्वारा अथवा पृथक्-पृथक् ज्ञान के द्वारा ग्राह्य होती हैं उनमें कार्यकारणभाव की प्रतीति नहीं होती है। जैसे रूप और रस में अथवा धूम और पावक में। अर्थ और ज्ञान- ये दोनों भी पृथक्-पृथक् ज्ञान के द्वारा ग्राह्य होते हैं। अतः इनमें कार्यकारणभाव

की प्रतीति नहीं होती है। हम कह सकते हैं कि अर्थ ज्ञान का कारण नहीं है, उसके द्वारा परिच्छेद्य होने से। जो ज्ञान का कारण होता है वह ज्ञान के द्वारा परिच्छेद्य नहीं होता है, जैसे चक्षुरादि इन्द्रियाँ। यतः ज्ञान के द्वारा अर्थ परिच्छेद्य होता है, अतः वह ज्ञान का कारण नहीं हो सकता है। यदि ज्ञान अपने को अर्थ का कार्य और अर्थ को ज्ञान का कारण जान ले तब तो इस विषय में कोई विवाद ही नहीं रहेगा। जैसे कुम्भकार और घट में कार्यकारणभाव होने में कोई विवाद नहीं है।

यहाँ पूर्वपक्ष पुनः कहता है कि सर्वत्र कार्यकारणभाव का ज्ञान अन्वयव्यतिरेक के द्वारा होता है और अन्वयव्यतिरेक का सद्भाव यहाँ भी पाया जाता है। अर्थ के होने पर ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है और अर्थ के अभाव में उसकी उत्पत्ति नहीं होती है। जो जिसके अन्वयव्यतिरेक का अनुकरण करता है वह उसका कार्य होता है, जैसे अग्नि का कार्य धूम है। इस बात का ज्ञान अग्नि और धूम में अन्वयव्यतिरेक के द्वारा ही होता है। अतः अनुमान प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि ज्ञान अर्थ का कार्य है। इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं-

अन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थश्चेत् कारणं विदः।
संशयादिविदुत्पादः कौतस्कुत इतीक्ष्यताम्।।54।।

यदि अन्वयव्यतिरेक के द्वारा अर्थ ज्ञान का कारण सिद्ध होता है तो संशयादि ज्ञानों की उत्पत्ति कैसे होती है? इस बात पर विचार कीजिए।

अर्थ के होने पर ज्ञान का होना अन्वय है और अर्थ के अभाव में ज्ञान का नहीं होना व्यतिरेक है। यदि इस प्रकार के अन्वयव्यतिरेक के द्वारा अर्थ को ज्ञान का कारण माना जाता है तो ऐसा मानने में यह दोष आता है कि तब संशय, विपर्यय आदि मिथ्याज्ञानों की उत्पत्ति कैसे होगी? संशयादि ज्ञान अवश्य हैं और उक्त नियम के अनुसार संशयादि ज्ञानों की उत्पत्ति अर्थ के होने पर ही होनी चाहिए, अन्यथा नहीं; किन्तु ऐसा होता नहीं है। अन्यदेशादि से विशिष्ट अर्थ का अन्य देशादिरूप से ग्रहण करना यह बुद्धि का ही व्यभिचार है, अर्थ का नहीं; किन्तु यहाँ प्रश्न यह है कि अव्यभिचारी अर्थ के अन्वयव्यतिरेक का अनुकरण करने वाली बुद्धि व्यभिचरित कैसे हो सकती है? परन्तु संशय, विपर्यय

आदि ज्ञानों में व्यभिचार देखा जाता है। वे ज्ञान जिस प्रकार के अर्थ को जानते हैं वह अर्थ वास्तव में वैसा होता नहीं है। इससे यही सिद्ध होता है कि बुद्धि में व्यभिचार आने के कारण संशयादि ज्ञान अहेतुक हैं। अर्थात् उनका कारण अर्थ नहीं है। संशयादि ज्ञानों में असत् धर्मी का ही प्रतिभास होता है। जैसे तैमिरिक व्यक्ति को अर्थ के अभाव में ही केशोण्डुक का ज्ञान हो जाता है।

यहाँ कोई शङ्का करता है कि 'केशोण्डुकज्ञान भ्रान्त होने के कारण अर्थ के अभाव में भी उत्पन्न हो जाता है, परन्तु अन्य अभ्रान्त ज्ञान ऐसा नहीं होता है, इसलिए किसी ज्ञानविशेष में व्यभिचार के होने पर सब ज्ञानों में व्यभिचार मानना ठीक नहीं है।' इस प्रकार की शङ्का करना ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञान का स्वरूप है स्व और पर का प्रकाशक होना, सत्य होना या असत्य होना ज्ञान का स्वरूप नहीं है। अत: जिस प्रकार सत्य माना गया ज्ञान स्वपरप्रकाशक होता है उसी प्रकार केशोण्डुकादि ज्ञान भी स्वपरप्रकाशक है; किन्तु उनमें विशेषता यह है कि सत्यज्ञान संवाद होने से सत् पर को प्रकाशित करता है और असत्यज्ञान विसंवाद होने से असत् पर को प्रकाशित करता है। अतः जिस प्रकार इन्द्रियादि के दोष से उत्पन्न संशयादिज्ञान अकारण और असत् अर्थ का ग्राहक होता है, उसी प्रकार सत्य ज्ञान भी अकारण और सत् अर्थ का ग्राहक होता है, ऐसा **अकलङ्कदेव** का अभिप्राय है। यतः अर्थ ज्ञान के प्रति कारण नहीं है अतः यह ठीक ही कहा है कि इन्द्रिय और मन ज्ञान के कारण हैं तथा घटादि पदार्थ ज्ञान के विषय होते हैं।

यहाँ सन्निकर्षवादी नैयायिक कहते हैं कि इन्द्रिय और अर्थ के होने पर भी उन दोनों में सन्निकर्ष के बिना बुद्धि की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, परन्तु सन्निकर्ष के होने पर बुद्धि की उत्पत्ति अवश्य होती है, इसलिए सन्निकर्ष ही बुद्धि की उत्पत्ति में साधकतम होता है, इन्द्रिय और मन ज्ञान के कारण नहीं हैं। इस प्रकार की शङ्का का निराकरण करने के लिए कहते हैं-

सन्निधेरिन्द्रियार्थानामन्वयव्यतिरेकयोः ।
कार्यकारणयोश्चापि बुद्धिरध्यवसायिनी।।55।।

इन्द्रिय और अर्थों की सन्निधि (सन्निकर्ष) का, अन्वयव्यतिरेक का तथा कार्यकारणभाव का निश्चय करने वाली बुद्धि ही है। अर्थात् ज्ञान के होने पर ही सन्निकर्ष, अन्वयव्यतिरेक और कार्यकारणभाव का निर्णय या निश्चय होता है।

ज्ञान केवल अर्थ का निश्चायक नहीं होता है; किन्तु इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष का भी निश्चायक होता है। इतना ही नहीं, सन्निकर्ष के अन्वयव्यतिरेक का तथा कार्यकारणभाव का निश्चय भी ज्ञान के द्वारा ही होता है। सन्निकर्ष के होने पर ज्ञान का होना और सन्निकर्ष के अभाव में ज्ञान का न होना, इस प्रकार के अन्वयव्यतिरेक का निश्चय ज्ञान के द्वारा ही होता है। सन्निकर्ष कार्य है और इन्द्रियादि कारण हैं अथवा ज्ञान कार्य है और सन्निकर्ष कारण है, इसका निश्चय भी ज्ञान के द्वारा ही होता है।

उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह है कि सन्निकर्ष के होने पर भी जब तक ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है तब तक इन्द्रिय और सन्निकर्ष में तथा सन्निकर्ष और ज्ञान में अन्वयव्यतिरेक का निश्चय नहीं हो सकता है। इसी प्रकार ज्ञान के अभाव में इन्द्रिय और सन्निकर्ष में अथवा सन्निकर्ष और ज्ञान मे कार्यकारणभाव का निश्चय सम्भव नहीं है। यदि ज्ञान के बिना ही उक्त प्रकार का निश्चय हो जाय तो फिर ज्ञान की कल्पना करने से क्या लाभ है? यथार्थ बात तो यह है कि स्वकारणों से ज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर सन्निकर्षादि की अपेक्षा के बिना ही तत्त्वों का सम्यग्ज्ञान हो जाता है। इसलिए साधकतम होने से ज्ञान ही प्रमाण है, सन्निकर्षादि नहीं। इस कथन से यही सिद्ध होता है कि अर्थ ज्ञान का कारण नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार अग्निदर्शन के अनन्तर धूमदर्शन होता है, यदि उसी प्रकार अर्थदर्शन के अनन्तर ज्ञानदर्शन होता हो तो ऐसा कहा जा सकता है कि ज्ञान अर्थ का कार्य है; किन्तु ऐसा होता नहीं है। होता यह है कि अपने कारणों से उत्पन्न ज्ञान अर्थ का परिच्छेदक होता है, ज्ञान के कारणों का परिच्छेदक नहीं। ज्ञान की उत्पत्ति का नियामक ज्ञानावरण *का क्षय अथवा क्षयोपशम है। हर एक प्राणी को क्षयोपशम के अनुसार ही पदार्थों का ज्ञान होता है।*

आलोककारणता-विचार :

कारिका संख्या 55 की विवृति में कहा गया है-

'आलोकोऽपि न कारणं परिच्छेद्यत्वादर्थवत्'। अर्थात् आलोक भी ज्ञान का कारण नहीं है, परिच्छेद्य होने से, अर्थ की तरह। जो ज्ञान का परिच्छेद्य (विषय) होता है वह ज्ञान का कारण नहीं होता है, जैसे अर्थ। यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि अर्थ ज्ञान का कारण नहीं होता है।

यहाँ कोई शङ्का करता है कि यदि आलोक ज्ञान की उत्पत्ति का कारण नहीं है तो आलोक के अभाव में भी रूपज्ञान की उत्पत्ति क्यों नहीं होती है? इस शङ्का का निराकरण करने के लिए आचार्य कहते हैं-

तमो निरोधि वीक्षन्ते तमसा नावृतं परम्।
कुड्यादिकं न कुड्यादितिरोहितमिवेक्षकाः।।56।।

प्रबुद्धजन घटादि पदार्थों के आच्छादक तम को स्पष्ट रूप से देखते हैं, परन्तु अन्धकार से आच्छादित घटादि को नहीं देखते हैं। जैसे कि देखने वाले कुड्यादि (भित्ति-दीवाल आदि) को तो देखते हैं, किन्तु कुड्यादि से तिरोहित पदार्थ को नहीं देख पाते हैं।

हम देखते हैं कि आलोक के अभाव में भी अन्धकार का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। अतः आलोक के अभाव में होने वाला अन्धकार का ज्ञान आलोक का कार्य कैसे हो सकता है? जिसके अभाव में भी जो ज्ञान उत्पन्न हो जाता है वह उसका कार्य नहीं कहा जा सकता है। जैसे-चक्षु के अभाव में उत्पन्न होने वाला रसज्ञान चक्षु का कार्य नहीं है। इसी प्रकार आलोक के अभाव में होने वाला अन्धकार का ज्ञान आलोक का कार्य नहीं है। यहाँ यह कहना ठीक नहीं है कि यदि आलोक ज्ञान का कारण नहीं है तो अन्धकार में स्थित घटादि का ग्रहण क्यों नहीं होता है? अन्धकार में स्थित घटादि का ग्रहण इस कारण नहीं होता है, क्योंकि अन्धकार घटादि का निरोधक (आच्छादक) होता है। अन्धकार घटादि को आवृत कर लेता है। यही कारण है कि लोग अन्धकार से आच्छादित

घटादि को नहीं देख पाते हैं। जैसे हमारे सामने स्थित जो भित्ति आदि है उसको तो हम देख लेते हैं, परन्तु भित्ति आदि से तिरोहित घटादि को नहीं देख पाते हैं। अर्थात् भित्ति के परभाग में क्या रखा है इसका ज्ञान हमको नहीं होता है। भित्ति के इस ओर के भाग का ज्ञान हमको होता है और परभाग का ज्ञान नहीं होता है, क्योंकि इस ओर का भाग परभाग को आच्छादित कर लेता है। यही बात अन्धकार से आच्छादित घटादि पदार्थों के विषय में भी समझ लेनी चाहिए।

तम और छायाद्रव्यवाद :

पूर्वपक्ष– यौग मानते हैं कि तम कोई पृथक् द्रव्य नहीं है, किन्तु आलोक के अभाव का नाम ही तम है। इसी प्रकार छाया भी आलोक के अभावरूप है। आलोक की अपेक्षा के बिना ही चक्षु से तम की प्रतीति होती है। यदि तम द्रव्यान्तर होता तो चक्षु से तम की प्रतीति में आलोक की अनपेक्षा नहीं होती। यथार्थ बात यह है कि चक्षु स्वयं आलोकरूप है। अतः वह आलोक निरपेक्ष होकर तम को प्रकाशित करती है। इससे यह सिद्ध होता है कि तम आलोकाभावरूप है, द्रव्यान्तर नहीं। इसी प्रकार छाया भी आलोकाभावरूप ही है, द्रव्यान्तर नहीं। छत्रादि (छाता आदि) से अर्थान्तरभूत छाया की जो प्रतीति होती है वह विभ्रम के कारण होती है। छत्रादि आवारक द्रव्य से प्रतिबद्ध तेज जिस-जिस प्रदेश से सम्बद्ध नहीं होता है वहाँ-वहाँ छाया प्रतीत होती है और प्रतिबन्धक छत्रादि के अपाय में आलोक अपने स्वरूप से प्रतीत होता है। इसलिए आलोक के अभाव का नाम ही छाया है। यदि छाया द्रव्यान्तर होती तो छत्रादि के अपाय में भी आलोक के साथ छाया की प्रतीति होनी चाहिए; किन्तु ऐसा होता नहीं है। अतः छाया द्रव्यान्तर नहीं है।

कुछ लोग निम्नलिखित अनुमान के द्वारा छाया को द्रव्यान्तर सिद्ध करते हैं। वह अनुमान इस प्रकार है–

'छाया द्रव्यान्तरं देशाद्देशान्तरप्राप्तिमत्त्वेन क्रियावत्त्वात्' अर्थात् छाया द्रव्यान्तर है, क्योंकि वह क्रियावान् होने से एक देश से दूसरे देश को प्राप्त होती है। उक्त कथन ठीक नहीं है। बात यह है कि जहाँ-जहाँ छत्रादि आवारक द्रव्य के द्वारा आलोक का सन्निकर्ष प्रतिबद्ध हो जाता

है वहाँ-वहाँ अन्य-अन्य छाया उपलब्ध होती है। ऐसा नहीं है कि पूर्वदेश में उपलब्ध छाया दूसरे देश में उपलब्ध होती हो। इस प्रकार प्रतिपत्ता आवारक-द्रव्यगत कर्म का आलोकाभाव में आरोप करके **'छाया गच्छति'** ऐसा ज्ञान लेता है। इस तरह यह सिद्ध होता है कि तम और छाया आलोकाभावरूप ही हैं, द्रव्यान्तर नहीं।

उत्तरपक्ष– यौगों का उक्त कथन समीचीन नहीं है। तम और छाया दोनों ही पुद्गल द्रव्यरूप हैं अथवा पुद्गल की पर्यायरूप हैं। यह कहना ठीक नहीं है कि तम कोई द्रव्यान्तर नहीं है; किन्तु आलोक के अभाव का नाम ही तम है। प्रत्येक प्राणी को आलोक और तम की प्रत्यक्ष के द्वारा अपने-अपने स्वरूप से विलक्षण प्रतीति होती है। तम की प्रतीति पृथक् होती है और आलोक की प्रतीति पृथक् होती है। प्रतीति में वैलक्षण्य विषय में होने वाले वैलक्षण्य के कारण ही होता है। जैसे घटपटादि की प्रतीति में वैलक्षण्य विषय में होने वाले वैलक्षण्य के कारण ही होता है। ऐसा नहीं है कि आलोक की प्रतीति भावरूप से होती है और तम की प्रतीति अभावरूप से होती है। अपितु तम की प्रतीति भी कृष्ण रूपादि सहित होने से भावरूप ही होती है। यदि तम आलोकाभावरूप हो तो उसमें रूपादि गुण की प्रतीति नहीं हो सकती है। जो अभावरूप है वह रूपादिमान् नहीं होता है तथा तम में रूपादिमत्त्व असिद्ध नहीं है। जिस प्रकार आलोक में भास्वररूप और उष्णस्पर्श प्रसिद्ध है, उसी प्रकार तम में कृष्णरूप और शीतस्पर्श पाये जाते हैं। गुणवान् होने के कारण भी तम द्रव्य है। जो-जो गुणवान् होता है वह-वह द्रव्य होता है, जैसे आलोक। अतः गुणवान् होने से तम में द्रव्यत्व सिद्ध होता है। जैसे तम गुणवान् है वैसे ही छाया भी गुणयुक्त होती है। कहा गया है–

आतपः कटुको रूक्षः छाया मधुरशीतला।

अर्थात् आतप कटुक और रूक्ष होता है तथा छाया मधुर और शीतल होती है। ऐसा भी नहीं है कि छाया में मधुर आदि गुणों की प्रतीति औपचारिक होती है, वास्तविक नहीं। क्योंकि इस प्रकार की प्रतीति निर्बाध ज्ञान के द्वारा होती है। इस कारण छाया में मधुर आदि गुणों की प्रतीति पारमार्थिक है, औपचारिक नहीं। गतिमान् होने से भी छाया द्रव्य है, वाणादि की तरह। **'गतिमती छाया देशाद्देशान्तरप्राप्तिमत्त्वात् वाणादिवत्'**

इस अनुमान से छाया में गतिमत्त्व सिद्ध होता है। **'वेगेन छाया चलति'**, **'शनैश्छाया चलति'** इस प्रकार की प्रतीति प्रत्येक प्राणी को होती है। यदि पूर्वपक्ष ऐसा कहता है कि आलोक के अभाव का नाम तम है तो हम भी कह सकते हैं कि तम के अभाव का नाम आलोक है। जो बात तम के विषय में है वही बात छाया के विषय में भी है। अतः तम और छाया दोनों ही पुद्गलद्रव्यरूप हैं, आलोक के अभावरूप नहीं। इस प्रकार यहाँ यौगमत का निराकरण करके तम और छाया में द्रव्यान्तरत्व की सिद्धि की गई है।

इस प्रकरण में यह भी द्रष्टव्य है कि चक्षु के दोष तिमिर, काचकामलादि ज्ञान के प्रच्छादक नहीं होते हैं, परन्तु ज्ञानावरण कर्म ज्ञान का प्रच्छादक होता है, क्योंकि ज्ञानावरण कर्म के होने पर पदार्थ का ज्ञान नहीं होता है। परिच्छेद्य होने से तिमिरादि को ज्ञान का आवरण नहीं कहा जा सकता है। जो परिच्छेद्य होता है वह ज्ञान का आवरण नहीं होता है, जैसे घटादि पदार्थ। यतः तिमिरादि ज्ञान के परिच्छेद्य हैं, अतः वे ज्ञान के आवरण नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि ज्ञानावरणकर्म ज्ञान का आवरण करता है और जिस-जिस पदार्थ से ज्ञान का आवरण दूर होता जाता है उस-उस पदार्थ का ज्ञान हमको होता जाता है। यद्यपि आत्मा का स्वभाव ज्ञानरूप है, परन्तु उस पर आवरण के पड़े रहने के कारण वह पदार्थों को ग्रहण नहीं कर पाता है।

यहाँ कोई शङ्का करता है कि ज्ञानस्वभाव होने के कारण आत्मा सर्वत्र और सर्वदा सर्व अर्थों को ग्रहण करने में समर्थ है तथा उसमें अशेषज्ञत्व का प्रसङ्ग भी प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति में उस पर आवरण की कल्पना करना व्यर्थ है। इस शङ्का का निराकरण करने के लिए कहते हैं–

आत्मा के गुणों की अभिव्यक्ति :

मलविद्धमणिव्यक्तिर्यथाऽनेकप्रकारतः ।
कर्मविद्धात्मविज्ञप्तिस्तथाऽनेकप्रकारतः ।।57।।

जिस प्रकार मल से लिप्त पद्मरागादि मणि की अभिव्यक्ति अनेक प्रकार से होती है, उसी प्रकार ज्ञानावरणादि कर्मों से सम्बद्ध आत्मा की विज्ञप्ति (अर्थोपलब्धि) भी अनेक प्रकार से होती है।

कोई मणि यदि कालिमा आदि मल से आच्छादित हो जाती है तो वह अपने तेज का पूर्ण प्रकाश नहीं कर पाती है, परन्तु जितनी मात्रा में उसका मल दूर हो जाता है उतनी मात्रा में उसका प्रकाश प्रकट हो जाता है। कभी उसका प्रकाश अविशद होता है और कभी विशद होता है। कभी उसका प्रकाश निकटवर्ती पदार्थों पर ही पड़ता है और कभी दूरवर्ती पदार्थों पर भी पड़ता है। इस प्रकार उसकी अभिव्यक्ति अनेक प्रकार से होती है। यही बात ज्ञानस्वभाव आत्मा के विषय में भी जाननी चाहिए। यद्यपि आत्मा का स्वभाव सब पदार्थों को जानने का है, परन्तु उसके ऊपर ज्ञानावरण कर्म का आवरण पड़ा हुआ है। इस कारण आत्मा सम्पूर्ण पदार्थों के जानने में असमर्थ रहता है और ज्ञानावरण कर्म का जितनी मात्रा में क्षयोपशम हो जाता है उतनी मात्रा में आत्मा को पदार्थों की उपलब्धि हो जाती है। और अन्त में जब ज्ञानावरण कर्म का सर्वथा क्षय हो जाता है तब आत्मा को त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों का विशद ज्ञान हो जाता है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि ज्ञानावरण कर्म के साथ दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्मों का भी क्षय हो जाता है। इन चार घातिया कर्मों के क्षय हो जाने पर ही आत्मा में केवलज्ञान प्रकट होता है। केवलज्ञान के हो जाने पर यह आत्मा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी कहलाता है। इस प्रकार कर्मबद्ध आत्मा के ज्ञान की अभिव्यक्ति अविशद, विशद आदि कई प्रकार से होती है। यहाँ तक के कथन का सार यह है कि न अर्थ ज्ञान का कारण है और न आलोक। परन्तु ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षयोपशम और क्षय ही पदार्थों के ज्ञान का कारण है।

बौद्ध मानते हैं कि तदुत्पत्ति, ताद्रूप्य और तदध्यवसाय– ये तीनों ज्ञान की प्रमाणता में हेतु होते हैं। इस मत का निराकरण करने के लिए आचार्य कहते हैं–

बौद्धसम्मत तदुत्पत्ति आदि का निराकरण :

न तज्जन्म न ताद्रूप्यं न तद्व्यवसितिः सह।
प्रत्येकं वा भजन्तीह प्रामाण्यं प्रति हेतुताम्।।58।।

ज्ञान की अर्थ से उत्पत्ति, ज्ञान में अर्थसारूप्य और अर्थ का व्यवसाय (निश्चय या निर्णय)– ये तीनों मिलकर अथवा पृथक्-पृथक् ज्ञान की प्रमाणता में हेतु नहीं होते हैं।

बौद्ध मानते हैं कि ज्ञान की उत्पत्ति अर्थ से होती है तथा ज्ञान अर्थाकार होता है। इसके साथ ही ज्ञान में अर्थ का अध्यवसाय होना भी आवश्यक है। इन तीन बातों के होने पर ही ज्ञान में प्रामाण्य होता है। ज्ञान जिस अर्थ से उत्पन्न होता है उस अर्थ के आकार को धारण कर लेता है। इस ज्ञान का विषय घट है, पट नहीं, इस बात का निर्णय अर्थसारूप्य से होता है। ज्ञान जिस अर्थ के आकार होता है उसी अर्थ को जानता है, अन्य को नहीं। घटाकार ज्ञान घट को जानता है और पटाकार ज्ञान पट को जानता है। तदुत्पत्ति और तदाकारता की तरह ज्ञान में अर्थ का अध्यवसाय भी होता है। इस प्रकार ज्ञान का अर्थ से उत्पन्न होना, अर्थाकार होना और अर्थ का अध्यवसाय करना- इन तीन बातों के द्वारा ज्ञान में प्रमाणता आती है, ऐसा बौद्धों का मत है।

बौद्धों का उक्त मत समीचीन नहीं है। तदुत्पत्ति आदि न तो पृथक्-पृथक् ज्ञान के प्रामाण्य में हेतु होते हैं और न युगपत्। हम इस बात को पहले ही बतला चुके हैं कि ज्ञान की उत्पत्ति अर्थ से नहीं होती है। अर्थात् अर्थ ज्ञान का कारण नहीं है, क्योंकि अर्थ का काल भिन्न है और ज्ञान का काल भिन्न है। बौद्धमत में प्रत्येक पदार्थ क्षणिक है। प्रत्येक पदार्थ एक क्षण ही ठहरता है और द्वितीय क्षण में नष्ट हो जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान को उत्पन्न करने में ही अर्थ का एक क्षण बीत जाता है और जिस क्षण में ज्ञान अस्तित्व में आता है उस क्षण में अर्थ नष्ट हो जाता है। इस प्रकार ज्ञान और अर्थ का काल भिन्न-भिन्न सिद्ध होता है। हम कह सकते हैं कि अर्थ ज्ञान का कारण नहीं है, क्योंकि ज्ञान के काल में अर्थ विद्यमान नहीं रहता है। अतः न तो अर्थ ज्ञान का कारण है और न ज्ञान अर्थ का कार्य है। इस प्रकार ज्ञान में तदुत्पत्ति का निराकरण हो जाता है। यहाँ एक शङ्का होती है कि जब ज्ञान के काल में अर्थ नहीं रहता है तब ज्ञान किसको जानता है? इसका उत्तर बौद्ध इस तरह देते हैं कि नष्ट होता हुआ अर्थ ज्ञान को अपना आकार सौंप जाता है और ज्ञान उस अर्थाकार को जानता है।

ज्ञान को अर्थाकार मानना भी तर्कसङ्गत नहीं है। ऐसा नहीं है कि ज्ञान जिस अर्थ से उत्पन्न होता है वह उस अर्थ के आकार को धारण कर लेता है। अमूर्त होने के कारण विज्ञान अर्थ के आकार को धारण

नहीं कर सकता है। दर्पणादि मूर्त पदार्थ ही मूर्त मुखादि के प्रतिबिम्ब को धारण करते हैं। मूर्तिक पदार्थ के धर्म का अभाव होने से ज्ञान अमूर्त है। रूप, रस, गन्ध और स्पर्श– ये मूर्तिक पदार्थ के धर्म हैं। अमूर्त होने के साथ ज्ञान चेतन भी है, किन्तु घटादि पदार्थ अचेतन हैं। अतः दर्पणादि की तरह मूर्त पदार्थ का आकार मूर्त ही धारण कर सकता है, अमूर्त ज्ञानादि नहीं। इस प्रकार ज्ञान में तादूप्य (अर्थाकारता) का निराकरण किया गया है।

ज्ञान में तदध्यवसाय मानना भी युक्तिसङ्गत नहीं है। अभिलापवती प्रतीति का नाम अध्यवसाय है; किन्तु ज्ञान में अभिलापवती प्रतीति होती ही नहीं है। घटादि ज्ञान में न होकर बहिर्देश भूतलादि में होते हैं तथा अर्थ का स्वभाव ज्ञानरूप भी नहीं होता है। यदि ऐसा होता तो अर्थ का ज्ञान में सत्त्व होने से अथवा तदात्मक (ज्ञानात्मक) होने से ज्ञान के प्रतिभासित होने पर अर्थ भी प्रतिभासित होता, किन्तु ऐसा होता नहीं है। इसी प्रकार ज्ञान के प्रतिभासित होने पर शब्द भी प्रतिभासित नहीं होता है। इसका मतलब यह है कि ज्ञान के प्रतिभासित होने पर भी तदाधेय (ज्ञान के आधेय) और तदात्मक (ज्ञानात्मक) रूप से शब्द और अर्थ का प्रतिभास नहीं होता है। इस कारण अर्थ का अध्यवसाय भी नहीं हो सकता है, क्योंकि अभिलापवती प्रतीति (शाब्दीप्रतीति) शब्द और अर्थ के अनुभव के अभाव में नहीं होती है। उपर्युक्त कथन का निष्कर्ष यह है कि बौद्धाभिमत तदुत्पत्ति, तादूप्य और तदध्यवसाय– इन तीनों का ज्ञान में कोई अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता है। यही कारण है कि तदुत्पत्ति आदि ज्ञान के उपकारक या प्रामाण्य के हेतु नहीं होते हैं।

यहाँ बौद्ध पुनः कहते हैं कि यदि ज्ञान में तदुत्पत्ति आदि तीन बातें न हों तो वह अर्थ का ग्राहक कैसे हो सकता है? तदुत्पत्ति आदि के बिना ज्ञान को अर्थग्राहक मानने पर अतिप्रसङ्ग दोष आता है। इस कथन का उत्तर देने के लिए कहते हैं–

स्वहेतुजनितोऽप्यर्थः परिच्छेद्यः स्वतो यथा।
तथा ज्ञानं स्वहेतूत्थं परिच्छेदात्मकं स्वतः ।।59।।

जिस प्रकार अपने हेतुओं से उत्पन्न अर्थ स्वभाव से परिच्छेद्य (ज्ञेय)

होता है, उसी प्रकार अपने हेतुओं से उत्पन्न ज्ञान भी स्वभाव से परिच्छेदात्मक (ज्ञायक) होता है।

घटादि पदार्थ अपने हेतु मिट्टी, दण्ड, चक्रादि से उत्पन्न होते हैं तथा वे अपने स्वभाव से ही ज्ञान के परिच्छेद्य (विषय) होते हैं। ऐसा नहीं है कि अर्थ पहले ज्ञान को उत्पन्न करता हो और फिर उसका परिच्छेद्य होता हो। इसी प्रकार ज्ञान ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशमरूप अन्तरङ्ग हेतु से तथा इन्द्रिय और अनिन्द्रियरूप बहिरङ्ग हेतु से उत्पन्न होकर अपने स्वभाव से ही घटादि पदार्थों का परिच्छेदक (अर्थ को ग्रहण करने वाला) होता है। ऐसा नहीं है कि ज्ञान अर्थ से उत्पन्न होकर और तदाकार होकर अर्थ को जानता हो। घटादि पदार्थों को जानना आत्मा का स्वभाव है और अपने इस स्वभाव के कारण ही वह पदार्थों को जानने में समर्थ होता है। अपने-अपने कारणों से आत्मलाभ को प्राप्त करने वाले अर्थ और ज्ञान में परिच्छेद्य-परिच्छेदक सम्बन्ध अथवा ग्राह्य-ग्राहक सम्बन्ध है। यतः स्वकारण से उत्पन्न अर्थ और ज्ञान में परिच्छेद्य-परिच्छेदकभाव सिद्ध है, अतः अर्थ से उत्पत्ति के बिना भी उनमें ग्राह्यग्राहकभाव सिद्ध होता है। ज्ञान और अर्थ में ऐसी ही योग्यता है। अन्य प्रकार से उनमें ग्राह्य-ग्राहक की व्यवस्था नहीं बन सकती है।

वह ज्ञान व्यवसायात्मक होता है, इस बात को बतलाने के लिए कहते हैं–

ज्ञान में व्यवसायात्मकत्व की सिद्धि :

व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्थग्राहकं मतम्।
ग्रहणं निर्णयस्तेन मुख्यं प्रामाण्यमश्नुते।।60।।

व्यवसायात्मक ज्ञान अपना और अर्थ का ग्राहक माना गया है तथा स्वार्थव्यवसायरूप निर्णय के कारण ही ज्ञान मुख्य प्रामाण्य को प्राप्त होता है।

ज्ञान को व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) कहा गया है। ज्ञान को व्यवसायात्मक कहने से बौद्धों द्वारा अभिमत– **'कल्पनापोढं ज्ञानं प्रत्यक्षम्'**, कल्पनारहित ज्ञान प्रत्यक्ष होता है, ऐसा मत निरस्त हो जाता है। बौद्ध मानते हैं कि ज्ञान जाति, गुण, क्रिया आदि की कल्पना से रहित अर्थात्

निर्विकल्पक होता है। इसके विपरीत जैनदर्शन कहता है कि ज्ञान जाति, गुण, क्रिया आदि से विशिष्ट अर्थ को ही जानता है। ज्ञान सविकल्पक (निश्चयात्मक) होता है। ज्ञान केवल अर्थ को ही नहीं जानता; किन्तु 'स्व' को भी जानता है। इस बात को **'आत्मार्थग्राहकं मतम्'** इस पद के द्वारा बतलाया गया है। कुछ दार्शनिक (मीमांसक) ज्ञान को अर्थग्राहक मानकर भी उसे स्वग्राहक नहीं मानते हैं। दूसरे दार्शनिक (योगाचार) ज्ञान को स्वग्राहक तो मानते हैं, किन्तु उसे अर्थग्राहक नहीं मानते हैं, क्योंकि उनके मत में अर्थ की सत्ता ही नहीं है। अतः **'आत्मार्थग्रहणम्'** पद के द्वारा उक्त मतों का निराकरण किया गया है। यतः ज्ञान व्यवसायात्मक होता है, अतः वही मुख्यरूप से प्रमाण है। अन्य इन्द्रियवृत्ति, सन्निकर्ष आदि को मुख्य प्रमाण नहीं कहा जा सकता है। सन्निकर्ष आदि को तो उपचार से ही प्रमाण माना जा सकता है, क्योंकि ये सब अज्ञानरूप हैं और प्रमाण की उत्पत्ति में साधकतम नहीं होते हैं। प्रमाण की उत्पत्ति में तो ज्ञान ही साधकतम होता है। अतः ज्ञान में मुख्य प्रमाण का व्यपदेश होता है।

स्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमाण सिद्ध करके अब उसके भेद बतलाते हैं–

प्रमाण के भेद :

तत्प्रत्यक्षं परोक्षञ्च द्विधैवात्रान्यसंविदाम्।
अन्तर्भावान्न युज्यन्ते नियमाः परकल्पिताः।।61।।

स्वार्थव्यवसायात्मकज्ञानरूप प्रमाण प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का ही है। अनुमान, उपमान आदि प्रमाणों का इन्हीं दो प्रमाणों में अन्तर्भाव हो जाने के कारण बौद्ध, वैशेषिक आदि के द्वारा परिकल्पित प्रमाणों की संख्या का नियम नहीं बनता है।

जैनदर्शन के अनुसार प्रमाण के दो भेद हैं– प्रत्यक्ष और परोक्ष; किन्तु बौद्ध, सांख्य, नैयायिक आदि अन्य दार्शनिक प्रत्यक्ष और अनुमान, प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम, इत्यादि प्रकार से प्रमाण के दो, तीन, चार आदि कई भेद मानते हैं। इस कारिका में यह बतलाया गया है कि प्रमाण के दो भेद मानना ही युक्तिसङ्गत है। जो लोग प्रमाण के अनुमान, उपमान, आगम आदि कई भेद मानते हैं उन सब प्रमाणों का इन्हीं दो प्रमाणों

में अन्तर्भाव हो जाता है। इसलिए उन प्रमाणों को प्रत्यक्ष और परोक्ष से पृथक् प्रमाण मानना और प्रमाणों की तीन, चार आदि संख्या का नियम बतलाना युक्तिसङ्गत नहीं है, क्योंकि अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव प्रमाणों का अन्तर्भाव परोक्ष प्रमाण में हो जाता है। जैनदर्शन में परोक्ष प्रमाण के पाँच भेद माने गये हैं, जो इस प्रकार हैं- स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम। प्रत्यक्ष प्रमाण के तीन भेद हैं- इन्द्रियप्रत्यक्ष, अनिन्द्रियप्रत्यक्ष और अतीन्द्रियप्रत्यक्ष। चक्षुरादि इन्द्रियों से उत्पन्न घटादि पदार्थों का ग्राहक ज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष कहलाता है। इसके अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के भेद से चार भेद होते हैं। मन को अनिन्द्रिय कहते हैं। मन से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष कहलाता है। इसके स्मृति, संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्क) और अभिनिबोध (अनुमान)- ये चार भेद हैं। इन्द्रियप्रत्यक्ष और अनिन्द्रियप्रत्यक्ष को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा गया है। ये दोनों ज्ञान एकदेश विशद होते हैं।

इन्द्रियादि की अपेक्षा के विना केवल आत्ममात्र से जन्य ज्ञान अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष कहलाता है। इसी को मुख्यप्रत्यक्ष कहते हैं। इसके तीन भेद हैं- अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, और केवलज्ञान। अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान रूपी पदार्थों की कतिपय पर्यायों को ही जानते हैं; किन्तु इनका जितना भी विषय है उस विषय में ये पूर्णरूप से विशद होते हैं। इसी कारण इनकी गणना मुख्यप्रत्यक्ष में की गई है। ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों का पूर्ण क्षय हो जाने पर केवलज्ञान उत्पन्न होता है। इसका विषय जीव, पुद्गल आदि सम्पूर्ण द्रव्य और उनकी त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायें हैं। अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान क्षायोपशमिकज्ञान हैं तथा केवलज्ञान क्षायिक ज्ञान है। अतीन्द्रिय होने से तथा अपने विषय में पूर्ण विशद होने से इनको मुख्यप्रत्यक्ष कहते हैं। केवलज्ञान को लोकोत्तरज्ञान कहा जाता है, क्योंकि यह सकल लोक में उत्कृष्ट ज्ञान है। कोई भी व्यक्ति इस अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष (केवलज्ञान) का निराकरण नहीं कर सकता है। इस विषय में कहा गया है- **'तदस्ति सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत्'**। केवलज्ञान अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है, क्योंकि उसके अस्तित्व में बाधक प्रमाणों का असम्भव *सुनिश्चित है, सुखादि की तरह। प्रत्यक्षादि कोई भी प्रमाण अतीन्द्रियप्रत्यक्ष का बाधक नहीं है।* सर्वज्ञसिद्धि के प्रकरण में इस बात को अच्छी तरह

से बतलाया जा चुका है। इसलिए यहाँ उसको पुनः बतलाने की आवश्यकता नहीं है।

इस कारिका में श्रुत के लिए परोक्ष शब्द का प्रयोग किया गया है। बाधारहित श्रुत परोक्ष प्रमाण माना गया है और इसमें अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति आदि प्रमाणों का अन्तर्भाव हो जाता है। इन प्रमाणों का अन्तर्भाव परोक्ष प्रमाण में किस प्रकार होता है इस बात का स्पष्टीकरण परोक्ष परिच्छेद में किया जा चुका है।

श्रुत के दो उपयोग :

उपयोगौ श्रुतस्य द्वौ स्याद्वादनयसंज्ञितौ।
स्याद्वादः सकलादेशो नयो विकलसंकथा।।62।।

श्रुत नामक परोक्ष प्रमाण के दो उपयोग (व्यापार) हैं- स्याद्वाद और नय। इनमें से स्याद्वाद को सकलादेश और नय को विकलादेश कहते हैं।

श्रुत शब्द की व्युत्पत्ति है- **श्रूयते इति श्रुतम्**। अर्थात् जो सुना जाता है वह श्रुत है। श्रुत के दो भेद हैं- द्रव्यश्रुत और भावश्रुत। वर्ण, पद और वाक्यरूप आप्तवचन द्रव्यश्रुत कहलाता है तथा आप्त के वचनों द्वारा अर्थ का जो ज्ञान होता है वह भावश्रुत है। इस प्रकार के श्रुत के दो उपयोग हैं- स्याद्वाद और नय। प्रत्येक अर्थ अनेकान्तात्मक या अनेक धर्मात्मक होता है और अनेकान्तात्मक अर्थ के कथन का नाम स्याद्वाद है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल- इन छह द्रव्यों के अनेक धर्मों का निरूपण करना स्याद्वाद का काम है। सबसे पहले जीव में अनेकान्तात्मकत्व की सिद्धि की जाती है। जीवद्रव्य ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य- इन चार असाधारण गुणों से अनेकान्तात्मक है। ये चार गुण जीव के असाधारण गुण हैं। इनका सद्भाव पुद्गल आदि अन्य किसी द्रव्य में नहीं पाया जाता है। वैशेषिक बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार- इन नौ गुणों को आत्मा के विशेष गुण मानते हैं। उनका ऐसा मानना ठीक नहीं है।, क्योंकि इच्छा आदि तो क्रमभावी पर्यायें हैं, गुण नहीं। यदि इनको गुण माना जाता है तो भय, हर्ष, शोक आदि को भी गुण मानना चाहिए और तब नौ की संख्या

का व्याघात होना अनिवार्य है। अमूर्तत्व, असंख्यात प्रदेशत्व और सूक्ष्मत्व– इन साधारण और असाधारण गुणों से भी जीव अनेकान्तात्मक है। अमूर्तत्व, असंख्यातप्रदेशत्व और सूक्ष्मत्व– ये तीन गुण जीव के साधारण और असाधारण दोनों प्रकार के गुण हैं। ये गुण आकाश आदि में भी पाये जाने के कारण साधारण गुण हैं, परन्तु ये पुद्‌गल द्रव्य में नहीं पाये जाते हैं, इस कारण असाधारण गुण हैं। इसके अतिरिक्त सत्त्व, प्रमेयत्व, गुणित्व, धर्मित्व, अगुरुलघुत्व इत्यादि साधारण गुणों से भी जीव में अनेकान्तात्मकत्व सिद्ध होता है। ये गुण छहों द्रव्यों में समान रूप से पाये जाते हैं, इसलिए इनको साधारण गुण कहा गया है। इस प्रकार से जीव का सकलादेश के द्वारा कथन करना स्याद्वाद कहलाता है। सकलादेश का अर्थ है– सम्पूर्ण वस्तु का कथन करना। इसी को प्रमाण भी कहते हैं। जीवद्रव्य के अतिरिक्त पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल– ये द्रव्य भी अनेकधर्मात्मक हैं तथा स्याद्वाद के द्वारा इन सभी द्रव्यों का कथन किया जाता है।

सकलादेशरूप प्रमाण को बतलाकर अब विकलादेशरूप नय को बतलाते हैं। विकलादेश का अर्थ है– वस्तु के एकदेश अथवा एक धर्म का कथन करना। जैसे **'जीवः ज्ञः सुखदुःखादिवेदनात्'** अर्थात् सुखदुःखादि का वेदन करने के कारण जीव 'ज्ञ' (जानने वाला) है। इत्यादि प्रकार का कथन जीव के अनेक धर्मों में से एक धर्म का कथन करने के कारण विकलादेशरूप (नयरूप) कथन है। वस्तु के एक धर्म का कथन करते समय उसके अन्य धर्मों की विवक्षा नहीं होती है। वहाँ मुख्यरूप से एक धर्म का ही कथन किया जाता है, परन्तु अन्य धर्मों का प्रतिक्षेप (निराकरण) नहीं किया जाता है।

यहाँ एक बात विशेषरूप से ध्यान देने योग्य है। जैसे ज्ञानरूप श्रुत के दो उपयोग हैं वैसे ही वचनरूप श्रुत के भी दो उपयोग हैं– प्रमाणरूप वचन और नयरूप वचन। जिसके द्वारा अनेकधर्मात्मक वस्तु का कथन किया जाता है वह प्रमाणरूप वचन है और जिसके द्वारा वस्तु के एक धर्म का कथन किया जाता है वह नयरूप वचन है। इन दोनों ही प्रकार के वचनों में **'स्यात्'** शब्द का प्रयोग करना चाहिए। **'स्यात्'** शब्द के साथ **'एव'** शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। जब हम कहते हैं– **'स्यात्**

जीव एव' तब यह वाक्य अनन्तधर्मात्मक जीव का अखण्डभाव से बोध कराता है। अतः यह सकलादेशात्मक प्रमाण वाक्य है। इस वाक्य में स्यात् और एव का प्रयोग होने से जीव सत् ही है, या असत् ही है, वह द्रव्यरूप ही है या पर्यायरूप ही है, इत्यादि प्रकार के एकान्त वादों का निरास होकर स्वरूपादि चार विशेषणों से विशिष्ट अनेकान्तात्मक जीव-तत्त्व की सिद्धि हो जाती है।

जिस प्रकार प्रमाण वाक्य में स्यात् और एव शब्द का प्रयोग होता है उसी प्रकार नयवाक्य में भी इन शब्दों का प्रयोग होता है। जब हम कहते हैं- **'स्यादस्त्येव जीवः'** तो इस वाक्य में जीव के अस्तित्व धर्म का मुख्यरूप से कथन होता है। अतः यह विकलादेशात्मक नय वाक्य है। सकलादेश में धर्मिवाचक शब्द के साथ एवकार का प्रयोग होता है और विकलादेश में धर्मवाचक शब्द के साथ उसका प्रयोग होता है। स्याद्वाद वस्तु के अनन्त धर्मों का प्रतिपादन **'स्यादस्ति' 'स्यान्नास्ति'** इत्यादि सात भङ्गों और नयों की अपेक्षा से करता है। सातों ही भङ्ग जब सकलादेशी होते हैं तब प्रमाण और जब विकलादेशी होते हैं तब नय कहे जाते हैं। इस प्रकार सप्तभङ्गी प्रमाणसप्तभङ्गी और नयसप्तभङ्गी के रूप से दो प्रकार की होती है। सकलादेश एक धर्म के द्वारा समस्त वस्तु को अखण्डरूप से ग्रहण करता है तथा विकलादेश एक धर्म को प्रधान और शेष धर्मों को गौण करके वस्तु का ग्रहण करता है। सकलादेश (प्रमाण) सम्यगनेकान्तरूप होता है और विकलादेश (नय) सम्यगेकान्तरूप है।

यहाँ कोई कह सकता है कि लौकिक जन सब वाक्यों में स्यात्कार और एवकार का प्रयोग नहीं करते हैं। फिर यहाँ ऐसा क्यों बतलाया गया है? इसके उत्तर में कहते हैं-

अप्रयुक्तोऽपि सर्वत्र स्यात्कारोऽर्थात् प्रतीयते।
विधौ निषेधेऽप्यन्यत्र कुशलश्चेत् प्रयोजकः।।63।।

यदि वाक्यप्रयोग करने वाला कुशल है तो विधिरूप वाक्य में, निषेधरूप वाक्य में तथा अन्यत्र अनुवाद आदि में सर्वत्र स्यात्कार एवं एवकार शब्द का प्रयोग न करने पर भी सामर्थ्य से उसकी प्रतीति स्वतः हो जाती है।

यह आवश्यक नहीं है कि सब वाक्यों में **'स्यात्'** और **'एव'** शब्द का प्रयोग होना ही चाहिए। स्यात् शब्द का प्रयोग न करने पर भी सामर्थ्य से उसकी प्रतीति स्वतः हो जाती है। यदि प्रयोजक (प्रयोग करने वाला) निपुण है तो विधिरूप वाक्य में, निषेधरूप वाक्य में तथा अनुवाद आदि में भी सर्वत्र स्यात् और एव शब्द की प्रतीति अपने आप हो जाती है। यहाँ कुशल प्रयोजक का अर्थ है- प्रमाण से जो अर्थ जैसा प्रतिपन्न होता है उसको वैसा ही प्रतिपादन करने वाला। यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि जो एकान्तवादी विधि आदि वाक्यों में स्यात्कार शब्द के प्रयोग के अनिच्छुक हैं वे एकान्तवाद के समर्थक हैं। अतः एकान्तवाद के परिहार के इच्छुक जनों को सर्वत्र स्यात्कार का प्रयोग स्वीकरणीय होता है। जो बात स्यात्कार के विषय में है वही बात एवकार के विषय में भी है। एवकार के अभाव में भी एकान्तवाद का प्रसङ्ग प्राप्त होता है। एवकार के प्रयोग के बिना एकान्त का निराकरण सम्भव नहीं है। कारिका में प्रयुक्त **'स्यात्'** शब्द **'एव'** शब्द का उपलक्षण है। अर्थात् स्यात् के साथ एव शब्द का भी प्रयोग करना चाहिए।

एवकार शब्द के प्रयोग का प्रयोजन :

एवकार शब्द का प्रयोग कहीं अन्ययोगव्यवच्छेद के लिए, कहीं अयोगव्यवच्छेद के लिए तथा कहीं अत्यन्तायोगव्यवच्छेद के लिए किया जाता है। विशेष्य के साथ प्रयुक्त एवकार अन्ययोग के व्यवच्छेद का बोधक होता है। जैसे **'पार्थ एव धनुर्धरः'** अर्थात् कृष्ण ही धनुषधारी है। इस वाक्य में पार्थ विशेष्य है और पार्थ के साथ जो एव शब्द का प्रयोग हुआ है वह बतलाता है कि कृष्ण ही धनुर्धर है, अन्य कोई नहीं। यहाँ कृष्ण के अतिरिक्त अन्य पुरुष में धनुर्धरत्व का व्यवच्छेद किया गया है। इसी प्रकार जब हम कहते हैं- **'ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणो जीव एव'** तो यहाँ अन्ययोग के व्यवच्छेद द्वारा जीव में ही ज्ञानदर्शनोपयोगरूप लक्षण सिद्ध होता है। इस वाक्य में जीव के साथ जो एव शब्द का प्रयोग हुआ है वह बतलाता है कि ज्ञानदर्शनोपयोगरूप लक्षण जीव में ही पाया जाता है, अन्य किसी द्रव्य में नहीं।

इसी प्रकार विशेषण के साथ प्रयुक्त एवकार अयोग के व्यवच्छेद का बोध कराता है। जैसे **'शङ्खः पाण्डुर एव'**। अर्थात् शङ्ख शुक्ल ही होता है।

यहाँ शङ्ख के विशेषणरूप पाण्डुर के साथ प्रयुक्त जो एव शब्द है वह यह बतलाता है कि शङ्ख में पाण्डुरत्व का अयोग नहीं है। इसी तरह **'ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षण एव जीवः'** इस प्रकार के वाक्य में एव शब्द का प्रयोग जीव के विशेषण ज्ञानदर्शनोपयोग के साथ हुआ है। इससे यह सिद्ध होता है कि जीव में ज्ञानदर्शनोपयोग का अयोग (अभाव) नहीं है। इसी प्रकार क्रिया के साथ प्रयुक्त एवकार अत्यन्त अयोग के व्यवच्छेद का बोधक होता है। जैसे **'नीलं सरोजं भवत्येव'**। अर्थात् सरोज (कमल) नील होता ही है। जब किसी को ऐसा सन्देह होता है कि सरोज नील होता है या नहीं? तब उस सन्देह को दूर करने के लिए कहा गया है कि सरोज नील होता ही है। इस कथन के द्वारा कमल में नीलत्व के अत्यन्त अयोग का व्यवच्छेद किया जाता है अर्थात् सब कमल नील नहीं होते हैं, परन्तु कुछ कमल नील अवश्य होते हैं। यही कमल में नीलत्व के अत्यन्तायोग का व्यवच्छेद है। इसी प्रकार जब हम कहते हैं- **'ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणो जीवो भवत्येव'**, तो यहाँ क्रिया के साथ प्रयुक्त एवकार के द्वारा जीव में ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षण के अत्यन्त अयोग का व्यवच्छेद किया जाता है। **'भवत्येव'** ऐसे निश्चय के अभाव में जीव में ज्ञानदर्शनोपयोगरूप लक्षण का अत्यन्तायोगव्यवच्छेद सम्भव नहीं है। 'जीव ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षण वाला होता ही है' ऐसा कहने से जीव में ज्ञानदर्शनोपयोग का सद्भाव सिद्ध होकर उसके अत्यन्तायोग का व्यवच्छेद हो जाता है। इस तरह जैनदर्शन में सभी वाक्यों में स्यात्कार और एवकार का प्रयोग करना सार्थक एवं आवश्यक है।

यहाँ बौद्ध कहते हैं कि विवक्षा के प्रति प्रतिबद्ध होने के कारण शब्द विवक्षा का ही ज्ञान कराता है, अर्थ का नहीं। इस कथन का निराकरण करने के लिए कहते हैं-

बौद्धसम्मत शब्द-विवक्षा का निराकरण :

वर्णाः पदानि वाक्यानि प्राहुरर्थानवाञ्छितान्।
वाञ्छितांश्च क्वचिन्नेति प्रसिद्धिरियमीदृशी।।64।।
स्वेच्छया तामतिक्रम्य वदतामेव युज्यते।
वक्त्रभिप्रेतमात्रस्य सूचकं वचनं त्विति।।65।।

वर्ण, पद और वाक्य कहीं अवाञ्छित अर्थों को कहते हैं और कहीं

पर वाञ्छित अर्थों को भी नहीं कहते हैं। ऐसी लोकप्रसिद्धि है। इस लोकप्रसिद्धि का स्वेच्छा से अतिक्रमण (उल्लंघन) करके कहने वाले बौद्धों को ही ऐसा कहना युक्त प्रतीत होता है कि वचन वक्ता के अभिप्रायमात्र का सूचक होता है।

अकारादि अक्षरों को वर्ण कहते हैं। वर्णों के सार्थक समूह को पद अथवा शब्द कहते हैं। जैसे बालक, मनुष्य, अश्व आदि पद हैं। परस्पर सापेक्ष पदों के समूह को वाक्य कहते हैं। जैसे महावीर चौबीसवें तीर्थङ्कर हैं, यह एक वाक्य है। वर्ण, पद और वाक्य कहीं घटादि अवाञ्छित पदार्थों को कहते हैं और कहीं मन्द बुद्धि आदि के द्वारा वाञ्छित अर्थों को भी नहीं कहा जाता है। यह आवश्यक नहीं है कि सर्वत्र वक्ता की इच्छानुसार ही कथन हो। वक्ता की इच्छानुसार कथन को वाञ्छित कहते हैं। मन्दबुद्धि आदि प्राणियों का कथन इच्छा के विपरीत भी देखा जाता है। वे कहना कुछ चाहते हैं और कह कुछ दूसरा ही देते हैं। कभी न चाहते हुए भी वक्ता के मुख से अपशब्द निकल जाते हैं। इच्छा करने वाले मन्दबुद्धि शास्त्रों के प्रवक्ता नहीं बन पाते हैं। सुषुप्ति आदि अवस्था में इच्छा के बिना भी वचन की प्रवृत्ति देखी ज़ाती है। शब्दों का अर्थ के साथ व्यभिचार तो वाञ्छित और अवाञ्छित दोनों प्रकार के अर्थों के कथन में देखा जाता है। इससे कोई ऐसा कहे कि शब्द अर्थ के वाचक नहीं होते हैं तो उसका ऐसा कथन बड़ा ही विचित्र प्रतीत होता है। शब्द केवल वक्ता के अभिप्राय का कथन नहीं करते हैं, किन्तु वक्ता के अभिप्राय से पृथक् घट-पटादि पदार्थों का कथन करते हैं। जिस शब्द को सुनकर जिस अर्थ की प्रतीति, प्राप्ति और प्रवृत्ति होती है वही उस शब्द का वाच्य होता है। यदि कोई शब्द अर्थ का व्यभिचारी है तो इससे सब शब्दों को अर्थ का व्यभिचारी नहीं माना जा सकता है। अन्यथा द्विचन्द्ररूप प्रत्यक्ष को व्यभिचारी होने से सब प्रत्यक्षों को व्यभिचारी मानना पड़ेगा। यदि शब्द को वक्ता के अभिप्रायमात्र का वाचक माना जाय तो इस मान्यता में अर्थों में सत्य और असत्य की व्यवस्था कैसे बनेगी? लौकिकजन तो अर्थ की प्राप्ति होने पर सत्य की व्यवस्था और अर्थ की अप्राप्ति में असत्य की व्यवस्था करते हैं। अभिप्रायमात्र के कथन करने से सत्य और असत्य की व्यवस्था नहीं बन सकती है। अतः लोक में जैसी प्रतीति होती है उसको वैसा मानना ही प्रमाणसङ्गत है। अबाधित शब्दप्रतीति का उल्लंघन करके उसके

विपरीत कथन करना सर्वथा अनुचित है। अतः बौद्धों का यह कथन सर्वथा असङ्गत है कि वचन वक्ता के अभिप्रायमात्र के सूचक होते हैं तथा वे अर्थ के वाचक नहीं होते हैं। इस बात को पहले भी बतलाया जा चुका है कि शब्द और अर्थ में स्वाभाविक वाच्यवाचकसम्बन्ध है और इस सम्बन्ध के कारण वे अर्थ के वाचक होते हैं।

शब्दनित्यत्ववाद :

पूर्वपक्ष– मीमांसक शब्दनित्यत्ववादी हैं। उनका कहना है कि अनित्य शब्द अर्थ का प्रतिपादन नहीं कर सकते हैं, क्योंकि अनित्य शब्द उत्पन्न होने के अनन्तर नष्ट हो जाते हैं। इस कारण जिस शब्द का सङ्केत अर्थ में किया जाता है वह सङ्केतित शब्द व्यवहारकाल में नहीं रहता है। तब उसके द्वारा अर्थ का प्रतिपादन कैसे हो सकता है? अतः शब्दों को नित्य मानना सर्वथा युक्तिसङ्गत है, क्योंकि नित्य शब्दों को सङ्केतकाल और व्यवहारकाल– इन दोनों कालों में विद्यमान रहने से उनके द्वारा अर्थ का प्रतिपादन सुगमता से हो जाता है। शब्दों में नित्यत्व की सिद्धि प्रत्यभिज्ञान और अनुमान प्रमाण से होती है। **'स एवायं गकारः'** यह वही गकार है, इत्यादि प्रकार से प्रत्यभिज्ञान के द्वारा शब्दों में नित्यत्व की प्रतीति होती है। इस प्रकार के प्रत्यभिज्ञान का अनुभव प्रत्येक प्राणी को होता है। यह ज्ञान संशयरूप न होकर निश्चयरूप है तथा किसी प्रमाण से बाधित न होने के कारण मिथ्या भी नहीं है। जो ज्ञान किसी प्रमाण से बाधित होता है वही मिथ्या कहलाता है, जैसे शुक्तिका में रजतज्ञान। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञान के द्वारा शब्द में नित्यत्व सिद्ध हो जाने पर इस काल के समान अन्य काल में जो शब्द का उच्चारण होता है वह शब्द का जनक न होकर शब्द का अभिव्यञ्जक होता है।

मीमांसक शब्द में नित्यत्व की सिद्धि अनुमान प्रमाण से भी करते हैं। तथाहि– **'विवादाध्यासितो वा कालः गादिसम्बद्धः कालत्वात् प्रतिपादितशब्दसम्बद्धकालवत्।'** अर्थात् विवादापन्न जो काल है वह गकारादि *अक्षरों से सम्बद्ध है, प्रतिपादित शब्द सम्बद्ध काल की तरह।* इस अनुमान से शब्द में नित्यत्व की सिद्धि होती है। अन्य अनुमान भी देखिए– **'नित्यः शब्दः श्रावणत्वात्, यदेवं तत्तथा यथा शब्दत्वम्, तथा चायम्, तस्मात्तदपि तथा।'** अर्थात् शब्द नित्य है, श्रावण होने से। जो ऐसा होता है वह

वैसा होता है, जैसे शब्दत्व। गवादि शब्द श्रावण है, अतः वह नित्य है। 'तथा **विवादाध्यासितः कालः गवादिशब्दशून्यो न भवति कालत्वात्, इदानीन्तनकालवत्।**' अर्थात् विवादापन्न काल गवादि शब्द से शून्य नहीं होता है, काल होने से, वर्तमान काल की तरह।

प्रत्यभिज्ञान और अनुमान के अतिरिक्त अर्थापत्ति प्रमाण से भी शब्द में नित्यत्व की सिद्धि होती है। तथाहि- '**नित्यः शब्दः ततोऽर्थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्तेः।**' अर्थात् शब्द नित्य है, यदि शब्द नित्य न हो तो उसके द्वारा अर्थ की प्रतिपत्ति नहीं हो सकती है। शब्द के अनित्य होने पर उसके द्वारा अर्थ की प्रतिपत्ति सम्भव नहीं है। जिस शब्द के साथ अर्थ का प्रतिबन्ध (वाच्यवाचकसम्बन्ध) सिद्ध है उसी शब्द से उस अर्थ की प्रतिपत्ति होती है, अन्य शब्द से नहीं। शब्द के अनित्य होने पर अर्थ के साथ प्रतिबद्ध शब्द की अनुवृत्ति उत्तरकाल में सम्भव नहीं है, क्योंकि वह तो उसी समय नष्ट हो जाता है। इत्यादि प्रकार से विचार करने पर यह सिद्ध होता है कि शब्द नित्य है। मीमांसक शब्द को नित्य मानने के साथ व्यापक भी मानते हैं। इस विषय में कहा गया है-

नित्यत्वं व्यापकत्वं च सर्ववर्णेषु संस्थितम्।
प्रत्यभिज्ञानतो मानाद् बाधसंगमवर्जितात्।।

अर्थात् सब वर्णों में नित्यत्व और व्यापकत्व विद्यमान रहता है, इस बात का ज्ञान निर्बाध प्रत्यभिज्ञान के द्वारा होता है। इस प्रकार मीमांसकों ने शब्दों में नित्यत्व और व्यापकत्व सिद्ध किया है।

उत्तरपक्ष- मीमांसकों का उक्त मत तर्कसङ्गत नहीं है। शब्द को नित्य मानना प्रतीतिविरुद्ध है। यह कहना सर्वथा गलत है कि शब्द को अनित्य मानने पर उससे अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकेगी। जिस पुरुष ने शब्द का अर्थ के साथ सङ्केत ग्रहण कर लिया है उस पुरुष को सादृश्य के कारण अनित्य शब्द से भी अर्थ की प्रतीति होने में कोई बाधा नहीं है। ऐसा कोई नियम नहीं है कि जो शब्द सङ्केतकाल में गृहीत हुआ है उसी शब्द से अर्थ की प्रतीति होनी चाहिए। मीमांसकों ने शब्द को नित्य सिद्ध करने के लिए '**स एवायं गकारः**' इत्यादि जो कुछ कहा है वह सब अविचारित रमणीय है। सादृश्यनिबन्धन यह प्रत्यभिज्ञान एकत्व का प्रसाधक नहीं

होता है, प्रदीपादिप्रत्यभिज्ञान की तरह। यथार्थ में 'स एवायं गकारः' ऐसा एकत्वप्रत्यभिज्ञान न होकर 'तत्सदृशोऽयं गकारः' ऐसा सादृश्य-प्रत्यभिज्ञान होता है। प्रदीप, अङ्गहार (नृत्यक्रियाविशेष), लूनपुनर्जातनख-केशादि में भी 'यह वही है' ऐसा एकत्वप्रत्यभिज्ञान होता है जो वास्तविक न होकर भ्रमरूप होता है।

यदि शब्द नित्य है तो उच्चारण के पहले शब्द का अनुपलम्भ क्यों रहता है– इन्द्रिय के अभाव से, शब्द के असन्निहित होने से, अथवा शब्द के आवृत होने से? इन्द्रिय के अभाव से तो शब्द का अनुपलम्भ माना नहीं जा सकता है, क्योंकि उच्चारण के अनन्तर शब्द की उपलब्धि होती ही है। यहाँ ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि पहले इन्द्रिय नहीं थी और उच्चारण के समय श्रोत्रेन्द्रिय का प्रादुर्भाव हो गया। ऐसा मानने में प्रतीति विरोध आता है। शब्द के असन्निहित होने के कारण भी शब्द का अनुपलम्भ नहीं माना जा सकता है, क्योंकि शब्द के नित्य और व्यापक होने से उसका सन्निधान तो सर्वत्र और सर्वदा रहता ही है। आवृत होने के कारण शब्द का अनुपलम्भ मानना तो सर्वथा गलत है, क्योंकि नित्य और एक स्वभाव वाले शब्द का आवरण सम्भव ही नहीं है। दृश्य स्वभाव का परित्याग करके अदृश्य स्वभाव को स्वीकार किये बिना शब्द में आवरण हो ही नहीं सकता है। शब्द आवृत अवस्था में अपने दृश्यस्वरूप का परित्याग करता नहीं है और यदि ऐसा माना जाय कि शब्द आवृत अवस्था में अपने दृश्य स्वभाव का परित्याग कर देता है तो इससे शब्द में अनित्यत्व ही सिद्ध होता है।

यहाँ एक बात और विचारणीय है कि यदि व्यञ्जक व्यापार से पूर्व शब्द का सद्भाव किसी प्रमाण से सिद्ध हो तो शब्द का आवरण माना जा सकता है। जैसे प्रत्यक्ष प्रतिपन्न घट में अन्धकार के द्वारा आवरण हो जाता है; किन्तु व्यञ्जक व्यापार के पहले शब्द का सद्भाव किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है। यदि शब्द का कोई आवरण माना जाय तो वह दृश्य है, अदृश्य है, नित्य है, अनित्य है, व्यापक है, अव्यापक है, एक है, अनेक है, इत्यादि अनेक विकल्प होते हैं। और जब इन विकल्पों पर विचार करते हैं तो किसी भी तरह का आवरण ठहर नहीं पाता है। यदि शब्द का आवरण नित्य है तो सर्वदा शब्द की अनुपलब्धि रहना

चाहिए और यदि आवरण अनित्य है तो उसके प्रध्वस्त हो जाने पर तथा उसकी पुनरुत्पत्ति का कोई कारण न होने से सर्वदा सबको शब्द का उपलम्भ होना चाहिए। यदि सब शब्दों का एक ही आवरण है तो एक शब्द का उपलम्भ होने पर सब शब्दों का उपलम्भ हो जाना चाहिए। अथवा जब एक शब्द का अनुपलम्भ हो रहा है तब अन्य शब्दों का भी अनुपलम्भ होना चाहिए। इस प्रकार शब्द का कोई आवरण सिद्ध नहीं होता है।

मीमांसक मानते हैं कि तालु आदि के व्यापार से व्यञ्जक ध्वनियों की उत्पत्ति होती है और ध्वनियों के द्वारा शब्दों की अभिव्यक्ति होती है। मीमांसकों की ऐसी मान्यता ठीक नहीं है, क्योंकि तालु आदि को अथवा ध्वनियों को भी शब्दों का व्यञ्जक नहीं माना जा सकता है। यदि तालु आदि शब्दों के व्यञ्जक हों तो उनका व्यापार होने पर शब्दों की उपलब्धि नियम से नहीं होगी। यह तो कारक का व्यापार है जो अपने सन्निधान में नियम से कार्य का सन्निधापन करता है। ऐसा कोई नियम नहीं है कि जहाँ-जहाँ व्यञ्जक प्रदीपादि हो वहाँ-वहाँ व्यङ्ग्य घटादि की उपलब्धि होती ही हो। यदि ऐसा होने लगे तो फिर कारक और व्यञ्जक में कोई अन्तर ही नहीं रहेगा। यदि ऐसा माना जाय कि घट के असर्वगत होने से व्यञ्जक प्रदीपादि के सन्निधान में उसका नियम से सन्निधान सम्भव नहीं है, परन्तु शब्द के व्यापक होने से व्यञ्जक के सन्निधान में उसका सन्निधान होना अनिवार्य है तो मीमांसकों की यह मान्यता सर्वथा असङ्गत है, क्योंकि शब्द सर्वगत या व्यापक नहीं है। हम कह सकते हैं– **'शब्दः सर्वगतो न भवति सामान्यविशेषात्मकत्वे सति बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात् घटादिवत्।'** अर्थात् शब्द सर्वगत नहीं है, क्योंकि वह सामान्यविशेषवान् होकर बाह्येन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है, घटादि की तरह। इसका तात्पर्य यह है कि घट और शब्द में कोई विशेषता न होने से दोनों को कार्य अथवा व्यङ्ग्य समान रूप से मानना चाहिए।

यदि शब्द नित्य और एकरूप है तो उसमें आवार्य-आवारकभाव अथवा व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव नहीं बन सकता है। अतः उच्चारण के पहले शब्द की अनुपलब्धि आवरणकृत नहीं मानी जा सकती है। यहाँ द्रष्टव्य यह है कि ताल्वादिव्यापार के अनन्तर ही शब्द का उपलम्भ होने से और ताल्वादिव्यापार के अभाव में उसका उपलम्भ न होने से शब्द को ताल्वादि व्यापार का कार्य ही मानना चाहिए। पूर्वपक्ष ने अर्थापत्ति के द्वारा शब्द

में नित्यत्व सिद्ध करने का जो प्रयत्न किया था वह सही नहीं है। ऐसा नहीं है कि शब्द के नित्य होने पर ही उसके द्वारा अर्थप्रतिपत्ति होती हो, अन्यथा नहीं। धूमादि की तरह अनित्य शब्द के द्वारा अर्थ की प्रतिपत्ति होने में कोई विरोध नहीं है। ऐसा कोई नियम नहीं है कि सङ्केतकाल में गृहीत शब्द के द्वारा ही अर्थ की प्रतीति होती है, तत्सदृश शब्द के द्वारा नहीं। महानस में दृष्ट धूम के सदृश पर्वतवर्ती धूम से अग्नि की प्रतीति होती ही है। इसी तरह सङ्केतित अनित्य शब्द से भी अर्थ की प्रतिपत्ति हो जाती है। अतः अर्थापत्ति के द्वारा शब्द को नित्य सिद्ध करना ठीक नहीं है। यथार्थ बात यह है कि प्रमाण से जो अर्थ जिस रूप से प्रतीत नहीं होता है उसको उस रूप से नहीं मानना चाहिए। जैसे जगत् को अद्वैतरूप मानना प्रतीतिविरुद्ध है। किसी भी प्रमाण से शब्द भी नित्यरूप प्रतीत नहीं होता है। अतः उसे नित्य नहीं मानना चाहिए। शब्द की अनित्यता में तो प्रमाण का सद्भाव पाये जाने से उसे अनित्य मानना ही तर्कसङ्गत है। शब्द की अनित्यता का साधक प्रमाण इस प्रकार है–

'अनित्यः शब्दः कृतकत्वात्, यत्कृतकं तदनित्यं दृष्टं यथा घटः, कृतकश्चायम्, तस्मादनित्यः।'

अर्थात् शब्द अनित्य है, कृतक होने से। जो कृतक होता है वह अनित्य होता है, जैसे घट। यतः शब्द कृतक है, अतः वह अनित्य है। शब्द की उत्पत्ति में कारण के अन्वयव्यतिरेक का अनुविधान देखा जाता है। ताल्वादि कारणों के व्यापार के होने पर ही शब्द की उत्पत्ति होती है और ताल्वादि व्यापार के अभाव में शब्द की उत्पत्ति नहीं होती है। उपर्युक्त कथन का सारांश यह है कि जिस प्रकार घट दण्ड, चक्र आदि के व्यापार का कार्य है उसी प्रकार शब्द तालु आदि के व्यापार का कार्य है। वह न तो नित्य है और न व्यापक है। वह तो पौद्गलिक है। जैनदर्शन में शब्द को पुद्गल द्रव्य की पर्याय माना गया है। इस तरह शब्दों में पौरुषेयत्व की सिद्धि हो जाने पर पद और वाक्यों में भी अनायास ही पौरुषेयत्व की सिद्धि हो जाती है। जैसे लौकिक शब्द होते हैं वैसे ही वैदिक शब्द होते हैं। दोनों में कोई अन्तर नहीं है। मीमांसकों ने स्वयं माना है– **य एव हि लौकिकाः शब्दाः त एव वैदिकाः।** उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि चाहे लौकिक शब्द हो या वैदिक, वे सब अनित्य और पौरुषेय हैं।

वेदापौरुषेयत्व-विचार :

पूर्वपक्ष– मीमांसक वेद को अपौरुषेय मानते हैं। उनका कहना है कि वेद किसी पुरुषविशेष की रचना नहीं है, किन्तु उनकी परम्परा अनादिकाल से इसी रूप में चली आ रही है। वेद चार हैं– ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद और साम्यवेद। ये सभी वेद अपौरुषेय हैं। यद्यपि प्रत्यक्ष प्रमाण वेदों के अपौरुषेयत्व का साधक नहीं है, क्योंकि वह तो शब्द के स्वरूपमात्र के ग्रहण करने में चरितार्थ हो जाने से पौरुषेयत्व अथवा अपौरुषेयत्व का साधक नहीं होता है। एक बात यह भी है कि अपौरुषेयत्व अनादिसत्त्वस्वरूप है, वह अक्षप्रभवप्रत्यक्ष के द्वारा परिच्छेद्य कैसे हो सकता है? अतः प्रत्यक्ष से अपौरुषेयत्व की सिद्धि न होने पर भी अनुमान से वेद में अपौरुषेयत्व की सिद्धि होती है। वह अनुमान इस प्रकार है– '**अपौरुषेयो वेदः कर्तुः स्मरणयोग्यत्वे सति अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात् व्योमवत्।**' अर्थात् वेद अपौरुषेय है। क्योंकि कर्त्ता के स्मरण योग्य होने पर भी उसके कर्त्ता का स्मरण नहीं होता है, आकाश की तरह। यदि वेद का कोई कर्त्ता होता तो उसका स्मरण अवश्य होना चाहिए। यतः वेद के कर्त्ता का कभी किसी को स्मरण होता नहीं है अतः उसका कोई कर्त्ता नहीं है। यदि वेद का कर्त्ता कोई होता तो अग्निष्टोमादि यज्ञ के अनुष्ठान काल में अनुष्ठाताओं को वेद में प्रामाण्य की सिद्धि के लिए वेदकर्त्ता का स्मरण होना आवश्यक है। जो पुरुष जिस अर्थ के अनुष्ठान में प्रवृत्ति करते हैं वे उस शास्त्र के कर्त्ता का स्मरण अवश्य करते हैं। जैसे अष्टकादि (पितृश्राद्धविशेष) के अनुष्ठान करने वाले उसके प्रणेता मनु का स्मरण करते हैं। प्रेक्षापूर्वकारी जन बहुवित्तव्ययसाध्य अग्निष्टोमादि कर्म में प्रवृत्ति करते हैं। इसलिए उनको वेदकर्ता के स्मरण की महती अपेक्षा होती है। लौकिक कर्मों की तरह अनुष्ठीयमान वैदिक कर्मों में भी कर्त्ता का स्मरण होना परमावश्यक है। किन्तु वेदविहित यज्ञादि कर्म के अनुष्ठाताओं को वेदकर्त्ता का स्मरण होता नहीं है। इसका मतलब यही है कि वेद का कोई कर्त्ता नहीं है।

छिन्नमूल होने के कारण भी वेद में कर्त्ता के स्मरण का अभाव है। स्मरण का मूल अनुभव है और वेद के विषय में कर्त्ताविषयक अनुभव तो किसी को है नहीं, तब उसके स्मरण की सम्भावना भी कैसे हो सकती

है? ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है कि **महाभारत** आदि की रचना के कर्त्ता का सद्भाव होने से वेद का भी कोई कर्त्ता होना चाहिए, क्योंकि वेद की रचना **महाभारत** की रचना से विलक्षण है। केवल रचनामात्र से कर्त्ता का अनुमान करना ठीक नहीं है। अतः जो रचना कर्त्ता के अन्वय-व्यतिरेक की अनुविधायिनी होती है वही रचना कर्त्ता का अनुमान कराती है। **महाभारत** की रचना और वेद की रचना में वैलक्षण्य पाया जाता है। इसलिए दृष्टकर्तृकरचना से विलक्षण होने के कारण वेद की रचना आकाश की तरह अपौरुषेयी है।

वेद अनादि हैं। अनादि काल से वेदों का अध्ययन गुरु के द्वारा अध्ययनपूर्वक ही चला आया है। ऐसा नहीं है कि पहले किसी ने वेदों की रचना की हो और फिर उसका अध्ययन कराया हो। इस विषय में **मीमांसाश्लोकवार्तिक** में कहा गया है–

वेदाध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्।
वेदाध्ययनवाच्यत्वादधुनाध्ययनं यथा।।

जिस प्रकार वर्तमान काल में गुरु के द्वारा ही वेदों का अध्ययन देखा जाता है, उसी प्रकार सब कालों में भी वेदों के अध्ययन की यही परम्परा रही है। यहाँ वेदाध्ययन वाच्यत्व हेतु से वेद में अपौरुषेयत्व की सिद्धि की गयी है।कहने का तात्पर्य यह है कि अनादिकाल से वेद का अध्ययन गुरु अध्ययनपूर्वक ही चला आ रहा है। इसी विषय में और भी कहा गया है–

अतीतानागतौ कालौ वेदकारविवर्जितौ।
कालत्वात् तद् यथा कालो वर्तमानः समीक्ष्यते।।

जिस प्रकार वर्तमान काल में वेद का कोई कर्त्ता नहीं है उसी प्रकार अतीत और अनागत काल में भी वेद का कोई, कर्त्ता नहीं है, क्योंकि वे भी काल हैं। अर्थात् न तो अतीत काल में कोई वेद का कर्त्ता था और न भविष्य काल में कोई वेद का कर्त्ता होगा। यह तो हम अनुभव *कर ही रहे है कि वर्तमान काल में कोई वेदकर्त्ता नहीं है। इस प्रकार तीनों काल वेदकाररहित सिद्ध होते है। यहाँ* कालत्व हेतु से वेद में अपौरुषेयत्व सिद्ध किया गया है।

यहाँ कोई शङ्का कर सकता है कि यदि वेद आप्तपुरुष प्रणीत नहीं है तो उसमें प्रामाण्य कैसे आयेगा? इसका उत्तर यही है कि अपौरुषेय होने से ही वेद में स्वतःप्रामाण्य होता है तथा पुरुषकृत वचनों में पुरुष के दोषों के अनुप्रवेश से अप्रामाण्य देखा जाता है। इस विषय में कहा गया है-

शब्दे दोषोद्भवस्तावद् वक्त्रधीन इति स्थितम्।
तदभावः क्वचित्तावद् गुणवद्वक्तृकत्वतः।।
तद्गुणैरपकृष्टानां शब्दे संक्रान्त्यसम्भवात्।
यद्वा वक्तुरभावेन न स्युर्दोषा निराश्रयाः।।

अर्थात् शब्दों में दोषों का होना वक्ता के अधीन है और शब्दों में दोषों का अभाव कहीं पर गुणवान् वक्ता के होने से हो जाता है, क्योंकि वक्ता के गुणों से अपकृष्ट (निराकृत) दोषों की शब्दों में संक्रान्ति (उपस्थिति) सम्भव नहीं है। शब्दों में दोषों के अभाव का एक कारण यह भी है कि जहाँ वक्ता का अभाव है, जहाँ कोई वक्ता ही नहीं है, वहाँ दोषों की कोई सम्भावना हो ही नहीं सकती है, क्योंकि दोष निराश्रय तो रह नहीं सकते हैं।

यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि जहाँ पुरुषकृत पदानुपूर्वी होती है वहाँ पुरुष की अपेक्षा से प्रामाण्य या अप्रामाण्य होता है, परन्तु वेदानुपूर्वी के नित्य होने से उसमें पुरुषनिरपेक्ष ही प्रामाण्य होता है। इत्यादि प्रकार से विचार करने पर वेद में अपौरुषेयत्व सिद्ध होता है।

उत्तरपक्ष- मीमांसकों ने वेद में अपौरुषेयत्व सिद्ध करने के लिए जो यह कहा है- '**वेदः अपौरुषेयः कर्तुः स्मरणयोग्यत्वे सति अस्मर्यमाण-कर्तृकत्वात् व्योमवत्**', वह सब कथन असमीचीन है। इस अनुमान में जो अस्मर्यमाणकर्तृकत्व हेतु है उसे समझ लेना आवश्यक है। अस्मर्यमाणकर्तृकत्व का मतलब क्या कर्तृस्मरणाभाव है अथवा अकर्तृत्व है? प्रथम पक्ष में हेतु व्यतिकरणासिद्ध है। व्यतिकरणासिद्ध का अर्थ है *कि कर्ता के स्मरणाभाव का अधिकरण आत्मा है और अपौरुषेयत्व का* अधिकरण वेद है। इस प्रकार हेतु और साध्य का अधिकरण भिन्न-भिन्न है; किन्तु हेतु और साध्य का अधिकरण एक ही होना चाहिए।

अस्मर्यमाणकर्तृकत्व हेतु असिद्ध भी है, क्योंकि उसका ग्राहक कोई प्रमाण नहीं है। प्रत्यक्ष तो अस्मर्यमाणकर्तृकत्व का ग्राहक हो नहीं सकता है, क्योंकि प्रतिनियत रूपादि विषय में चरितार्थ होने के कारण वेदकर्त्ता के स्मरणाभाव में उसकी प्रवृत्ति सम्भव नहीं है। यदि अभाव में भी प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति मानी जाय तो फिर मीमांसकों के द्वारा अभाव प्रमाण की कल्पना करना व्यर्थ है।

यहाँ एक प्रश्न यह भी है कि वेदकर्त्ता का स्मरणाभाव वादी को है अथवा सबको? यदि किसी व्यक्ति विशेष को वेदकर्त्ता का स्मरण नहीं है तो इतने मात्र से वेद के कर्त्ता का अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता है। व्यक्तिविशेष में तो अनेक पदार्थों का स्मरणाभाव सम्भव है। तो क्या इतने मात्र से उन पदार्थों का अभाव सिद्ध हो जायेगा। अब यदि ऐसा कहा जाय कि सब को वेद के कर्त्ता का स्मरण नहीं है तो कोई भी अल्पज्ञ ऐसा नहीं कह सकता है कि सबको वेद के कर्त्ता का स्मरणाभाव है। यदि कोई व्यक्ति ऐसा कहता है या जानता है तो वह अल्पज्ञ न होकर सर्वज्ञ हो जायेगा, जो कि मीमांसकों को अनिष्ट है। यहाँ एक बात यह भी विचारणीय है कि अभाव प्रमाण की प्रवृत्ति वहीं होती है जहाँ वस्तु सत्ता के बोध कराने वाले प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणों की प्रवृत्ति न होती हो, परन्तु वेद में कर्त्ता के सद्भाव को बतलाने वाले कई प्रमाण उपलब्ध होते हैं।

कोई रुद्र को वेद का कर्त्ता मानता है तथा कोई प्रजापति को वेद का कर्त्ता मानता है। इस विषय में कहा गया है- '**स हि रुद्रं वेदकर्त्तारम्।**' '**यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं वेदांश्च प्रहिणोति।** तथा '**प्रजापतिः सोमं राजानमन्वसृजत, ततः त्रयो वेदाः अन्वसृजन्त।**' पौराणिक लोग ब्रह्मा को वेद का कर्त्ता मानते हैं। कुछ लोग कालासुर को वेद का कर्त्ता मानते हैं। इस प्रकार आगम में वेदकर्त्ता के सद्भाव को बतलाने वाले अनेक प्रमाण मिलते हैं। इतना ही नहीं, किन्तु स्मृति, पुराण आदि की तरह काण्व, माध्यन्दिन, तैत्तरीय आदि वेदों की अनेक शाखाएँ ऋषियों के नाम से अङ्कित मिलती हैं। जैसे कण्व ऋषि ने जिस शाखा को बनाया उसका नाम काण्वशाखा है। इस प्रकार की स्थिति में वेद को अस्मर्यमाणकर्तृक कैसे कहा जा सकता है? स्मर्यमाणकर्तृकत्व अथवा

अस्मर्यमाणकर्तृकत्व की बात अनित्य वस्तु में ही देखी जाती है, नित्य में नहीं। कोई कार्य स्मर्यमाणकर्तृक देखा जाता है, जैसे घटादि और कोई कार्य अस्मर्यमाणकर्तृक देखा जाता है, जैसे जीर्ण कूपादि; किन्तु कोई भी नित्य वस्तु अकर्तृक ही होती है, जैसे आकाशादि। इस तरह अस्मर्यमाणकर्तृकत्व का मतलब कर्तृस्मरणाभाव नहीं हो सकता है।

अतः अस्मर्यमाणकर्तृकत्व हेतु से वेद को अपौरुषेय सिद्ध नहीं किया जा सकता है। जीर्णकूप, जीर्णप्रासाद आदि ऐसी कई वस्तुएँ हैं, जिनके कर्त्ता का किसी को स्मरण नहीं होता है, किन्तु इतने मात्र से वे अपौरुषेय सिद्ध नहीं हो जाती हैं। इसी प्रकार वेदाध्ययनवाच्यत्व हेतु के द्वारा भी वेद में अपौरुषेयत्व की सिद्धि नहीं की जा सकती है। इस प्रकार तो हम **रामायण**, **महाभारत** आदि को भी अपौरुषेय सिद्ध कर सकते हैं। हम कह सकते हैं–

भारताध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्।
तदध्ययनवाच्यत्वादधुनाध्ययनं यथा।।

अर्थात् **महाभारत** आदि का अध्ययन गुरु के द्वारा अध्ययनपूर्वक ही होता है, महाभारताध्ययन का वाच्य होने से, जैसे कि वर्तमान अध्ययन। इसलिए **रामायण**, **महाभारत** आदि को भी वेद के समान अपौरुषेय मान लीजिए। इसी प्रकार वर्तमान काल की तरह अतीत और अनागत काल को भी वेदकार रहित सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त कालत्व हेतु भी निर्दोष नहीं है। भले ही वर्तमान काल में कोई वेद का कर्त्ता न हो, किन्तु भूत में कोई वेद का कर्त्ता नहीं था और भविष्य में कोई वेद का कर्त्ता नहीं होगा, यह कैसे सिद्ध किया जा सकता है? यदि कालत्व हेतु से वेद को अपौरुषेय सिद्ध किया जा सकता है तो इसी हेतु से **महाभारत** आदि को अपौरुषेय सिद्ध करने में क्या बाधा है? मीमांसक ने कहा था–

अतीतानागतौ कालौ वेदकारविवर्जितौ, इत्यादि।

इसके विपरीत हम यह भी कह सकते हैं–

अतीतानागतौ कालौ वेदार्थज्ञविवर्जितौ।
कालशब्दाभिधेयत्वादधुनातनकालवत् ।।

अर्थात् अतीत और अनागत काल वेदार्थज्ञ से रहित हैं, क्योंकि वे काल शब्द के अभिधेय हैं, जैसे कि वर्तमान काल। इस प्रकार कोई भी हेतु ऐसा नहीं है जो वेद को अपौरुषेय सिद्ध कर सके। इसके विपरीत हम अनुमान प्रमाण से वेद को पौरुषेय सिद्ध कर सकते हैं। वेद को पौरुषेय सिद्ध करने वाला अनुमान इस प्रकार है– **'पौरुषेयो वेदः रचनावत्त्वात्, पदवाक्यात्मकत्वाद्वा भारतादिवत्'**। अर्थात् जिस प्रकार **महाभारत, रामायण** आदि रचनायुक्त होने अथवा पदवाक्यात्मक होने से पौरुषेय हैं, उसी प्रकार वेद भी पौरुषेय हैं। वेद की रचना को कर्तृपूर्वक रचना से विलक्षण मानना भी तर्कसङ्गत नहीं है। वेद की रचना में ऐसी कोई विलक्षणता नहीं है जो वेद को अपौरुषेय सिद्ध कर सके। यदि कोई विशिष्ट रचना होती है तो वह उसके निर्माण में असमर्थ कर्त्ता का ही निषेध कर सकती है, कर्त्तामात्र का नहीं। अतः 'वेदरचना अपौरुषेयी है', मीमांसकों का यह कथन सर्वथा असङ्गत है।

थोड़ी देर के लिए मान लिया जाय कि वेद अपौरुषेय है, तो यहाँ प्रश्न होता है कि क्या वेद व्याख्यात होकर अपने अर्थ का प्रतिपादन करता है अथवा अव्याख्यात रहकर ही वैसा करता है। प्रथम विकल्प में यह जानना आवश्यक है कि वेद का व्याख्यान स्वतः होता है या किसी अन्य पुरुष के द्वारा। वेद का व्याख्यान स्वतः तो हो नहीं सकता है, क्योंकि वेद यह नहीं बतलाता है कि मेरे पद और वाक्यों का यही अर्थ है, अन्य नहीं। यदि ऐसा होता तो वेदवाक्यों के अर्थ में व्याख्याभेद कैसे होता? परन्तु वेदवाक्यों का परस्परविरुद्ध भावना, विधि और नियोगरूप व्याख्यान देखा जाता है। अब यदि ऐसा माना जाय कि वेद का व्याख्यान किसी पुरुष के द्वारा होता है, तो यहाँ भी प्रश्न है कि वह पुरुष अतीन्द्रियार्थदर्शी है या रथ्यापुरुष के समान सामान्य पुरुष। मीमांसक अतीन्द्रियार्थदर्शी (सर्वज्ञ) पुरुष को मानते ही नहीं हैं। तब वह वेद का व्याख्याता कैसे हो सकता है? यदि कोई अतीन्द्रियार्थदर्शी पुरुष है तो वह धर्म में भी प्रमाण हो जायेगा और तब मीमांसकों के इस कथन का विरोध प्राप्त होगा कि धर्म में वेद ही प्रमाण है। **'धर्मे चोदनैव प्रमाणम्।'** अब यदि ऐसा माना जाय कि वेद का व्याख्याता सामान्य पुरुष ही होता है तो उसके व्याख्यान से अर्थ की प्रतिपत्ति यथार्थ कैसे हो सकती है? क्योंकि रागादिमान् पुरुष विपरीत अर्थ का व्याख्यान करते हुए भी देखे

जाते हैं। अतः '**अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः**', इस वाक्य का कोई अज्ञानी पुरुष ऐसा भी अर्थ कर सकता है- '**स्वर्गकामः श्वमांसं खादेत्**'। अर्थात् जिसको स्वर्ग की इच्छा हो वह कुत्ते का मांस खावे। इस प्रकार अपौरुषेय वेद का व्याख्यान न तो स्वतः होता है और न किसी पुरुष के द्वारा। अतः तर्कसङ्गत बात यही है कि वेद अपौरुषेय नहीं है, अपितु पौरुषेय है।

उपर्युक्त कथन का निष्कर्ष यह है कि लौकिक और वैदिक- दोनों प्रकार के शब्द स्वरूप की अपेक्षा से समान हैं और दोनों ही सङ्केत ग्रहण की अपेक्षा से अपने अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। तब यह कैसे कहा जा सकता है कि वैदिक शब्द अपौरुषेय हैं और लौकिक शब्द पौरुषेय हैं। यथार्थ बात यह है कि जिस प्रकार जीर्णकूप, प्रासाद आदि की रचना अभिनव कूप, प्रासाद आदि की रचना के समान होने के कारण जीर्ण कूपादि पौरुषेय सिद्ध होते हैं, उसी प्रकार **महाभारत** आदि की रचना की तरह वेद की रचना भी पुरुषरचित वचनों की समानता के कारण पौरुषेय ही सिद्ध होती है। अतः वेद अपौरुषेय नहीं हैं, किन्तु पौरुषेय ही हैं। इत्यादि प्रकार से विचार करने पर मीमांसकों के द्वारा अभिमत वेदों के अपौरुषेयत्व का सिद्धान्त निरस्त हो जाता है।

पद-वाक्यलक्षण-विचार :

पद और वाक्य से अर्थ की प्रतिपत्ति होती है। इसलिए पद और वाक्य का लक्षण जान लेना आवश्यक है। पद और वाक्य का लक्षण इस प्रकार है-

वर्णानां तदपेक्षाणां निरपेक्षः समुदायः पदम्।
पदानां तु तदपेक्षाणां निरपेक्षः समुदायो वाक्यमिति।।

अर्थात् परस्पर में सापेक्षः किन्तु वर्णान्तर से निरपेक्ष ऐसा वर्णों का जो समुदाय है उसको पद कहते हैं। जैसे घट एक पद है। पद और शब्द दोनों पर्यायवाची हैं। घट पद में घ् अ ट् अ-ये चार वर्ण हैं। ये चारों वर्ण जब परस्पर में एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं तभी घट पद बनता है और यह पद किसी अन्य वर्ण की अपेक्षा नहीं रखता है। इसी प्रकार परस्पर सापेक्ष पदों के निरपेक्ष समुदाय का नाम वाक्य है। जैसे महावीर अन्तिम तीर्थङ्कर हैं। यह एक वाक्य है और इस वाक्य में चार

पद हैं और वे परस्पर में सापेक्ष हैं। तथा इन चार पदों के मेल से जो वाक्य बना है वह अन्य किसी पद की अपेक्षा नहीं रखता है।

एक अन्य प्रकार का भी वाक्य होता है जो प्रकरणगम्य होता है और जिसे मूल वाक्य में जोड़कर अर्थ का प्रतिभास कराया जाता है। जैसे 'न देवाः' इस वाक्य में **'नपुंसकाः भवन्ति'** यह वाक्य प्रकरणगम्य है और मूल वाक्य में इसकी अपेक्षा रहती है। तभी पूरा अर्थ समझ में आता है कि देव नपुंसक नहीं होते हैं। निराकांक्षत्व धर्म प्रतिपत्ता पुरुष का है, वाक्य या पद का नहीं। यदि कोई पुरुष **'न देवाः'** इतने मात्र से पूरा अर्थ समझ लेता है तो फिर उसे **'नपुंसकाः भवन्ति'** इस वाक्य की कोई आकांक्षा नहीं रहती है। इसी प्रकार किसी ने कहा– **'तत्र च सत्यभामा'** इस वाक्य में **'तिष्ठति'** यह पद अपेक्षित है। फिर भी **'न देवाः'** और **'तत्र च सत्यभामा'** ये दोनों वाक्य कहलाते हैं, क्योंकि प्रकरण के ज्ञाता पुरुष को इन वाक्यों से ही अर्थ की प्रतिपत्ति हो जाती है। संक्षेप में पद और वाक्य का यही लक्षण है।

स्फोटवाद :

पूर्वपक्ष– भर्तृहरि आदि वैयाकरण (व्याकरणशास्त्री) मानते हैं कि शब्द पदार्थ का वाचक नहीं होता है; किन्तु स्फोट पदार्थ का वाचक होता है। गकारादि वर्णों द्वारा स्फोट नामक एक तत्त्व अभिव्यक्त होता है जो घटादि पदार्थों का प्रतिपादक होता है। वर्ण अथवा शब्द अर्थ का प्रतिपादन नहीं कर सकते हैं। यदि वर्ण को अर्थ का प्रतिपादक माना जाय तो प्रश्न होगा कि व्यस्त वर्ण अथवा समस्त वर्ण में से कौनसा वर्ण अर्थ का प्रतिपादक होता है? यदि व्यस्त वर्ण अर्थ का प्रतिपादक होता है तो एक वर्ण से ही गौ आदि अर्थ की प्रतिपत्ति हो जायेगी। तब द्वितीय आदि वर्णों का उच्चारण अनर्थक हो जायेगा। इस दोष को दूर करने के लिए समस्त वर्णों को अर्थ का प्रतिपादक मानना भी सङ्गत नहीं है। इसका कारण यह है कि क्रम से उत्पन्न और नष्ट होने वाले वर्णों का सामस्त्य सम्भव नहीं है। घट शब्द में घ्+अ+ट्+अ– ये चार वर्ण हैं। इन चारों वर्णों का एक समय में सामस्त्य नहीं बन सकता है। 'घ' के उच्चारण के समय 'ट' नहीं रहेगा और 'ट' के उच्चारण के समय 'घ' नहीं रहेगा। ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है कि अन्तिम वर्ण पूर्व वर्णों

से अनुगृहीत होकर अर्थ का प्रतिपादन करता है, क्योंकि पूर्व वर्ण अन्तिम वर्ण के अनुग्राहक नहीं हो सकते हैं। पूर्व वर्ण न तो अन्तिम वर्ण के जनक होते हैं और अर्थज्ञान की उत्पत्ति में सहकारी होते हैं। इस तरह न तो समस्त वर्ण अर्थ के प्रतिपादक होते हैं और न व्यस्त वर्ण।

स्फोटवादी कहते हैं कि वर्ण की तरह क्षणिक होने के कारण शब्द से भी अर्थबोध नहीं हो सकता है। स्फोट एक, व्यापक तथा नित्य है। अतः शब्द नित्य शब्दात्मा को अभिव्यक्त करता है और उससे अर्थबोध होता है। उसी अभिव्यंग्य शब्दात्मा को स्फोट कहते हैं। स्फोट के दो भेद किये जा सकते है- पदस्फोट और वाक्यस्फोट। पदस्फोट पद के अर्थ का बोध कराता है और वाक्यस्फोट वाक्य के अर्थ का बोध कराता है। घटादि शब्दों से जो अर्थ की प्रतीति होती है वह स्फोट के बिना नहीं हो सकती है। इसलिए वर्ण तथा शब्द से व्यतिरिक्त और अर्थप्रतीति का हेतु स्फोट नामक तत्त्व मानना आवश्यक है। यह स्फोट श्रोत्रविज्ञान में निरंश प्रतिभासित होता है। श्रवणव्यापार के अनन्तर एक स्फोटरूप तत्त्व का अवभास करने वाली संवित्ति का अनुभव हम सबको होता है। यह संवित्ति न तो वर्णविषयक होती है और न शब्दविषयक होती है, अपितु स्फोटविषयक होती है। स्फोट को नित्य मानना भी आवश्यक है। यदि स्फोट को अनित्य माना जाय तो सङ्केतकाल में अनुभूत स्फोट को उसी समय नष्ट हो जाने से कालान्तर में और देशान्तर में गोशब्द के श्रवण से ककुदादिमान् अर्थ की प्रतीति नहीं होगी, क्योंकि असङ्केतित शब्द से अर्थ की प्रतीति सम्भव नहीं है। अन्यथा गायरहित द्वीप से आगत पुरुष को भी गोशब्द के सुनने पर गायरूप अर्थ की प्रतीति हो जानी चाहिए; किन्तु उसे ऐसी प्रतीति नहीं होती है। इस प्रकार स्फोटवादी अपने मत का समर्थन करते हुए स्फोट नामक तत्त्व की सिद्धि करते हैं।

उत्तरपक्ष- स्फोटवादियों का उक्त मत युक्तिसङ्गत नहीं है। स्फोट नामक तत्त्व का सद्भाव किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है। जब दृष्ट कारण शब्द से अर्थ की प्रतीति हो जाती है तब अदृष्ट कारण स्फोट की कल्पना करना तर्कसङ्गत नहीं है। स्फोटवादियों का कहना है कि व्यस्त वर्णों से अथवा समस्त वर्णों से अर्थ की प्रतिपत्ति नहीं हो सकती है। इस विषय में हमारा कथन यह है कि जैनमतानुयायी श्रूयमाण

पूर्ववर्णध्वंसविशिष्ट अन्त्य वर्ण से गौ आदि अर्थ की प्रतीति मानते हैं। इसलिए पूर्व वर्णों के उच्चारण के व्यर्थ होने का दोष हमारे मत में नहीं आता है। हम यह भी कह सकते हैं कि पूर्व वर्णों से जनित संस्कार की अपेक्षा से अन्त्य वर्ण अर्थ की प्रतीति कराता है। सर्वप्रथम प्रथम वर्ण का ज्ञान होता है और उसके द्वारा संस्कार उत्पन्न होता है। इसके बाद द्वितीय वर्ण का ज्ञान होता है और पूर्व वर्ण से प्राप्त संस्काररहित उसके द्वारा एक विशिष्ट संस्कार उत्पन्न होता है। इसी प्रकार की प्रक्रिया तृतीयादि वर्णों में भी समझ लेनी चाहिए। इस तरह पूर्ववर्णों के ज्ञान से उत्पन्न होने वाला संस्कार अन्त्य वर्ण की सहायता करता है और उससे पदार्थ की प्रतीति होती है। पदार्थ की प्रतिपत्ति में जो प्रक्रिया ऊपर बतलाई गई है वही प्रक्रिया वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति में भी समझ लेनी चाहिए।

पूर्ववर्णध्वंसविशिष्ट अन्त्य वर्ण से पदार्थ की प्रतिपत्ति मानने में कोई विरोध भी नहीं है। ऐसा नहीं है कि ध्वंस (विनाश) किसी का सहकारी न होता हो। प्राक्तनसंयोगाभावविशिष्ट कर्म (क्रिया) उत्तरवर्ती संयोग को करता हुआ देखा जाता है। परमाणु और अग्नि का संयोग-परमाणुगत श्यामरूप विध्वंससहकृत रक्तरूप को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार पूर्ववर्णविध्वंसविशिष्ट तथा पूर्ववर्णजनितसंस्कारसहित अन्त्यवर्ण अर्थ-प्रतीति को उत्पन्न करता है और पूर्ववर्णविज्ञान से उत्पन्न संस्कार प्रणालिका के द्वारा अन्त्य वर्ण की सहायता करता है। इस तरह जब यथोक्त सहकारिकारण सव्यपेक्ष अन्त्य वर्ण से अन्वयव्यतिरेक के द्वारा अर्थप्रतिपत्ति का निश्चय हो जाता है, तो पदार्थ की प्रतिपत्ति के लिए स्फोट की परिकल्पना करना व्यर्थ ही है।

स्फोटवादी कहते हैं कि वर्णों से स्फोट की अभिव्यक्ति होती है; किन्तु जब व्यस्त अथवा समस्त वर्ण अर्थ की प्रतिपत्ति करने में समर्थ नहीं हैं तब वे स्फोट की अभिव्यक्ति करने में समर्थ कैसे हो सकते हैं? अब यदि ऐसा माना जाय कि जो आत्मा पूर्व वर्णों के श्रवणज्ञान के संस्कार से युक्त है उसे अन्त्य वर्ण के श्रवणज्ञान के अनन्तर पदादि स्फोट की अभिव्यक्ति हो जाती है, तो पदार्थप्रतिपत्ति भी इसी प्रकार हो जाने में क्या आपत्ति है, जिससे कि व्यर्थ ही स्फोट की कल्पना की जाती है। यथार्थ बात तो यह है कि चिदात्मा को छोड़कर अन्य कोई पदार्थ

अर्थप्रकाशन करने में समर्थ नहीं है। इसलिए विशिष्टशक्तिसम्पन्न उसी चिदात्मा को स्फोट मान लेना चाहिए। हम स्फोट शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार करते हैं– **'स्फुटति प्रकटीभवति अर्थः अस्मिन् इति स्फोटः चिदात्मा।'** इसका अर्थ यह है कि जिसमें अर्थ स्फुट (प्रकट) होता है वह ज्ञानादिविशिष्टशक्तिसम्पन्न चिदात्मा ही स्फोट कहलाता है। भावश्रुतज्ञानरूप से परिणत आत्मा को स्फोट मानने में कोई विरोध भी नहीं है। ऐसी आत्मा को हम पदस्फोट और वाक्यस्फोट कह सकते हैं। जैनदर्शन के अनुसार पदस्फोट और वाक्यस्फोट की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है। **'पदार्थज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशिष्टः चिदात्मा पदस्फोटः।'** तथा **'वाक्यार्थज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशम-विशिष्टः चिदात्मा वाक्यस्फोटः।'** अर्थात् पदार्थ के ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से विशिष्ट आत्मा का नाम पदस्फोट है तथा वाक्यार्थ के ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से विशिष्ट आत्मा का नाम वाक्यस्फोट है।

इतना सब बतला देने के बाद भी यदि स्फोटवादियों का शब्दस्फोट के मानने में प्रबल आग्रह है तो फिर गन्धादि का स्फोट भी मानना चाहिए। जिस प्रकार श्रवण इन्द्रिय के विषयभूत शब्द में अर्थप्रतिपादकत्व न होने से स्फोटवादी शब्दस्फोट की कल्पना करते हैं, उसी प्रकार घ्राणेन्द्रिय के विषय गन्ध में, रसना इन्द्रिय के विषय रस में, चक्षु इन्द्रिय के विषय रूप में और स्पर्शन इन्द्रिय के विषय स्पर्श में उस-उस इन्द्रिय के विषयभूत अर्थ की प्रतिपत्ति के लिए क्रमशः गन्धस्फोट, रसस्फोट, रूपस्फोट और स्पर्शस्फोट की कल्पना करनी चाहिए। और यदि स्फोटवादियों को गन्धादि में स्फोट को स्वीकार करना अभीष्ट नहीं है तो शब्दस्फोट के अभिनिवेश को भी छोड़ देना चाहिए तथा पद और वाक्य को अर्थप्रतिपत्ति का कारण मान लेना चाहिए। इतना सब कहने का निष्कर्ष यह है कि स्फोट अर्थप्रतिपत्ति का कारण नहीं है, परन्तु पद और वाक्य ही अर्थप्रतिपत्ति के कारण होते हैं, ऐसा स्याद्वादियों का मत है।

अपभ्रंश आदि भाषाओं का वाचकत्व-विचार :

पूर्वपक्ष– *वैयाकरण आदि कुछ लोगों का ऐसा मत है कि संस्कृत शब्द ही साधु और अर्थवाचक होते हैं। यह ठीक है कि शब्द अर्थप्रतिपत्ति*

के कारण होते हैं, किन्तु संस्कृत शब्द ही अर्थप्रतिपत्ति के निबन्धन हैं, प्राकृत आदि शब्द नहीं, क्योंकि वे शब्द असाधु होते हैं। व्याकरणसिद्ध गवादि शब्द ही साधु होने से अर्थवाचक होते हैं और असाधु होने के कारण 'गावी' आदि शब्दों में अर्थवाचकत्व का अभाव पाया जाता है। वृद्धों के व्यवहार में अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा अर्थ और शब्द में वाच्यवाचकभाव का अवधारण किया जाता है। यदि वे अन्वयव्यतिरेक एक गो शब्द का गोत्वयुक्त अर्थ में शक्ति की कल्पना करके बन जाते हैं तो वे द्वितीय गावी शब्द का उसी अर्थ में शक्ति की कल्पना नहीं कर सकते हैं। ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है कि गावी शब्द से भी अन्वयव्यतिरेक के द्वारा अर्थ की प्रतिपत्ति हो सकती है, क्योंकि वहाँ अन्वयव्यतिरेक अन्यथासिद्ध है। यथार्थ बात यह है कि यद्यपि गावी शब्द गौरूप अर्थ का अवाचक है, फिर भी गौ का वाचक गोशब्द की स्मृति के द्वारा गावी शब्द में भी अन्वयव्यतिरेक की कल्पना कर ली जाती है। प्रायः देखा जाता है कि असाधु शब्द का प्रयोग करने पर भी साधु शब्द के स्मरण द्वारा अर्थ की प्रतिपत्ति हो जाती है। जैसे- आमन्त्रण में 'अम्ब' ऐसी विवक्षा होने पर उस शब्द को उच्चारण करने में असमर्थ बालक 'अम्बु' ऐसा शब्द बोलता है और अम्बा उस शब्द के श्रवण के अनन्तर ऐसा समझ लेती है कि इस बालक ने 'अम्ब' के स्थान में 'अम्बु' ऐसा उच्चारण किया है। अतः वह 'अम्बु' इस असाधुभूत शब्द से साधुभूत मूल शब्द 'अम्ब' का स्मरण करके प्रवृत्ति करती है।

इसी प्रकार असाधुरूप गावी शब्द से साधुरूप मूल शब्द गौ का स्मरण करके व्यवहर्ता उसके द्वारा अर्थ को समझ लेता है। अतः यहाँ अन्वयव्यतिरेक को अन्यथा सिद्ध होने के कारण गावी शब्द में वाचकत्व का अवधारण नहीं किया जा सकता है। जहाँ अन्वयव्यतिरेक निश्चित होते हैं वहीं वाचकत्व का अवधारण होता है। उभयवादीसम्मत गोशब्द का अन्वयव्यतिरेक निश्चित होने के कारण उसी में वाचकत्व का नियम सिद्ध होता है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि प्रमाणभूत व्याकरणसम्मत जो गवादि शब्द हैं वे ही साधु शब्द हैं तथा अन्य गावी आदि शब्द असाधु हैं। जब कोई प्रतिपत्ता कहता है- 'गामानय' (गाय को ले आओ) तो इस शब्द को सुनकर सास्नादिमान् अर्थ गाय के लाने की प्रतिपत्ति हो जाती है। इससे यह भी जान लिया जाता है कि गोशब्द का वाच्य

सास्नादिमान् अर्थ होता है तथा यह नियम भी ज्ञात हो जाता है कि गोशब्द का वाच्य यही अर्थ है, अन्य कोई नहीं।

हम व्याकरणनिरपेक्ष वृद्धव्यवहार से भी सब शब्दों में वाचकत्व का अवधारण नहीं कर सकते हैं, क्योंकि शब्दराशि के अनन्त होने के कारण अनन्त काल में भी वृद्धव्यवहार से प्रत्येक शब्द में वाचकत्व का निर्धारण करना अशक्य है। अतः व्याकरणसम्मत गवादि शब्दों को साधु मानना अत्यावश्यक है। ऐसा भी नहीं है कि व्याकरणशास्त्र प्रमाण न हो। व्याकरण को अप्रमाण मानने में लोक और शास्त्र दोनों से विरोध आता है। जितने भी शिष्टजन हैं वे सब व्याकरण को प्रमाण मानते हैं। अतः व्याकरण को प्रमाण न मानना यह लोकविरोध है। और शास्त्रविरोध यह है कि व्याकरण को प्रमाण न मानने पर सकल शास्त्रों के उच्छेद का प्रसङ्ग प्राप्त होता है। क्योंकि सकलशास्त्र नियतभाषात्मक होते हैं और भाषा का नियम व्याकरण के अधीन होता है। इस प्रकार व्याकरण के प्रामाण्य का कोई अपह्नव नहीं कर सकता है। व्याकरण के अतिरिक्त प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों से भी शब्दों में साधुत्व की सिद्धि होती है। उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यही है कि संस्कृत शब्द साधु होने के कारण अर्थवाचक होते हैं तथा प्राकृत, अपभ्रंश आदि शब्द असाधु होने के कारण अर्थवाचक नहीं होते हैं।

उत्तरपक्ष– वैयाकरणादि कुछ लोगों का उक्त मत अविचारित-रमणीय है। यह कहना सही नहीं है कि गवादि संस्कृत शब्द ही साधु हैं और वे ही अर्थवाचक होते हैं। इसका कारण यह है कि वाच्यवाचकभाव लोकव्यवहार के द्वारा जाना जाता है और लोक गावी आदि शब्दों के द्वारा भी व्यवहार करता है। संस्कृतज्ञ भी संस्कृत शब्दों को छोड़कर व्यवहारकाल में गावी आदि शब्दों के द्वारा व्यवहार करते हुए देखे जाते हैं। तथा संस्कृत से अनभिज्ञ लोगों का व्यवहार गावी आदि शब्दों के द्वारा ही देखा जाता है। अतः अन्वयव्यतिरेक के द्वारा उन शब्दों में भी वाचकत्व का अवधारण किये जाने में कोई विरोध नहीं है। ऐसा स्वप्न में भी प्रतीत नहीं होता है कि गावी आदि शब्द गवादि शब्दों की स्मृतिसापेक्ष होकर अर्थ के अवबोधक होते हैं। ऐसा नहीं है कि प्राकृत शब्दों के द्वारा पहले संस्कृत शब्दों का स्मरण होता हो और फिर उनके द्वारा अर्थ की

प्रतीति होती हो। वास्तव में संस्कृत शब्दों की तरह प्राकृत शब्दों से भी साक्षात् अर्थ की प्रतीति होती है। यदि ऐसा न हो तो जहाँ संस्कृतज्ञ नहीं हैं वहाँ प्राकृत आदि भाषा के शब्दों द्वारा अर्थ की प्रतीति नहीं होगी, परन्तु वहाँ भी अर्थ की प्रतीति अवश्य होती है। इसलिए गवादि शब्द की तरह गावी आदि शब्द भी अन्य शब्दों की स्मृति के बिना ही सदा अर्थ के अवबोधक होते हैं। जिस प्रकार गवादि शब्द गावी आदि शब्दों की स्मृति निरपेक्ष होकर अन्वयव्यतिरेक के द्वारा गौ आदि अर्थों के अभिधायक होते हैं, उसी प्रकार गावी आदि शब्द भी गवादि शब्दों की स्मृति के बिना ही अर्थ के अवबोधक होते हैं। जब अन्वयव्यतिरेक के द्वारा गवादि शब्दों में तथा गावी आदि शब्दों में अर्थवाचकत्व समान रूप से पाया जाता है तब गवादि शब्दों को अर्थवाचक मानना और गावी आदि शब्दों को अर्थ का अवाचक मानना कहाँ तक युक्तिसङ्गत है? दोनों शब्दों में वाचकत्व तुल्य होने पर भी यदि एक को ही वाचक माना जाता है तो गावी आदि शब्दों को ही वाचक मानिए, क्योंकि प्रायः सम्पूर्ण जनों का व्यवहार गावी आदि प्राकृत शब्दों के द्वारा ही होता है।

यदि ऐसा मान लिया जाय कि कोई बालक असामर्थ्य से अथवा प्रमाद से गोशब्द के स्थान में गावी शब्द बोल देता है तो बाल्यावस्था के अनन्तर जब वह प्रबुद्ध हो जाता है तब उसे गावी शब्द छोड़कर गोशब्द के द्वारा ही व्यवहार करना चाहिए; किन्तु ऐसा होता नहीं है। प्रबुद्ध अवस्था में भी वह गावी शब्द का ही प्रयोग करता है। पूर्वपक्ष में जो यह कहा गया है कि संस्कृत शब्द ही साधु होते हैं और प्राकृत आदि शब्द असाधु होते हैं, वह कथन समीचीन नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार संस्कृत शब्द सङ्केत के बल से अर्थ के प्रतिपादक होते हैं उसी प्रकार प्राकृत शब्द भी सङ्केत ग्रहण के बल से ही अर्थ के वाचक या प्रतिपादक होते हैं। कोई भी असङ्केतित शब्द, चाहे वह संस्कृत हो या प्राकृत, अर्थ का प्रतिपादन नहीं कर सकता है। इस दृष्टि से संस्कृत और प्राकृत शब्दों में समानता ही दृष्टिगोचर होती है। इसलिए दोनों को ही समान रूप से साधु या असाधु मानना चाहिए। संस्कृत शब्दों को साधु और प्राकृत शब्दों को असाधु मानने का कोई विशेष कारण नहीं है। दोनों ही प्रकार के शब्द व्याकरणसिद्ध हैं। जिस प्रकार संस्कृत व्याकरण के द्वारा प्रकृति-प्रत्यय का विभाग करके शब्दों का व्युत्पादन होता है, उसी प्रकार प्राकृतव्याकरण

के द्वारा भी प्राकृत शब्दों का व्युत्पादन होता है। इत्यादि प्रकार से विचार करने पर यह सिद्ध होता है कि संस्कृत शब्दों की तरह प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं के शब्द भी साधु और अर्थवाचक होते हैं।

ब्राह्मणत्वजाति-विचार :

मीमांसक, नैयायिक आदि दार्शनिक मानते हैं कि गोत्व, मनुष्यत्व आदि की तरह ब्राह्मणत्व भी एक जाति है, जो नित्य, निरंश और एक है। इस ब्राह्मणत्व जाति की प्रतीति प्रत्यक्ष प्रमाण से होती है। यह ब्राह्मण है, यह ब्राह्मण है, इत्यादि प्रकार से अनुगतप्रत्ययरूप ब्राह्मणत्व जाति की प्रतीति प्रत्यक्ष से होती है। सामने स्थित ब्राह्मणों में **'ब्राह्मणोऽयं ब्राह्मणोऽयम्'** इत्यादिरूप से मनुष्यत्वादि से व्यतिरिक्त अनुगत और एकाकार प्रत्यय के विषयभूत ब्राह्मण की प्रतीति सबको अनुभवगम्य होती है। ब्राह्मण में ब्राह्मणत्वविषयक जो ज्ञान होता है वह न तो संशय है और न विपर्यय है। इस प्रकार के ज्ञान का कोई बाधक भी उपलब्ध नहीं होता है। यदि ब्राह्मणत्व जाति का प्रत्यक्ष न हो तो 'यह पुरुष ब्राह्मण है' ऐसा विशिष्ट ज्ञान नहीं होना चाहिए। इस विशिष्ट ज्ञान में ब्राह्मणत्वविशिष्ट पुरुष प्रतिभासित होता है, पुरुषमात्र नहीं। **'ब्राह्मणोऽयं पुरुषः'** इस प्रत्यय में ब्राह्मणत्व विशेषण है, और विशेषण का ज्ञान न होने पर विशेष्य का भी ज्ञान नहीं होता है। अतः जब तक ब्राह्मणत्व का ज्ञान नहीं होगा तब तक 'यह पुरुष ब्राह्मण है', ऐसा ज्ञान नहीं हो सकता है। यदि ब्राह्मण शब्द का अर्थ ब्राह्मणत्व जाति से सम्बद्ध न हो तो 'यह पुरुष ब्राह्मण है', इस वाक्य में ब्राह्मण शब्द का प्रयोग अनर्थक हो जायेगा। **'ब्राह्मणं भोजय'** इत्यादिरूप से असन्दिग्ध और अबाधित ब्राह्मणविषयक व्यवहार की प्रतीति सबको होती है। वैष्णव, शैव आदि जातियों में भी ब्राह्मणत्व जाति के अनुरूप नाम, चिह्न, आचार, उपदेशादि व्यवहार देखा जाता है, इत्यादि बातों से यह प्रतीत होता है कि व्यक्तियों से अर्थान्तरभूत ब्राह्मणत्व जाति प्रत्यक्षसिद्ध है।

अनुमान प्रमाण से भी ब्राह्मणत्व जाति की सिद्धि होती है। तथाहि– ***'ब्राह्मणोऽयमिति प्रत्ययः पिण्डव्यतिरिक्तब्राह्मण्यनिबन्धनः असति प्रतिबन्धके ब्राह्मणोऽयमित्याकारतया समुत्पद्यमानत्वात्, नीलादिप्रत्ययवत्।'*** अर्थात् 'यह ब्राह्मण है' ऐसा जो प्रत्यय होता है उसका कारण मनुष्य

पिण्ड से व्यतिरिक्त ब्राह्मणत्व है, क्योंकि वह किसी प्रतिबन्धक के न होने पर 'यह ब्राह्मण है' इस आकार से उत्पन्न होता है, नीलादिप्रत्यय की तरह। अतः **'ब्राह्मणोऽयम्'** यह प्रत्यय पिण्डव्यतिरिक्त अनुगत और एकाकार ब्राह्मणत्व जाति निमित्तक होता है। इसी विषय में एक दूसरा भी अनुमान है– **'ब्राह्मणपदं व्यक्तिव्यतिरिक्तैकनिमित्ताभिधेयसम्बद्धं, पदत्वात् पटादिपदवत्।'** अर्थात् ब्राह्मणपद व्यक्ति से व्यतिरिक्त एक निमित्तरूप अभिधेय (ब्राह्मणत्व जाति) से सम्बद्ध है, पद होने से, पटादि पद की तरह। जिस प्रकार पट यह पद पटत्व जाति से सम्बद्ध है, उसी प्रकार ब्राह्मणपद ब्राह्मणत्व जाति से सम्बद्ध है। इसी तरह 'यह ब्राह्मण है' इस प्रकार के ज्ञान में, वर्णविशेष, अध्ययन, आचार, यज्ञोपवीत-संस्कार आदि से व्यतिरिक्त कोई निमित्त कारण अवश्य होता है और वह निमित्त कारण है ब्राह्मणत्व जाति।

प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त आगम से भी ब्राह्मणत्व जाति की सिद्धि होती है। आगम में ऐसा बतलाया गया है– **'ब्राह्मणेन यष्टव्यं ब्राह्मणो भोजयितव्यः।'** अर्थात् ब्राह्मण को यज्ञ करना चाहिए, ब्राह्मण को भोजन कराना चाहिए, इत्यादि। ब्राह्मणत्व जाति वेद, इतिहास और पुराण प्रसिद्ध भी है– कहा गया है– **'आदौ ब्रह्मा मुखतो ब्राह्मणं ससर्ज, बाहुभ्यां क्षत्रियम्, उरूभ्यां वैश्यम्, तथा पद्भ्यां शूद्रम्।'** ऋग्वेद में लिखा है–

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत।।

अर्थात् ब्राह्मणत्वजातिविशिष्ट पुरुष ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुआ है, क्षत्रियत्वजातिविशिष्ट पुरुष ब्रह्मा के बाहुओं से उत्पन्न हुआ है, वैश्यत्वजातिविशिष्ट पुरुष ब्रह्मा के उरु (जंघा) से उत्पन्न हुआ है और शूद्रत्वजातिविशिष्ट पुरुष ब्रह्मा के पैरों से उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा यह सुनिश्चित हो जाता है कि गोत्व, मनुष्यत्वादि की तरह ब्राह्मणत्व भी एक पृथक् जाति है।

उत्तरपक्ष– पूर्वपक्ष में ब्राह्मणत्व जाति की सिद्धि के लिए जो कुछ कहा गया है वह तर्कसङ्गत नहीं है। यह कहना सही नहीं है कि प्रत्यक्ष

के द्वारा ब्राह्मणत्व की प्रतीति होती है। यदि प्रत्यक्ष के द्वारा ब्राह्मणत्व जाति की प्रतीति होती है तो यहाँ प्रश्न यह है कि किस प्रत्यक्ष से उसकी प्रतीति होती है? केवल इन्द्रियजनित प्रत्यक्ष से अथवा अन्य सहकृत इन्द्रियजनित प्रत्यक्ष से ब्राह्मणत्व की प्रतीति होती है। प्रथम पक्ष में दो विकल्प होते हैं- निर्विकल्पक प्रत्यक्ष और सविकल्पक प्रत्यक्ष में से कौन से प्रत्यक्ष से उसकी प्रतीति होती है? निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से तो ब्राह्मणत्व जाति की प्रतीति होना सम्भव नहीं है, क्योंकि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में जाति आदि का प्रतिभास होता ही नहीं है। इसी विषय में कहा गया है-

अस्ति ह्यालोचनाज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्।
बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम्।।

अर्थात् सर्वप्रथम निर्विकल्पक आलोचना ज्ञान उत्पन्न होता है जो शुद्ध वस्तु से जन्य होता है और बाल, मूक आदि के विज्ञान के समान होता है।

सविकल्पक प्रत्यक्ष से भी ब्राह्मणत्व की प्रतीति नहीं हो सकती है, क्योंकि इसकी प्रवृत्ति निर्विकल्पक के विषय में ही होती है। जब ब्राह्मणत्व निर्विकल्पक का विषय नहीं है तब उसमें सविकल्पक की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है? हम कह सकते हैं कि देखने वाले व्यक्ति को सामने स्थित खण्ड, मुण्ड, कर्क आदि व्यक्तियों में गोत्व, अश्वत्वादि जाति की तरह मनुष्य व्यक्तियों में मनुष्यत्व, पुंस्त्व आदि के अतिरिक्त कुछ मनुष्यों में अनुगत एक ब्राह्मणत्व जाति की प्रतीति कभी नहीं होती है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि केवल इन्द्रियजनित प्रत्यक्ष से ब्राह्मणत्व जाति की प्रतीति नहीं होती है।

अब दूसरे विकल्प पर विचार करना है कि अन्य सहकृत इन्द्रियजनित प्रत्यक्ष से ब्राह्मणत्व जाति की प्रतीति होती है। यहाँ जानने योग्य बात यह है कि *ब्राह्मणत्वविषयक प्रत्यक्ष को उत्पन्न करने में अन्य सहकारी कौन होता है- ब्राह्मण माता-पिता से उत्पन्न होना, माता-पिता का अविप्लुत* (अव्यभिचारी) होना, आचारविशेष, संस्कारविशेष, वेदाध्ययन, यज्ञोपवीतादि, अथवा ब्रह्मा से उत्पन्न होना? इनमें से प्रथम पक्ष तो ठीक

नहीं है, क्योंकि माता-पिता के ब्राह्मण सिद्ध होने पर तज्जन्य होने के कारण पुत्र में भी ब्राह्मणत्व सिद्ध हो सकता है, परन्तु माता-पिता में ब्राह्मणत्व सिद्ध करने के लिए उनके माता-पिता में भी ब्राह्मणत्व सिद्ध करना पड़ेगा। इस प्रकार अनवस्था दोष आने के कारण यह पक्ष दूषित हो जाता है। दूसरा पक्ष यह है कि अव्यभिचारी ब्राह्मण से अव्यभिचारिणी ब्राह्मणी में उत्पन्न होने के कारण यह ब्राह्मण है। इस कथन की सत्यता सिद्ध करना भी आसान नहीं है, क्योंकि इस कलियुग में माता-पिता के अविप्लुतत्व का निर्णय करना बड़ा कठिन है। इस कारण माता-पिता का अविप्लुतत्व ब्राह्मणत्व जाति के प्रत्यक्ष में सहकारी नहीं हो सकता है। यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, दान, प्रतिग्रह आदि आचारविशेष भी ब्राह्मणत्व जाति के प्रत्यक्ष का सहायक नहीं होता है। ऐसा मानने में अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोष आते हैं। अव्याप्ति दोष का कारण यह है कि यजन, याजन आदि क्रियाओं से रहित ब्राह्मणों में ब्राह्मणत्व के अभाव का प्रसङ्ग प्राप्त होगा। तथा कहीं कहीं शूद्रों में यजन, याजन आदि व्यवहार उपलब्ध हो सकता है अथवा शूद्र भी विदेश में जाकर ब्राह्मण जैसी क्रियायें कर सकता है। अतः उनमें भी ब्राह्मणत्व का प्रसङ्ग प्राप्त होने से अतिव्याप्ति दोष का आना स्वाभाविक है। यहाँ एक बात यह भी है कि आचारविशेष से ब्राह्मणत्व की सिद्धि मानने पर आचारविशेष के आचरण के पूर्व उसमें अब्राह्मणत्व का प्रसङ्ग अनिवार्य है। अतः आचारविशेष ब्राह्मणत्व की सिद्धि का कारण नहीं होता है। इसी प्रकार यज्ञोपवीतादि संस्कार तथा वेदाध्ययन आदि के द्वारा भी ब्राह्मणत्व की सिद्धि सम्भव नहीं है, क्योंकि ये सब बातें अब्राह्मण में भी सम्भव होने में कोई बाधा नहीं है।

अब यदि ब्रह्मा से उत्पन्न होने के कारण किसी को ब्राह्मण माना जाता है तो संसार के समस्त प्राणी भी तो ब्रह्मा से ही उत्पन्न होते हैं। इस कारण सभी प्राणियों को ब्राह्मण मान लीजिए। इस दोष का निवारण करने के लिए ऐसा कहना भी ठीक नहीं है कि ब्रह्मा के मुख से जो उत्पन्न हुआ है वह ब्राह्मण है, अन्य नहीं। क्योंकि जब सब मानव ब्रह्मा से उत्पन्न हुए हैं तब उनमें ऐसा भेद करना कि यह मुख से उत्पन्न हुआ है और यह पैर से उत्पन्न हुआ है, सर्वथा असङ्गत है। एक वृक्ष से उत्पन्न होने वाले फलादि में मूल, मध्य और शाखा को लेकर भेद नहीं किया

जा सकता है। इस प्रकार ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न होना भी ब्राह्मण शब्द की प्रवृत्ति में निमित्त नहीं है। यहाँ यह भी विचारणीय है कि ब्रह्मा में ब्राह्मणत्व है या नहीं। यदि ब्रह्मा में ब्राह्मणत्व नहीं है तो फिर ब्रह्मा से ब्राह्मणत्व की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? जिस प्रकार अमनुष्य से मनुष्य की उत्पत्ति नहीं होती है उसी प्रकार अब्राह्मण से ब्राह्मण की उत्पत्ति भी सम्भव नहीं है। यदि ब्रह्मा में ब्राह्मणत्व है तो पूरे शरीर में ब्राह्मणत्व है अथवा मुख प्रदेश में ही ब्राह्मणत्व है। यदि ब्रह्मा के पूरे शरीर में ब्राह्मणत्व है तो फिर उससे उत्पन्न प्राणियों में ब्राह्मण, शूद्र आदि का भेद नहीं बन सकेगा। अब यदि ब्रह्मा के मुख प्रदेश में ही ब्राह्मणत्व माना जाय तो दूसरे प्रदेश में वह शूद्रता को प्राप्त होगा और ऐसी स्थिति में उसके पाद आदि अवयव शूद्र की तरह वन्दनीय नहीं होंगे, किन्तु विप्रों की उत्पत्ति का स्थान केवल ब्रह्मा का मुख ही वन्दनीय होगा। इस प्रकार न तो केवल इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष से और न अन्य सहकृत इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष से ब्राह्मणत्व जाति की सिद्धि होती है।

पूर्वपक्ष में ब्राह्मणत्व जाति की सिद्धि के लिए जो अनुमान प्रयोग दिये हैं वे भी सब अनेक दोषों से दूषित होने के कारण समीचीन नहीं हैं। प्रथम बात तो यह है कि ब्राह्मणत्व की सिद्धि के लिए ऐसा कोई लिङ्ग ही नहीं है जिससे ब्राह्मणत्व की सिद्धि की जा सके। यदि ऐसा कोई लिङ्ग है तो साध्य के साथ उसका अविनाभाव गृहीत है या नहीं, क्योंकि अविनाभाव के ग्रहण के बिना कोई भी लिङ्ग साध्य की सिद्धि नहीं कर सकता है और साध्य के साथ लिङ्ग के अविनाभाव का ग्रहण तभी होता है जब वह किसी प्रमाण से सिद्ध हो। इस तरह ब्राह्मणत्व जाति का साधक न तो प्रत्यक्ष है और न अनुमान। अब यदि कोई आगम प्रमाण से ब्राह्मणत्व की सिद्धि करना चाहे तो किस आगम से उसकी सिद्धि होगी- अपौरुषेय आगम से अथवा पौरुषेय आगम से? अपौरुषेय आगम ब्राह्मणत्व का साधक नहीं हो सकता है, क्योंकि वह तो कार्यरूप अर्थ अग्निष्टोमादि में ही प्रमाण होता है और आपके मत में ब्राह्मणत्व नित्य होने से अकार्य है। पौरुषेय आगम से भी ब्राह्मणत्व की प्रतिपत्ति सम्भव नहीं है। पौरुषेय आगम प्रमाणान्तर सापेक्ष होता है। अर्थात् वक्ता द्वारा प्रतिपाद्य विषय के ज्ञान में प्रामाण्य सिद्ध होने पर ही तत्प्रणीत आगम में प्रामाण्य होता है; किन्तु ब्राह्मणत्व जाति का साधक कोई पौरुषेय

आगम उपलब्ध नहीं है। इसी प्रकार अनेक दोष आने के कारण उपमान और अर्थापत्ति प्रमाण से भी ब्राह्मणत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है। उपर्युक्त कथन का निष्कर्ष यह है कि वस्तु के अस्तित्व को सिद्ध करने वाले प्रत्यक्षादि पाँचों प्रमाणों का विषय न होने के कारण ब्राह्मणत्व जाति का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है।

थोड़ी देर के लिए मान लिया जाय कि ब्राह्मणत्व जाति का अस्तित्व है तो वेश्या के घर में प्रविष्ट ब्राह्मण-नारियों में ब्राह्मणत्व का अभाव क्यों माना जाता है तथा उनकी निन्दा क्यों की जाती है? ब्राह्मणत्व जाति तो पवित्रता का हेतु है और नित्य होने से वह सदा विद्यमान रहती है। यदि ऐसा नहीं है तो ब्राह्मणत्व को गोत्व से भी निकृष्ट मानना पड़ेगा, क्योंकि चाण्डाल के घर में प्रविष्ट और चिरकाल तक उसके द्वारा पोषित गौ आदि का शिष्ट पुरुषों के द्वारा पुनः ग्रहण कर लिया जाता है, किन्तु वेश्या के घर में प्रविष्ट ब्राह्मणियों का पुनः ग्रहण नहीं किया जाता है। यदि वेश्या के घर में प्रविष्ट ब्राह्मणी में ब्राह्मण के योग्य क्रियाओं का भ्रंश हो जाने से ब्राह्मणत्व की निवृत्ति मानी जाती है तो व्रात्य में भी क्रिया का भ्रंश पाये जाने के कारण ब्राह्मणत्व की निवृत्ति का प्रसङ्ग प्राप्त होता है। उपनयन आदि संस्कारों से रहित ब्राह्मण को व्रात्य कहते हैं, परन्तु ऐसा नहीं है कि व्रात्य में ब्राह्मणत्व नहीं रहता है। अतः क्रिया के भ्रंश होने पर भी जिस प्रकार व्रात्य में ब्राह्मणत्व का सद्भाव है, उसी प्रकार वेश्या के घर में प्रविष्ट ब्राह्मणी में भी ब्राह्मणत्व का सद्भाव है, ऐसा मानना पड़ेगा और ऐसा मानना युक्तिसङ्गत भी है।

ब्राह्मणत्व को जाति मानने वाले ब्राह्मणत्व को नित्य मानते हैं। फिर भी वे कहते हैं कि जप, तप, होम आदि ब्राह्मण के योग्य क्रियाओं के न करने से तथा शूद्र का भोजन करने से ब्राह्मणत्व नष्ट हो जाता है, इस विषय में कहा भी गया है–

शूद्रान्नाच्छूद्रसम्पर्काच्छूद्रेण सह भाषणात्।
इह जन्मनि शूद्रत्वं मृतः श्वा चाभिजायते।।

अर्थात् शूद्र द्वारा पकाया गया भोजन करने से, शूद्र के साथ सम्पर्क रखने से और शूद्र के साथ वार्तालाप करने से ब्राह्मण इसी जन्म में

शूद्र हो जाता है और मरने के बाद श्वान योनि में उत्पन्न होता है। इस प्रकार के कथन में कितना विरोधाभास है। ब्राह्मणत्व जाति को नित्य मानना और कुछ कारणों के द्वारा उसका नाश भी मानना विरोधाभास नहीं तो और क्या है? ऐसी परस्पर विरुद्ध बातों का कहना बुद्धिमान् व्यक्तियों को शोभा नहीं देता है।

यहाँ कोई कह सकता है कि ब्राह्मणत्व जाति के न मानने पर जैनमत में वर्णाश्रम व्यवस्था और तन्निमित्तक तप, जप, दानादि का व्यवहार कैसे बनेगा? इसका उत्तर यह है कि यजन, रक्षण आदि क्रियाविशेष और यज्ञोपवीतादि चिह्नयुक्त व्यक्तिविशेष में वर्णाश्रमव्यवस्था और तप, दानादि का व्यवहार सुगमता से बन जाता है, ऐसा मानने में कोई विरोध नहीं है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र– ये चार वर्ण हैं। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास– ये चार आश्रम हैं। प्रत्येक वर्ण और आश्रम के अपने-अपने कर्त्तव्य भी पृथक्-पृथक् हैं। जैसे तप करना, दान देना और दान लेना, यज्ञ करना, यज्ञ करवाना इत्यादि ब्राह्मणों का कर्त्तव्य है। इसी प्रकार क्षत्रिय आदि के भी पृथक्-पृथक् कर्त्तव्य हैं। अतः वर्णाश्रम-व्यवस्था और तप, दानादि व्यवहार का कारण ब्राह्मणत्व जाति नहीं है। यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जातियों का सद्भाव जन्मना और अनादि माना जाय तो परशुराम के द्वारा समस्त भूमण्डल को इक्कीस बार क्षत्रियरहित कर देने पर भी क्षत्रियों की पुनः उत्पत्ति कैसे सम्भव हुई? परशुराम की तरह कोई क्षत्रिय पुरुष इस भूमण्डल को ब्राह्मणरहित भी कर सकता है। तब ब्राह्मणों की उत्पत्ति कैसे सम्भव होगी? अतः ऐसा मानना चाहिए कि ब्राह्मणत्व आदि जाति के बिना ही ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि का व्यवहार अपनी-अपनी क्रियाविशेष के कारण ही होता है। इसके साथ ही ऐसा भी मानना चाहिए कि सदृशक्रियारूप परिणमन के कारण ही व्यक्तियों में ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व आदि जातिविशेष की व्यवस्था होती है।

आचार्य प्रभाचन्द्र ने ब्राह्मणत्व जाति के निराकरण के प्रकरण में जन्मना ब्राह्मणत्व जाति का खण्डन अनेक प्रकार के तर्कों और प्रमाणों के आधार पर किया है। उन्होंने ब्राह्मणत्व जाति के एकत्व और नित्यत्व का निराकरण करके उसे मनुष्यत्व, गोत्व आदि की तरह सदृश परिणमनरूप सिद्ध किया है। वे वर्णाश्रमव्यवस्था और तप, दानादि के व्यवहार को

भी यज्ञ, दानादि क्रियाविशेष और यज्ञोपवीतादि चिह्न से उपलक्षित व्यक्तिविशेष में ही करने का परामर्श देते हैं। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि गोत्वादि की तरह ब्राह्मणत्व को एक पृथक् जाति मानना प्रमाणसङ्गत नहीं है।

नयनिरूपण :

कारिका संख्या 52 में कहा गया है– '**नयो ज्ञातुरभिप्रायः**'। अब इस कथन की व्याख्या करने के लिए कहते हैं–

> **श्रुतभेदा नयाः सप्त नैगमादिप्रभेदतः।**
> **द्रव्यपर्यायमूलास्ते द्रव्यमेकान्वयानुगम्।।66।।**
> **निश्चयात्मकमन्योऽपि व्यतिरेकपृथक्त्वगः।**
> **निश्चयव्यवहारौ तु द्रव्यपर्यायमाश्रितौ।।67।।**

नय श्रुतज्ञान के भेद हैं और वे नैगमादि के भेद से सात प्रकार के हैं। वे नय द्रव्य और पर्याय मूलक हैं। अर्थात् उन नयों का मूल (आश्रय) द्रव्य और पर्याय है। द्रव्य वह है जिसमें एकत्व और अन्वय का अनुगम पाया जाय। द्रव्य एकत्व के द्वारा स्वपर्यायों का तथा अन्वय (सदृशपरिणाम) के द्वारा द्रव्यान्तरों का अनुगमन करता है। यहाँ एकत्वानुगम शब्द के द्वारा भेदैकान्त का निषेध किया गया है और अन्वयानुगम शब्द के द्वारा सब द्रव्यों में एकत्व का निरास किया गया है। वह द्रव्य निश्चयात्मक होता है। संशयादि का व्यवच्छेद करके ग्रहण करने का नाम निश्चय है और इस प्रकार का जिसका स्वभाव है उसे निश्चयात्मक कहते हैं। केवल द्रव्य ही निश्चयात्मक नहीं है; किन्तु पर्याय भी निश्चयात्मक होती है। इसके अतिरिक्त पर्याय व्यतिरेक और पृथक्त्व का अनुगमन करती है। परस्पर व्यावृत्ति को व्यतिरेक कहते हैं। स्वद्रव्य की पर्यायान्तरों की अपेक्षा से पर्यायों में व्यतिरेक पाया जाता है तथा द्रव्यान्तर की पर्यायों की अपेक्षा से पर्यायों में पृथक्त्व पाया जाता है। इस प्रकार पर्यायों में व्यतिरेक और पृथक्त्व दोनों बातें पाई जाती हैं।

यहाँ एक शङ्का होती है कि यदि नैगमादि नय द्रव्यपर्यायमूलक हैं तो द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक– इन दो मूल नयों का मूल क्या है?

इसका उत्तर यह है कि द्रव्यार्थिक नय का मूल निश्चय है और पर्यायार्थिक नय का मूल व्यवहार है। चेतन तथा अचेतन द्रव्य का जो सत् स्वभाव है, जो कभी नष्ट नहीं होता है, उसको अवलम्बन करने वाला नय निश्चयनय (द्रव्यार्थिक नय) है तथा जो स्वभाव विनष्ट हो जाता है उसको अवलम्बन करने वाला नय व्यवहारनय (पर्यायार्थिकनय) है। द्रव्यार्थिकनय द्रव्य के आश्रित है और पर्यायार्थिक नय पर्याय के आश्रित हैं। आगम के अनुसार द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दो मूल नय हैं, परन्तु अध्यात्मशास्त्र में द्रव्यार्थिक को निश्चयनय और पर्यायार्थिक को व्यवहारनय भी कहते हैं। निश्चयनय के अनुसार जीव कर्मरहित है और व्यवहारनय के अनुसार कर्मसहित है। निश्चयनय स्वाश्रित वस्तुस्वरूप को कहता है और व्यवहारनय पराश्रित वस्तु स्वरूप को कहता है। निश्चयनय की दृष्टि में जीव सर्वसाधारण चेतनापरिणाम की अपेक्षा से एक है। वही जीव व्यवहारनय की दृष्टि से दो प्रकार का है- कर्मनिर्मुक्त और सकर्मक। निश्चयनय से पुद्गल द्रव्य एक है। यद्यपि पुद्गल में पृथिव्यादि का भेद तथा स्कन्ध और परमाणु का भेद पाया जाता है तथापि उनमें रूपरसगन्धस्पर्शवत्व सभी में समानरूप से विद्यमान रहते हैं।

नयों के प्रकरण में एक ज्ञातव्य बात यह है कि नय मतिज्ञान के भेद नहीं हैं, किन्तु श्रुतज्ञान के भेद हैं, क्योंकि नयों का विषय त्रिकालवर्ती अनेक द्रव्य और उनकी पर्यायें होती हैं। इसके विपरीत मतिज्ञान वर्तमानकालवर्ती द्रव्यपर्यायरूप अर्थ का ग्राहक होता है। इस कारण नय इन्द्रियजन्य मतिज्ञान के भेद नहीं हो सकते हैं। इसी प्रकार ये नय स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, चिन्ता और अभिनिबोधरूप अनिन्द्रियजन्य मतिज्ञान के भी भेद नहीं होते हैं, क्योंकि उक्त स्मृति आदि ज्ञान अपने कारण इन्द्रियजन्य मतिज्ञान से परिच्छिन्न अर्थों को ही जानते हैं। श्रुतज्ञान के विषय में जानने योग्य एक विशेष बात यह है कि श्रुतज्ञान स्वार्थ और परार्थ के भेद से दो प्रकार का होता है। ज्ञानरूप श्रुत स्वार्थ होता है और वचनरूप श्रुत परार्थ होता है। अन्य सब ज्ञान स्वार्थ ही होते हैं। अतः नय श्रुतज्ञान के भेद हैं।

उक्त दो कारिकाओं का निष्कर्ष यह है कि मूल नय दो हैं- द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक अथवा निश्चयनय और व्यवहारनय। द्रव्यार्थिक नय के

तीन भेद हैं- नैगम, संग्रह और व्यवहार तथा पर्यायार्थिक नय के चार भेद हैं- ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवम्भूत।

नैगमनय का स्वरूप :

गुणप्रधानभावेन धर्मयोरेकधर्मिणि।
विवक्षा नैगमोऽत्यन्तभेदोक्तिः स्यात्तदाकृतिः।।68।।

एक धर्मी में एकत्व, अनेकत्वादि धर्मों की गौण और प्रधानभाव से जो विवक्षा होती है उसे नैगमनय कहते हैं तथा धर्म और धर्मी में अत्यन्त भेद मानना नैगमाभास है।

नैगमनय में नैगम शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार होती है- **'नैकं गमो नैगमः'** अर्थात् जो धर्म और धर्मी में से केवल एक का कथन नहीं करता है, परन्तु विवक्षाभेद से दोनों का कथन करता है। कभी धर्मी प्रधान होता है और उसके धर्म गौण होते हैं तथा कभी धर्म प्रधान होते हैं और धर्मी गौण होता है। जैसे जीव सत् है, अमूर्त है, सूक्ष्म है, ज्ञाता है, द्रष्टा है, कर्ता है, भोक्ता है, परिणामी है, नित्य है, असंख्यात प्रदेशी है और पृथिव्यादि भूतों से विलक्षण है, इत्यादि प्रकार से जीव के स्वरूप की प्ररूपणा करने पर धर्मी जीव प्रधान होता है और उसके ज्ञान, सुखादि धर्म गौण हो जाते हैं। इसके विपरीत जब जीव के सुख, दुःख, ज्ञानादि धर्मों का प्रधानभाव से निरूपण किया जाता है तब सुखादि धर्म प्रधान हो जाते हैं और धर्मी जीव गौण हो जाता है। इस तरह नैगमनय में धर्म और धर्मी का वक्ता की विवक्षा के अनुसार प्रधान और गौणरूप से निरूपण किया जाता है। कारिका में धर्म और धर्मी का ग्रहण उपलक्षण के रूप में किया गया है। इससे गुण और गुणी, अवयव और अवयवी, जाति और जातिमान् इत्यादि का ग्रहण करना चाहिए। नैगमनय इन सब का प्रधान और गौणरूप से प्रतिपादन करता है। वह कभी गुणी को प्रधान बनाता है और कभी गुणों को। इसी प्रकार का विवक्षाभेद अवयव-अवयवी आदि में भी समझ लेना चाहिए। परन्तु धर्म और धर्मी में, गुण और गुणी में, अवयव और अवयवी में, जाति और जातिमान् में, क्रिया और क्रियावान् में अत्यन्त भेद मानना नैगमाभास है।

संग्रहनय का स्वरूप :

सदभेदात् समस्तैक्यसंग्रहात् संग्रहो नयः।
दुर्नयो ब्रह्मवादः स्यात् तत्स्वरूपानवाप्तितः।।69।।

जो सत्ता के अभेद के कारण जीव और अजीवरूप समस्त विशेष पदार्थों का एकरूप से संग्रह कर लेता है वह संग्रहनय है। समस्त पदार्थों का संग्रह करने के कारण ही इसका नाम संग्रह है। कोई भी पदार्थ सत्त्व से भिन्न नहीं है। सभी पदार्थ सत्‌रूप हैं तथा सत्ता की अपेक्षा से सभी पदार्थ अभिन्न हैं। इस प्रकार संग्रहनय समस्त पदार्थों के एकत्व का संग्रह करता है। इसके विपरीत ब्रह्मवाद दुर्नय (संग्रहाभास) है, क्योंकि उसका सत्तारूप जो स्वरूप बतलाया गया है उस स्वरूप की उसमें उपलब्धि नहीं होती है।

ब्रह्मवादी कहते हैं कि इस संसार में केवल ब्रह्म की सत्ता है और ब्रह्म को छोड़कर अन्य किसी पदार्थ की सत्ता नहीं है। अन्य पदार्थों का जो प्रतिभास होता है वह मायाजन्य होने के कारण मिथ्या है। कहा भी है- **'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'**। यहाँ केवल ब्रह्म सत् है और सारा जगत् मिथ्या है। ब्रह्मवाद में ब्रह्म की सत्ता को मानकर अन्य समस्त पदार्थों की सत्ता का निषेध किया गया है। इसी कारण ब्रह्मवाद संग्रहाभास है। ब्रह्म का सत्‌रूप जो स्वरूप बतलाया गया है वह किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है। सर्वथा अभेदरूप तत्त्व का साधक कोई प्रमाण नहीं है। संग्रह नय कहता है कि चेतन और अचेतनरूप समस्त वस्तु समूह सत्ता की अपेक्षा से एक है, सर्वथा एक नहीं। संग्रह और संग्रहाभास में यही भेद है।

व्यवहारनय का स्वरूप :

व्यवहारानुकूल्यात्तु प्रमाणानां प्रमाणता।
नान्यथा बाध्यमानानां ज्ञानानां तत्प्रसङ्गतः।।70।।

प्रत्यक्षादि प्रमाणों में जो प्रमाणता होती है वह हितप्राप्ति और अहितपरिहाररूप व्यवहार के अनुकूल होने के कारण ही होती है, अन्यथा नहीं। यदि व्यवहार के प्रतिकूल होने पर भी उनमें प्रमाणता मानी जाय

तो द्विचन्द्रज्ञान, सकलशून्यता आदि विषयक बाधित ज्ञानों में भी प्रमाणता का प्रसङ्ग प्राप्त होगा।

प्रमाणों में जो प्रामाण्य होता है वह इष्ट प्राप्ति और अनिष्ट परिहाररूप व्यवहार में अविसंवाद होने के कारण ही होता है, इस बात को सभी जानते हैं। यही व्यवहार का आनुकूल्य या अविसंवाद है। अविसंवादरूप व्यवहार के अभाव में ज्ञानों में प्रामाण्य मानने पर संशय, विपर्यय, स्वप्नज्ञान आदि में भी प्रामाण्य मानना पड़ेगा। व्यवहार में अविसंवाद के कारण ही सविकल्पक प्रत्यक्ष प्रमाण होता है। श्रुतज्ञान में जो प्रामाण्य है वह व्यवहार में अविसंवाद के कारण ही होता है। द्रव्य का लक्षण सत् है तथा उत्पादव्ययध्रौव्यसहित द्रव्य को सत् कहते हैं। अथवा गुण और पर्याय से युक्त वस्तु को द्रव्य कहते हैं। जीव का स्वभाव चैतन्य है। इत्यादि श्रुतज्ञान में प्रामाण्य अविसंवाद होने से ही होता है। इस प्रकार के ज्ञान में न तो प्रत्यक्षादि किसी प्रमाण से बाधा आती है और न पूर्वापर श्रुत वाक्यों में किसी प्रकार का विरोध प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त जीवादि अर्थ, जीवादि शब्द और जीवादिविषयक ज्ञान– इन सब में व्यवहार का आनुकूल्य पाया जाता है। इत्यादि कारणों से श्रुतज्ञान में प्रामाण्य है। इसी का नाम व्यवहारनय है।

तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रन्थों में व्यवहारनय का जैसा स्वरूप बतलाया गया है उससे यहाँ व्यवहारनय का स्वरूप कुछ विलक्षण मालूम पड़ता है। अन्यत्र व्यवहारनय का स्वरूप ऐसा है कि संग्रहनय के द्वारा गृहीत पदार्थों में जो विधिपूर्वक विभाग किया जाता है वह व्यवहारनय है। जैसे संग्रहनय से गृहीत द्रव्य में जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य के भेद से विभाग करना। पुनः जीवद्रव्य के मुक्त और संसारी के भेद से विभाग करना आदि।

अब व्यवहारनयाभास को बतलाते हैं। बहिरर्थ से शून्य वचन, विज्ञप्तिमात्र, ब्रह्ममात्र आदि अद्वैत प्रतिपादक वचन, सकलशून्यताप्रतिपादक आदि वचन व्यवहार के विरोधी होने के कारण व्यवहारनयाभास हैं। उक्त प्रकार के वचनों में इष्ट प्राप्ति और अनिष्टपरिहाररूप व्यवहार का विरोध पाया जाता है। यही कारण है कि उक्त प्रकार के वचनों को व्यवहारनयाभास कहा गया है।

ऋजुसूत्रनय का स्वरूप :

भेदं प्राधान्यतोऽन्विच्छन् ऋजुसूत्रनयो मतः।
सर्वथैकत्वविक्षेपी तदाभासस्त्वलौकिकः।।71।।

प्रधानरूप से भेद (पर्याय) को मानने वाला नय ऋजुसूत्रनय कहलाता है और सर्वथा एकत्व (द्रव्य) का निराकरण करने वाला ऋजुसूत्राभास है जो अलौकिक (लोकव्यवहार को अतिक्रान्त करने वाला) है।

ऋजु का अर्थ है– सीधा या सरल। ऋजुसूत्रनय अतीत और अनागत पर्यायों को छोड़कर प्रधानरूप से केवल एक क्षणवर्ती वर्तमान पर्याय को ही ग्रहण करता है, परन्तु यह नय गौणरूप से द्रव्य की भी अपेक्षा करता है। यह नय प्रधानरूप से सबका सबसे भेद बतलाता है, परन्तु गौणरूप से अभेद भी बतलाता है। और जो नय सर्वथा एकत्व (द्रव्य) का निराकरण करता है वह ऋजुसूत्राभास है। इसे अलौकिक कहा गया है, क्योंकि ऐसा नय लोकव्यवहार का उल्लंघन करके सर्वथा क्षणिकत्व को स्वीकार करता है। सर्वथा एकत्व का प्रतिक्षेप करके मृत्पिण्ड की स्यास, कोश, कुसूल आदि पर्यायों में तथा मनुष्य की बाल, कुमार, युवा आदि अवस्थाओं में भेदव्यवहार का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है। उनमें भेदव्यवहार तभी बनता है जब उन पर्यायों में अनुस्यूत रहने वाला कोई एक द्रव्य हो।

बौद्ध मानते हैं कि पुञ्जीभूत बाह्य परमाणु ही स्थूलाकार अपरमार्थ-विषयक प्रत्यय के हेतु होते हैं। इसी प्रकार सञ्चित परमाणु नीलादि ग्राहक चित्राकार एक प्रत्यय को उत्पन्न करते हैं। बौद्धों की यह मान्यता समीचीन नहीं है। यह तो ऋजुसूत्रनयाभास है, क्योंकि एक अभिन्न स्वभाव वाला तत्त्व एक साथ अनेक रूप नहीं हो सकता है। भेद का अभेद के साथ विरोध है। यदि भेद का अभेद के साथ विरोध न हो तो घटपटादि में नानात्व नहीं बन सकेगा। कोई भी नय हो वह नय तभी कहलाता है जब वह विरोधी धर्मों की अपेक्षा रखता है और जो नय विरोधी धर्मों की अपेक्षा से रहित होता है वह दुर्नय कहलाता है। भेद और अभेद दोनों ही वास्तविक हैं और दोनों में से किसी एक का निराकरण नहीं किया जा सकता है। भेद और अभेद में से किसी एक का भी निराकरण करने पर घटादिरूप तथा संवेदनरूप किसी भी अर्थ की उत्पत्ति नहीं हो

सकती है, इसलिए 'सापेक्षो नयः निरपेक्षो दुर्नयः' यह सिद्धान्त सर्वथा युक्तिसङ्गत है।

सात नयों में अर्थनय-शब्दनय का निरूपण :

> **चत्त्वारोऽर्थनया ह्येते जीवाद्यर्थव्यपाश्रयात्।**
> **त्रयः शब्दनयाः सत्यपदविद्यां समाश्रिताः।।72।।**

नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र- ये चार नय जीव, अजीव आदि अर्थों का आश्रय लेने के कारण अर्थनय कहलाते हैं तथा शब्द, समभिरूढ और एवम्भूत- ये तीन नय शब्दनय कहलाते हैं, क्योंकि ये काल, कारक, लिङ्ग आदि के भेद को बतलाने वाले सत्यभूत पदों की विद्या (व्याकरणशास्त्र) का आश्रय लेते हैं।

इसके पहले नैगमादि अर्थनयों का विवेचन किया जा चुका है। अब शब्दनयों का विवेचन करना है।

शब्दनय :

शब्दनय वह है जो काल, कारक, लिङ्ग आदि के भेद से अर्थ का भेद करता है। अभूत्, भवति, भविष्यति (हुआ था, है और होगा) यह कालभेद है। करोति, क्रियते (करता है, किया जाता है) यह कारक भेद है। देवदत्त और देवदत्ता यह लिङ्गभेद है। शब्दनय कहता है कि जहाँ काल आदि का भेद होता है वहाँ अर्थ में भी भेद अवश्य है। अभूत्, भवति और भविष्यति में कालभेद स्पष्ट है। अभूत् शब्द भूतकाल की बात कहता है, भवति शब्द वर्तमान काल की बात बतलाता है और भविष्यति शब्द भविष्यत्काल के विषय में कथन करता है। कालभेद के कारण होने वाले उक्त कथन अर्थभेद को प्रकट करते हैं। अभूत् शब्द का अर्थ भिन्न है और भविष्यति शब्द का अर्थ भिन्न है। इन भिन्न-भिन्न कथनों का कारण कालभेद है। इसी तरह कारक के भेद से जो कथन होता है उसमें भी अर्थभेद पाया जाता है। जैसे **'रामः करोति और रामेण क्रियते'**, राम करता है और राम के द्वारा किया जाता है। **'रामः करोति'** यह वाक्य कर्त्ता-कारक है और **'रामेण क्रियते'** यह वाक्य करणकारक है। यहाँ कारक के भिन्न होने से उसका अर्थ भी भिन्न हो जाता है। इसी प्रकार शब्दों में लिङ्गभेद भी पाया जाता है। देवदत्त यह पुलिङ्ग शब्द है और

देवदत्ता यह स्त्रीलिङ्ग शब्द है। इन दोनों शब्दों का अर्थ लिङ्गभेद के कारण पृथक्-पृथक् होता है। इस प्रकार शब्दनय काल, कारक, लिङ्ग आदि के भेद से अर्थ में भेद करता है।

समभिरूढ़नय वह है जो पर्याय के भेद से अर्थ में भेद करता है। जैसे इन्द्र, शक्र और पुरन्दर– ये देवराज की तीन पर्यायें हैं। इस नय के अनुसार इन तीनों शब्दों का अथवा तीनों पर्यायों का एक अर्थ नहीं हो सकता है। जब शचीपति इन्दनक्रिया (ऐश्वर्यरूप क्रिया) को करता है तब उसे इन्द्र कहते हैं। उसे शकन काल (शक्ति प्रदर्शित करने के काल) में शक्र और पुरदारण (नगरों का विनाश करने) के समय पुरन्दर कहा जाता है। समभिरूढ़नय के अनुसार अनेक शब्दों का एक अर्थ नहीं हो सकता है। जब शब्द अनेक हैं तो उनके अर्थ भी पृथक्-पृथक् होते हैं। समभिरूढ़नय उसे भी कहते हैं जहाँ एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं; किन्तु वह एक शब्द किसी एक अर्थ में रूढ़ (प्रसिद्ध) हो जाता है। जैसे गोशब्द के गौ, वाणी, किरण, भूमि आदि अनेक अर्थ होते हैं, परन्तु गोशब्द गौ (गाय) में रूढ़ हो गया है। गो शब्द के कहने से गौ का ही बोध होता है। अतः समभिरूढ़नय के अनुसार न तो अनेक शब्दों का एक अर्थ होता है और न एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं।

एवम्भूतनय का लक्षण है– 'क्रियाश्रयः एवम्भूतः'। अर्थात् जो व्यक्ति जिस समय जो क्रिया कर रहा है उसी समय में उस क्रिया के व्युत्पत्तिपरक शब्द का प्रयोग करना चाहिए, अन्य समय में नहीं। जैसे जिस समय जो व्यक्ति पूजा कर रहा है तभी उसे पुजारी कहना, अध्यापन कार्य करते समय ही उसे अध्यापक कहना। इत्यादि प्रकार से एवम्भूतनय क्रिया के आश्रय (निमित्त) से होता है। जो व्यक्ति पूजा नहीं कर रहा है उस समय भी उसे पुजारी कहना तथा जो अध्यापन नहीं कर रहा है उस समय भी उसे अध्यापक कहना, इस नय की दृष्टि से गलत है। एवम्भूतनय का अर्थ यही है कि जिस समय जो जैसी क्रिया या जैसा कार्य कर रहा है उस समय उसे वैसा ही कहना, अन्यथा नहीं। इस प्रकार चार अर्थनयों और तीन शब्दनयों का विवेचन समाप्त हुआ।

।।तृतीय प्रवचनप्रवेश के अन्तर्गत षष्ठ प्रवचनपरिच्छेद समाप्त।।

प्रवचनप्रवेश : सप्तम निक्षेपपरिच्छेद

शास्त्रविधान और उसके अध्ययन के फल को बतलाते हुए निक्षेप के स्वरूप को बतलाते हैं–

> श्रुतादर्थमनेकान्तमधिगम्याभिसन्धिभिः ।
> परीक्ष्य तांस्तान् तद्धर्माननेकान् व्यावहारिकान् ।।73।।
> नयानुगतनिक्षेपैरुपायैर्भेदवेदने ।
> विरचय्यार्थवाक्प्रत्ययात्मभेदान् श्रुतार्पितान् ।।74।।
> अनुयुज्यानुयोगैश्च निर्देशादिभिदां गतैः।
> द्रव्याणि जीवादीन्यात्मा विवृद्धाभिनिवेशनः ।।75।।
> जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानतत्त्ववित् ।
> तपोनिर्जीर्णकर्माऽयं विमुक्तः सुखमृच्छति ।।76।।

ये चारों कारिकायें संयुक्तरूप से लिखी गई हैं। इनका पृथक्-पृथक् अर्थ नहीं किया जा सकता है, क्योंकि इनका अर्थ परस्पर में एक दूसरे से सम्बद्ध है।

पहले श्रुतज्ञान के द्वारा अनेकान्तात्मक अर्थ को जानकर उसके व्यवहारोपयोगी उन-उन अनेक धर्मों की नयों के द्वारा परीक्षा करनी चाहिए। तदनन्तर नाम, स्थापना आदि स्वभाव से भेदरूप जीवादि द्रव्यों के जानने में उपायभूत नयों के अनुगामी निक्षेपों के द्वारा और श्रुत के द्वारा विवक्षित अर्थरूप, वचनरूप और प्रत्ययरूप भेदों की विशेषरूप से रचना करनी चाहिए। इसके साथ ही निर्देश, स्वामित्व आदि भेद वाले अनुयोगों के द्वारा जीवादि द्रव्यों को जानना चाहिए। ऐसा करने से आत्मा का सम्यग्दर्शनरूप अभिनिवेश वृद्धि को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् वह क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो जाता है। इस प्रकार जीवस्थान, गुणस्थान और मार्गणास्थान के तत्त्व को जानने वाला तथा तप के द्वारा समस्त कर्मों की निर्जरा करने वाला यह आत्मा विमुक्त होकर मोक्ष सुख को प्राप्त करता है।

आचार्य **अकलङ्कदेव** ने भव्य जीवों को सर्वप्रथम श्रुत का अभ्यास *करके अनेकान्तात्मक अर्थ को जानने का निर्देश किया है। अनेकान्तात्मक*

अर्थ का ज्ञान प्रमाण, नय और निक्षेप के द्वारा होता है। प्रमाण और नय का विवेचन पहले किया जा चुका है। यहाँ निक्षेप परिच्छेद में विशेषरूप से निक्षेपों का विवेचन करना है। यद्यपि **अकलङ्कदेव** ने निक्षेपों के स्वरूप और भेदों को बतलाने के लिए एक पृथक् निक्षेप-परिच्छेद की रचना की है, किन्तु ऐसी कोई पृथक् कारिका नहीं बनायी है जिसमें निक्षेपों के स्वरूप और भेद बतलाये गये हैं। ऊपर लिखी चार कारिकाओं की जो विवृति है उसमें निक्षेपों के भेद और स्वरूप अवश्य उपलब्ध होते हैं जो इस प्रकार हैं–

"तदधिगतानां (प्रमाणनयाधिगतानां) वाच्यतामापन्नानां वाचकेषु भेदोपन्यासः न्यासः (निक्षेपः)। सोऽवरतः चतुर्धा नामस्थापनाद्रव्यभावतः। तत्र निमित्तान्तरानपेक्षं संज्ञाकर्म नाम। तच्च जातिद्रव्यगुणक्रियालक्षण-निमित्तानपेक्षसंज्ञाकर्मणोऽनेकत्वात् अनेकधा। आहितनामकस्य द्रव्यस्य सदसद्भावात्मना व्यवस्थापना स्थापना। अनागतपरिणामविशेषं प्रति गृहीताभिमुख्यं द्रव्यम्।..... तथोपयोगलक्षणो भावनिक्षेपः। अप्रस्तुतार्था-पाकरणात् प्रस्तुतार्थव्याकरणाच्च निक्षेपः फलवान्।" इसके पहले कारिका संख्या 52 में **'उपायो न्यास इष्यते'** केवल इतना लिखा है।

निक्षेप का स्वरूप और भेद :

प्रमाण और नय के द्वारा अधिगत और वाच्यता को प्राप्त जीवादि तत्त्वों के वाचक जीवादि शब्दों के द्वारा जीवादि पदार्थों का प्ररूपण करना निक्षेप कहलाता है। निक्षेप का दूसरा नाम न्यास भी है। संक्षेप में निक्षेप के चार भेद हैं– नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव।

नामनिक्षेप– किसी पदार्थ में तदनुकूल जाति, गुण, क्रिया आदि की अपेक्षा के बिना ही व्यवहार चलाने के लिए लोक में उसका जो नामकरण कर दिया जाता है उसे नामनिक्षेप कहते हैं। जैसे किसी ने अपने पुत्र का नाम जिनेन्द्र रख दिया। यद्यपि उस पुत्र में जिनेन्द्र भगवान् का कोई गुण नहीं है, फिर भी नाम निक्षेप के अनुसार उसको जिनेन्द्र कहना गलत नहीं है। *अर्थात् नामनिक्षेप में किसी शब्द की व्युत्पत्ति या अर्थ की प्रधानता* नहीं होती है। केवल व्यवहार के लिए उसका नाम रख दिया जाता है। जैसे किसी अन्धे का नाम नयनसुख रख दिया तो नामनिक्षेप के अनुसार

वह ठीक है। नामनिक्षेप के अनुसार किसी अचेतन वस्तु का नाम जीव रखा जा सकता है और उसे नाम जीव कहने में कोई विरोध नहीं है।

स्थापनानिक्षेप– स्थापनानिक्षेप में किसी पदार्थ की तदाकार या अतदाकाररूप से स्थापना की जाती है। स्थापना करने का मतलब यह है कि स्थापित पदार्थ को उस रूप में मान लिया जाता है। तदाकार स्थापना में यथार्थ वस्तु की मूर्ति या चित्र के रूप में स्थापना की जाती है। जैसे मन्दिर में जो भगवान् महावीर की मूर्ति विराजमान है वह महावीर की प्रतिकृति होने से तदाकार स्थापना है। वह मूर्ति तदाकार स्थापना की दृष्टि से जिनेन्द्रदेव की है और पूज्य है। अतदाकार स्थापना में उस वस्तु का आकार तो नहीं रहता है; किन्तु उसके आकार की कल्पना कर ली जाती है। जैसे तन्दुल के कणों में जिनेन्द्रदेव की स्थापना करना। ऐसा हम पूजा करते समय करते हैं। नाम और स्थापना में अन्तर यह है कि स्थापना में जिसकी स्थापना की जाती है उसका सम्मान भी तदनुसार किया जाता है, किन्तु नामनिक्षेप में ऐसा नहीं किया जाता है।

द्रव्यनिक्षेप– भविष्य में होने वाली पर्याय को वर्तमान में वैसा कहना द्रव्यनिक्षेप कहलाता है। जैसे भविष्य में जिन बनने वाले जीव को अभी से जिनेन्द्र कहना अथवा किसी राजपुत्र को कुमार अवस्था में ही राजा कहना। वह अभी राजा नहीं है; किन्तु भविष्य में राजा बनेगा, अतः द्रव्यनिक्षेप के अनुसार उसे राजकुमार की अवस्था में ही राजा कह दिया जाता है।

भावनिक्षेप– वर्तमान में जो द्रव्य जिस पर्याय से युक्त है उसे वैसा ही कहना भावनिक्षेप कहलाता है। जैसे वर्तमान में जो साक्षात् जिनेन्द्रदेव हैं, उनको जिनेन्द्र कहना। अथवा वर्तमान में जो राजा है उसको राजा कहना, यह भावनिक्षेप का कथन है।

इन निक्षेपों में अर्थात्मक, वागात्मक और प्रत्ययात्मक भेद पाया जाता है। द्रव्य और भावनिक्षेप अर्थरूप होने से अर्थात्मक हैं। नामरूप व्यवहार वागात्मक है और सङ्कल्परूप होने से स्थापना व्यवहार प्रत्ययात्मक है। जैसे जिनेन्द्र शब्द का व्यवहार लोक में चार प्रकार से होता है, वैसे ही जीव, अजीव आदि का व्यवहार भी चार-चार प्रकार से किया जाता है। जैसे नामजीव, स्थापनाजीव, द्रव्यजीव और भावजीव।

जैनदर्शन में निक्षेपों का बहुत महत्त्व है। निक्षेपों के साथ ही जानने के मूल साधन प्रमाण और नयों का स्वरूप जानना भी आवश्यक है। जैनदर्शन में सम्यग्ज्ञान को प्रमाण माना गया है और ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहा गया हैं। जैन तत्त्वज्ञान को समझने के लिए प्रमाण, नय और निक्षेपों का ज्ञान तो आवश्यक है ही, इसके साथ ही अनुयोगों का ज्ञान भी आवश्यक है। **तत्त्वार्थसूत्र** में-

निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः (1/7)

सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च (1/8)

इन सूत्रों के द्वारा निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान तथा सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व इत्यादि अनेक अनुयोग (अनुगमद्वार) बतलाये गये हैं।

वस्तु के स्वरूप को कहना निर्देश कहलाता है, जैसे जीव का लक्षण उपयोग है। किसी वस्तु के अस्तित्व का कथन करना सत् है। इन अनुयोगों का विस्तार से निरूपण **सर्वार्थसिद्धि** आदि ग्रन्थों में किया गया है। प्रमाण, नय, निक्षेप तथा अनुयोगों के द्वारा सभी पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। सभी पदार्थों में मुख्य पदार्थ जीव है। अतः जीव को जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थानों के द्वारा विशेषरूप से जानना आवश्यक है।

जीवस्थान- जीवस्थान चौदह होते हैं। एकेन्द्रिय जीव बादर और सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार के होते हैं। शेष द्वीन्द्रिय से पञ्चेन्द्रियपर्यन्त जीव बादर ही होते हैं। पञ्चेन्द्रिय जीव संज्ञी और असंज्ञी के भेद से दो प्रकार के होते हैं। शेष एकेन्द्रिय आदि जीव असंज्ञी ही होते हैं। इस प्रकार सूक्ष्म एकेन्द्रिय, बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय और संज्ञी पञ्चेन्द्रिय- ये सातों प्रकार के जीव पर्याप्तक और अपर्याप्तक- दोनों प्रकार के होते हैं। इस तरह संक्षेप में ये चौदह जीवस्थान हैं।

गुणस्थान- गुणस्थान चौदह होते हैं- मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यक्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली।

मार्गणास्थान– मार्गणास्थान भी चौदह हैं– गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञा और आहारक।

जीवस्थान, गुणस्थान और मार्गणास्थानों का विशेष स्वरूप और भेद **गोम्मटसार जीवकाण्ड** आदि ग्रन्थों से जानना चाहिए। इस प्रकार प्रमाण आदि के द्वारा जीव के स्वरूप को अच्छी तरह से जानना आवश्यक है। ऐसा करने से यह आत्मा बाह्य प्रवृत्तियों का निरोध करके अपने स्वरूप में स्थिर हो जाता है और तब वह गृहस्थाश्रम को छोड़कर साधुमार्ग में प्रवेश करता है। तदनन्तर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तथा बाह्य और अन्तरङ्ग तपों के द्वारा ज्ञानावरणादि आठ कर्मों की निर्जरा करके मुक्ति लाभ करता है।

आवरणस्वरूप-विचार :

पूर्वपक्ष– ज्ञानावरणादि कर्मों का सद्भाव सिद्ध होने पर आत्मा का **'तपोनिर्जीर्णकर्मा'** यह विशेषण उपयुक्त हो सकता है, किन्तु कर्मों का सद्भाव सिद्ध नहीं होता है। यदि कोई कर्म है तो वह शरीर, रागादि और देशकालादि में से क्या है? इनमें से प्रथम दो विकल्पों को कर्म नहीं माना जा सकता है, क्योंकि शरीर और रागादि के रहने पर अर्थ का ज्ञान देखा ही जाता है। जिसके होने पर पदार्थों का ज्ञान होता है उसको ज्ञानावरणादिरूप कहना ठीक नहीं है। जैसे चक्षुरादि को ज्ञानावरणादिरूप मानना सङ्गत नहीं है। शरीर और रागादि के विद्यमान रहने पर भी अर्थज्ञान होता ही है, इसलिए उनको ज्ञानावरणादिरूप मानना गलत है।

यहाँ कोई मध्यस्थ कहना चाहता है कि यदि शरीरादि में आवरणरूपता सिद्ध नहीं होती है तो देशकालादि में आवरणरूपता मान लीजिए। मेरु आदि में दूरदेशादिरूप आवरण, रावणादि में दूरकालरूप आवरण, परमाणु आदि में सूक्ष्म स्वभावरूप आवरण और भूमि के अन्तर्गत वृक्षमूल तथा उदकादि में भूमि का आवरण उपलब्ध होता ही है। इस विषय में पूर्वपक्ष *का कथन है कि किसी मध्यस्थ का उक्त कथन समीचीन नहीं है, क्योंकि* दूरदेश, दूरकाल और सूक्ष्म स्वभाव का अभाव सातिशय योगी के द्वारा भी नहीं किया जा सकता है। अर्थात् दूरदेशादि को आवरणरूप मानने

पर आवरणमुक्त आत्मा में भी उनका अभाव मानना पड़ेगा जो कि कभी भी सम्भव नहीं है। इस विषय में वेदान्तियों का कहना है कि आवरण तो है, परन्तु वह अविद्यारूप है, पौद्गलिक नहीं, क्योंकि मूर्तिमान् आवरण (पौद्गलिक कर्म) के द्वारा अमूर्त ज्ञानादि का आवरण नहीं हो सकता है। अन्यथा शरीरादि में भी आवरण का प्रसङ्ग प्राप्त होगा। यहाँ यौगों का कथन है कि आत्मा का गुण होने के कारण कर्म (अदृष्ट) पौद्गलिक नहीं हो सकता है। यदि कर्म को पौद्गलिक मान लिया जाय तो भी किसी आत्मा में कर्मों की पूर्ण निर्जरा सम्भव नहीं है, क्योंकि कार्यकारणपरम्परा से प्रवर्तमान कर्म अनादि है और जो अनादि है उसका आकाशादि की तरह विनाश सम्भव नहीं है। इत्यादि प्रकार से आवरण के स्वरूप के विषय में यौगों, वेदान्तियों आदि पूर्वपक्षवादियों का उक्त कथन है।

उत्तरपक्ष– आवरण के स्वरूप के विषय में पूर्वपक्ष का उपर्युक्त कथन युक्तिसङ्गत नहीं है। यह कहना सर्वथा गलत है कि आवरण या कर्म का कोई सद्भाव सिद्ध नहीं होता है। हम आपसे पूछना चाहते हैं कि कर्ममात्र के सद्भाव में आपको विवाद है अथवा ज्ञानावरणादि कर्मों के सद्भाव में? इनमें से पहला विकल्प ठीक नहीं है, क्योंकि शरीरादि से व्यतिरिक्त कर्ममात्र का सद्भाव निम्नलिखित अनुमान से सिद्ध होता है। तथाहि – **"स्वपरप्रमेयबोधैकस्वभावस्य आत्मनो हीनगर्भस्थानशरीर-विषयादिषु विशिष्टाभिरतिः आत्मतद्व्यतिरिक्तकारणपूर्विका, तत्त्वात्।"**

अर्थात् स्व-पर प्रमेय के बोधरूप एक स्वभावयुक्त आत्मा की हीन गर्भस्थान, शरीर और विषयादि में जो विशिष्ट अभिरति होती है वह आत्मा और शरीर आदि से भिन्न कारणपूर्वक होती है, उस प्रकार की अभिरति (अभिरुचि) होने से। इसी विषय में **आप्तपरीक्षा** में भी कहा गया है– **"परतन्त्रोऽसौ हीनस्थानपरिग्रहवत्त्वात् कामोद्रेकपरतन्त्रहीन-स्थानपरिग्रहवच्छ्रोत्रियब्राह्मणवत्।"** अर्थात् यह आत्मा परतन्त्र है, हीनस्थान के स्वीकार करने से, जैसे कामोद्रेक से परतन्त्र हीनस्थान को स्वीकार करने वाला श्रोत्रिय ब्राह्मण। इस कथन से यह सिद्ध होता है कि हीनस्थान में अभिरुचि रखने के कारण अथवा हीनस्थान को स्वीकार करने के कारण यह आत्मा स्वतन्त्र न होकर परतन्त्र (कर्मबद्ध) है। अतः

कर्म का सद्भाव मानना आवश्यक है।

अब यदि कोई व्यक्ति कर्मसामान्य का सद्भाव मानकर भी ज्ञानावरणादि कर्मविशेष का सद्भाव नहीं मानना चाहता है तो उसके लिए भी हम ज्ञानावरणादि कर्म का सद्भाव नीचे लिखे अनुमान से सिद्ध करते हैं। तथाहि– **"यत् सत् तत् सर्वमनेकान्तात्मकमित्यादिव्याप्तिज्ञानं सावरणं स्वविषयेऽस्पष्टत्वात्, यत् स्वविषयेऽस्पष्टं तत्सावरणम्, यथा रजोनीहाराद्यन्तरिततरुनिकरादिज्ञानम्, स्वविषयेऽस्पष्टञ्चेदं ज्ञानमिति। मिथ्यादृशां सर्वत्र अनेकान्तस्वभावे भावे विपरीतज्ञानं सावरणम्, मिथ्याज्ञानत्वात्, धत्तूरकाद्युपयोगिनो मृच्छकले काञ्चनज्ञानवदिति।"**

अर्थात् जो सत् है वह सब अनेकान्तात्मक है, इत्यादि व्याप्तिज्ञान स्वविषय में अस्पष्ट होने के कारण सावरण है। जो ज्ञान स्वविषय में अस्पष्ट होता है वह सावरण होता है, जैसे रजोनीहार (हिमपात) आदि से आच्छादित तरुसमूह का ज्ञान। इसी तरह मिथ्यादृष्टियों को सर्वत्र अनेकान्तरूप अर्थ में जो विपरीत ज्ञान होता है वह मिथ्याज्ञान होने से सावरण है, धत्तूरक (धतूरे) का उपयोग करने वाले व्यक्ति को मिट्टी के टुकड़े में स्वर्णज्ञान की तरह। इस कथन से यह सिद्ध होता है कि हमारे ज्ञान के ऊपर आवरण पाया जाता है और जो आत्मा के ज्ञानादि गुणों का आवरण करने वाला कर्म है उसी का नाम ज्ञानावरणादि कर्म है।

पूर्वपक्ष में वेदान्तियों ने जो यह कहा है कि कर्म अविद्यारूप है, पौद्गलिक नहीं। उनका वह कथन भी युक्तिसङ्गत नहीं है। ऐसा कोई नियम नहीं है कि अमूर्त का आवरण अमूर्त के द्वारा ही हो। मूर्त मदिरादि के द्वारा भी अमूर्त ज्ञान का आवरण देखा जाता है। इसी प्रकार पौद्गलिक रूप मूर्त कर्म के द्वारा अमूर्त आत्मा का आवरण होने में कोई विरोध नहीं है। यहाँ कोई कह सकता है कि यदि मूर्त पदार्थ अमूर्त का आवरण हो सकता है तो शरीरादि भी ज्ञान का आवरण हो जायेगा। इसका उत्तर यह है कि ज्ञान का विरोधी नहीं होने के कारण शरीरादि को ज्ञान का आवरण मानना ठीक नहीं है। मूर्त होने पर भी जो ज्ञान से विरुद्ध है उसी को ज्ञान का आवरण मानना युक्त है, अन्य को नहीं। अन्यथा अमूर्त अविद्या को ज्ञान का आवरण मानने पर अमूर्त आकाशादि को भी ज्ञान

का आवरण मानना पड़ेगा। पौद्गलिक ज्ञानावरण कर्म का ज्ञान के साथ विरोध इस बात से जाना जाता है कि ज्ञानावरण कर्म का उदय होने पर पूर्व में प्रवर्तमान ज्ञान का निरोध हो जाता है।

आत्मा में जो मिथ्यादर्शनादि होते हैं वे कर्मरूप पुद्गलविशेष के सम्बन्ध के कारण ही होते हैं। जैसे मदिरापान आदि के कारण उन्मत्त पुरुष को सत् वस्तु में भी असत् का ज्ञान अथवा विपरीत ज्ञान हो जाता है, वैसे ही ज्ञानावरणादिरूप पौद्गलिक कर्म के कारण आत्मा के ज्ञानादि गुण मिथ्याज्ञानादिरूप परिणत हो जाते हैं। पूर्वपक्ष में यौगों ने कहा था कि आत्मगुण होने के कारण कर्म पौद्गलिक नहीं हो सकते हैं। उनका उक्त कथन सर्वथा असङ्गत है। यदि कर्म (अदृष्ट) आत्मगुण हैं तो वे आत्मा के पारतन्त्र्य में निमित्त नहीं हो सकते हैं। जो जिसका गुण होता है वह उसके पारतन्त्र्य में निमित्त नहीं होता है। यौगों ने धर्माधर्मसंज्ञक अदृष्ट को आत्मा का गुण माना है। तब वह आत्मगुण आत्मा की परतन्त्रता का कारण कैसे हो सकता है? और ऐसी स्थिति में आत्मा में सर्वदा मुक्ति का प्रसङ्ग प्राप्त होगा। ऐसा भी नहीं है कि आत्मा अनादि से स्वतन्त्र या मुक्त है। यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि हीनस्थान शरीरादि को स्वीकार करने के कारण आत्मा परतन्त्र है। कारागार की तरह आत्मा के दुःख का हेतु होने के कारण शरीर को हीनस्थान कहा गया है। अतः कर्म आत्मगुण न होकर पौद्गलिक हैं। अनुमान प्रमाण से कर्मों में पौद्गलिकत्व इस प्रकार सिद्ध किया गया है–

'पौद्गलिकं कर्म आत्मनः पारतन्त्र्यनिमितत्वात् निगडादिवत्।'

अर्थात् आत्मा की परतन्त्रता में निमित्त होने के कारण कर्म पौद्गलिक हैं, शृङ्खला (साँकल या बेड़ी) की तरह। जिस प्रकार शृङ्खलाबद्ध प्राणी परतन्त्र हो जाता है, उसी प्रकार कर्मबद्ध संसारी प्राणी भी परतन्त्र है। पूर्वपक्ष में कुछ लोगों ने यह भी कहा था कि किसी भी आत्मा में पूर्णरूप से कर्मों की निर्जरा सम्भव नहीं है। उनका ऐसा कथन उनके अज्ञान का ही सूचक है। यद्यपि कर्म सन्तानपरम्परा से अनादि है, परन्तु जिस आत्मा में कर्मों के विपक्ष सम्यग्दर्शनादि का परम प्रकर्ष हो जाता है उस आत्मा में कर्मों की पूर्ण निर्जरा हो जाती है। जहाँ जिसके विपक्ष का परम प्रकर्ष पाया जाता है वहाँ उसका पूर्णरूप से प्रक्षय हो जाता है।

जैसे उष्णस्पर्श का परम प्रकर्ष हो जाने पर शीतस्पर्श का पूर्ण अभाव हो जाता है। कार्यकारणपरम्परा से बीज और अङ्कुर की सन्तान अनादि है, परन्तु प्रतिपक्षभूत दहन से किसी बीज या अङ्कुर की समाप्ति होती हुई देखी जाती है। इसमें किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है। ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है कि कर्म के प्रतिपक्षभूत सम्यग्दर्शनादि का परम प्रकर्ष हो ही नहीं सकता है। हम कह सकते हैं कि किसी आत्मा में सम्यग्दर्शनादि का परम प्रकर्ष अवश्य होता है, क्योंकि वे परिमाण की तरह प्रकृष्यमाण होते हैं। जो भी पदार्थ या गुण प्रकृष्यमाण होता है उसका कहीं न कहीं परम प्रकर्ष अवश्य पाया जाता है। जैसे कि आकाश में परिमाणगुण का परम प्रकर्ष उपलब्ध होता है। कर्मक्षय के हेतु संवर और निर्जरा हैं। संवर के द्वारा आगामी कर्मों का आगमन रुक जाता है और निर्जरा के द्वारा सञ्चित कर्म निर्जीर्ण हो जाते हैं। इस प्रकार सयोगकेवली नामक तेरहवें गुणस्थान में ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों का नाश हो जाता है तथा अयोगकेवली नामक चौदहवें गुणस्थान में वेदनीयादि चार अघातिया कर्मों का नाश हो जाने पर यह आत्मा कर्ममुक्त होकर सिद्धलोक में विराजमान हो जाता।

आवरण के विषय में सांख्यमत :

पूर्वपक्ष– सांख्य कहते हैं कि यह सत्य है कि अदृष्ट आत्मा का गुण नहीं है, वह तो प्रकृति का परिणाम है। कहा भी है– '**प्रकृतिपरिणामः शुक्लं कृष्णं च कर्म।**' शुक्लकर्म (पुण्य) और कृष्ण कर्म (पाप) प्रकृति के परिणाम हैं। प्रकृति द्वारा किये जाने के कारण कर्म प्रकृति के परिणाम कहे जाते हैं। कर्म आत्मपरिणाम नहीं हैं। आत्मा तो अकर्त्ता है। आत्मा का स्वरूप साक्षित्वादिक है, कर्तृत्वादिक नहीं। **सांख्यकारिका** में कहा गया है–

तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च।। (सां.का.19)

अर्थात् पुरुष में त्रैगुण्य का विपर्यय होने से साक्षित्व, कैवल्य, माध्यस्थ्य, द्रष्टृत्व और अकर्तृत्व गुण पाये जाते हैं। प्रकृति में सत्त्व, रज और तम– ये तीन गुण पाये जाते हैं, किन्तु पुरुष में इन तीन गुणों

का अभाव रहता है। सत्त्वादि तीन गुण प्रकृति के विकारभूत हैं। ज्ञान भी प्रकृति का ही धर्म है। यद्यपि पुरुष ज्ञानरहित है, परन्तु उसका स्वरूप चैतन्य है और चैतन्य होने से वह द्रष्टा है। प्रकृति कर्त्री है और पुरुष अकर्त्ता है।

यहाँ कोई कह सकता है कि यदि प्रकृति कर्त्री है तो **'पुरुषः पुण्यं करोति'** ऐसी प्रतीति आत्मा में कैसे होती है? इसका उत्तर यह है कि ऐसी प्रतीति उपचार से होती है। जैसे बुद्धि स्वयं अचेतन होकर भी चेतना के संसर्ग से चेतनायुक्त प्रतीत होती है, उसी प्रकार कर्त्री प्रकृति के संयोग से अकर्त्तापुरुष भी कर्त्ता की तरह प्रतीत होता है। आत्मा में जो चित्शक्ति है वह अपरिणमनशील, शुद्ध और अनन्त है। यहाँ कोई ऐसी आशङ्का कर सकता है कि जब प्रधान समस्त पदार्थों का कर्त्ता है तो पुरुष की कल्पना करना व्यर्थ है। इसका उत्तर यह है कि पुरुष कर्त्ता न होने पर भी द्रष्टा है और द्रष्टा के बिना दृश्य भी नहीं बन सकता है। द्रष्टा पुरुष और दृश्य प्रधान पङ्गु और अन्धे की तरह परस्पर में सापेक्ष हैं। प्रधान चैतन्यरहित होने से अन्धा है और पुरुष निष्क्रिय होने से पङ्गु है। प्रधान पुरुष के बिना किये गये कार्य को देखने में समर्थ नहीं है और पुरुष चेतन होने पर भी प्रधान के बिना द्रष्टा नहीं हो सकता है। प्रधान कर्त्ता है और पुरुष भोक्ता है।

यहाँ एक प्रश्न यह हो सकता है कि चैतन्यरूप पुरुष संसार की रचना में कारणभूत प्रधान में स्थित फल को कैसे भोगता है? इसका उत्तर यह है कि चैतन्यरूप पुरुष अज्ञानान्धकार से आच्छादित होने के कारण प्रकृति में स्थित सुखादि फल को आत्मस्थ मानकर उसका उपभोक्ता कहलाने लगता है; किन्तु जब उसको ऐसा ज्ञान हो जाता है कि यह प्रकृति दुःख हेतु है, इसके साथ मेरा संसर्ग ठीक नहीं है, तब वह प्रकृति और पुरुष में भेदविज्ञान हो जाने से प्रकृति द्वारा सम्पादित कर्मफल का उपभोग नहीं करता है। उस समय प्रकृति भी यह समझ लेती है कि इस पुरुष ने मेरे स्वरूप को जान लिया है और ऐसा मानकर वह पुरुष के भोगसम्पादन के लिए प्रवृत्ति नहीं करती है। तदनन्तर प्रकृति और पुरुष में विवेकख्याति हो जाने के कारण पुरुष को अपवर्ग की प्राप्ति हो जाती है, ऐसा आवरण के विषय में सांख्यमत है।

उत्तरपक्ष– सांख्य का उक्त मत समीचीन नहीं है। अदृष्ट को प्रकृति का परिणाम मानना सर्वथा गलत है। यथार्थ बात यह है कि धर्मी की सिद्धि होने पर उसके धर्म का विचार करना ठीक है; किन्तु प्रकृतिरूप धर्मी किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है। प्रकृति के साधक प्रमाणों का प्रकृति की परीक्षा के प्रकरण में पहले ही विस्तार से निराकरण किया जा चुका है। अतः कर्म या अदृष्ट को प्रकृति का परिणाम मानना ठीक नहीं है।

मान लिया जाय कि प्रकृति का अस्तित्व है तो प्रश्न होता है कि वह प्रकृति पुरुष में स्थित किसी निमित्त की अपेक्षा से कर्मरूप परिणमन करती है अथवा किसी की अपेक्षा के बिना ही वैसा करती है? किसी की अपेक्षा के बिना तो वह कर्मरूप से परिणमन नहीं कर सकती है। अन्यथा मुक्तात्मा में भी शरीरादि के सम्पादन के लिए प्रकृति में उस प्रकार के परिणमन का प्रसङ्ग प्राप्त होगा। अब यदि ऐसा माना जाय कि प्रकृति किसी निमित्त की अपेक्षा से ही कर्मरूप परिणमन करती है तो यह बतलाइये कि वह निमित्त क्या है– विवेकानुपलम्भ अथवा अदृष्ट? विवेकानुपलम्भ को तो निमित्त नहीं माना जा सकता है, क्योंकि विवेकोपलम्भ के अभावरूप होने से विवेकानुपलम्भ मुक्तात्मा में भी सम्भव है। संसार अवस्था में प्रकृति और पुरुष में विवेक की अनुत्पत्ति और मुक्त अवस्था में विवेक का विनाश, ये दोनों ही अभावरूप होने से इनमें कोई विशेषता नहीं है। अब यदि ऐसा माना जाय कि अदृष्ट की अपेक्षा से प्रकृति का कर्मरूप परिणमन होता है तो ऐसा मानने में अन्योन्याश्रय दोष आता है। अदृष्ट के सिद्ध होने पर उसकी अपेक्षा से प्रकृति में शुक्ल और कृष्णरूप कर्म के परिणमन की सिद्धि हो सकती है तथा प्रकृति में शुक्ल-कृष्णरूप कर्म परिणमन के सिद्ध होने पर अदृष्ट की सिद्धि हो सकती है।

यहाँ एक बात यह भी विचारणीय है कि प्रकृति के द्वारा सम्पादित शरीरादि के द्वारा संसारी आत्मा का कुछ उपकार किया जाता है या नहीं? यदि संसारी आत्मा का कुछ उपकार नहीं किया जाता है तो यह शरीरादि संसारी आत्मा का है, ऐसा व्यपदेश कैसे होगा? तथा मुक्तात्मा में भी इस व्यपदेश का प्रसङ्ग प्राप्त होगा। अब इस दोष को दूर करने के लिए यदि ऐसा माना जाता है कि शरीरादि के द्वारा पुरुष का उपकार

किया जाता है तो यहाँ भी प्रश्न होता है कि वह उपकार पुरुष से भिन्न है या अभिन्न? यदि वह उपकार पुरुष से अभिन्न है तो ऐसा होने से उपकार की तरह पुरुष में भी कार्यत्व का प्रसङ्ग आता है और ऐसी स्थिति में पुरुष में नित्यत्व की क्षति अवश्यम्भावी है। यदि शरीरादि कृत उपकार पुरुष से भिन्न है तो यह उपकार पुरुष का है, ऐसा कथन कैसे किया जा सकता है?

सांख्य कहते हैं कि प्रधान कर्त्ता है और पुरुष भोक्ता है; किन्तु जब पुरुष अकर्त्ता है तो वह भोक्ता नहीं हो सकता है। जिस प्रकार गमन क्रिया का कर्त्ता गन्ता कहलाता है उसी प्रकार भोजनक्रिया का कर्त्ता भोक्ता कहलाता है। पुरुष के अकर्त्ता होने पर उसमें भोक्तृत्व का अभाव निश्चित है। हम कह सकते हैं कि जिस प्रकार मुक्तात्मा सुखादि का उपभोक्ता नहीं होता है, उसी प्रकार संसारी आत्मा भी सुखादि का उपभोक्ता नहीं हो सकता है, क्योंकि दोनों में ही अकर्तृत्व समानरूप से पाया जाता है। अकर्त्ता को भोक्ता मानने पर कृतनाश और अकृताभ्यागम का दोष भी आता है। प्रकृति के द्वारा किये गये कर्म के फल का प्रकृति से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। यह कृतनाश है। तथा पुरुष ने कर्म किया ही नहीं है, फिर भी उसका फल से सम्बन्ध हो जाता है, यही अकृताभ्यागम है। जिसने कर्म किया उसे उसका फल नहीं मिला और जिसने कुछ भी नहीं किया उसे उसका फल मिल गया। यह कितनी विचित्र बात है। यथार्थ में पुरुष पुण्य करता है, भोजन करता है, ध्यान करता है, इत्यादि प्रकार से पुरुष में कर्तृत्व अबाध्यमान प्रतीति से सिद्ध होता है। सांख्य प्रधान को कर्त्ता और पुरुष को द्रष्टा मानकर उनमें पङ्गु और अन्धे की तरह संयोग मानते हैं, जो सर्वथा असङ्गत है, क्योंकि यहाँ दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैषम्य है। पङ्गु और अन्धे का जो दृष्टान्त दिया गया है उसमें ध्यातव्य बात यह है कि वे दोनों चेतन हैं। इसलिए वे यह कार्य इस प्रकार होगा, ऐसा निश्चय करके परस्पर की अपेक्षापूर्वक कार्य में प्रवृत्ति करते हैं, परन्तु प्रकृति और पुरुष में ऐसी बात नहीं है। उनमें एक चेतन है और दूसरा अचेतन है। सांख्य का यह कथन भी समीचीन नहीं है *कि बुद्धि स्वयं अचेतन होकर भी पुरुष में विद्यमान चेतना के संसर्ग* से चेतनायुक्त प्रतीत होती है, क्योंकि बुद्धि और चेतना में कोई भेद नहीं है। बुद्धि, चेतना, अध्यवसाय- ये सब विज्ञान के ही पर्यायवाची

शब्द हैं।

सांख्यों ने कहा है कि प्रकृति और पुरुष में विवेकख्याति (भेदविज्ञान) हो जाने पर प्रकृति यह समझ लेती है कि इस पुरुष ने मेरे स्वरूप को जान लिया है और ऐसा समझकर वह पुरुष के भोगसम्पादन के लिए प्रवृत्ति नहीं करती है। उनका यह कथन सही नहीं है, क्योंकि जड़रूप होने से प्रकृति में उक्त प्रकार का ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता है। जड़स्वरूप घटादि में कभी भी उक्त प्रकार का ज्ञान नहीं होता है। उपर्युक्त कथन का निष्कर्ष यह है कि प्रकृति या प्रधान का कोई स्वरूप ही सिद्ध नहीं होता है तथा कथञ्चित् उसका स्वरूप सिद्ध हो भी जाय तो कर्मरूप से उसका परिणमन नहीं हो सकता है। अतः ज्ञानावरणादिरूप द्रव्यकर्म को पुद्गल का परिणाम और रागादिरूप भावकर्म को आत्मा का परिणाम मानना चाहिए। ऐसा भी नहीं है कि भावकर्म को आत्म परिणाम मानने पर आत्मा में अनित्यत्व का प्रसङ्ग प्राप्त होगा, क्योंकि जैनदर्शन में कोई भी पदार्थ न तो सर्वथा नित्य है और न सर्वथा अनित्य है। अपितु प्रत्येक पदार्थ कथञ्चित् नित्य और कथञ्चित् अनित्य है। अतः आत्मा भी कथञ्चित् नित्यानित्यात्मक है। यह बात अनेकान्तसिद्धि के प्रकरण में अच्छी तरह से प्रतिपादित की गई है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि सम्पूर्ण कर्मों की निर्जरा हो जाने पर मोक्ष अवस्था में आत्मा अपने विशुद्ध ज्ञानादि स्वभाव में स्थित रहता है।

मुक्तिस्वरूप-विचार

यौगदर्शन में मोक्ष-स्वरूप :

पूर्वपक्ष– यौगों (नैयायिक-वैशेषिकों) की मान्यता है कि मोक्ष में आत्मा के बुद्धि, सुख, दुःख, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार– इन नौ विशेष गुणों का अत्यन्त उच्छेद हो जाता है। इस कारण मोक्ष में आत्मा को विशुद्ध ज्ञानादिस्वभावरूप मानना असङ्गत है। पहले प्रत्यक्षादि प्रमाणों से आत्मस्वरूप की प्रतिपत्ति हो जाती है। तदनन्तर मिथ्याज्ञान के अपकर्षपूर्वक तत्त्वज्ञान का प्रकर्ष हो जाने पर आत्मा के बुद्धि आदि नौ गुणों की सन्तान का अत्यन्त उच्छेद हो जाता है। ऐसा होने पर आत्मा का अपने स्वरूप में अवस्थित होने का नाम ही मोक्ष है। मोक्ष में आत्मा के नौ विशेष गुणों की सन्तान के अत्यन्त उच्छेद की सिद्धि अनुमान

से होती है। **तथाहि– 'मोक्षे नवानामात्मविशेषगुणानां सन्तानोऽत्यन्तमुच्छिद्यते, सन्तानत्वात्, प्रदीपादिसन्तानवत्।'** अर्थात् मोक्ष में आत्मा के नौ विशेष गुणों की सन्तान का अत्यन्त उच्छेद हो जाता है, सन्तान होने से, प्रदीप की सन्तान की तरह। जो भी सन्तान होती है उसका अत्यन्त उच्छेद देखा जाता है। कुछ समय तक प्रदीप की सन्तान चलती रहती है, किन्तु अन्त में उसका उच्छेद होता ही है। इसी प्रकार संसार अवस्था में आत्मा के जिन विशेष गुणों की सन्तान चालू रहती है उस सन्तान का मोक्ष में उच्छेद मानना आवश्यक है।

यहाँ कोई शङ्का कर सकता है कि यौगों ने विनाश को निर्हेतुक तो माना नहीं है, तब सन्तान के उच्छेदरूप मोक्ष का हेतु क्या है? इसका उत्तर यह है कि तत्त्वज्ञान ही सन्तान के उच्छेद का हेतु है। यहाँ जानने योग्य विशेष बात यह है कि पहले आत्मा आदि सौलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान का विनाश होता है, तदनन्तर क्रमशः दोष, प्रवृत्ति, जन्म और दुःख का विनाश हो जाने पर मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। सम्यग्ज्ञान की सामर्थ्य शुक्तिकादिरूप मिथ्याज्ञान के उच्छेद में देखी जाती है तथा मिथ्याज्ञान के अभाव में मिथ्याज्ञानमूलक रागादि भी निवृत्त हो जाते हैं। और रागादि के अभाव में रागादि के कार्यभूत मन, वचन और काय की प्रवृत्ति व्यावृत्त हो जाती है और ऐसा हो जाने पर धर्म तथा अधर्म की उत्पत्ति नहीं होती है। इसके साथ ही पूर्व में सञ्चित कर्म का सुखादिरूप फल के उपभोग से क्षय हो जाता है। कहा भी है–

'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि'।

इस विषय में अनुमान प्रयोग इस प्रकार है–

'पूर्वकर्माणि उपभोगादेव क्षीयन्ते, कर्मत्वात्, प्रारब्धशरीरादिकर्मवत्।' अर्थात् पूर्वोपार्जित कर्मों का क्षय उपभोग से ही होता है, क्योंकि वे कर्म हैं, प्रारब्ध शरीरादिकर्म की तरह। जिस प्रकार प्रारब्ध शरीरादि कर्मों का क्षय उपभोग के बिना नहीं होता है, उसी प्रकार आत्मा में पूर्वसञ्चित कर्मों का फल भी उपभोग के बिना नहीं होता है। यहाँ ऐसी आशङ्का करना ठीक नहीं है कि कर्मों के फल के उपभोग से कर्मक्षय मानने पर उपभोग काल में दूसरे नवीन कर्म अवश्य उत्पन्न होंगे और तब संसार

का उच्छेद कैसे होगा? इसका उत्तर यह है कि समाधि के बल से जिसको तत्त्वज्ञान उत्पन्न हो गया है ऐसा व्यक्ति कर्मों की सामर्थ्य को जानकर युगपत् अनेक शरीरों का निर्माण करके अशेष भोगों के द्वारा उपात्त कर्मों का क्षय कर देता है और भावी कर्मों की उत्पत्ति में निमित्त मिथ्याज्ञानजनित रागद्वेष से रहित होने के कारण संसार का उच्छेद हो जाता है।

यहाँ कोई कह सकता है कि मिथ्याज्ञान के अभाव में तत्त्वज्ञानी को उपभोग की इच्छा ही नहीं होगी। इसलिए कर्मफल के उपभोग की कोई आवश्यकता नहीं है। यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि कर्मफल के उपभोग के बिना कर्मों का क्षय नहीं हो सकता है। इस कारण तत्त्वज्ञानी को कर्मफल के उपभोग की अभिलाषा के अभाव में भी कर्मक्षय की इच्छा के वश होकर कर्मफल के उपभोग में प्रवृत्ति करनी पड़ती है। जिस प्रकार वैद्य के उपदेश से बीमार व्यक्ति को व्याधि के प्रक्षय के लिए अनभिलषित औषधि के खाने में प्रवृत्ति करनी पड़ती है, क्योंकि उसके बिना व्याधि की निवृत्ति नहीं हो सकती है, उसी प्रकार कर्मफल के उपभोग के विषय में भी समझना चाहिए। हम (यौग) कह सकते हैं कि मुक्तात्मा समस्त धर्माधर्म रहित होने से सर्ववैषयिक सुखदुःखरहित होता है। जो वैषयिक सुखदुःखवान् है वह समस्त धर्माधर्मरहित नहीं होता है। जैसे संसारी आत्मा। यतः मुक्तात्मा सर्वधर्माधर्मरहित होता है, अतः वह सर्ववैषयिक सुखदुःखरहित होता है। आगम में भी बतलाया गया है– **'न ह वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति, अशरीरं वावसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः।'** अर्थात् सशरीर आत्मा में प्रिय और अप्रिय विषयों का विनाश नहीं होता है और जो आत्मा अशरीर हो जाता है उसको प्रिय और अप्रिय विषय स्पर्श नहीं करते हैं। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि मुक्तावस्था में आत्मा वैषयिक सुखदुःखशून्य रहता है, ऐसा यौगों का पूर्वपक्ष है।

उत्तरपक्ष– यौगों का उक्त कथन समीचीन नहीं है। उन्होंने कहा है कि मोक्ष में आत्मा के बुद्धि, सुख, दुःख आदि नौ विशेष गुणों का अत्यन्त उच्छेद हो जाता है और इस बात की सिद्धि के लिए– **'मोक्षे नवानामात्मविशेषगुणानां सन्तानोऽत्यन्तमुच्छिद्यते'** इत्यादि अनुमान दिया है। यहाँ हम यौगों से यह जानना चाहते हैं कि आप आत्मा से सर्वथा भिन्न बुद्ध्यादि विशेष गुणों की सन्तान का अत्यन्त उच्छेद सिद्ध करना

चाहते हैं या अभिन्न गुणों की सन्तान का उच्छेद अथवा कथञ्चित् भिन्न गुणों की सन्तान का उच्छेद? प्रथम पक्ष में हेतु आश्रयासिद्ध है। आश्रयासिद्ध हेतु वह होता है जिसका कोई आश्रय ही न हो। हम यह पहले ही बतला चुके हैं कि आत्मा से अत्यन्त भिन्न बुद्ध्यादि विशेष गुणों का कोई अस्तित्व ही नहीं है। इस कारण विशेष धर्मों का सन्तानरूप धर्मी (पक्ष) असिद्ध है और पक्ष के अभाव में सन्तानत्व हेतु आश्रयासिद्ध है। द्वितीयपक्ष में अर्थात् बुद्ध्यादिविशेष गुणों को आत्मा से सर्वथा अभिन्न मानकर उन गुणों का अत्यन्त उच्छेद स्वीकार किया जाता है तो विशेष गुणों की तरह आत्मा का भी अत्यन्त उच्छेद हो जायेगा और ऐसी स्थिति में किसको मोक्ष होगा? जब आत्मा का अस्तित्व नहीं रहेगा तब मोक्ष का अभाव स्वतःसिद्ध हो जाता है। कथञ्चित् भेद पक्ष तो यौग मानते ही नहीं हैं, अन्यथा उनको अपसिद्धान्त का प्रसङ्ग प्राप्त होगा। गुणों का आत्मा से कथञ्चित् भेद मानने पर उन गुणों का सर्वथा उच्छेद नहीं हो सकता है।

इस प्रकरण में यह जान लेना भी आवश्यक है कि यौग पूर्वोक्त अनुमान से इन्द्रियजन्य बुद्ध्यादि विशेष गुणों का अत्यन्त उच्छेद सिद्ध करना चाहते हैं अथवा अतीन्द्रिय गुणों का अत्यन्त उच्छेद? प्रथम पक्ष में सिद्ध साधन दोष है। अर्थात् जैनदर्शनानुयायी भी इन्द्रियजन्य बुद्ध्यादि विशेष गुणों का मोक्ष में उच्छेद मानते ही हैं। अब द्वितीय विकल्प पर विचार करना है। यदि ऐसा माना जाय कि मोक्ष में अतीन्द्रिय बुद्ध्यादि विशेष गुणों का अत्यन्त उच्छेद हो जाता है तो फिर कोई भी प्रेक्षावान् व्यक्ति मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रयत्न क्यों करेगा? मोक्षार्थी पुरुष सातिशय ज्ञानसुखादि गुणों की प्राप्ति की अभिलाषा से ही मोक्ष में प्रवृत्ति करता है, सकल बुद्ध्यादि विशेष गुणों के उच्छेद की अभिलाषा से नहीं। कोई भी प्रेक्षावान् पुरुष आत्मा के ज्ञानादि गुणों के उच्छेद के लिए प्रयत्न नहीं करता है, अपितु उनके उत्कर्ष के लिए ही प्रयत्न करता है। यदि मोक्ष की अवस्था में पुरुष पत्थर की शिला के समान सुखज्ञानादि के संवेदन से शून्य हो जाता है, तब तो मोक्ष से संसार ही अच्छा है, जहाँ किसी न किसी मात्रा में सुखादि का संवेदन तो होता है। अतः यहाँ यह विचारणीय है कि क्या अल्प सुखादि का अनुभव अच्छा है या सकल सुखादि के उच्छेद का। यही कारण है कि वैशेषिकों द्वारा अभिमत सकलगुणोच्छेदरूप

या पाषाणरूप मोक्ष में जाने की किसी को इच्छा भी नहीं होती है। इस विषय में किसी महर्षि ने कितना अच्छा कहा है–

वरं वृन्दावने रम्ये शृगालत्वं प्रपद्यते।
न तु वैशेषिकीं मुक्तिं गौतमो गन्तुमिच्छति।।

अर्थात् रमणीक वृन्दावन के वन में शृगाल होना अच्छा है; किन्तु गौतम वैशेषिकाभिमत मुक्ति को प्राप्त करने की इच्छा नहीं करता है।

यदि मोक्ष का स्वरूप बुद्ध्यादि विशेष गुणों का आत्यन्तिक उच्छेद है तो संसार का स्वरूप क्या है– विशेष गुणों का अनुच्छेद अथवा भवान्तर की प्राप्ति? प्रथम पक्ष मानने पर महेश्वर में संसारित्व का प्रसङ्ग आता है, क्योंकि महेश्वर में बुद्ध्यादि विशेष गुणों का अनुच्छेद रहता है। और द्वितीय पक्ष में हमारे मत (जैन मत) की ही सिद्धि होती है। जैनदर्शन की मान्यता है– '**स्वोपात्तकर्मवशाद् भवात् भवान्तरावाप्तिः संसारः।**' अपने उपार्जित कर्मों के वश से एक भव से दूसरे भव की प्राप्ति का नाम संसार है। मोक्ष में बुद्ध्यादि विशेष गुणों का अत्यन्त उच्छेद मानने पर बौद्धों से वैशेषिक मत में क्या विशेषता रहेगी? बौद्ध मत में स्वरूप से आत्मा का असत्त्व है और वैशेषिक मत में आत्मा के होने पर भी मोक्ष में बुद्ध्यादि विशेष गुणरहित आत्मा का ग्राहक कोई प्रमाण न होने से असत्त्व है। यौगों ने पूर्वपक्ष में जो यह बतलाया है कि तत्त्वज्ञान मिथ्याज्ञानादि का व्यवच्छेद करके निःश्रेयस् का हेतु होता है, वह कथन तो ठीक है। किन्तु वह तत्त्वज्ञान सकल बुद्धि आदि की सन्तान के विनाश का हेतु नहीं हो सकता है। तत्त्वज्ञान तो स्वविरुद्ध मिथ्याज्ञान की सन्तान के उच्छेद में ही हेतु होता है। उनका यह कथन भी ठीक नहीं है कि आरब्ध कर्मों का क्षय फल के उपभोग से ही होता है, क्योंकि कर्मफल के उपभोग के समय दूसरे कर्मों की उत्पत्ति के कारणभूत मन, वचन और काय का व्यापार विद्यमान रहने पर कर्मों का आत्यन्तिक क्षय कैसे हो सकता है? पूर्वपक्ष में ऐसा भी बतलाया गया है कि तत्त्वज्ञानी कर्मफल के उपभोग की अभिलाषा के अभाव में भी कर्मक्षय की इच्छा के कारण कर्मफल के उपभोग में प्रवृत्ति करता है, जैसे कि वैद्य के उपदेश से बीमार व्यक्ति व्याधि के प्रक्षय के लिए अनभिलषित औषधि के खाने में प्रवृत्ति करता है। यह सब कथन ठीक नहीं है, क्योंकि नीरोग होने की अभिलाषा से

रोगी व्यक्ति की अरुचिकर औषधि खाने में प्रवृत्ति मानना तो ठीक है; किन्तु इस दृष्टान्त से तत्त्वज्ञानी की कर्मक्षय के लिए अङ्गना आदि के उपभोग में प्रवृत्ति मानना सर्वथा असङ्गत है। यहाँ दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैषम्य है।

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि संसार के कारण मिथ्यादर्शनादि तीन हैं। अतः उनकी निवृत्ति के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का होना आवश्यक है। इसलिए परम प्रकर्ष को प्राप्त सम्यग्दर्शनादि त्रय के द्वारा अनन्तज्ञानादिस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है। अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य सम्पन्न आत्मा की स्वाभाविक स्थिति का नाम ही मोक्ष है तथा मोक्ष में बुद्ध्यादि विशेष गुणों का उच्छेद मानना सर्वथा असङ्गत है।

वेदान्तदर्शन में मोक्ष-स्वरूप :

पूर्वपक्ष– वेदान्ती कहते हैं कि परमप्रकर्ष को प्राप्त सुखस्वभाव का नाम ही मोक्ष है। मोक्ष ज्ञानादि स्वरूप नहीं है। मोक्ष में आत्मा को ज्ञानादिस्वरूप मानने में कोई प्रमाण नहीं है; किन्तु मोक्ष को सुखस्वभावरूप मानने में प्रमाण है। **तथाहि**– '**आत्मा सुखस्वभावः अत्यन्तप्रियबुद्धि-विषयत्वात्। यथा वैषयिकं सुखम्।**' अर्थात् आत्मा का स्वभाव सुखरूप है, अत्यन्त प्रिय बुद्धि का विषय होने से, जैसे वैषयिक सुख। संसार में जितने भी पदार्थ हैं उन सब में अत्यन्त प्रियबुद्धि आत्मा में ही होती है। पुत्र, कलत्रादि से आत्मा की तुलना करने पर भी आत्मा ही अत्यन्त प्रिय सिद्ध होता है। मुमुक्षु का जो प्रयत्न होता है वह इष्ट अर्थ की प्राप्ति के लिए होता है और मुमुक्षु का इष्ट अर्थ है– परम अतिशय को प्राप्त सुख। जैसे संसारी प्राणी का इष्ट अर्थ है– वैषयिक सुख, वैसे ही मुमुक्षु का इष्ट अर्थ है– सुखस्वभावरूप मोक्ष। मोक्ष में परम अतिशय प्राप्त सुख की सिद्धि अनुमान से होती है। **तथाहि– सुखतारतम्यं क्वचिद् विश्राम्यति, तारतम्यशब्दवाच्यत्वात्, परिमाणतारतम्यवदिति।** अर्थात् *सुख के तारतम्य का कहीं विश्राम (विराम) होता है*, तारतम्य शब्द का वाच्य होने से, परिमाण के तारतम्य की तरह। सुख में तारतम्य देखा जाता है। किसी में अल्प सुख है और किसी में उससे अधिक सुख है। यही सुख का तारतम्य है। इस तारतम्य की किसी आत्मा में पूर्णता

भी होती है। जैसे सांसारिक वस्तुओं में परिमाण का तारतम्य उपलब्ध होता है और आकाश में परिमाण की पूर्णता पायी जाती है। इसी तरह आत्मा में सुख की जो पूर्णता है उसी का नाम परम अतिशय को प्राप्त सुख है। इस प्रकार आत्मा में परम अतिशय को प्राप्त सुख की सिद्धि अनुमान से होती है।

इस विषय में आगम भी प्रमाण है। आगम में कहा गया है-

आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षेऽभिव्यज्यते।

अर्थात् ब्रह्म का स्वरूप आनन्द है और उसकी अभिव्यक्ति मोक्ष में होती है। और भी कहा गया है-

यदा दृष्ट्वा परं ब्रह्म सर्वं त्यजति बन्धनम्।
तदा तन्नित्यमानन्दं मुक्तः स्वात्मनि विन्दति।।

अर्थात् जब यह आत्मा परमब्रह्म को देखकर सब प्रकार के बन्धन को छोड़ देता है तब वह मुक्त होकर उस नित्य आनन्द को स्वात्मा में प्राप्त करता है।

यहाँ कोई शङ्का करता है कि जब आत्मा का स्वभाव नित्य आनन्दरूप है तो वह स्वभाव संसार अवस्था में भी उपलब्ध होना चाहिए और तब मुक्त और संसार अवस्था में क्या विशेषता रहेगी? अर्थात् दोनों ही अवस्थायें समान हो जायेंगी। उक्त शङ्का ठीक नहीं है। इसका कारण यह है कि नित्य आत्मा में नित्य आनन्द सर्वदा विद्यमान रहने पर भी संसार अवस्था में माया के द्वारा उसके आवृत हो जाने के कारण उसका उपलम्भ नहीं होता है, परन्तु योग के अभ्यास द्वारा आवरण का प्रक्षय हो जाने पर मोक्ष अवस्था में उसकी अभिव्यक्ति हो जाने से उसके उपलम्भ में कोई बाधा नहीं रहती है। इससे यही सिद्ध होता है कि परमप्रकर्ष को प्राप्त आनन्द ही आत्मा का मोक्ष है, ऐसा वेदान्तियों का मत है।

उत्तरपक्ष- मोक्ष के स्वरूप के विषय में वेदान्तियों का उक्त कथन युक्तिसङ्गत नहीं है। मोक्ष में आत्मा का केवल सुखस्वभाव मानना और ज्ञानादिस्वभाव नहीं मानना सर्वथा गलत है। **'आत्मा सुखस्वभावः'** उनके इस कथन में हम यह जानना चाहते हैं कि आत्मा के सुखस्वभाव होने

का मतलब क्या है? क्या सुखत्व जाति से सम्बन्ध होने का नाम सुखस्वभाव है अथवा सुख का अधिकरण होने का नाम सुखस्वभाव है? यहाँ प्रथम विकल्प ठीक नहीं है, क्योंकि सुखत्व जाति का सम्बन्ध सुख नामक गुण में ही होता है, द्रव्य में नहीं। ऐसी कोई जाति नहीं है जो द्रव्य (आत्मा) और गुण (सुख) में साधारण हो। दूसरा विकल्प है आत्मा को सुख का अधिकरण मानना। इस विकल्प में दो प्रश्न होते हैं कि आत्मा जिस सुख का अधिकरण है वह सुख नित्य है या अनित्य? उसे अनित्य नहीं माना जा सकता है, क्योंकि आत्मा के सुखस्वभाव को अनित्य मानने पर आत्मा में भी अनित्यत्व का प्रसङ्ग प्राप्त होगा। अब यदि आत्मा के सुख को नित्य माना जाय तो इसमें भी दो विकल्प होते हैं। वह सुख कथञ्चित् नित्य है या सर्वथा नित्य? उसे कथञ्चित् नित्य मानने पर जैनमत की सिद्धि होती है। स्याद्वादी मानते हैं कि आत्मा में ज्ञानादि पर्याय की तरह द्रव्य की अपेक्षा से नित्य और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य सुखपर्याय का सद्भाव पाया जाता है। यदि उस सुख को सर्वथा नित्य माना जाय तो ऐसे सुख का ग्राहक प्रत्यक्षादि कोई प्रमाण न होने से आत्मा में नित्य सुख की सिद्धि नहीं होती है।

यहाँ एक बात यह भी विचारणीय है कि जिस प्रकार वेदान्ती मोक्ष में अनित्य सुख का परित्याग करके नित्य सुख की परिकल्पना करते हैं, उसी प्रकार नित्यत्वधर्मयुक्त देहादिक की भी परिकल्पना करनी चाहिए। यदि यहाँ ऐसा कहा जाय कि देह तो धर्मादि का कार्य है, धर्मादि के अभाव में देह कैसे हो सकता है, तो यही बात सुख के विषय में भी कही जा सकती है। यह कहना भी सही नहीं है कि संसारी सुख से विलक्षण होने के कारण मोक्ष सुख में उक्त प्रकार से दोष नहीं दिया जा सकता है। यदि ऐसा है तो मोक्ष में देह भी संसारी देह से विलक्षण मान लीजिए। यदि वेदान्ती **'आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्'** इस एकान्त का परित्याग करके मोक्ष में ज्ञान की सत्ता भी स्वीकार कर लेते हैं तो ज्ञानादि अनन्तचतुष्टयस्वरूप मोक्ष की सिद्धि होती है जो जैनों को भी अभीष्ट है। इस प्रकार मोक्ष में आत्मा का स्वभाव केवल सुखरूप सिद्ध नहीं होता है।

पूर्वपक्ष में आत्मा को सुखस्वभावरूप सिद्ध करने के लिए जो

'अत्यन्तप्रियबुद्धिविषयत्वात्' साधन दिया गया है वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा सदा प्रियबुद्धि का ही विषय नहीं होता है; किन्तु दुःखित अवस्था में उसमें अप्रिय बुद्धि भी होती है। **'इष्टार्थो मुमुक्षूणां प्रयत्नः'** इत्यादि जो कहा गया है वह कथन भी सङ्गत नहीं है। ऐसा नहीं है कि प्रेक्षावान् लोगों का प्रयत्न इष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए ही होता है। व्याधिविशेष से खिन्न उनका प्रयत्न कभी अनिष्ट अर्थ के उपरम के लिए भी देखा जाता है। उनका **'सुखतारतम्यं क्वचिद् विश्राम्यति'** इत्यादि कथन भी असङ्गत है, क्योंकि यहाँ तारतम्यवाच्यत्व हेतु परत्व आदि के द्वारा अनैकान्तिक हो जाता है। परत्व, अपरत्व आदि का प्रकर्ष तारतम्यवाच्य तो होता है, परन्तु उनका परम प्रकर्ष कहीं नहीं देखा जाता है। यदि वेदान्ती मोक्ष में सुख का परम प्रकर्ष मानते हैं तो कहीं दुःख का भी परम प्रकर्ष मानना चाहिए। हम कह सकते हैं कि **'दुःखतारतम्यं क्वचिद् विश्राम्यति तारतम्यशब्दवाच्यत्वात्।'** किन्तु वेदान्तियों ने दुःख का परम प्रकर्ष कहीं माना नहीं है। अतः दुःखतारतम्य के द्वारा भी उक्त हेतु अनैकान्तिक हो जाता है।

वेदान्तियों ने मोक्ष में सुखस्वभावता सिद्ध करने के लिए **'आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्'** इत्यादि जो आगम प्रमाण दिया है वह नितान्त असङ्गत है, क्योंकि अपौरुषेय आगम तो प्रमाण ही नहीं है। गुणवान् वक्ता के द्वारा ही आगम में प्रामाण्य आता है तथा वेदान्तियों ने वेद का गुणवान् कर्ता माना ही नहीं है। उसे तो अपौरुषेय माना गया है। हम उक्त आगम को प्रमाण मान भी लें, परन्तु यहाँ विप्रतिपत्ति यह है कि जिस प्रकार उक्त अपौरुषेय आगम मोक्ष में आत्मा की आनन्दरूपता का प्रतिपादन करता है उसी प्रकार वह आनन्दरूपता के अभाव का भी प्रतिपादन करता है। तथाहि– **"न ह वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति, अशरीरं वाव-सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः।"** (छान्दो0, 8/12/1)। इस वाक्य से मोक्ष में आनन्दरूपता के अभाव की सिद्धि भी होती है।

हम **'आनन्दं ब्रह्म'** इस वाक्य का व्याख्यान अन्यथा भी कर सकते हैं। हम कह सकते हैं कि यहाँ आनन्द शब्द सांसारिक दुःखाभावविषयक है, सुखविषयक नहीं। दुःखाभाव में सुख शब्द का प्रयोग देखा भी जाता है। जैसे भाराक्रान्त अथवा व्याधि से पीड़ित व्यक्ति भार के अथवा व्याधि के दूर हो

जाने पर कहता है– 'अब मैं सुखी हूँ।' यह जो कहा गया था कि यद्यपि आनन्द नित्य है, किन्तु संसार अवस्था में आवृत होने के कारण उसकी उपलब्धि नहीं होती है, वह केवल कथनमात्र है। सर्वथा नित्यैकस्वभाव वाले आत्मा का आवरण हो ही नहीं सकता है। परिणामी आत्मा का ही ज्ञानावरणादि कर्मों के द्वारा आवरण होता है तथा सम्यग्दर्शनादि के द्वारा उस आवरण का नाश भी हो जाता है। अतः आत्मा को मोक्ष में कथञ्चित् नित्यसुखज्ञानादि से युक्त मानना ही प्रमाणसङ्गत है।

बौद्धदर्शन में मोक्ष-स्वरूप :

पूर्वपक्ष– बौद्धों का कथन है कि नैरात्म्य भावना से विशुद्ध ज्ञान की उत्पत्ति होती है और इसी विशुद्ध ज्ञानोत्पत्ति का नाम मोक्ष है। कार्यकारणभूत ज्ञानक्षणप्रवाह के अतिरिक्त अन्य कोई स्थिर तथा नित्य आत्मा नहीं है। तब मुक्त अवस्था में आत्मा को ज्ञानादिस्वरूप मानना युक्तिसङ्गत नहीं है। यथार्थ बात यह है कि आत्मा तो समस्त अनर्थों की जड़ है। जो व्यक्ति आत्मा को स्थिरादिरूप देखता है उसका आत्मा में शाश्वत स्नेह अवश्यम्भावी है और आत्मस्नेह के कारण वह सुख में तथा सुख के साधनों में दोषों का तिरस्कार करके गुणों का आरोप करता है। गुणदर्शी पुरुष तृष्णा के वश होकर सुख के साधनों का उपादान करता है। इसलिए जब तक आत्माभिनिवेश रहता है तभी तक संसार भी रहता है। आत्मा के होने पर स्व और पर का विभाग देखा जाता है। स्व और पर के विभाग से स्व के प्रति स्नेह और पर के प्रति द्वेष होता है तथा इन दो दोषों के कारण इनसे सम्बन्धित अन्य अनेक दोष भी उत्पन्न हो जाते हैं। इसी विषय में आचार्य **धर्मकीर्ति** ने **प्रमाणवार्तिक** में कहा है–

यः पश्यत्यात्मानं तत्रास्याहमिति शाश्वतः स्नेहः।
स्नेहात् सुखेषु तृष्यति तृष्णा दोषांस्तिरस्कुरुते।।
गुणदर्शी परितृष्यन् ममेति सुखसाधनान्युपादत्ते।
तेनात्माभिनिवेशो यावत् तावत् स संसारः।।
आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषौ।
अनयोः सम्प्रतिबद्धाः सर्वे दोषाः प्रजायन्ते।।

– प्रमाणवार्तिक 1/219-21

इसलिए मुक्ति के इच्छुक व्यक्ति को श्रुतमयी और चिन्तामयी भावना के द्वारा आत्मस्वरूप में तथा पुत्रकलत्रादि में- ये अनात्मक, अनित्य, अशुचि और दुःखरूप हैं, ऐसी भावना करनी चाहिए। ऐसा करने से उनमें राग का अभाव होकर वैराग्य उत्पन्न होता है। इससे सास्रवचित्तसन्तानरूप संसार की निवृत्ति हो जाती है तथा निरास्रवचित्तसन्तानरूप मुक्ति प्राप्त हो जाती है। यही कारण है कि इस असत्य आत्माभिनिवेश की निवृत्ति के लिए नैरात्म्य के अभ्यास का प्रयत्न किया जाता है, क्योंकि नित्य, निरंशादि स्वभावरूप ऐसा कोई आत्मा नहीं है जो मोक्ष को प्राप्त करता हो। यदि नैरात्म्य के अभ्यासरूप प्रयत्न न किया जाय तो आत्माभिनिवेश की निवृत्ति नहीं हो सकती है तथा इन्द्रिय आदि का उपभोग के आश्रयरूप से ग्रहण करने पर उनमें आत्मीय बुद्धि का निवारण भी नहीं हो सकेगा। और तब वैराग्य के असम्भव होने से मोक्ष प्राप्ति की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। अतः राग के विनाश के लिए नैरात्म्यादि की भावना का अभ्यास आवश्यक है।

यहाँ ऐसा कहना ठीक नहीं है कि कायक्लेशरूप तप के द्वारा सकल कर्म का प्रक्षय हो जाने पर मोक्ष हो जायेगा, क्योंकि कायक्लेश को कर्म का फल होने के कारण नारकादिकायक्लेश की तरह वह तप नहीं कहला सकता है। कर्म की शक्ति बड़ी विचित्र होती है और विचित्र शक्तिसम्पन्न कर्म विचित्र फल देने में समर्थ होता है।

ऐसा कर्म कायक्लेशमात्र से कैसे क्षय को प्राप्त हो सकता है? फिर भी यदि कायक्लेश से कर्मक्षय माना जाय तो फिर एक उपवास आदि स्वरूप कायक्लेश से भी अशेष कर्मक्षय हो जाना चाहिए, इत्यादि प्रकार से विचार करने पर यही सिद्ध होता है कि नैरात्म्यभावना के अभ्यास से जो विशुद्ध ज्ञानोत्पत्ति होती है उसी को मोक्ष मानना श्रेयस्कर है। ऐसी बौद्धों की मान्यता है।

उत्तरपक्ष- बौद्धों की उक्त मान्यता युक्तिसङ्गत नहीं है। उनका यह कथन सही नहीं है कि कार्यकारणभूत ज्ञानक्षणप्रवाह के अतिरिक्त अन्य कोई स्थिर आत्मा नहीं है, क्योंकि स्याद्वादियों ने कार्यकारणभूत ज्ञानक्षणप्रवाह के अतिरिक्त स्थिर आत्मा का बौद्धाभिमतसन्तान के निषेध के समय विस्तार से समर्थन किया है। बौद्धों ने- 'यः **पश्यत्यात्मानं**

स्थिरादिरूपम्' इत्यादि जो कहा है वह है तो ठीक, किन्तु यहाँ जानने योग्य विशेष बात यह है कि अज्ञजन आत्मस्नेह के कारण सांसारिक दुःखमिश्रित सुखसाधनों में प्रवृत्ति करता है और जो व्यक्ति हित-अहित के विवेक को जानता है वह तात्कालिक सुख के साधन अङ्गना आदि का परित्याग करके आत्यन्तिक सुख के साधन मुक्तिमार्ग में प्रवृत्ति करता है। जैसे पथ्यापथ्य के विवेक को नहीं जानने वाला रोगी व्यक्ति व्याधि को बढ़ाने वाले तात्कालिक सुख के साधन दधि आदि का ग्रहण करता है, परन्तु पथ्यापथ्य का विशेषज्ञ अपथ्य को छोड़कर आरोग्य के साधनभूत औषधि आदि पथ्य में प्रवृत्ति करता है।

बौद्धों का यह कथन कि मुक्ति के इच्छुक पुरुष को आत्मस्वरूप में और पुत्रकलत्रादि में अनात्मक, अनित्य, अशुचि और दुःखरूप भावना करनी चाहिए, इत्यादि सर्व कथन उपर्युक्त विवेचन से ही निरस्त हो जाता है, क्योंकि सर्वथा अनित्य, अनात्मक आदि भावनायें निर्विषयक होने से मिथ्यारूप हैं और वे सर्वथा नित्यादि भावना की तरह मुक्ति के हेतु नहीं हो सकती हैं। ज्ञानादिस्वरूप आत्मा की सत्ता हम पहले ही सिद्ध कर चुके हैं तथा क्षणभङ्ग का निरास करके कथञ्चित् नित्यानित्यात्मक वस्तु को भी सिद्ध किया जा चुका है। जो बद्ध है वही मुक्त होता है ऐसा एकाधिकरण्य होने पर ही लोक में बन्ध और मोक्ष की सम्यक् व्यवस्था बनती है; किन्तु बौद्धदर्शन में अन्य क्षण बद्ध होता है और अन्य क्षण मुक्त होता है, ऐसा वैयधिकरण्य होने के कारण बन्ध और मोक्ष की कोई भी व्यवस्था नहीं बन सकती है। बौद्धों का यह कथन भी ठीक नहीं है कि निरन्वय और विनश्वर चित्तक्षणों में एकत्व का अध्यवसाय करके यह प्राणी आत्माभिनिवेश के कारण सांसारिक सुखसाधनों में प्रवृत्ति करता है, क्योंकि आत्मा के नहीं मानने पर उस प्रकार के चित्तक्षणों में एकत्व का अध्यवसाय बन ही नहीं सकता है। चित्तक्षणों का निरन्वय विनाश मानने पर मोक्ष के लिए प्रयत्न करना भी व्यर्थ है। बौद्ध मत में रागादि का उपरम हो जाने पर मोक्ष होता है और रागादि का उपरम विनाशरूप है। बौद्धों की मान्यता है कि विनाश निर्हेतुक होता है। अतः रागादि के उपरम रूप मोक्ष को भी निर्हेतुक होना चाहिए। तब मोक्ष की प्राप्ति के लिए नैरात्म्य का अभ्यास करना अथवा विशेष अनुष्ठानादि का प्रयास करना, यह सब व्यर्थ ही सिद्ध होता है।

बौद्ध निरास्रवचित्तसन्तति की उत्पत्तिरूप मुक्ति को मानते हैं। यहाँ प्रश्न यह है कि वह चित्तसन्तति सान्वय है या निरन्वय? इसको सान्वय मानना ही श्रेयस्कर है। सान्वय चित्तसन्तान में ही मोक्ष बन सकता है, क्योंकि बद्ध ही मुक्त होता है, अबद्ध नहीं। निरन्वय चित्तसन्तान में बद्ध को मुक्ति सम्भव नहीं है। वहाँ बद्ध अन्य होता है और मुक्त अन्य होता है। सन्तान के विषय में एक प्रश्न यह भी होता है कि सन्तान परमार्थसत् है या संवृतिसत्? यदि सन्तान परमार्थसत् है तो आत्मा का ही नामान्तर सन्तान हुआ। यदि इस दोष से बचने के लिए सन्तान को संवृतिसत् माना जाता है तो ऐसा मानने से यही निष्कर्ष फलित होता है कि बद्ध अन्य है और मुक्त अन्य है।

पूर्वपक्ष का 'इन्द्रिय आदि का उपभोग के आश्रयरूप से ग्रहण करने पर उनमें आत्मीय बुद्धि का निवारण नहीं होगा', इत्यादि जो कथन है वह भी अविचारित रमणीय है; क्योंकि हेयोपादेय तत्त्वज्ञ आत्यन्तिक सुख-साधन को आत्मीय सुख-साधन मानता है, तात्कालिक सुख-साधन को नहीं। कहा भी है-

एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा।।

– **भावपाहुड**, गाथा 59

अर्थात् ज्ञानदर्शनरूप अकेली मेरी आत्मा शाश्वत है और मेरे शेष सब बाह्यभाव संयोग लक्षण वाले हैं। और भी कहा है-

दाराः परिभवकाराः बन्धुजनो बन्धनं विषं विषयाः।
कोऽयं जनस्य मोहः ये रिपवस्तेषु सुहृदाशा।।

अर्थात् पत्नी तिरस्कार करने वाली है, बन्धुजन बन्धन हैं और इन्द्रियविषय विष के समान हैं। मनुष्य का यह कैसा मोह है कि जो शत्रु हैं उन्हीं में आशा के वशीभूत होकर मोहित होता है।

इस प्रकार की भावना करने वाले व्यक्ति को संयोग सम्बन्धजन्य और दुःख के हेतुभूत पदार्थों में सुख के लेशमात्र साधन का सद्भाव होने पर भी अन्यत्र आत्यन्तिक सुख-साधन रत्नत्रय को देखने वाले

विवेकशील पुरुष को दारा, पुत्र आदि में आत्मीय बुद्धि कैसे हो सकती है, जिससे उनसे निवृत्ति न हो। अर्थात् निवृत्ति होगी ही।

बौद्धों का **'कायक्लेशस्य कर्मफलत्वात्'** इत्यादि कथन भी उनके अज्ञान का सूचक है, क्योंकि हिंसादि विरतिलक्षण व्रत के वर्धक कायक्लेश को कर्म का फल होने पर भी उसमें तपत्व का कोई विरोध नहीं है। व्रत का अविरोधी कायक्लेश कर्म-निर्जरा का हेतु होने से तप कहलाता है, परन्तु नारकादि के कायक्लेश को तप नहीं कहा जा सकता है। नारकादि कायक्लेश में हिंसादि का आवेश प्रधान रहने के कारण उसको व्रत का अविरोधी नहीं कहा जा सकता है। अतः मुमुक्षुओं के कायक्लेश में और नारकादि के कायक्लेश में किसी भी प्रकार की समानता नहीं मानी जा सकती है।

पूर्वपक्ष का **'स्वल्पक्लेशेन अशेषस्य कर्मक्षयापत्तिः'** इत्यादि कथन तो ठीक ही है, क्योंकि विचित्र फलदान समर्थ कर्मों का शक्तिसंकर होने पर क्षीणमोह गुणस्थान के अन्त्य समय में और अयोगिकेवली गुणस्थान के चरम समय में स्वल्प परमशुक्लध्यानरूप तप से अशेष कर्मों का प्रक्षय हो जाता है। जीवन्मुक्ति और परममुक्ति की प्राप्ति इसी प्रकार से होती है। कर्मों की उस शक्ति का संकर बहुत प्रकार के क्लेशों द्वारा साध्य होता है। अतः उसके लिए अनेक प्रकार के उपवासादि तथा दुश्चर कायक्लेशादि का अनुष्ठान आवश्यक होता है। इस प्रकार यह संसारी प्राणी दुर्धर तप तथा रत्नत्रय के अनुष्ठान से अनन्तज्ञानादिस्वरूप मुक्ति को प्राप्त करता है। ऐसा स्याद्वादियों का प्रमाणसङ्गत मत है।

सुषुप्ति आदि अवस्था में ज्ञानसद्भावसिद्धि :

पूर्वपक्ष– वैशेषिक, बौद्ध आदि कुछ दार्शनिक मानते हैं कि सुषुप्ति आदि अवस्था में ज्ञान का सद्भाव नहीं रहता है। कुछ भी नहीं जानता हुआ ही व्यक्ति सुषुप्त कहा जाता है। सुषुप्ति अवस्था में ज्ञान का सद्भाव होने पर वहाँ ज्ञान की अपरिच्छित्ति नहीं होनी चाहिए। यदि सुषुप्ति अवस्था में ज्ञान का सद्भाव रहता है तो जाग्रद् अवस्था और सुषुप्ति अवस्था में कोई भेद नहीं होना चाहिए, क्योंकि दोनों ही अवस्थाओं में स्वपर-प्रकाशक ज्ञान का सद्भाव समानरूप से पाया जाता है। यहाँ कोई कह

सकता है कि सुषुप्ति अवस्था में ज्ञान का सद्भाव होने पर भी निद्रा के द्वारा उसका अभिभव हो जाता है और जाग्रद् अवस्था में उसके अभिभव का अभाव रहता है। इस कारण दोनों अवस्थाओं में समानता नहीं है, परन्तु विचार करने पर उक्त कथन ठीक प्रतीत नहीं होता है। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि निद्रा के द्वारा ज्ञान के अभिभव का मतलब क्या है- ज्ञान का नाश या तिरोभाव? यदि अभिभव का अर्थ नाश है तो सुषुप्ति अवस्था में ज्ञान का सद्भाव कैसे माना जा सकता है, नाश तो ज्ञान के सद्भाव का विरोधी है। अब यदि अभिभव का अर्थ तिरोभाव माना जाय तो यह भी नहीं बन सकता है, क्योंकि स्वपरप्रकाशक ज्ञान के मानने पर उसका तिरोभाव सम्भव ही नहीं है। इसलिए सुषुप्ति अवस्था में उपलब्धिलक्षणप्राप्त ज्ञान की उपलब्धि न होने से उसका अभाव मानना ही युक्तिसङ्गत है।

उत्तरपक्ष- सुषुप्ति अवस्था में ज्ञान के असद्भाववादियों का उक्त कथन समीचीन नहीं है। यह कहना ठीक नहीं है कि कुछ भी नहीं जानता हुआ व्यक्ति सुषुप्त कहा जाता है, क्योंकि सुषुप्ति आदि अवस्था में स्वापादि (निद्रा या स्वप्न आदि) के संवेदन का और उसके सुख के संवेदन का सद्भाव पाया जाता है। उस अवस्था में ज्ञान के न मानने पर सोकर उठे हुए व्यक्ति को 'मैं सुखपूर्वक सोया' ऐसा सोते समय के सुख का स्मरण नहीं होना चाहिए तथा इतने काल तक मैं निरन्तर सोया और इतने काल तक सान्तर सोया ऐसा भी सुप्त अवस्था का स्मरण नहीं होना चाहिए। जो भी स्मरण होता है वह अपने विषय के ज्ञान के अनन्तर ही होता है। जैसे घटादि पदार्थों का स्मरण। सुप्त अवस्था से उठे हुए व्यक्ति को निद्रा-सुखादि का जो संवेदन होता है वह भी स्मरण ही है। अतः सुषुप्ति अवस्था में हुए जिस अनुभव से स्वापसुखादि का जो स्मरण होता है उसको तद्विषयक मानना आवश्यक है।

उपर्युक्त कथन से मत्त, मूर्च्छित आदि अवस्थाओं में भी ज्ञान का सद्भाव सिद्ध हो जाता है, क्योंकि मत्त आदि अवस्था से प्रच्युत व्यक्ति को जो ऐसा स्मरण होता है कि उस अवस्था में मैंने कुछ भी अनुभव नहीं किया, उस स्मरण का कारण उस अवस्था में होने वाला अनुभव ही है, क्योंकि अनुभव के अभाव में उक्त प्रकार का स्मरण हो ही नहीं

सकता है। पूर्वपक्ष में जो यह कहा गया है कि सुषुप्ति अवस्था में ज्ञान का सद्‌भाव मानने पर जाग्रद् और सुषुप्ति अवस्था में कोई भेद नहीं रहेगा, वह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जहाँ बाह्य और आध्यात्मिक अर्थ के विचार में समर्थ ज्ञान अनभिभूत रहता है वह जाग्रद् अवस्था है और जहाँ निद्रादि के द्वारा अभिभव के वश से तद्विपरीत ज्ञान होता है वह सुषुप्ति अवस्था है। इस प्रकार उन दोनों अवस्थाओं में भेद स्पष्ट है।

यहाँ यह जान लेना भी आवश्यक है कि यदि सुषुप्त आदि अवस्था में ज्ञानाभाव रहता है तो उस अभाव को क्या वही पुरुष जानता है अथवा पार्श्वस्थ पुरुष जानता है? यदि वही पुरुष जानता है तो उसी ज्ञान से, उस ज्ञान के अभाव से अथवा उसके अनुपलम्भ से? वही पुरुष उसी ज्ञान से सुषुप्त अवस्था में ज्ञान के अभाव को नहीं जान सकता है, क्योंकि वहाँ वह ज्ञान तो असत् है और जो असत् है वह किसी की प्रतिपत्ति का हेतु नहीं हो सकता है, जैसे कि गगनकुसुम किसी की प्रतिपत्ति का हेतु नहीं होता है। वह पुरुष ज्ञान के अभाव से भी ज्ञानाभाव को नहीं जान सकता है, क्योंकि परिच्छेदकत्व ज्ञान का धर्म है और ज्ञान के अभाव में परिच्छेदकत्व हो ही नहीं सकता है। अब यदि अनुपलम्भ से ज्ञानाभाव की प्रतिपत्ति होती है तो प्रश्न होता है कि तत्कालभावी अथवा अन्य कालभावी अनुपलम्भ में से किस अनुपलम्भ से ज्ञानाभाव की प्रतिपत्ति होती है? तत्काल भावी अनुपलम्भ से तो वहाँ सर्वथा ज्ञानाभाव सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि उसके अभाव को ग्रहण करने वाला अनुपलम्भ ज्ञान वहाँ विद्यमान रहता है। अन्यकालवर्ती अनुपलम्भ भी ज्ञानाभाव की प्रतिपत्ति का हेतु नहीं हो सकता है। क्योंकि कोई भी अन्यकालवर्ती अनुपलम्भ अन्यकालभावी अभाव का हेतु नहीं होता है। अनुपलम्भ का अर्थ है– उपलम्भाभाव। और अभाव का ग्रहण तभी होता है जब आश्रय का ग्रहण और प्रतियोगी का स्मरण हो। जैसे घटाभाव का ग्रहण तभी होता है जब घट के आश्रयभूत भूतल का ग्रहण हो और प्रतियोगी (घट) का स्मरण हो। जिसका अभाव सिद्ध किया जाता है उसे प्रतियोगी कहते हैं। जो व्यक्ति सुषुप्त अवस्था में ज्ञान के अनुपलम्भ को मानता है उसे ज्ञान के आश्रयभूत आत्मा का ग्रहण होना चाहिए और प्रतियोगी (ज्ञान) का स्मरण होना चाहिए; किन्तु ऐसा होता नहीं है। इसलिए अन्यकालभावी अनुपलम्भ से सुषुप्त अवस्था में ज्ञानाभाव की सिद्धि सम्भव नहीं है।

इस प्रकार वही पुरुष सुषुप्त अवस्था में ज्ञानाभाव को नहीं जान सकता है।

अब यदि ऐसा माना जाय कि पार्श्वस्थ व्यक्ति सुषुप्त व्यक्ति में ज्ञानाभाव को जानता है तो ऐसा भी सम्भव नहीं है। क्योंकि उस अवस्था में ज्ञानाभाव का अविनाभावी कोई लिङ्ग पार्श्वस्थ व्यक्ति को उपलब्ध नहीं होता है जिससे वहाँ ज्ञानाभाव की सिद्धि की जा सके। यहाँ कोई कह सकता है कि सुषुप्त अवस्था में ज्ञान के सद्भाव का अविनाभावी लिङ्ग भी तो वहाँ कोई उपलब्ध नहीं होता है। उक्त कथन सही नहीं है, क्योंकि ज्ञान के अविनाभावीरूप से निर्धारित प्राणापान, शरीर की उष्णता, आकारविशेषादि ज्ञान के सद्भाव के अविनाभावी लिङ्ग सुषुप्त व्यक्ति में पाये जाते हैं। जाग्रद् अवस्था में भी अन्य व्यक्ति में ज्ञान का सद्भाव प्राणापान, शरीर की उष्णता आदि चिह्नों के द्वारा ही जाना जाता है।

यहाँ कोई कह सकता है कि प्राणादि दो प्रकार का होता है– चैतन्यप्रभव और प्राणादिप्रभव। उनमें से चैतन्यप्रभव प्राणादि जाग्रद् दशा में होता है और प्राणादिप्रभव सुषुप्ति आदि अवस्था में होता है। अतः चैतन्यप्रभव प्राणादि से जाग्रद् दशा में चैतन्य का अनुमान तो ठीक है; किन्तु प्राणादि-प्रभव प्राणादि से सुषुप्ति अवस्था में चैतन्य का अनुमान ठीक नहीं है। जैसे कि अग्निप्रभव धूम से अग्नि का अनुमान करना तो ठीक है, किन्तु गोपालघटिकादि में धूमप्रभव धूम से अग्नि का अनुमान नहीं होता है।

उपर्युक्त कथन समीचीन नहीं है, क्योंकि जाग्रद् अवस्था में और सुषुप्त अवस्था में रहने वाले प्राणादि में कोई विशेषता नहीं देखी जाती है। जिस प्रकार सुषुप्त जीवित रहता है उसी प्रकार जाग्रत् भी रहता है। अन्यथा क्या यह सो रहा है अथवा जाग रहा है, ऐसा सन्देह न होता। जैसे सुषुप्त के प्राणादि देखे जाते हैं वैसे ही जाग्रत् के भी होते हैं। अतः दोनों के प्राणादि भिन्नकारणजन्य नहीं हैं।

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि सुषुप्त अवस्था में होने वाले ज्ञान से ही तत्कालभावी प्राणादि का प्रभव मानना चाहिए। इस प्रकार विचार करने पर सुषुप्ति आदि अवस्था में ज्ञानाभाव की सिद्धि नहीं होती है। यहाँ यह भी जान लेना आवश्यक है कि ज्ञान सन्तान का कभी

भी व्यवच्छेद नहीं होता है और ऐसे अनवच्छिन्न ज्ञानसन्तानयुक्त पुरुष को मुक्ति के कारण सम्यग्दर्शनादि का अनुष्ठान करने से ज्ञानादि के प्रतिबन्धक ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षय हो जाने पर अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य– इन अनन्त चतुष्ट्य के लाभरूप मोक्ष प्राप्त होता है। इसी का नाम जीवन्मुक्ति है।

केवलिकवलाहार-विचार :

ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों के नष्ट हो जाने पर केवलज्ञान उत्पन्न होता है और जो पुरुष केवलज्ञान से सम्पन्न होता है उसे केवली, अर्हन्त अथवा जीवन्मुक्त कहते हैं। यहाँ विचारणीय विषय यह है कि अर्हन्त अवस्था में केवली भगवान् कवलाहार (ग्रासरूप आहार) करते हैं या नहीं?

पूर्वपक्ष– श्वेताम्बर मतानुयायियों की ऐसी मान्यता है कि केवली (केवलज्ञान आदि अनन्त चतुष्टय से सम्पन्न आत्मा) कवलाहार करते हैं। जिस प्रकार हम लोग आहार करते हैं, उसी प्रकार केवली भी आहार करते हैं। यह कहना ठीक नहीं है कि केवली में भुक्तिसाधक कोई प्रमाण नहीं है। हम कह सकते हैं कि जहाँ भुक्ति के अविकल कारण विद्यमान रहते हैं वहाँ भुक्ति होती ही है, जैसे कि छद्मस्थ अवस्था में। सयोगकेवली अवस्था में भी भुक्ति के अविकल कारण विद्यमान रहते हैं। भुक्ति के कारण दो प्रकार के होते हैं– बाह्य और आभ्यन्तर। वहाँ बाह्य कारण आहारादि अविकल रूप से रहता ही है। पर्याप्ति, वेदनीय, तैजस, दीर्घायुष्क आदि का उदयरूप आभ्यन्तर कारण भी केवली भगवान् में रहता ही है। जिससे शरीर, इन्द्रियादि की निष्पत्ति होती है वह पर्याप्ति है। सुख और दुःखसाधक कर्म को वेदनीय कहते हैं। अन्तरङ्ग तेज अथवा शरीर की ऊष्मा को तैजस कहते हैं, जिससे भुक्त अन्नादि का पाक होता है। चिर जीवन का कारण जो कर्म है वह दीर्घायुष्क है। इनके उदय से क्षुधा की वेदना होती है और केवली में इनका उदय रहता ही है। इस कारण केवली में भुक्ति की सिद्धि होती है। जो व्यक्ति केवली में भुक्ति का अभाव मानता है उसे भुक्ति के अभाव का साधक कोई प्रमाण बतलाना चाहिए।

केवली में भुक्ति के अभाव का साधक प्रमाण आगम है या अन्य कोई दूसरा प्रमाण? आगम प्रमाण तो केवली में क्षुधा के अभाव का साधक

नहीं है। जिस प्रकार सिद्ध अवस्था में क्षुधा के अभाव का साधक आगम प्रमाण है उस प्रकार सयोगकेवली में क्षुधा के अभाव का साधक कोई आगम प्रमाण नहीं है। अब यदि सयोगकेवली में क्षुधा के अभाव का साधक कोई दूसरा प्रमाण मानें तो वह क्या है- स्वभावानुपलम्भ या अन्य कोई? स्वभावानुपलम्भ से केवली में क्षुधा का निषेध नहीं किया जा सकता है, क्योंकि केवली का स्वभाव विप्रकृष्ट है, जैसे कि पिशाच का स्वभाव। विप्रकृष्ट स्वभाव वाले पदार्थ में स्वभावानुपलम्भ मानना असङ्गत है। स्वभावानुपलम्भ तो वहाँ माना जाता है जहाँ एकज्ञानसंसर्गी किसी पदार्थान्तर (दूसरे पदार्थ) की उपलब्धि हो। जैसे भूतल और घट- दोनों एक ज्ञान (चाक्षुषज्ञान) संसर्गी है; किन्तु जब चक्षु से घटरहित केवल भूतल की उपलब्धि होती है तब वहाँ स्वभावानुपलम्भ से घट की अनुपलब्धि सिद्ध हो जाती है, परन्तु केवली में क्षुधा के अभाव का साधक ऐसा कोई स्वभावानुपलम्भ नहीं है। अब यदि अन्य किसी प्रमाण या पदार्थ से केवली में क्षुधा का निषेध किया जाय तो विधीयमान या निषिध्यमान पदार्थ में से किस पदार्थ से क्षुधा का निषेध किया जा सकता है? यदि विधीयमान पदार्थ से केवली में क्षुधा का निषेध करना है तो उसे क्षुधा का विरोधी होना चाहिए, परन्तु केवली में क्षुधा का विरोधी कुछ भी प्रतीत नहीं होता है। ज्ञानादि गुणों को क्षुधा का विरोधी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि हम लोगों में ज्ञानादि गुणों का क्षुधा के साथ कोई विरोध नहीं है। इसी प्रकार केवली में प्रकर्षपर्यन्त को प्राप्त ज्ञानादि गुणों का भी क्षुधा के साथ कोई विरोध नहीं माना जा सकता है, क्योंकि केवली के ज्ञानादि गुणों को अतीन्द्रिय होने से हम लोग ऐसा नहीं जान सकते हैं कि ये गुण क्षुधा के विरोधी हैं।

अब यदि किसी निषिध्यमान पदार्थ से केवली में क्षुधा का निषेध करना है तो वह क्या है- क्षुधा का कार्य, कारण अथवा व्यापक? यदि वह कार्य है तो क्षुधा की निवृत्ति में समर्थ अविकल कारण की निवृत्ति को ही वह बतलायेगा, कारणमात्र की निवृत्ति को नहीं। कारणमात्र तो कार्य के अभाव में भी रहता है। निवर्तमान कारण भी कार्य की निवृत्ति करता है, जैसे निवर्तमान वह्नि से धूम की निवृत्ति हो जाती है। इसी प्रकार निवर्तमान व्यापक भी व्याप्य की निवृत्ति करता है, जैसे निवर्तमान *वृक्ष शिंशपा की निवृत्ति करता है,* परन्तु *केवली में क्षुधा के कारण या*

व्यापक की कोई निवृत्ति प्रतीत नहीं होती है। ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है कि मोहनीय आदि कर्मचतुष्टय के अभाव से केवली में क्षुधा का अभाव हो जाता है, क्योंकि क्षुधा न तो मोहादिकर्मचतुष्टय का कार्य है और न स्वभाव है।

यहाँ कोई कह सकता है कि केवली भगवान् में क्षुधा का सद्भाव मानने पर अशेषज्ञत्व आदि का सद्भाव सम्भव नहीं होगा। क्योंकि क्षुधा के उदय में हम लोगों की तरह केवली में भी ज्ञानदर्शनादि का प्रक्षय या अपकर्ष मानना पड़ेगा। किसी का उक्त कथन समीचीन नहीं है, क्योंकि ज्ञानावरणादि कर्म का क्षय हो जाने पर क्षुधा के होने पर भी ज्ञानादि गुणों का क्षय या अपकर्ष नहीं हो सकता है। ज्ञानादि का क्षय तो ज्ञानावरणादि कर्म के उदय से होता है। अतः हम लोगों में ज्ञानावरणादि के उदय से ज्ञानादि का क्षय मानना तो ठीक है; किन्तु केवली में अशेष ज्ञानावरणादि का क्षय हो जाने से क्षुधा के सद्भाव में भी ज्ञानादि का क्षय नहीं होता है। जैसे कि अग्नि के अभाव में ईंधन के होने पर भी धूम नहीं होता है। यदि क्षुधा को कर्मचतुष्टप्रभव माना जाय तो-

'एकादश जिने क्षुत्पिपासादयः परीषहाः वेदनीयप्रभवाः'।

इस आगम का विरोध आता है। इस प्रकरण में यह भी ध्यातव्य है कि उत्कर्ष से देशोनपूर्वकोटि विहार करने वाले सयोगकेवली की उतने काल तक काय की स्थिति भुक्ति के बिना नहीं बन सकती है। यदि अनन्तवीर्य के कारण भुक्ति के बिना भी काय की स्थिति मानी जाय तो आयुकर्म के बिना भी शरीर की स्थिति मान लेनी चाहिए और ऐसी स्थिति में कभी भी शरीरादि का अपाय नहीं होगा। तथा यदि शरीर की स्थिति के लिए आयुकर्म की अपेक्षा मानी जाती है तो आहार की अपेक्षा भी मान लेना आवश्यक है, क्योंकि दोनों ही समानरूप से शरीर की स्थिति के कारण हैं। हमारा यह शरीर प्रदीपज्वाला और जलधारा के समान है। जिस प्रकार तैल का क्षय हो जाने पर प्रदीपज्वाला का और जलागमन के बिना जलधारा का अस्तित्व नहीं रहता है, उसी प्रकार भुक्ति के अभाव में शरीर भी स्थित नहीं रहता है। यदि माना जाय कि भुक्ति एक दोष है और निर्दोष केवली में दोष सम्भव नहीं है, तो फिर केवली में निषद्या, गमन, वचन आदि भी नहीं मानना चाहिए, क्योंकि

ये भी तो दोष ही हैं।

यहाँ कोई कह सकता है कि मांसादि अशुचि पदार्थों को देखने वाले सर्वज्ञ अन्तराय आ जाने से कवलाहार कैसे करेंगे? परन्तु यह कथन असङ्गत है। क्योंकि जिस प्रकार अवधिज्ञानी अशुचि पदार्थों को देखते हुए भी भोजन करते हैं, उसी प्रकार केवली भी कवलाहार करते हैं। बात यह है कि इन्द्रिय के विषय में ही अन्तराय होता है, अनिन्द्रिय के विषय में नहीं। अन्यथा केवली भगवान् को छद्मस्थ अवस्था में भी अन्तराय होना चाहिए, क्योंकि उस अवस्था में भी अवधिज्ञान के द्वारा अशुचि पदार्थों का साक्षात्कार होता ही है। इस प्रकरण में ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है कि कवलाहार करते समय जिह्वारस की प्राप्ति होने से केवली में मतिज्ञान का अनुषङ्ग आयेगा, क्योंकि इन्द्रिय विषय के सम्बन्धमात्र से मतिज्ञान नहीं होता है, परन्तु विषय के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध और मतिज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर मतिज्ञान होता है। अतः केवली में ज्ञानावरणादि का पूर्ण क्षय हो जाने से मतिज्ञान के अनुषङ्ग का कोई प्रश्न ही नहीं है।

केवली भगवान् पूर्वाह्न और अपराह्न में धर्मोपदेशनाकाल में पादोनप्रहर ($^3/_4$ प्रहर या $2^3/_4$ घण्टा) सिंहासन पर बैठते हैं। शेष समय में तो वे ईशान दिशा में समवसरण के द्वितीय कोट के अभ्यन्तर देवच्छन्द नामक दिव्यस्थान में पल्यंक पर अथवा आसन पर बैठते हैं। यह स्थान ऐसा है जो गणधरदेवों को छोड़कर अन्य मनुष्य और तिर्यञ्चों को दृष्टिगोचर नहीं होता है। केवली उस स्थान में गणधरदेवों के द्वारा लाये गये सकल दोषरहित शुद्ध आहार को क्षुधा के होने पर ग्रहण करते हैं। गणधरदेव केवली के हस्त में निक्षिप्त आहार को देखते हैं, किन्तु वे इसे कैसे खाते हैं इस बात को नहीं देखते हैं। सर्वज्ञ का आहार और नीहार (मल-मूत्र त्याग) मनुष्य और तिर्यञ्चों को दृष्टिगोचर नहीं होता है। इस प्रकार श्वेताम्बर मत के अनुयायियों द्वारा केवली भगवान् में कवलाहार का सद्भाव सिद्ध किया गया है।

उत्तरपक्ष– केवली में कवलाहार का साधक उक्त मत समीचीन नहीं है। यह कहना ठीक नहीं है कि क्षुधा के बाह्य और आभ्यन्तर कारण का सद्भाव होने पर केवली भगवान् में भुक्ति होती ही है। हम यहाँ यह जानना चाहते हैं कि आप (श्वेताम्बर) बाह्य और आभ्यन्तर कारण

के सद्भाव से केवली में आहारमात्र को सिद्ध करना चाहते हैं या कवलाहार को? प्रथम पक्ष में सिद्धसाधन दोष है। अर्थात् स्याद्वादी भी मानते हैं कि सयोगकेवलीपर्यन्त जीव आहारक होते हैं। आगम में बतलाया गया है- '**आसयोगकेवलिनो जीवा आहारिणः।**' प्रवचन में छह प्रकार का आहार बतलाया गया है। तथाहि-

णोकम्म कम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो।
ओज मणो वि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो।।

-भावसंग्रह, गाथा 110

अर्थात् नोकर्माहार, कर्माहार, कवलाहार, लेपाहार, ओजाहार और मानसिक आहार- ये आहार के छह भेद हैं। ऐसा नहीं है कि कवलाहार करने वाले जीव ही आहारक होते हैं। ऐसा मानने पर तो एकेन्द्रिय जीव, अण्डज जीव और देव- इन सबको अनाहारक मानना पड़ेगा, जो आगम विरुद्ध है। अतः केवली में कवलाहार के न होने पर भी कर्म और नोकर्म के आदानरूप आहार का सद्भाव होने से आहारित्व का कोई विरोध नहीं है। अब यदि आप द्वितीय पक्ष के अनुसार केवली में कवलाहार सिद्ध करना चाहते हैं तो यहाँ देवों के द्वारा व्यभिचार आता है। उनमें (देवों में) वेदनीय आदि का उदय कवलाहार को सिद्ध नहीं करता है, परन्तु केवली में कवलाहार को अवश्य सिद्ध करता है। तो हम कह सकते हैं कि यह तो केवली का महान् माहात्म्य है कि वेदनीय आदि कर्म का उदय विषयरूपी विषम ग्रह से अभिभूत प्राणियों (देवों) में कवलाहार को सिद्ध करने में असमर्थ होकर भी केवली में कवलाहार को सिद्ध करता है, यह आश्चर्य की बात है।

अब आप यह बतलाइये कि आपने यह कैसे जाना कि केवली में वेदनीय आदि का उदय कवलाहार को सिद्ध करने में समर्थ है- अभ्युपगममात्र से अथवा किसी प्रमाण से? प्रथम पक्ष में अतिप्रसङ्ग दोष आता है। यदि अभ्युपगममात्र से इष्ट तत्त्व की सिद्धि होने लगे तो फिर सभी के इष्ट तत्त्व की सिद्धि स्वतः हो जायेगी। अब यदि प्रमाण से केवली में कवलाहार की सिद्धि मानी जाय तो किस प्रमाण से- प्रत्यक्ष से, अनुमान से अथवा आगम प्रमाण से? इन्द्रिय प्रत्यक्ष तथा अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष केवली में कवलाहार सिद्ध नहीं करते हैं। यह तो आपने ही माना है कि सर्वज्ञ का आहार और नीहार इन्द्रिय प्रत्यक्ष के विषय नहीं होते हैं। तब इनको अतीन्द्रिय

प्रत्यक्ष का विषय मानना तो महान् आश्चर्य की बात है। अब यदि अनुमान प्रमाण से केवली में कवलाहार सिद्ध करना चाहते हैं तो अनुमान में हेतु क्या है- वेदनीय आदि का उदय, मनुष्यत्व अथवा देहस्थिति? वेदनीय आदि के उदय से कवलाहार सिद्ध करने में देवों के द्वारा व्यभिचार पहले ही बतला दिया गया है। अब यदि मनुष्यत्व को हेतु माना जाय तो अयोगकेवली के द्वारा हेतु में व्यभिचार आता है। अयोगकेवली मनुष्य तो हैं, किन्तु उनमें कवलाहार नहीं होता है।

अब आप देहस्थितिरूप हेतु से केवली में कवलाहार सिद्ध करना चाहेंगे। आप कह सकते हैं- "**भगवतो देहस्थितिः आहारपूर्विका देहस्थितित्वात्, अस्मदादिदेहस्थितिवत्।**" इस अनुमान के द्वारा आप देहस्थिति हेतु से केवली में आहार की सिद्धि करना चाहते हैं तो यह बतलाइये कि किस आहार की सिद्धि- आहारमात्र की सिद्धि अथवा कवलाहार की सिद्धि? प्रथम पक्ष में सिद्धसाधन दोष पहले ही बतलाया जा चुका है। द्वितीय पक्ष के मानने पर देवों आदि के द्वारा व्यभिचार आता है, क्योंकि कवलाहार के अभाव में भी उनकी देहस्थति रहती ही है। यदि आप इस दोष को दूर करने के लिए देहस्थिति के स्थान में औदारिक देहस्थिति हेतु बतलाना चाहेंगे तो यह हेतु भी ठीक नहीं है, क्योंकि केवली की देहस्थिति परमौदारिक देहस्थिति होने से हमलोगों की देहस्थिति से विलक्षण है। अतः परमौदारिक देहस्थिति के कारण केवली अवस्था में नखकेशादि की वृद्धि के अभाव की तरह भुक्ति का अभाव होने में भी कोई विरोध नहीं है। जिस प्रकार केवली अवस्था में नखकेशादि की वृद्धि के अभावरूप अतिशय रहता है उसी प्रकार भुक्ति के अभावरूप अतिशय को भी मानना चाहिए। यदि केवली में छद्मस्थ अवस्था की तरह भुक्ति मानी जाय तो अक्षिपक्ष्मनिमेष और नखकेशादि की वृद्धि भी मानना चाहिए जो कि स्वयं श्वेताम्बरों को अनिष्ट है।

केवली भगवान् में तप के माहात्म्य से चतुर्मुख आदि की तरह *अभुक्तिपूर्वक* शरीरस्थिति होने में भी कोई विरोध नहीं आता है। देखा जाता है कि जिस प्रकार दिन में पाँच बार भोजन करने वाले की शरीरस्थिति होती है, उसी प्रकार प्रतिपक्ष की भावना सहित व्यक्ति की चार, तीन, दो और एक बार भोजन करने पर भी वैसी ही शरीरस्थिति रहती है।

प्रतिदिन भोजन करने वाले की जैसी शरीरस्थिति होती है वैसी ही शरीरस्थिति एक, दो, तीन आदि दिन के अन्तर से भोजन करने वाले की भी होती है। सुना जाता है कि बाहुबली आदि महात्माओं की एक वर्ष पर्यन्त आहार के बिना भी विशिष्ट शरीरस्थिति बनी रही थी। तात्पर्य यह है कि शरीरस्थिति का प्रधान कारण आयुकर्म है और भुक्ति आदि तो सहायकमात्र हैं। केवली के शरीर का उपचय भी लाभान्तराय के प्रक्षय से प्रति समय शरीर के उपचय में निमित्तभूत दिव्य परमाणुओं के लाभ से ही होता है। इस प्रकार शरीरस्थिति के कारण केवली में कवलाहार की सिद्धि नहीं होती है।

केवली में भुक्ति के अविकल कारण मानना भी गलत है। मोहनीय कर्म की सहायता से ही वेदनीय आदि कर्म क्षुधादि कार्य करने में समर्थ होते हैं, अन्यथा नहीं। जिस प्रकार युद्ध में सेनापति के पराजित हो जाने पर सेना में कोई सामर्थ्य नहीं रहता है, उसी प्रकार मोहनीय कर्म के विनष्ट हो जाने पर वेदनीय आदि अघातिकर्म भी सामर्थ्यरहित हो जाते हैं। अतः बुभुक्षा के प्रमुख कारण मोहनीय के अभाव से केवली में बुभुक्षा नहीं होती है। यदि वेदनीय आदि कर्मों का उदय मोहनीय कर्म की अपेक्षा के बिना ही अपने कार्य को उत्पन्न करे तो फिर प्रमत्त आदि गुणस्थानों में तीन वेदों तथा कषायों का उदय होने से मैथुन आदि का प्रसङ्ग भी प्राप्त होगा। ऐसी स्थिति में मन में संक्षोभ होने से क्षपकश्रेणी में आरोहण तथा शुक्लध्यान की प्राप्ति कैसे होगी? और इसके बिना कर्मों का क्षय भी कैसे होगा? यदि जिसकी सामर्थ्य प्रतिबद्ध हो गई है, ऐसा असातावेदनीय कर्म स्वकार्य को करने लगे तो केवली में दण्ड, कपाट आदि समुद्घातों का विधान व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि दण्ड आदि समुद्घातों का विधान तभी किया जाता है जब आयुकर्म की स्थिति न्यून हो और वेदनीय आदि कर्मों की स्थिति अधिक हो। ऐसी स्थिति में शेष कर्मों की स्थिति को आयुकर्म की स्थिति के बराबर करने के लिए दण्ड, कपाट आदि समुद्घातों का विधान बतलाया गया है। अधिक स्थिति वाले फलदान में समर्थ कर्म दण्ड, कपाट आदि के बिना अन्य सैकड़ों उपायों से भी हीन स्थिति वाले नहीं किये जा सकते हैं। तब कोई मुक्त कैसे होगा? अतः यह मानना आवश्यक है कि मोहनीय की सहायता के बिना वेदनीय कर्म अपना कार्य नहीं कर सकता है।

तथ्य यह है कि बुभुक्षा मोहनीय निरपेक्ष केवल वेदनीय का ही कार्य नहीं है, जिससे अत्यन्त प्रक्षीणमोह वाले केवली भगवान् में बुभुक्षा हो सके। भोजन करने की इच्छा को बुभुक्षा कहते हैं और रमण करने की इच्छा को रिरंसा कहते हैं। यदि मोहनीय के अभाव में बुभुक्षा होती है तो रिरंसा भी होनी चाहिए; किन्तु ऐसा होता नहीं है। इसलिए जिस प्रकार निर्मोह होने से स्त्री आदि की आकांक्षा नहीं होती है उसी प्रकार बुभुक्षा भी नहीं होती है। अनन्त सुखसम्पन्न केवली भगवान् में दुःखरूप बुभुक्षा सम्भव नहीं है। जैसे कि सिद्धों में बुभुक्षा का अभाव है वैसे ही अर्हन्त भगवान् में भी बुभुक्षा का अभाव जानना चाहिए। सर्वज्ञ होने के कारण भी केवली भगवान् में क्षुधा का अभाव मानना आवश्यक है। उनमें क्षुधा का सद्भाव मानने से क्षुधा की बाधा से सर्वज्ञता की हानि और निःशक्तिकत्व का प्रसङ्ग भी प्राप्त होगा, क्योंकि क्षुधाजन्य पीड़ा से आक्रान्त हम लोगों में ज्ञानादि का अपकर्ष सुप्रतीत है। पूर्वपक्ष में जो यह कहा गया है कि ज्ञानादि का क्षय ज्ञानावरणादि कर्म के उदय से होता है, क्षुधा के कारण नहीं। वह कथन समीचीन नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार केवली भगवान् में अशेष ज्ञानावरणादि का क्षय हो जाने पर ज्ञानादि का अपकर्ष या क्षय नहीं होता है उसी प्रकार अशेष मोह का क्षय हो जाने से क्षुधा की पीड़ा का लेश भी नहीं होता है।

'एकादश जिने' (तत्त्वार्थसूत्र, 9/11) इत्यादि आगम को भी क्षुधादि एकादश परीषह का प्रतिषेधपरक ही समझना चाहिए। इस सूत्र की व्युत्पत्ति इस प्रकार होती है- **एकेन अधिका न दश एकादश।** इसका तात्पर्य यही है कि क्षुधादि ग्यारह परीषह जिनेन्द्र भगवान् में नहीं होते हैं, क्योंकि क्षुधादि एकादश परीषह मोहनीय है सहायक जिसका ऐसे वेदनीय के कार्य हैं। यतः वेदनीय के सहायक मोहनीय का केवली में अत्यन्त प्रक्षय हो गया है, अतः वेदनीय के उदयमात्र से क्षुधादि एकादश परीषह वहाँ नहीं हो सकते हैं। अन्यथा रोगादि परीषहों का भी वहाँ सद्भाव मानना पड़ेगा, क्योंकि हम लोगों में वेदनीय के उदय में क्षुधा, पिपासा आदि की तरह रोगादि की भी उपलब्धि देखी जाती है। पूर्वपक्ष में यह भी कहा गया है कि उत्कर्ष से देशोनपूर्वकोटि विहार करने वाले केवली की देहस्थिति भुक्ति के बिना नहीं बन सकती है। उनका ऐसा कथन ठीक नहीं है। हम पहले ही बतला चुके हैं कि शरीरस्थिति का मुख्य कारण

आयुकर्म है। अतः भुक्ति के बिना भी आयुकर्मपर्यन्त शरीरस्थिति के बने रहने में कोई बाधा नहीं है। पूर्वपक्ष का यह कथन भी असङ्गत है कि यदि दोषरूप होने से केवली में भुक्ति असम्भव है तो वचनादि को भी वहाँ असम्भव मानना पड़ेगा। इसका उत्तर यह है कि केवली में जो वचनादि का व्यापार होता है वह तीर्थङ्करत्व नामक कर्मोदय के कारण होता है तथा वचनादि को दोषरूप कहना उचित भी नहीं है। दोष अठारह बतलाये गये हैं। उनमें क्षुधा, पिपासा आदि की तरह वचन को दोष नहीं माना गया है। तथ्य यह है कि जिस प्रकार मोहप्रक्षय सहित तीर्थकरत्व विशिष्ट वचनादि के विधान में समर्थ होता है उसी प्रकार मोहनीयसहित वेदनीय भुक्ति आदि के विधान में समर्थ होता है, अन्यथा नहीं।

पूर्वपक्ष का यह कथन भी गलत है कि अवधिज्ञानी की तरह अशुचि आदि समस्त पदार्थों को देखने वाले सर्वज्ञ के आहार में भी अन्तराय सम्भव नहीं है। यहाँ अवधिज्ञानी के आहार में अन्तराय नहीं मानना तो ठीक है, क्योंकि अवधिज्ञान को उपयोगसहित होने के कारण उपयोगकाल में ही स्वविषय का साक्षात्कार सम्भव है। जब अवधिज्ञानी अवधिज्ञान का उपयोग करता है, तब उसी समय वह अवधिज्ञान के विषयभूत पदार्थों को देखता है, अन्य काल में नहीं। यदि वह भोजनकाल में अवधिज्ञान का उपयोग करता है तो मांसादि अशुचि पदार्थों के दर्शन से आहार में अन्तराय होता ही है, परन्तु यह बात केवलज्ञान के विषय में लागू नहीं होती है, क्योंकि उसका उपयोग तो सदाकाल रहता है, नियतकाल में नहीं।

केवलिकवलाहार के प्रकरण में यह जान लेना भी आवश्यक है कि केवली भोजन किसलिए करते हैं?– (1) शरीर के उपचय के लिए, (2) ज्ञानदर्शनवीर्यादि के क्षय की निवृत्ति के लिए, (3) क्षुधा की वेदना का प्रतिकार करने के लिए, (4) आयु की अपवर्त्य (अकालमरण की) निवृत्ति के लिए, (5) रसगृद्धि के उपशम के लिए, (6) अथवा लोकानुग्रह के लिए? केवली शरीर के उपचय के लिए भोजन करते हैं, ऐसा मानना सङ्गत नहीं है, क्योंकि लाभान्तराय का प्रक्षय हो जाने के कारण प्रतिसमय विशिष्ट परमाणुओं के लाभ से ही उनके शरीर का उपचय होता रहता है। ज्ञानादि के क्षय की निवृत्ति के लिए भी भोजन करना आवश्यक नहीं है, क्योंकि ज्ञानादि के क्षय के कारण तो ज्ञानावरणादि कर्म हैं और

केवली में ज्ञानावरणादि कर्मों का पूर्ण क्षय हो जाने से ही ज्ञानादि का अक्षय सिद्ध हो जाता है। ज्ञानादि के क्षय का कारण ज्ञानावरणादि का क्षयोपशम है। उसके होने पर भोजनादि के अभाव में ज्ञानादि का क्षय हो सकता है। किन्तु अशेष ज्ञानावरणादि का क्षय हो जाने पर केवली में ज्ञानादि के क्षय की कोई आशङ्का भी नहीं है, जिससे ज्ञानादि के क्षय की निवृत्ति के लिए वहाँ भुक्ति मानना पड़े। केवली क्षुधा की वेदना का प्रतिकार करने के लिए भोजन नहीं करते हैं। अनन्तसुखवीर्यसम्पन्न केवली में क्षुधा की वेदना सम्भव ही नहीं है। आयु की अपवर्त्य (अकालमृत्यु) की निवृत्ति के लिए भी भोजन का मानना तर्कसङ्गत नहीं है, क्योंकि चरमोत्तम देह होने के कारण केवली अनपवर्त्यायुष्क होते हैं। रसगृद्धि के उपशम के लिए भी केवली में आहार मानना नितान्त गलत है, क्योंकि वीतमोह केवली में रसगृद्धि का कोई प्रश्न ही नहीं है। वे लोक का अनुग्रह करने के लिए भी भोजन नहीं करते हैं, क्योंकि अनन्तवीर्यसम्पन्न केवली भगवान् भोजन के बिना भी लोकानुग्रह करने में समर्थ रहते हैं। इस प्रकार ऐसा एक भी कारण उपलब्ध नहीं होता है जिसके वशीभूत होकर केवली कवलाहार ग्रहण करते हों।

पूर्वपक्ष में कहा गया है कि केवली भगवान् धर्मदेशनाकाल के अतिरिक्त समय में देवच्छन्द नामक दिव्यस्थान में जाकर सुखपूर्वक स्थित रहते हैं। ऐसा कथन सम्यक् नहीं है। यहाँ प्रश्न यह है कि भगवान् समवसरण को छोड़कर देवच्छन्द नामक स्थान में किसलिए जाते हैं? क्या मनोविक्षेप का परिहार करके ध्यानसिद्धि के लिए वहाँ जाते हैं? क्या एकासन में शरीर के परिस्पन्दरूप निरोध में अक्षम होने के कारण सुखपूर्वक अवस्थान के लिए वहाँ जाते हैं? अथवा रहस्य (गुप्त) कार्य के अनुष्ठान के लिए वहाँ जाते हैं? इनमें से प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि अमनस्क होने के कारण भगवान् में मनोविक्षेप सम्भव ही नहीं है, जिसका परिहार करने के लिए वे वहाँ जावें। द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है। अनन्तवीर्यसम्पन्न भगवान् में शरीर के परिस्पन्दरूप निरोध की अक्षमता कैसे हो सकती है तथा अनन्तसुखसम्पन्न होने के कारण उनमें दुःख का लेश भी सम्भव नहीं है। तब यह कहना कहाँ तक ठीक है कि वे सुखपूर्वक अवस्थान के लिए वहाँ जाते हैं। तृतीय पक्ष यह है कि वे किसी रहस्य कार्य के अनुष्ठान के लिए वहाँ जाते हैं। यहाँ प्रश्न होता है कि वह रहस्य कार्य

निन्द्य है या अनिन्द्य? वह निन्द्य तो हो नहीं सकता, क्योंकि जिसके सम्पूर्ण दोष प्रक्षीण हो गये हैं उसमें निन्दनीय-कार्य के अनुष्ठान की सम्भावना ही नहीं है। अब यदि वह रहस्य कार्य अनिन्द्य है तो वह क्या है- भोजन या कर्मक्षपण? यह कहना ठीक नहीं है कि केवली एकान्त में जाकर भोजन करते हैं, क्योंकि मोहरहित केवली में भोजन का प्रतिषेध तो पहले ही किया जा चुका है।

थोड़ी देर के लिए मान लिया जाय कि वे भोजन करते हैं तो प्रश्न होता है कि वे एकान्त में जाकर भोजन क्यों करते हैं? क्या दृष्टिदोष के भय से या याचकों के भय से अथवा अनुचित अनुष्ठान के कारण वे ऐसा करते हैं? इनमें से पहला विकल्प ठीक नहीं है। केवली भगवान् में कोई दृष्टिदोष सम्भव ही नहीं है जिनके नाममात्र से अन्य लोगों के दृष्टिदोष आदि का उपशम हो जाता है उनमें दृष्टिदोष कैसे हो सकता है? द्वितीय विकल्प मानने पर तो भगवान् में दीनता का महान् दोष आता है। जो महान् है वह यदि अपने पीछे आते हुए बुभुक्षा पीड़ित शिष्यों को छोड़कर एकान्त में जाकर भोजन करता है तो वह सबसे बड़ा दीन सिद्ध होता है। तृतीय विकल्प है- अनुचित अनुष्ठान, जिसकी कल्पना केवली में की ही नहीं जा सकती है। जैसे कि स्त्री आदि के सेवन की परिकल्पना। अब यदि ऐसा माना जाय कि वह रहस्य कार्य कर्मक्षपण है तो कर्मक्षपण के लिए एकान्त में जाने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। घातिया कर्मों का क्षय तो पहले ही हो चुका है। बचे हुए अघातिया कर्मों का क्षय भी शुक्लध्यानरूपी अग्नि से यथासमय हो ही जायेगा। ऐसा मानना भी गलत है कि केवली भगवान् का शुक्लध्यानरूपी अनल देवच्छन्दक में ही प्रज्वलित होता है, समवसरण में नहीं। इस प्रकार समवसरण को छोड़कर एकान्त स्थान में जाने का कोई उचित कारण प्रतीत नहीं होता है, जिससे केवली वहाँ जाकर सुखपूर्वक स्थित रहते हैं।

अब यह बतलाइये कि यदि केवली भोजन करते हैं तो भुक्तिकाल में उपार्जित कर्मों का क्षपण वे कैसे करते हैं? यदि वे प्रतिक्रमण के द्वारा वैसा करते हैं तो फिर उनको निर्दोष नहीं माना जा सकता है। जो प्रतिक्रमण करता है वह निर्दोष नहीं होता है, जैसे कि प्रमत्तगुणस्थानवर्ती साधु। किये गये दोषों के निराकरण का नाम प्रतिक्रमण है। यदि केवली प्रतिक्रमण

करते हैं तो उनमें निर्दोषता सिद्ध नहीं होती है और यदि वे प्रतिक्रमण नहीं करते हैं तो भोजन की क्रिया से उत्पन्न दोषों का निराकरण कैसे होगा? अप्रमत्त साधु भी आहार की कथामात्र से प्रमत्त हो जाता है। यदि केवली भोजन करते हुए भी प्रमत्त या सदोष न हों तो यह महान् आश्चर्य की बात है। पूर्वपक्ष में एक बात और कही गई है कि भोजन करते हुए केवली गणधरदेवों के द्वारा भी नहीं देखे जाते हैं। यदि ऐसी बात है तो यह बतलाइयें कि उनके अदृश्य होने का कारण क्या है? बहलतमपटल (गाढान्धकार) से आच्छादित होना, पटादि से आवृत होना, विद्याविशेष से अपना तिरोधान करना अथवा अन्य जनों में नहीं पाया जाने वाला माहात्म्यविशेष? इनमें से प्रथम विकल्प नितान्त असङ्गत है, क्योंकि केवली के शरीर की विशिष्ट कान्ति से तमपटल का पूर्ण उन्मूलन हो जाता है। द्वितीय विकल्प- उनको पटादि से आवृत मानना भी सङ्गत नहीं है। यदि केवली पटादि से आवृत रहते हैं तो उनको भिक्षा कैसे दी जा सकती है। तृतीय विकल्प है- विद्याविशेष के द्वारा स्व का तिरोधान। यह विकल्प भी केवली में नहीं बनता है, क्योंकि केवली में विद्याधर आदि की तरह विद्याविशेष मानने पर निर्ग्रन्थता का विरोध प्राप्त होता है। अब चतुर्थ विकल्प यह है कि उनमें ऐसा माहात्म्यविशेष होता है जिसके कारण वे भोजनकाल में अदृश्य रहते हैं। यदि ऐसी बात है तो फिर उनमें भोजनाभावरूप अतिशय मान लेने में क्या आपत्ति है? निष्कर्ष यह है कि अनन्तचतुष्टयसम्पन्न केवली भगवान् में कवलाहार का अभाव स्वयंसिद्ध है। इसके बिना उनमें अनन्तसुख नहीं बन सकता है। इस प्रकार यहाँ दिगम्बर जैनागम के अनुसार केवली में कवलाहार का निषेध युक्तिपूर्वक विस्तार से किया गया है।

स्त्रीमुक्ति-विचार :

यहाँ इस बात पर विचार किया गया है कि स्त्रियों की मुक्ति होती है या नहीं। इस विषय में दिगम्बरों का मत है कि मुक्ति पुरुषों की ही होती है, स्त्रियों की नहीं। नपुंसक की तरह स्त्री भी मुक्ति के अयोग्य है। स्त्रियों की मुक्ति को सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण भी नहीं है। इसके विपरीत श्वेताम्बरों का मत है कि पुरुषों की तरह स्त्रियों की भी मुक्ति होती है।

पूर्वपक्ष– श्वेताम्बर मतानुयायी स्त्रीमुक्ति की सिद्धि अनुमान प्रमाण से करते हैं। स्त्रीमुक्ति का साधक अनुमान इस प्रकार है–

अस्ति स्त्रीणां निर्वाणम् अविकलकारणत्वात् पुंवत्। अर्थात् स्त्रियों को मोक्ष होता है, क्योंकि मोक्ष प्राप्त करने के सम्पूर्ण कारण उनमें पाये जाते हैं, पुरुष की तरह।

मोक्ष का कारण रत्नत्रय है। **तत्त्वार्थसूत्र** में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को मोक्ष का मार्ग बतलाया गया है और यह रत्नत्रय स्त्रियों में पाया जाता है। स्त्रियों में विद्यमान रत्नत्रय सर्वकर्मविप्रमोक्षरूप मोक्ष को सिद्ध करता है। मोक्ष का अविकल कारण रत्नत्रय है और यह कारण स्त्रियों में पूर्णरूप से विद्यमान रहता है। स्त्रियों में रत्नत्रय का विरोधी कोई कारण नहीं पाया जाता है। अतः स्त्रियों में मोक्ष का अविकल कारण विद्यमान रहने से उनको मोक्ष अवश्य होता है।

यहाँ कोई कह सकता है कि स्त्रियों में स्त्रीत्व रत्नत्रय का विरोधी कारण है। स्त्रियाँ पुरुषों से अन्य हैं। जो भी पुरुषों से अन्य है उसमें रत्नत्रय का विरोध अवश्य रहता है। पुरुषों से भिन्न देव, नारक, तिर्यञ्च और भोगभूमि में उत्पन्न होने वाले जीवों में देवत्व आदि के कारण रत्नत्रय का विरोध सुप्रसिद्ध है। इसी प्रकार स्त्रियों में स्त्रीत्व के कारण रत्नत्रय का विरोध स्वाभाविक है।

उपर्युक्त कथन समीचीन नहीं है। अर्थात् स्त्रीत्व को रत्नत्रय विरोधी मानना गलत है। विरोध वहाँ होता है जहाँ अविकल कारणों द्वारा होने वाले किसी कार्य का अन्य किसी के आ जाने पर अभाव हो जाता है। जैसे कि शीत और उष्ण में विरोध देखा जाता है। यदि स्त्रीत्व के सद्भाव में रत्नत्रय का विरोध होता है तो इसकी प्रतीति किस प्रमाण से होती है– प्रत्यक्ष से, अनुमान से अथवा आगम से? स्त्रीत्व और रत्नत्रय में विरोध की प्रतीति इन्द्रिय प्रत्यक्ष से तो हो नहीं सकती है, क्योंकि रत्नत्रय अतीन्द्रिय है। अनुमान से भी विरोध की प्रतीति सम्भव नहीं है, क्योंकि विरोध का अविनाभावी कोई लिङ्ग उपलब्ध नहीं है। ऐसा कोई आगम भी नहीं है जो स्त्रियों में रत्नत्रय के विरोध का प्रतिपादक हो।

यहाँ दिगम्बर कह सकते हैं कि स्त्रियों का निर्वाण मानना ठीक

नहीं है, क्योंकि अनुमान प्रमाण से स्त्रियों में निर्वाण के अभाव की प्रतीति होती है। तथाहि- **नास्ति स्त्रीणां निर्वाणं सप्तम पृथिवीगमनाभावात् सम्मूर्च्छिमादिवत्।** अर्थात् स्त्रियों का निर्वाण नहीं होता है, क्योंकि उनका सप्तम नरक में गमन नहीं होता है, सम्मूर्च्छन आदि की तरह। जिसमें सप्तम नरक में जाने की सामर्थ्य नहीं है उसमें मोक्ष में जाने की भी पात्रता नहीं होती है। सम्मूर्च्छन जीव या नपुंसक सातवें नरक में नहीं जा सकते हैं तो वे मोक्ष में भी नहीं जाते हैं। अतः उक्त अनुमान से स्त्रियों में निर्वाणाभाव की सिद्धि होती है।

दिगम्बरों का उक्त कथन तर्कसङ्गत नहीं है, क्योंकि सप्तम नरक में गमनाभाव की निर्वाणाभाव के साथ कोई व्याप्ति नहीं है। ऐसा कोई नियम नहीं है कि जो सप्तम नरक में नहीं जा सकता हो वह मोक्ष (निर्वाण) में भी न जा सके। सप्तम पृथिवीगमन न तो निर्वाण का कारण है और न व्यापक है। जैसे वह्नि धूम का कारण है तो वह्नि के अभाव में धूम नहीं होता है और वृक्ष शिंशपा का व्यापक है तो वृक्ष के अभाव में शिंशपा नहीं पाया जाता है। इसी प्रकार सप्तमपृथिवीगमन रत्नत्रय की तरह निर्वाण का कारण नहीं है जिससे सप्तमपृथिवीगमन के अभाव में निर्वाण का भी अभाव सिद्ध हो जाय। यदि माना जाय कि वस्त्ररूप परिग्रह के सद्भाव के कारण स्त्रियों का मोक्ष नहीं होता है तो यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि स्त्रियों द्वारा वस्त्र त्याग करने में आगम-विरोध आता है। कल्पसूत्र में बतलाया गया है–

'नो कप्पई णिग्गंथीए अचेलाए होत्तए।' – (कल्पसूत्र, 5/20) अर्थात् स्त्री को निर्ग्रन्थ और अचेलक होने की कल्पना नहीं की जा सकती है। अतः प्रतिलेखन (पिच्छी) की तरह वस्त्र भी मुक्ति का अङ्ग है। जैसे मोक्षमार्ग प्रणायक सर्वज्ञों के द्वारा उपदिष्ट प्रतिलेखन मुक्ति का अङ्ग है, परिग्रह नहीं, वैसे ही वस्त्र भी मुक्ति का ही अङ्ग है, परिग्रह नहीं। यदि सूत्रविहित धर्म के साधनों को परिग्रह माना जाय तो पिण्ड, औषधि, शय्यादि भी वस्त्र की तरह परिग्रह कहलायेंगे और इनका उपयोग करने वालों को मोक्षाभाव मानना पड़ेगा। यहाँ कोई कहता है कि वस्त्रसहित साध्वी को मोक्ष मानने पर प्रश्न होगा कि यदि ऐसा है तो फिर गृहस्थों को मोक्ष क्यों नहीं होता? इसका उत्तर यह है कि ममत्व के विद्यमान रहने से

गृहस्थ को मोक्ष नहीं होता है। गृहस्थ वस्त्र में ममत्वरहित नहीं होता है और ममत्व का नाम ही परिग्रह है। ममत्व के होने पर नग्न भी परिग्रहवान् होता है तथा ममत्व के अभाव में आर्यिका का वस्त्र परिग्रह नहीं है। किसी ग्राम में या घर में प्रवेश करने वाले तथा कर्म और नोकर्म का ग्रहण करने वाले यति के अपरिग्रहत्व में ममत्वाभाव ही कारण है, अन्य कोई नहीं।

यहाँ कोई शङ्का करता है कि वस्त्र में जन्तुओं की उत्पत्ति होने से हिंसा के सद्भाव में चारित्र के सम्भव न होने के कारण साध्वी को मोक्ष प्राप्ति कैसे होगी? इसका उत्तर यह है कि प्रमाद के अभाव में हिंसा नहीं होती है। प्रमाद का नाम ही हिंसा है। आगम में बतलाया गया है– '**प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा**'– (तत्त्वार्थसूत्र 7/13) यदि ऐसा न हो तो पिण्ड, औषधि आदि के ग्रहण करने से यति भी हिंसक कहलायेगा। यदि माना जाय कि यत्नपूर्वक संचरण करने वाले यति में प्रमाद के न होने के कारण अहिंसकत्व रहता है तो इसी कारण आर्यिका में भी अहिंसकत्व मानने में क्या बाधा है? दोनों में ही प्रमादाभाव के कारण अहिंसकत्व होने में समानता है। पुरुषों (यतियों) के द्वारा अवन्द्य होने के कारण स्त्रियों में मोक्षाभाव मानना ठीक नहीं है, क्योंकि इस कथन में गणधर आदि के द्वारा व्यभिचार आता है। अर्हन्त आदि गणधर आदि की वन्दना नहीं करते हैं, फिर भी गणधरादि मुक्त होते ही हैं। इसलिए मोक्ष का कारण रत्नत्रय ही है। किसी के द्वारा वन्द्यत्व या अवन्द्यत्व नहीं। मायाबाहुल्य के कारण स्त्रियों में निर्वाण का अभाव मानना भी गलत है, क्योंकि मायाबाहुल्य तो पुरुषों में भी सम्भव है। माया-बाहुल्य का कारण मोहोदय है और यह दोनों में समानरूप से पाया जाता है।

किसी का यह कथन भी समीचीन नहीं है कि हीन सत्त्व होने के कारण स्त्रियाँ मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकती हैं। सत्त्व का मतलब क्या है? तप और शील में जो तत्त्व साधारण है वही सत्त्व है और ऐसा सत्त्व निर्वाण का कारण होता है, अन्य प्रकार का सत्त्व नहीं। निर्वाण का कारण ऐसा सत्त्व आर्यिकाओं में सुप्रसिद्ध ही है। इसी विषय में कहा गया है–

गार्हस्थ्येऽपि सुसत्त्वा विख्याताः शीलवत्तया जगति।
सीतादयः कथं तास्तपसि विशीला विसत्त्वाश्च।।
- स्त्रीमुक्ति, श्लोक 31

अर्थात् गृहस्थावस्था में भी सीता आदि नारियाँ शीलवती होने के कारण अच्छे सत्त्व वाली विख्यात हुई हैं। तब वे तपस्या की अवस्था में विशील और विसत्त्व कैसे हो सकती हैं? अर्थात् नहीं हो सकती हैं।

यहाँ स्त्रीमुक्ति के प्रकरण में निम्नलिखित बात भी ध्यान देने योग्य है- "**यथा द्रव्यतः पुरुषः भावतः स्त्रीरूपा भूत्वा निर्वाति तथा द्रव्यतः स्त्र्यपि भावतः पुरुषो भूत्वा किन्न निर्वाति अविशेषात्।**" अर्थात् जिस प्रकार कोई जीव द्रव्य से पुरुष है और भाव से स्त्री है, फिर भी उसका निर्वाण हो जाता है, उसी प्रकार जो द्रव्य से स्त्री है और भाव से पुरुष है तो उसका निर्वाण क्यों नहीं होगा? अर्थात् अवश्य होगा, क्योंकि दोनों में समानता है। सिद्ध होने वाले जीव के कोई वेद सम्भव नहीं है, क्योंकि अनिवृत्तबादरसाम्पराय नामक गुणस्थान में ही वेद का क्षय हो जाता है इसलिए यहाँ हम यह भी कह सकते हैं कि भूतपूर्व नय की अपेक्षा से वह क्षपकश्रेणी का आरोहण जिस वेद से करता है उसी वेद से वह मुक्त होता है। इस प्रकार श्वेताम्बर मतानुयायियों का यह पूर्वपक्ष है जिसमें स्त्रीमुक्ति की सिद्धि की गई है।

उत्तरपक्ष- श्वेताम्बर मत के अनुयायियों का उक्त मत समीचीन नहीं है। श्वेताम्बरों ने स्त्रियों में मुक्ति की सिद्धि अनुमान प्रमाण से की है तथा मुक्तिसाधक अनुमान में अविकलकारणत्व हेतु दिया है जो असिद्ध है। मुक्ति का कारण रत्नत्रय है। यहाँ प्रश्न यह है कि परम प्रकर्ष को प्राप्त रत्नत्रय मुक्ति का कारण है अथवा रत्नत्रयमात्र? यदि रत्नत्रयमात्र मोक्ष का कारण हो तो गृहस्थों को भी मोक्ष का प्रसङ्ग प्राप्त होगा। अब यदि परम प्रकर्ष को प्राप्त रत्नत्रय को मुक्ति का कारण माना जाता है तो स्त्रियों में परम प्रकर्ष को प्राप्त रत्नत्रय की प्राप्ति होती नहीं है। तथा हि- "**निर्वाणकारणज्ञानादिपरमप्रकर्षः स्त्रीषु नास्ति, परमप्रकर्षत्वात्, सप्तमपृथिवीगमनकारणापुण्यपरमप्रकर्षवत्।**" अर्थात् स्त्रियों में निर्वाण के कारण ज्ञानादि का परम प्रकर्ष नहीं होता है, जैसे कि सप्तम नरक में जाने का कारण अपुण्य का परम प्रकर्ष नहीं होता है। ऐसा नियम

है कि जिस वेद (लिङ्ग) में मोक्ष के हेतुओं का परम प्रकर्ष होता है उस वेद में सप्तम नरक में गमन के कारणभूत पाप का परम प्रकर्ष भी होता है। श्वेताम्बर आगम में भी यह माना गया है कि स्त्री में सप्तम नरक में जाने के कारणभूत पाप का परम प्रकर्ष नहीं होता है तथा स्त्री सप्तम नरक में नहीं जाती है। कहा गया है-

'इत्थी छट्ठीओ अहो न उप्पज्जति।' अर्थात् स्त्री छठवीं पृथिवी से नीचे उत्पन्न नहीं होती है।

इसी बात को प्रमाण मानकर हम कह सकते हैं कि स्त्री में मोक्ष के कारण ज्ञानादि का परम प्रकर्ष नहीं होता है। फिर भी यदि आप स्त्री में मोक्ष के हेतुओं का परम प्रकर्ष मानते हैं तो सप्तम नरक में जाने के हेतुभूत पाप का परम प्रकर्ष भी मानिए। यथार्थ बात यह है कि पुरुष में मोक्ष के हेतु ज्ञानादि का जैसा परम प्रकर्ष पाया जाता है वैसा परम प्रकर्ष स्त्री में नहीं पाया जाता है। इस प्रकार स्त्रियों में मोक्ष के अविकल कारणों का सद्भाव सिद्ध नहीं होता है।

पूर्वपक्ष का यह कथन भी ठीक नहीं है कि सप्तमपृथिवीगमनाभाव की निर्वाणाभाव के साथ कोई व्याप्ति नहीं है, क्योंकि जिनमें कार्यकारण-सम्बन्ध नहीं है उनमें भी अविनाभाव होने के कारण कृत्तिकोदय से शकटोदयादि की तरह साध्य की प्रतिपत्ति देखी जाती है। यथार्थ बात यह है कि अविनाभाव गम्यगमकभाव में कारण होता है, कार्यकारणत्वादि नहीं। और वह अविनाभाव यहाँ भी पाया ही जाता है। अतः पूर्वपक्ष का निम्न कथन-

'सप्तमपृथिवीगमनादेः निर्वाणं प्रत्यकारणत्वादव्यापकत्वाच्च' स्वतः निरस्त हो जाता है।

हम सप्तमपृथिवीगमनाभाव से स्त्रियों में निर्वाण का अभाव सिद्ध नहीं करना चाहते हैं, परन्तु निर्वाण के कारण ज्ञानादि का परम प्रकर्ष न होने के कारण उनमें निर्वाण का अभाव सिद्ध करते हैं। जब स्त्रियों में निर्वाण का कारण रत्नत्रय का परम प्रकर्ष ही नहीं हो सकता है तो उनमें निर्वाण का अभाव स्वयं सिद्ध हो जाता है, क्योंकि किसी भी कार्य की उत्पत्ति निर्हेतुक नहीं होती है। इसलिए पूर्वपक्ष का निम्न कथन अयुक्त है-

"सप्तमपृथिवीगमनं न निर्वाणस्य रत्नत्रयवत् कारणम्।"

सप्तमपृथिवीगमनाभाव का चरमदेह वालों के साथ व्यभिचार बतलाना भी गलत है। यहाँ वे यह बतलाना चाहते हैं कि चरमदेह वाले उसी जन्म में मोक्ष चले जाते हैं; किन्तु सप्तम नरक में नहीं जाते हैं। उनका यह कथन उनके अज्ञान का सूचक है। सप्तमपृथिवीगमनाभाव का मतलब है- सप्तम पृथिवी में जाने योग्य कर्मों के उपार्जन की सामर्थ्य का अभाव और यह बात स्त्रियों में है, चरम शरीरियों में नहीं। उत्कृष्ट शुभ परिणाम शुभ गति का कारण होता है और उत्कृष्ट अशुभ परिणाम अशुभ गति का कारण होता है। तथा इस प्रकार के उत्कृष्ट परिणाम के होने में पुरुष का ही सामर्थ्य होता है, स्त्री का नहीं। जिस प्रकार स्त्री का तीव्रतर अशुभ परिणाम में सामर्थ्य का अभाव है उसी प्रकार तीव्र उत्कृष्ण शुभ परिणाम में भी सामर्थ्य का अभाव है और मुक्ति उत्कृष्ण शुभ परिणामों से होती है। जिसकी ऊपर उत्कृष्ट शुभ गति को प्राप्त करने की सामर्थ्य होती है उसकी नीचे प्रकृष्ट अशुभ गति को प्राप्त करने की भी सामर्थ्य होती है। पुरुषों में दोनों प्रकार का सामर्थ्य प्रमाणसिद्ध है। स्त्रियों की प्रकृष्ट शुभ गति में सामर्थ्य मानने वालों को उत्कृष्ट अशुभ गति में भी उनका सामर्थ्य मानना चाहिए। अर्थात् यदि मोक्ष प्राप्त करने में स्त्रियों की सामर्थ्य है तो सप्तम नरक प्राप्त करने में भी उनका सामर्थ्य होना चाहिए और ऐसी स्थिति में **'इत्थी छट्ठीओ अहो न उप्पज्जति'** श्वेताम्बरों के इस आगम का विरोध स्पष्ट है। आगम में पुरुषों के मोक्ष के हेतु आचेलक्यादि संयमविशेष का विधान सुप्रसिद्ध है और स्त्रियों में आचेलक्यादि संयमविशेष का निषेध है तथा कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति होती नहीं है। अतः हम कह सकते हैं कि गृहस्थ की तरह परिग्रहयुक्त होने से स्त्रियों की मुक्ति नहीं होती है।

पूर्वपक्ष का यह कथन भी गलत है कि पिच्छी की तरह वस्त्र भी मुक्ति का अङ्ग है। यहाँ जानने योग्य बात यह है कि संयम के प्रतिपालन के लिए पिच्छी का रखना तो आवश्यक है; किन्तु वस्त्र का ग्रहण किसकी रक्षा के लिए किया जाता है। यदि वस्त्र धर्म का साधन है तो पुण्यविशेष या संयमविशेष में से वह किस धर्म का साधन है? प्रथम पक्ष में वस्त्र मुक्ति का हेतु सिद्ध नहीं होता है। आगमविधि से ग्रहण किया गया वस्त्र

गृहस्थ की तरह पुण्य का ही हेतु होता है और पुण्य के हेतु को मोक्ष का हेतु मानने पर दानादि को भी मोक्ष का हेतु मानना पड़ेगा। वस्त्र को संयमविशेष का हेतु मानना तो नितान्त असङ्गत है। बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह के त्याग का नाम संयम है। ऐसा संयम याचन, सीवन, प्रक्षालन, शोषण, चौरहरण आदि मनःसंक्षोभकारी वस्त्र के ग्रहण करने में कैसे हो सकता है? प्रत्युत वस्त्र तो संयम का उपघातक ही होता है।

यहाँ पूर्वपक्ष का यह कथन युक्त नहीं है कि यदि सूत्रविहित धर्म के साधनों को परिग्रह माना जाय तो पीछी, पिण्ड, औषधि आदि को भी परिग्रह मानना पड़ेगा और उनके ग्रहण करने वालों को मोक्ष कैसे होगा? इसका उत्तर यह है कि उद्‌गमादि 46 दोषों का परिहार करके लिये गये पिण्ड, औषधि आदि रत्नत्रय की वृद्धि में सहायक होते हैं तथा सिद्धान्तविहित विधि से गृहीत पिण्डादि मोक्ष के हेतु रत्नत्रय के उपकारक होते हैं, विघातक नहीं। इसके विपरीत पिण्डादि के ग्रहण न करने पर अपूर्ण काल में (समय के पहले) विपत्ति आ जाने से (मरण हो जाने से) आत्मघात का दोष लगता है; किन्तु वस्त्र के ग्रहण न करने पर ऐसा कोई दोष नहीं होता है। साधु में पीछी, पिण्ड औषधि आदि के ग्रहण से रागादि अन्तरङ्ग और वेशभूषादि बहिरङ्ग परिग्रह का सद्‌भाव नहीं माना जा सकता है। कोमल पीछी के ग्रहण करने से सूक्ष्म जन्तुओं का उपघात न होकर उनकी रक्षा होती है। पीछी का ग्रहण शरीर में मूर्च्छा का सूचक भी नहीं है। इसी प्रकार रोग दूर करने में समर्थ औषधि के लेने से रोग दूर होता है, चर्या में कोई बाधा नहीं आती है तथा औषधि नैर्ग्रन्थ्य अवस्था की विरोधी भी नहीं है। अवसर आने पर परम नैर्ग्रन्थ्य की सिद्धि के लिए पीछी तथा औषधि का भी परित्याग कर दिया जाता है। दो दिन, तीन दिन आदि के क्रम से मुमुक्षुओं के द्वारा पिण्ड (आहार) का भी परित्याग कर दिया जाता है। परन्तु आर्यिकाओं के द्वारा वस्त्र का त्याग तो जीवनपर्यन्त कभी भी नहीं किया जाता है। इस प्रकार स्त्रियों में मोक्ष के हेतुभूत संयम का अभाव सिद्ध होता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि स्त्रियों में मोक्ष के अविकल कारण नहीं पाये जाते हैं। अतः पूर्वोक्त अनुमान प्रमाण मुक्ति का साधक नहीं हो सकता है।

इस विषय में कुछ और भी तथ्य द्रष्टव्य हैं। सचेल संयम होने

के कारण भी गृहस्थ के संयम की तरह स्त्री का संयम मोक्ष का हेतु नहीं है। स्त्रियों का निर्वस्त्र संयम न तो देखा गया है और न आगम में बतलाया गया है। ऐसा भी नहीं है कि पुरुषों का अचेल संयम और स्त्रियों का सचेल संयम दोनों ही मोक्ष के हेतु होते हैं। ऐसा मानने पर कारण के भेद से मुक्ति में भी भेद मानना पड़ेगा। सचेल संयम को मुक्ति का हेतु मानने पर पञ्चम गुणस्थानवर्ती देशसंयमियों को भी मुक्ति का प्रसङ्ग प्राप्त होगा। बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहयुक्त होने के कारण भी स्त्रियाँ मोक्ष के हेतुभूत संयम वाली नहीं हैं। वस्त्रग्रहणरूप बाह्य परिग्रह स्वशरीर में अनुरागादिरूप अन्तरङ्ग परिग्रह का अनुमान कराता है। आर्यिकायें साधुओं के द्वारा वन्दनीय न होने के कारण भी मोक्ष के हेतुभूत संयम वाली नहीं हैं। नवदीक्षित साधु भी आर्यिका की वन्दना नहीं करते हैं; किन्तु आर्यिकायें ही साधु की वन्दना करती हैं। आगम में बतलाया गया है-

वरससयदिक्खियाये अज्जाये अज्ज दिक्खिओ साहू।
अभिगमणवंदणणमंसणविणएण सो पुज्जो।।

– **उपदेशमाला**, गाथा 15

अर्थात् सौ वर्ष से दीक्षित आर्यिका के द्वारा आज दीक्षित साधु अभिगमन, वन्दन, नमस्करण और विनय से पूज्य होता है।

यहाँ पूर्वपक्ष कह सकता है कि स्त्रियों के वस्त्र त्याग स्वीकार करने पर लज्जावती कुलस्त्रियाँ तो दीक्षाग्रहण ही नहीं कर सकेंगी। उनके वस्त्र ग्रहण करने पर वस्त्रपरिग्रहमात्र का दोष अवश्य है, परन्तु इसके साथ सकल शील के परिपालन का गुण भी है। अतः वस्त्र के त्याग और उपादान में गुण और दोष के अल्पबहुत्व का विचार करके भगवान् ने स्त्रियों के लिए वस्त्र धारण का उपदेश दिया है।

उक्त कथन हमारे (दिगम्बरों के) अनुकूल ही है। उक्त मान्यता में हमें कोई विवाद नहीं है। हमारा विवाद तो मोक्ष के विषय में है, क्योंकि स्त्रियों का शील गृहस्थ के शील की तरह मोक्ष का कारण नहीं होता है। यहाँ पूर्वपक्ष का यह कथन भी ठीक नहीं है कि गृहस्थ का शील *हिंसायुक्त होने के कारण मोक्ष का साधन नहीं होता है, क्योंकि स्त्रियों*

का शील भी तो वस्त्र से समन्वित होने के कारण यूका, लिक्षा आदि सम्मूर्च्छन जीवों का अधिकरण होने से हिंसायुक्त ही है। इस दोष के निराकरण के लिए ऐसा कहना भी सङ्गत नहीं है कि प्रमाद के अभाव में स्त्रियों के शील को हिंसायुक्त नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि लोभकषाय की परिणति होने पर स्त्रियों में अप्रमत्तत्व नहीं बनता है। इस विषय में **पञ्चसंग्रह** में कहा भी है-

विकहा तहा कसाया इंदिय णिद्दा य तह य पणयो य।
चदु चदु पण एगेगे हुंति पमादा हु पण्णरस॥

अर्थात् चार विकथा, चार कषाय, पाँच इन्द्रियाँ, निद्रा और प्रणय- ये पन्द्रह प्रमाद होते हैं। इन प्रमादों में लोभ कषाय भी है तथा स्त्रियों में लोभकषाय की परिणति बुद्धिपूर्वक वस्त्र को स्वीकार करने से जानी जाती है। यदि आप यहाँ ऐसा कहना चाहें कि स्त्रियाँ वीतराग होने पर भी लज्जा को दूर करने के लिए वस्त्र को स्वीकार करती हैं और ऐसा करने से उनमें लोभ की परिणति सिद्ध नहीं होती है। यदि वास्तव में ऐसा है तो कामपीड़ा को दूर करने के लिए उन्हें कामुक आदि को भी स्वीकार कर लेना चाहिए। इस पर कहा जा सकता है कि स्त्रियों में कामपीड़ा को स्वीकार करने पर वीतरागता में विरोध आता है, तो यही बात उनमें लज्जा का सद्भाव मानने पर भी समानरूप से लागू होती है। जो वीतराग है उसमें लज्जा का सद्भाव नहीं हो सकता है, और जो लज्जावान् है वह वीतराग नहीं हो सकता है, क्योंकि लज्जा बीभत्स अवयवों के प्रच्छादन की इच्छारूप होती है। अतः जो वीतराग है वह लज्जावान् नहीं होता है, जैसे शिशु। आपने साध्वी को वीतराग माना है। तब उसमें लज्जा की सम्भावना कैसे हो सकती है, जिससे लज्जा को दूर करने के लिए वस्त्र स्वीकार करने को उचित ठहराया जा सके।

पूर्वपक्ष में कहा गया है कि यतियों के द्वारा अवन्द्य होने के कारण स्त्रियों में मोक्षाभाव नहीं माना जा सकता है, क्योंकि यहाँ अवन्द्यत्व हेतु में गणधरादि के द्वारा व्यभिचार आता है, क्योंकि गणधरादि अर्हन्तों के द्वारा वन्दनीय नहीं होने पर भी मुक्ति को प्राप्त करते हैं। पूर्वपक्ष का यह कथन समीचीन नहीं है। यहाँ ध्यातव्य बात यह है कि तीर्थकरत्व नामक पुण्यातिशय के बल से परम महत्त्व के पद को प्राप्त करने के

कारण अर्हन्त सकल जनों के वन्दनीय ही होते हैं। वे किसी के वन्दक नहीं होते। उनसे अधिक उच्च पद वाला कोई व्यक्ति संसार में नहीं है जिसके वे वन्दक हों।

स्त्रीमुक्ति के विषय में दिगम्बरों का कथन है–

'स्त्रीणां न मोक्षो पुरुषेभ्यो हीनत्वात् नपुंसकादिवत्।'

अर्थात् स्त्रियों को मोक्ष नहीं होता है, पुरुषों से हीन होने के कारण, नपुंसक आदि की तरह। यहाँ श्वेताम्बर कहते हैं कि हीनत्व या अधिकत्व मुक्ति का अङ्ग नहीं है, शिष्य और आचार्य की तरह। शिष्य आचार्यों से हीन हैं और आचार्य शिष्यों से अधिक हैं। फिर भी दोनों को मुक्ति होती है। इसी तरह आर्यों और आर्यिकाओं की मुक्ति होने में कोई बाधा नहीं है। पूर्वपक्ष का उक्त कथन श्रद्धामात्र है। स्त्री और पुरुष को शिष्य और आचार्य की तरह हीनाधिक होने पर भी मुक्ति तभी हो सकती है जब दोनों में मुक्ति का हेतु रत्नत्रय समानरूप से विद्यमान हो। परन्तु स्त्रियों में पुरुषों की तरह परम प्रकर्ष को प्राप्त रत्नत्रय नहीं होता है और केवल रत्नत्रय मात्र को मुक्ति का हेतु मानने पर गृहस्थों को भी मुक्ति का प्रसङ्ग प्राप्त होता है।

पूर्वपक्ष में **'गार्हस्थ्येऽपि सुसत्त्वाः सीतादयः'** इत्यादि जो कहा गया है वह अविचारित रमणीय है, क्योंकि अनेक दुर्धर परीषहों को सहन करने के कारण अखिल कर्मों के निर्मूलन में समर्थ जैसा महासत्त्व पुरुषों में सुप्रसिद्ध है वैसा महासत्त्व स्त्रियों में कदापि सम्भव नहीं है। स्त्रीवर्ग की अपेक्षा से ही सत्त्व प्रकर्ष सम्भव होने के कारण सीता आदि में महासत्त्व माना गया है। यथार्थ में तो स्त्रीपर्याय में उत्पन्न जीव मिथ्यात्वपरिणत ही उत्पन्न होता है।

आगम प्रमाण से भी स्त्रीमुक्ति की सिद्धि नहीं होती है। ऐसा कोई आगम ही नहीं है जिससे स्त्रीमुक्ति की सिद्धि होती हो। पूर्वपक्ष ने–

अट्ठसयमेगसमये पुरुसाणं णिव्वुदी समक्खादा।
थीलिंगेण य वीसं सेसा दसक त्ति बोधव्वा।।

इस आगम को स्त्री के निर्वाण में प्रमाण बतलाया है। इस गाथा

का अर्थ यह है कि एक समय में आठ सौ पुरुष निर्वाण को प्राप्त करते हैं और एक समय में बीस स्त्रियाँ निर्वाण प्राप्त करती हैं तथा दश नपुंसक निर्वाण प्राप्त करते हैं।

उक्त आगम दिगम्बरों के लिए अप्रमाणभूत है, क्योंकि वह प्रमाणविरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करता है। यह भी ज्ञात नहीं हो सका है कि उक्त गाथा किस ग्रन्थ से उद्धृत है।

निम्नलिखित आगम से भी स्त्रीमुक्ति की सिद्धि नहीं होती है–

पुंवेदं वेदंता जे पुरिसा खवगसेढिमारूढा।
सेसोदयेण वि तहा झाणुवजुत्ता य ते दु सिज्झंति।।

– **प्राकृत सिद्धभक्ति**, गाथा 6

अर्थात् पुरुष वेद का अनुभव करने वाले जो पुरुष क्षपकश्रेणी में आरूढ़ हैं और ध्यान में लीन हैं वे सिद्ध हो जाते हैं। तथा शेष स्त्रीवेद और नपुंसकवेद वाले भी इसी प्रकार मोक्ष जाते हैं। आगम की उक्त गाथा से भी स्त्रीमुक्ति की सिद्धि नहीं होती है। उक्त गाथा का विशेषार्थ इस प्रकार है–

पुरुषवेद के समान अन्य वेदों का उदय होने पर भी पुरुष ही मोक्ष जाते हैं। वेद का अर्थ है– मोहनीय कर्म के उदयजन्य अभिलाषरूप चित्त विकार और इस प्रकार का उदय भाव का ही होता है, द्रव्य का नहीं। मोहनीय कर्म के उदय से भाववेद होता है और नामकर्म के उदय से द्रव्यवेद होता है। द्रव्यवेद नाम कर्म का कार्य है और भाववेद मोहनीय कर्म का कार्य है। अतः जो बाह्य में पुरुषरूप द्रव्यवेद वाले हैं और अन्तरङ्ग में स्त्रीवेद या नपुंसकवेद का अनुभव कर रहे हैं ऐसे पुरुष ही मोक्ष जाने के पात्र होते हैं। जो बाह्य में द्रव्यस्त्री और द्रव्यनपुंसक हैं वे मोक्ष नहीं जा सकते हैं। जहाँ भी ऐसा कथन है कि स्त्रीवेद के उदय वाले जीव भी मोक्ष जाते हैं, वहाँ मोहनीय कर्म के उदय से होने वाला भाववेद ही अपेक्षित है, द्रव्यवेद नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि स्त्री के शरीर को धारण करने वाली द्रव्यस्त्री कभी भी मोक्ष नहीं जा सकती है।

इसी प्रकरण में पूर्वपक्ष का निम्न कथन भी विचारणीय है–

"यथा द्रव्यतः पुरुषः भावतः स्त्रीरूपो भूत्वा निर्वाति तथा द्रव्यतः स्त्र्यपि भावतः पुरुषो भूत्वा किन्न निर्वाति?" अर्थात् जिस प्रकार जो जीव द्रव्य से पुरुष है वह भाव से स्त्री होकर भी निर्वाण को प्राप्त करता है उसी प्रकार द्रव्य से स्त्री भी भाव से पुरुष होकर निर्वाण को क्यों नहीं प्राप्त करती है? अर्थात् उसे भी निर्वाण को प्राप्त करना चाहिए।

पूर्वपक्ष का उक्त कथन समीचीन नहीं है, क्योंकि द्रव्यस्त्रीवेद में मोक्ष को प्राप्त करने की सामर्थ्य नहीं होती है। जो द्रव्य से मोक्ष प्राप्त करने में असमर्थ है वह भाव से भी मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ नहीं हो सकता है। यतः द्रव्यस्त्री मोक्ष प्राप्त करने में असमर्थ है, अतः वह भाव से पुरुष होकर भी मोक्ष प्राप्त करने में असमर्थ रहती है। कहने का तात्पर्य यह है कि जो द्रव्य से पुरुष है वही मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ होता है, चाहे वह भाव से किसी भी वेद में आरूढ हो। वह भाव से स्त्री या नपुंसक होने पर भी द्रव्य से पुंवेद के कारण ही सर्वकर्मों की निर्जरा करके मोक्ष को अवश्य प्राप्त करता है।

आगम में यह भी बतलाया गया है कि रत्नत्रय के आराधक जीव की जघन्य से सात-आठ भवों में और उत्कर्ष से दो-तीन भवों में मुक्ति हो जाती है। जब से यह जीव रत्नत्रय का आराधक हो जाता है तब से सब प्रकार की स्त्रियों में उसकी उत्पत्ति होती ही नहीं है। तब स्त्रीमुक्ति का प्रश्न कहाँ शेष रहता है? मोक्ष तो उत्कृष्ट ध्यान का फल है और स्त्रियों में उत्कृष्ट ध्यान सम्भव न होने के कारण उनका मोक्ष प्राप्त करना असम्भव है। स्त्रियाँ कहाँ-कहाँ उत्पन्न नहीं होती हैं इस विषय में **पञ्चसंग्रह** में बतलाया गया है-

छसु हेट्ठिमासु पुढविसु जोइसवणभवण सव्वइत्थीसु।
वारस मिच्छुववादे सम्माइट्ठी ण उप्पयदि।।

अर्थात् बारह स्थानों में सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न नहीं होता है। वे बारह स्थान हैं- द्वितीय आदि छह नरक, ज्योतिष, व्यन्तर और भवनवासीदेव तथा तिर्यञ्च, मनुष्य और देवों की स्त्रियाँ। इस कथन का निष्कर्ष यह है कि जिन *स्त्रियों को उत्कृष्टस्थिति वाले देव पद की प्राप्ति भी नहीं होती है उनको मोक्ष* पद की प्राप्ति हो जायेगी, यह कितने महान् आश्चर्य की बात है।

अन्त में हम यही कहेंगे कि स्त्रियों को मोक्ष नहीं होता है, क्योंकि वे पुरुष से भिन्न हैं, जैसे कि नपुंसक। अतः सप्रमाण यह सिद्ध होता है कि स्त्रियाँ मोक्ष प्राप्त करने की अधिकारिणी नहीं हैं। इस प्रकार स्त्रीमुक्ति विचार के प्रकरण में दिगम्बर जैनागम के अनुसार उत्तरपक्ष में यह सिद्ध किया गया है कि पुरुष की ही मुक्ति होती है, स्त्री की नहीं। अन्त में अब शास्त्रकार शास्त्राध्ययन का प्रयोजन बतलाते हुए कहते हैं–

शास्त्राध्ययन का स्वार्थसम्पत्तिरूप फल :

भव्यः पञ्चगुरूंस्तपोभिरमलैराराध्य बुध्वागमम्,
तेभ्योऽभ्यस्य तदर्थमर्थविषयाच्छादादपभ्रंशतः।
दूरीभूततरात्मकादधिगतो बोद्धाऽकलङ्कं पदम्,
लोकालोककलावलोकनबलप्रज्ञो जिनः स्यात् स्वयम्।।77।।

भव्य जीव निर्मल अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु– इन पाँच गुरुओं की आराधना करके अनादिपरम्परा से आगत तथा दोषरहित शब्दरूप आगम के पद के अर्थ को जानकर और उसका अभ्यास करके वह ज्ञाता होकर आकलङ्कपद (आर्हन्त्यपद) को प्राप्त करके स्वयं लोक और अलोक के विभाग को जानने और देखने की शक्ति तथा ज्ञान से सम्पन्न होकर जिन हो जाता है।

शब्दरूप आगम सन्तान की अपेक्षा अनादि है और व्यक्ति की अपेक्षा सादि है। आगम को श्रुत भी कहा जाता है। भव्य जीव को ऐसे आगम का गुरुओं के द्वारा अभ्यास करना चाहिए तथा उसके अर्थ को अच्छी तरह जान लेना चाहिए। तभी उसकी मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति हो सकती है। **आचार्य कुन्दकुन्द** ने साधु को आगमचक्षु कहा है। अर्थात् साधु की वास्तविक चक्षु आगम ही है। आगम के द्वारा होने वाले ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं। गुरुओं के द्वारा आगम के यथार्थ अर्थ को जानकर और उसका अभ्यास करके ज्ञानी आत्मा स्वयं जिन हो जाता है। आगम के अभ्यास का यह स्वार्थसम्पत्तिरूप फल है।अब परार्थसम्पत्तिरूप फल को बतलाने के लिए कहते हैं–

शास्त्राध्ययन का परार्थसम्पत्तिरूप फल :

प्रवचनपदान्यभ्यस्य अर्थास्ततः परिनिष्ठितान्,
असकृदवबुद्धयेद्धाद्बोधाद् बुधो हतसंशयः।
भगवदकलङ्कानां स्थानं सुखेन समाश्रितः,
कथयतु शिवं पन्थानं वः पदस्य महात्मनाम्।।78।।

प्रवचन के पदों का अभ्यास करके तथा प्रवचन में वर्णित जीवादि पदार्थों को संकर-व्यतिकर आदि दोषों से रहित निर्मल ज्ञान के द्वारा पुनः-पुनः चिन्तन करके संशयरहित हुआ यह ज्ञानी भगवान् अकलङ्कों (अर्हन्तों) के स्थान को प्राप्त होकर आप सबको महात्माओं (सिद्धों) के पद को प्राप्त कराने वाले मोक्षमार्ग का सुखपूर्वक उपदेश करे।

आगम को प्रवचन भी कहते हैं। प्रवचन के पदों का अभ्यास करने से ज्ञानी जीव प्रवचन में प्रतिपादित तत्त्वों को अपने निर्मल ज्ञान के द्वारा सम्यक्रीति से जान लेता है और इससे उसका सब प्रकार का संशय दूर हो जाता है। इस तरह प्रवचन के पदों का अभ्यास करने से ज्ञानी जीव श्रुतज्ञान में पारङ्गत हो जाता है। तदनन्तर मोक्षमार्ग में क्रमशः आगे बढ़ता हुआ शुक्लध्यान के द्वारा चार घातिया कर्मों का क्षय करके निष्कलङ्क परमात्मा बन जाता है। इसके अनन्तर अर्हन्त परमात्मा (केवली जिन) समागत भव्य आत्माओं को मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं। आगम के अभ्यास का यह परार्थसम्पत्तिरूप फल है।

ग्रन्थकार का नाम **अकलङ्क** है। अतः कारिका 77 और 78 में आगत 'अकलङ्क' पद के द्वारा उन्होंने कलङ्करहित परमात्मा का निर्देश तो किया ही है, साथ ही अपना नामोल्लेख भी कर दिया है। यहाँ **अकलङ्कदेव** की भावना यह है कि भव्य जीव शास्त्राध्ययन करके अर्हन्त पद को प्राप्त करें तथा दूसरे प्राणियों को मोक्षमार्ग का उपदेश देकर मोक्षमार्ग की परम्परा का प्रवर्तन भी करें। इस प्रकार शास्त्राध्ययन के द्वारा स्वार्थसम्पत्तिरूप तथा परार्थसम्पत्तिरूप फल की प्राप्ति होती है।

।।तृतीय प्रवचनप्रवेश के अन्तर्गत सप्तम निक्षेपपरिच्छेद समाप्त।।

।।इस प्रकार न्यायकुमुदचन्द्र परिशीलन समाप्त हुआ।।

परिशिष्ट

लघीयस्त्रयकारिकापाठः

प्रमाणप्रवेश :

धर्मतीर्थकरेभ्योऽस्तु स्याद्वादिभ्यो नमोनमः ।
ऋषभादिमहावीरान्तेभ्यः स्वात्मोपलब्धये ॥1॥

सन्तानेषु निरन्वयक्षणिकचित्तानामसत्स्वेव चेत्,
तत्त्वाहेतुफलात्मनां स्वपरसङ्कल्पेन बुद्धः स्वयम् ।
सत्त्वार्थं व्यवतिष्ठते करुणया मिथ्याविकल्पात्मकः,
स्यान्नित्यत्ववदेव तत्र समये नार्थक्रिया वस्तुनः ॥2॥

प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसंव्यवहारतः ।
परोक्षं शेषविज्ञानं प्रमाणे इति संग्रहः ॥3॥

अनुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम् ।
तद् वैशद्यं मतं बुद्धेरवैशद्यमतः परम् ॥4॥

अक्षार्थयोगे सत्तालोकोऽर्थाकारविकल्पधीः ।
अवग्रहो विशेषाकाङ्क्षेहाऽवायो विनिश्चयः ॥5॥

धारणा स्मृतिहेतुस्तन्मतिज्ञानं चतुर्विधम् ।
बह्वाद्यवग्रहाद्यष्टचत्वारिंशत् स्वसंविदाम् ॥6॥

पूर्वपूर्वप्रमाणत्वं फलं स्यादुत्तरोत्तरम् ।
तद् द्रव्यपर्यायात्माऽर्थो बहिरन्तश्च तत्त्वतः ॥7॥

अर्थक्रिया न युज्येत नित्य-क्षणिकपक्षयोः ।
क्रमाऽक्रमाभ्यां भावानां सा लक्षणतया मता ॥8॥

नाऽभेदेऽपि विरुद्ध्येत विक्रिया विक्रियैव वा ।
मिथ्येतरात्मकं दृश्याऽदृश्यभेदेतरात्मकम् ॥9॥

चित्तं सदसदात्मैकं तत्त्वं साधयति स्वतः ।
ज्ञानमाद्यं मतिः संज्ञा चिन्ता चाऽऽभिनिबोधिकम् ॥10॥

प्राङ् नामयोजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात् ।
अविकल्पधिया लिङ्गं न किञ्चित् सम्प्रतीयते ॥11॥

नानुमानादसिद्धत्वात् प्रमाणान्तरमाञ्जसम् ।
लिङ्गात् साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणात् ॥12॥
लिङ्गिधीरनुमानं तत्फलं हानादिबुद्धयः ।
चन्द्रादेर्जलचन्द्रादिप्रतिपत्तिस्तथाऽनुमा ॥13॥
भविष्यत् प्रतिपद्येत शकटं कृत्तिकोदयात् ।
श्व आदित्य उदेतेति ग्रहणं वा भविष्यति ॥14॥
अदृश्यपरचित्तादेरभावं लौकिका विदुः ।
तदाकारविकारादेरन्यथाऽनुपपत्तितः ॥15॥
वीक्ष्याणुपारिमाण्डल्यक्षणभङ्गाद्यवीक्षणम् ।
स्वसंविद्विषयाकारविवेकानुपलम्भवत् ॥16॥
अनंशं बहिरन्तश्चाप्रत्यक्षं तदभासनात् ।
कस्तत्स्वभावो हेतुः स्यात् किं तत्कार्यं यतोऽनुमा ॥17॥
धीर्विकल्पाऽविकल्पात्मा बहिरन्तश्च किं पुनः ।
निश्चयात्मा स्वतः सिद्ध्येत् परतोऽप्यनवस्थितेः ॥18॥
उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसाधनम् ।
तद्वैधर्म्यात् प्रमाणं किं स्यात् संज्ञिप्रतिपादनम् ॥19॥
प्रत्यक्षार्थान्तरापेक्षा सम्बन्धप्रतिपद्यतः ।
तत्प्रमाणं न चेत् सर्वमुपमानं कुतस्तथा ॥20॥
इदमल्पं महद् दूरमासन्नं प्रांशु नेति वा ।
व्यपेक्षातः समक्षेऽर्थे विकल्पः साधनान्तरम् ॥21॥
प्रत्यक्षाभं कथञ्चित् स्यात् प्रमाणं तैमिरादिकम् ।
यद् यथैवाऽविसंवादि प्रमाणं तत्तथा मतम् ॥22॥
स्वसंवेद्यं विकल्पानां विशदार्थावभासनम् ।
संहृताशेषचिन्तायां सविकल्पावभासनात् ॥23॥
प्रतिसंविदितोत्पत्तिव्ययाः सत्योऽपि कल्पनाः ।
प्रत्यक्षेषु न लक्ष्येरन् तत्स्वलक्षणभेदवत् ॥24॥
अक्षधीस्मृतिसंज्ञाभिः चिन्तयाभिनिबोधिकैः ।
व्यवहाराऽविसंवादःतदाभासस्ततोऽन्यथा ॥25॥

प्रमाणं श्रुतमर्थेषु सिद्धं द्वीपान्तरादिषु ।
अनाश्वासं न कुर्वीरन् क्वचित् तद्व्यभिचारतः ।।26।।
प्रायः श्रुतेर्विसंवादात् प्रतिबन्धमपश्यताम् ।
सर्वत्र चेदनाश्वासः सोऽक्षलिङ्गधियां समः ।।27।।
आप्तोक्तेर्हेतुवादाच्च बहिरर्थाविनिश्चये ।
सत्येतरव्यवस्था का साधनेतरता कुतः ।।28।।
पुंसश्चित्राभिसंधेश्चेद् वागर्थव्यभिचारिणी ।
कार्यं दृष्टं विजातीयाच्छक्यं कारणभेदि किम्? ।।29।।

नयप्रवेश :

भेदाभेदात्मके ज्ञेये भेदाभेदाभिसन्धयः ।
ये तेऽपेक्षानपेक्षाभ्यां लक्ष्यन्ते नयदुर्नयाः ।।30।।
जीवाजीवप्रभेदा यदन्तर्लीनाः तदस्ति सत् ।
एकं यथा स्वनिर्भासिज्ञानं जीवः स्वपर्ययैः ।।31।।
शुद्धं द्रव्यमभिप्रैति संग्रहः तदभेदतः ।
भेदानां नासदात्मैकोऽप्यस्ति भेदो विरोधतः ।।32।।
प्रत्यक्षं बहिरन्तश्च भेदाज्ञानं सदात्मना ।
द्रव्यं स्वलक्षणं शंसेद् भेदात् सामान्यलक्षणात् ।।33।।
सदसत्स्वार्थनिर्भासैः सहक्रमविवर्तिभिः ।
दृश्यादृश्यैर्विभात्येकं भेदैः स्वयमभेदकैः ।।34।।
लक्षणं क्षणिकैकान्ते नार्थस्याऽर्थक्रिया सति ।
कारणे कार्यभावश्चेत् कार्यकारणलक्षणम् ।।35।।
कार्योत्पत्तिर्विरुद्धा चेत् स्वयं कारणसत्तया ।
युज्येत क्षणिकेऽर्थेऽर्थक्रियाऽसम्भवसाधनम् ।।36।।
यथैकं भिन्नदेशार्थान् कुर्याद् व्याप्नोति वा सकृत् ।
तथैकं भिन्नकालार्थान् कुर्याद् व्याप्नोति वा क्रमात् ।।37।।
संग्रहः सर्वभेदैक्यमभिप्रैति सदात्मना ।
ब्रह्मवादस्तदाभासः स्वार्थभेदनिराकृतेः ।।38।।

अन्योन्यगुणभूतैकभेदाभेदप्ररूपणात् ।
नैगमोऽर्थान्तरत्वोक्तौ नैगमाभास इष्यते ॥39॥
स्वतोऽर्थाः सन्तु सत्तावत् सत्तया किं सदात्मनाम् ।
असदात्मसु नैषा स्यात् सर्वथाऽतिप्रसङ्गतः ॥40॥
प्रामाण्यं व्यवहाराद्धि स न स्यात् तत्त्वतस्तयोः ।
मिथ्यैकान्ते विशेषो वा कः स्वपक्षविपक्षयोः ॥41॥
व्यवहाराविसंवादी नयः स्याद् दुर्नयोऽन्यथा ।
बहिरर्थोऽस्ति विज्ञप्तिमात्रं शून्यमितीदृशः ॥42॥
ऋजुसूत्रस्य पर्यायः प्रधानं चित्रसंविदः ।
चेतनाणुसमूहत्वात् स्याद् भेदानुपलक्षणम् ॥43॥
कालकारकलिङ्गानां भेदाच्छब्दोऽर्थभेदकृत् ।
अभिरूढस्तु पर्यायैः इत्थम्भूतः क्रियाश्रयः ॥44॥
अक्षबुद्धिरतीतार्थं वेत्ति चेन्न कुतः स्मृतिः ।
प्रतिभासभिदैकार्थे दूरासन्नाक्षबुद्धिवत् ॥45॥
अक्षशब्दार्थविज्ञानमविसंवादतः समम् ।
अस्पष्टं शब्दविज्ञानं प्रमाणमनुमानवत् ॥46॥
कालादिलक्षणं न्यक्षेणान्यत्रेक्ष्यं परीक्षितम् ।
द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषात्मार्थनिष्ठितम् ॥47॥
एकस्यानेकसामग्रीसन्निपातात् प्रतिक्षणम् ।
षट्कारकी प्रकल्पेत तथा कालादिभेदतः ॥48॥
व्याप्तिं साध्येन हेतोः स्फुटयति न विना चिन्तयैकत्रदृष्टिः,
साकल्येनैष तर्कोऽनधिगतविषयः तत्कृतार्थैकदेशे ।
प्रामाण्ये चानुमानायाः स्मरणमधिगतार्थाविसंवादि सर्वम्,
संज्ञानञ्च प्रमाणं समधिगतिरतः सप्तधाख्यैर्नयोघैः ॥49॥
सर्वज्ञाय निरस्तबाधकधिये स्याद्वादिने ते नमः
स्तात्प्रत्यक्षमलक्षयन् स्वमतमभ्यस्याप्यनेकान्तभाक् ।
तत्त्वं शक्यपरीक्षणं सकलविन्नैकान्तवादी ततः,
प्रेक्षावानकलङ्क याति शरणं त्वामेव वीरं जिनम् ॥50॥

प्रवचनप्रवेश :

प्रणिपत्य महावीरं स्याद्वादेक्षणसप्तकम् ।
प्रमाणनयनिक्षेपानभिधास्ये यथागमम् ॥51॥
ज्ञानं प्रमाणमात्मादेरुपायो न्यास इष्यते ।
नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थपरिग्रहः ॥52॥
अयमर्थ इति ज्ञानं विद्यान्नोत्पत्तिमर्थतः ।
अन्यथा न विवादः स्यात् कुलालादिघटादिवत् ॥53॥
अन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थश्चेत् कारणं विदः ।
संशयादिविदुत्पादः कौतस्कुत इतीक्ष्यताम् ॥54॥
सन्निधेरिन्द्रियार्थानामन्वयव्यतिरेकयोः ।
कार्यकारणयोश्चापि बुद्धिरध्यवसायिनी ॥55॥
तमो निरोधि वीक्षन्ते तमसा नावृतं परम् ।
कुड्यादिकं न कुड्यादितिरोहितमिवेक्षकाः ॥56॥
मलविद्धमणिव्यक्तिर्यथाऽनेकप्रकारतः ।
कर्मविद्धात्मविज्ञप्तिस्तथाऽनेकप्रकारतः ॥57॥
न तज्जन्म न ताद्रूप्यं न तद्व्यवसितिः सह ।
प्रत्येकं वा भजन्तीह प्रामाण्यं प्रति हेतुताम् ॥58॥
स्वहेतुजनितोऽप्यर्थः परिच्छेद्यः स्वतो यथा ।
तथा ज्ञानं स्वहेतूत्थं परिच्छेदात्मकं स्वतः ॥59॥
व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्थग्राहकं मतम् ।
ग्रहणं निर्णयस्तेन मुख्यं प्रामाण्यमश्नुते ॥60॥
तत्प्रत्यक्षं परोक्षञ्च द्विधैवात्रान्यसंविदाम् ।
अन्तर्भावान्न युज्यन्ते नियमाः परकल्पिताः ॥61॥
उपयोगौ श्रुतस्य द्वौ स्याद्वादनयसंज्ञितौ ।
स्याद्वादः सकलादेशो नयो विकलसंकथा ॥62॥
अप्रयुक्तोऽपि सर्वत्र स्यात्कारोऽर्थात् प्रतीयते ।
विधौ निषेधेऽप्यन्यत्र कुशलश्चेत् प्रयोजकः ॥63॥

वर्णाः पदानि वाक्यानि प्राहुरर्थानवाञ्छितान् ।
वाञ्छितांश्च क्वचिन्नेति प्रसिद्धिरियमीदृशी ॥64॥
स्वेच्छया तामतिक्रम्य वदतामेव युज्यते ।
वक्त्रभिप्रेतमात्रस्य सूचकं वचनं त्विति ॥65॥
श्रुतभेदा नयाः सप्त नैगमादिप्रभेदतः ।
द्रव्यपर्यायमूलास्ते द्रव्यमेकान्वयानुगम् ॥66॥
निश्चयात्मकमन्योऽपि व्यतिरेकपृथक्त्वगः ।
निश्चयव्यवहारौ तु द्रव्यपर्यायमाश्रितौ ॥67॥
गुणप्रधानभावेन धर्मयोरेकधर्मिणि ।
विवक्षा नैगमोऽत्यन्तभेदोक्तिः स्यात्तदाकृतिः ॥68॥
सदभेदात् समस्तैक्यसंग्रहात् संग्रहो नयः ।
दुर्नयो ब्रह्मवादः स्यात् तत्स्वरूपानवाप्तितः ॥69॥
व्यवहारानुकूल्यात्तु प्रमाणानां प्रमाणता ।
नान्यथा बाध्यमानानां ज्ञानानां तत्प्रसङ्गतः ॥70॥
भेदं प्राधान्यतोऽन्विच्छन् ऋजुसूत्रनयो मतः ।
सर्वथैकत्वविक्षेपी तदाभासस्त्वलौकिकः ॥71॥
चत्वारोऽर्थनया ह्येते जीवाद्यर्थव्यपाश्रयात् ।
त्रयः शब्दनयाः सत्यपदविद्यां समाश्रिताः ॥72॥
श्रुतादर्थमनेकान्तमधिगम्याभिसन्धिभिः ।
परीक्ष्य तांस्तान् तद्धर्माननेकान् व्यावहारिकान् ॥73॥
नयानुगतनिक्षेपैरुपायैर्भेदवेदने ।
विरचय्यार्थवाक्प्रत्ययात्मभेदान् श्रुतार्पितान् ॥74॥
अनुयुज्यानुयोगैश्च निर्देशादिभिदां गतैः ।
द्रव्याणि जीवादीन्यात्मा विवृद्धाभिनिवेशनः ॥75॥
जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानतत्त्ववित् ।
तपोनिर्जीर्णकर्माऽयं विमुक्तः सुखमृच्छति ॥76॥
भव्यः पञ्चगुरूंस्तपोभिरमलैराराध्य बुध्वागमम्,
तेभ्योऽभ्यस्य तदर्थमर्थविषयाच्छब्दादपभ्रंशतः ।

दूरीभूततरात्मकादधिगतो बोद्धाऽकलङ्कं पदम्
लोकालोककलावलोकनबलप्रज्ञो जिनः स्यात् स्वयम्।।77।।
प्रवचनपदान्यभ्यस्य अर्थास्ततः परिनिष्ठितान् -
असकृदवबुद्ध्येद्धाद्बोधाद् बुधो हतसंशयः।
भगवदकलङ्कानां स्थानं सुखेन समाश्रितः,
कथयतु शिवं पन्थानं वः पदस्य महात्मनाम्।।78।।

।।इति लघीयस्त्रयकारिकापाठः समाप्तः।।